वैदिक संस्कृतिका विकास

Vaidika Samskriti ka
Vikasa

Lakshman Shastri Joshi

Moreshwar Dinkar Paradkar

वैदिक संस्कृतिका विकास

[वैदिक कालसे लेकर आधुनिक कालतक भारतीय सांस्कृतिक प्रगतिकी तात्त्विक आलोचना]

मूल मराठी लेखक

तर्कतीर्थ लक्ष्मणशास्त्री जोशी

अनुवादक
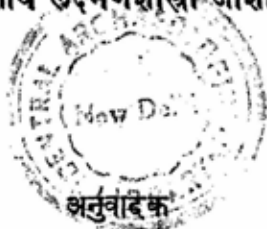
डा. मोरेश्वर दिनकर पराड़कर

साहित्य अकादेमीकी ओरसे

हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्राइवेट) लिमिटेड, बम्बई

ग्रन्थकर्ताका परिचय

इस ग्रन्थके मूल लेखक पं० लक्ष्मणशास्त्री जोशी महाराष्ट्रके उच्च-कोटिके विद्वानोंमेंसे एक हैं। आपका अध्ययन यद्यपि पुरानी प्रणालीसे हुआ है परन्तु आधुनिक ज्ञान-विज्ञानसे भी आप अच्छी तरह परिचित हैं। जिस तरह पुरानी प्रणालीसे संस्कृतके द्वारा वेद, ब्राह्मण, उपनिषत्, सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय, दर्शन, वेदान्त और धर्म-शास्त्रोंपर आपने असाधारण अधिकार प्राप्त किया है, उसी तरह अंग्रेजीके द्वारा पाश्चात्य दर्शन, तर्कशास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र आदिका भी तलस्पर्शी ज्ञान आपको है। इस बहुमुखी पाण्डित्यके कारण ही आप नागपुर विश्वविद्यालय द्वारा आमंत्रित हुए और वहाँ एक बार तर्कशास्त्रपर अंग्रेजीमें और दूसरी बार 'हिन्दू धर्मकी समीक्षा' पर मराठीमें आपके व्याख्यान हुए। 'हिन्दू धर्मकी समीक्षा' हिन्दीमें भी प्रकाशित हो चुकी है।

सन् १९४९ में पूना विश्वविद्यालयमें 'वैदिक संस्कृतीचा विकास' नामसे आपके ६ व्याख्यान मराठीमें हुए और उन्हींका यह हिन्दी अनुवाद पाठकोंके समक्ष उपस्थित किया जाता है। मूल ग्रन्थपर गत वर्ष साहित्य अकादेमीकी सिफारिशपर केन्द्रीय-सरकार द्वारा पाँच हजार रुपयोंका पुरस्कार भी मिल चुका है।

आपका 'भारतस्य संविधानम्' अर्थात् भारत सरकारके संविधानका संस्कृत अनुवाद भारत सरकारने प्रकाशित किया है। हाल ही भारत सरकारने जो 'हिन्दी विश्व-कोष'की योजना बनाई है, उसके आप सलाहकार-सदस्य हैं।

महाराष्ट्रके साहित्य-क्षेत्रमें भी आपका स्थान बहुत ऊँचा है। सन् १९५४ में 'मराठी साहित्य सम्मेलन'के ३७ वें अधिवेशनके, जो दिल्लीमें हुआ था, आप सभापति थे। महाराष्ट्रमें आप एक धर्म-सुधारक और क्रान्तिकारीके

रूपमें प्रसिद्ध हैं। दिवंगत महात्मा गान्धीने अस्पृश्यता-निवारक आन्दोलनके सिलसिलेमें सनातनी पण्डितोंसे शास्त्रार्थ करने और सुधारोंका समर्थन करनेके लिए आपको ही प्रधान रूपसे चुना था। राजनीतिक क्षेत्रमें भी आपने बहुत काम किया है।

इस समय आप कृष्णा नदीके किनारे स्थित 'वाई' नामक तीर्थस्थल पर निवास करते हैं और वहाँके सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्यालय 'प्राज्ञपाठशाला' के प्रधान अध्यापक हैं। इसके सिवाय धर्मकोशके मुख्य सम्पादक भी आप हैं। यह कोश बीस जिल्दोंमें प्रकाशित होनेवाला है और अब तक इसकी सात बड़ी-बड़ी जिल्दें प्रकाशित हो चुकी हैं।

प्रस्तावना

वर्तमान भारतीय संस्कृति वास्तवमें वैदिक संस्कृतिका ही विकसित रूप है। इस संस्कृतिके दिक्कालात्मक शरीरको ध्यानमें रखकर उसके स्वरूपका यहाँ वर्णन किया गया है। 'दिक्'का अर्थ है देश अर्थात् भारतवर्ष। जन्मसे लेकर आजतक इस संस्कृतिका विकास भारतवर्षमें ही हुआ है। यद्यपि यह संस्कृति अन्य देशोंके सम्पर्कमें आई है अथवा इसे अन्य देशोंमें फैलानेका प्रयत्न भी हुआ है; तो भी भारतवर्षकी सीमाएँ ही इसकी यथार्थ सीमाएँ हैं। इतिहासज्ञोंके सब मतभेदोंकी ओर ध्यान देते हुए यह कहना पड़ेगा कि इस संस्कृतिका काल कमसे कम चार या पाँच हजार वर्षोंका है। इतिहासके ज्ञाताओंका अनुमान है कि ईसाके पूर्व पन्द्रहवीं शताब्दीके लगभग मोहोंजोदारो तथा हरप्पाकी प्राचीन सिन्धु-संस्कृतिके साथ इन्द्रपूजक वैदिकोंका संघर्ष हो रहा था। पुराण-विद्याके अध्येताओंकी राय है कि आर्य त्रैवर्णिक तथा शूद्र सबको समान रूपसे प्रमाण एवं पवित्र माननेवाले पौराणिक धर्मका संस्कृतिका सम्बन्ध वेदोंके पूर्ववर्ती कालके आर्येतर प्राचीन भारतीयोंके साथ स्थापित होता है। परन्तु वर्तमान समयमें उपलब्ध पौराणिक संस्कृतिका स्वरूप असलमें वही है जो वैदिकों द्वारा पूर्ण-तया आत्मसात् किया गया था। वैदिक संस्कृतिके विकास-क्रममें विशिष्ट प्रकारकी जिन प्रमुख प्रवृत्तियोंने सहयोग दिया और उसके विद्यमान स्वरूपका निर्माण किया उन सब प्रवृत्तियोंकी संकलनात्मक एवं सारग्राही समीक्षा या चर्चा ही प्रस्तुत पुस्तकका ईप्सित कार्य है। यह चर्चा केवल उन्हीं प्रवृत्तियोंसे सम्बन्ध रखती है जिन्होंने संस्कृतिको विशेष शक्ति और विविध आकार देनेका सामर्थ्य दिखलाया है। यह दिखाई दिया कि उक्त प्रवृत्तियोंकी शक्तियाँ अपने अपने विशिष्ट काल-खण्डमें अत्यन्त प्रतापी सिद्ध हुई हैं। अतएव इस स्थानपर उनके प्रेरक तत्त्वोंकी मूलगामी समीक्षा प्रस्तुत की गई है।

वेदोंके पूर्ववर्ती कालमें वैदिकेतरोंकी महान् संस्कृतिका युग भारतवर्षमें विद्यमान था। यहाँकी नदियोंके तटों तथा पर्वतोंके इर्द-गिर्दमें वैदिकेतरोंके राज्यों, ग्रामों तथा नगरोंकी रचना हुई थी। भाषा, धर्म, कला, स्थापत्य, कृषि, वाणिज्य, लेखन आदि उन्नत मानव-समूहोंके विविध व्यवहारोंसे वे परिचित थे। मोहेंजोदारो तथा हरप्पाके अवशेष तथा द्रविड़ों और शूद्रोंके मूलतः वैदिक परम्परासे असम्बद्ध आचार-विचार दोनों वेदपूर्व कालकी संस्कृतिको सूचित करते हैं। अतएव विद्यमान भारतीय संस्कृतिको वैदिक संस्कृतिका विकसित रूप माननेमें एकान्तिक दृष्टिकोणका दोष आता है। इसका उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि वेदपूर्व संस्कृति अपने प्रभावी तथा अविच्छिन्न रूपमें अपना अस्तित्व सिद्ध नहीं करती। वैदिक संस्कृति ही वह प्राचीनतम संस्कृति है जो सबसे वरिष्ठ एवं प्रभावी सिद्ध हुई है; क्योंकि उसने वर्तमान समयतक अपनी कर्तृत्व-शक्तिको लुप्त नहीं होने दिया। वेदोंके पूर्ववर्ती कालकी संस्कृतियोंने अपने अवशेषोंको वैदिक संस्कृतिके आधिपत्यमें लाकर सुरक्षित रखा है। इस तरह यद्यपि उन संस्कृतियोंने अपने अस्तित्वको कायम रखा है; तो भी मानना होगा कि वह (अस्तित्व) वैदिक संस्कृतिका ही अङ्ग बन गया है। वेद, वेदाङ्ग तथा वेदान्त तीनोंकी अध्यक्षता तथा सर्वतोमुखी प्रभुताके दर्शन वेद-कालसे लेकर आजतकके सांस्कृतिक आन्दोलनमें किसी न किसी न रूपमें होते ही हैं। भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें ऐसा कोई भी महत्त्वपूर्ण कालखण्ड नहीं दिखाया जा सकता जिसमें ब्रह्मविद्या अथवा आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानको केन्द्रीय स्थान प्राप्त न हुआ हो। वास्तवमें यहाँके इतिहासके सभी काल-खण्ड ब्रह्म-कल्पनामें अथवा ब्रह्म-सूत्रमें पिरोए गए हैं। प्रस्तुत पुस्तकमें हमने इस बातको सिद्ध करनेकी चेष्टा की है कि जिन तथा बुद्धके विचारोंका सार उपनिषदो तथा सांख्य, योग जैसे दर्शनोंके विचारोंसे अत्यन्त निकटका है। हमसे पहले अनेकों पाश्चात्य तथा भारतीय पुरातत्त्ववेत्ताओंने इस बातको विना किसी विवादके स्वीकार किया है। बौद्ध-धर्म औपनिषद विचारोंकी ही परिणति है, इस सम्बन्धमें सभी पण्डित सहमत हैं। यह सच है कि संन्यासदीक्षा, योग तथा मूर्तिपूजाका सम्बन्ध वेद-पूर्वकालकी संस्कृतियोंसे बतलाया जा सकता है; परन्तु इनका उपनिषदोंके साथका सम्बन्ध जितना सुसंगत एवं स्पष्ट है उतना ही वेद-पूर्व कालकी संस्कृतिसे है, इसे सिद्ध नहीं किया जा सकता। इसका कारण यह है कि वह संस्कृति संसारसे उठ गई है। अग्निचयनके अध्ययनके आधारपर हमने यह सिद्ध किया है कि मूर्तिपूजाका अङ्गीकार पहले वेदोंने ही किया। पौराणिक संस्कृतिके, खासकर शैव तथा वैष्णव धर्मोंके

विवेचनमें हमने यह भी स्पष्ट किया है कि वेद-पूर्व कालकी संस्कृतिको आत्मसात् करनेके यत्नका सूत्रपात करनेमें वैदिक ही सर्वप्रथम थे। बुद्ध तथा महावीरका जन्म जिन मानव-गणोंमें हुआ उनकी भाषा तथा समाज-रचना वैदिक भाषासे और वेदोंमें अभिव्यक्त समाज-रचनासे बहुत ही मिलती-जुलती है। प्राकृत भाषा तथा वैदिक संस्कृत भाषा दोनों एक ही कुलकी भाषाएँ हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्रकी, चातुर्वर्ण्यकी कल्पना भी वेदोंकी ही कल्पना है।

संस्कृतिके दो रूप ही सदैव दिखाई देते हैं, भौतिक तथा आध्यात्मिक। परन्तु यह मान्य करना पड़ता है कि उक्त दोनों रूप वस्तुत: एक ही अखण्ड वस्तुके स्वरूप हैं। बिना भौतिक शक्तिकी सहायताके मानव-शरीरकी धारणा असम्भव है; अतएव मानव-संस्कृतिमें भौतिक विश्वका उपयोग करनेकी प्रक्रिया एवं पद्धतिका अन्तर्भाव हो जाता है। आध्यात्मिक अर्थात् मानसिक स्वरूपका विस्तृत विवरण प्रस्तुत निबन्धके पहले व्याख्यानमें किया गया है। हमेशा यह कहा जाता है कि भौतिक व्यवहार ही संस्कृतिकी नींव है और मानसिक व्यवहार वह प्रासाद है जो इसी नींवपर खड़ा किया गया है। उक्त विवेचन यद्यपि आलङ्कारिक अर्थमें सत्य है, तो भी संस्कृतिकी मीमांसामें समस्याओंका समाधान करना तभी संभव है जब हम भौतिक तथा आध्यात्मिक रूपोंको एक दूसरेपर निर्भर मानकर ही विचार करना शुरू करेंगे। वास्तवमें आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनों ही विभाग विचारोंकी सुविधाके लिए कल्पित किये गए हैं। जिस तरह जीवशक्ति, प्राण अथवा मनका शरीरसे पृथक् अस्तित्व मानना एक विशुद्ध कल्पना है उसी तरह उक्त कल्पना-भेद भी। प्रस्तुत निबन्धमें हमने प्रधान रूपसे वैदिक संस्कृतिके विकासके लिए प्रेरक आध्यात्मिक शक्तिका ही विचार किया है। मानवी प्रपञ्चमें वैचारिक सामर्थ्य अथवा मानसिक शक्तियाँ ही अत्यन्त प्रभावी सिद्ध होती हैं। अतएव प्रस्तुत निबन्धके विवेचनमें संस्कृतिके इसी स्वरूपको अधिक महत्त्व दिया गया है।

भारतीय संस्कृतिकी आलोचना-प्रधान मीमांसा हमने 'हिन्दू धर्मकी समीक्षा'* (परांजपे व्याख्यान-माला, नागपुर विश्वविद्यालय १९४०) नामकी पुस्तकमें पहले ही की थी। उसमें व्यक्त दृष्टिकोण और प्रस्तुत निबन्धके दृष्टिकोणमें अन्तर है। 'हिन्दू धर्मकी समीक्षा'पर मार्क्सवादी विवेचन-पद्धतिका प्रभाव अधिक

---

* इसका हिन्दी अनुवाद 'हेमचन्द्रमोदी पुस्तकमाला, बम्बई' द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

है और वह वर्ग-विग्रहके सिद्धान्तसे अत्यधिक प्रभावित है। उसमें मानवके विचारोंपर भौतिक तथा आर्थिक उत्पादन-पद्धतिकी सीमाओंके बन्धनका स्वीकार औचित्यसे भी अधिक अनुपातमें किया गया है। इसके विपरीत प्रस्तुत निबन्धमें इस कल्पनाको अधिक महत्त्व दिया गया है कि आध्यात्मिक अथवा वैचारिक स्थिर मूल्योंकी शक्ति समाजकी भौतिक प्रवृत्तियोंपर भी अपना अधिकार स्थापित कर सकती है। आर्थिक उत्पादन-पद्धतिमें होनेवाले अनेकों परिवर्तनोंके बावजूद भी कुछ मानसिक मूल्य युगों युगोंतक अपनी सामर्थ्य तथा प्रभुताको कायम रख सकते हैं, इस सत्यको भली भाँति ध्यानमें रखकर प्रस्तुत निबन्धकी रचना हुई है। परन्तु हमें विश्वास है कि हिन्दू धर्मका इतिहासिक चिन्तन तथा मापतौल करते हुए 'हिन्दू धर्मकी समीक्षा' में ग्रथित अनेकों निर्णय संस्कृतिके विवेचनमें तथा उसकी गतिशीलताके अर्थको निश्चित करनेमें सहायक सिद्ध होंगे।

संसारकी सब संस्कृतियोंकी सामग्रीका संकलित चिन्तन करके मानवजातिशास्त्रके ज्ञाता मानव-संस्कृतिकी मीमांसा कर रहे हैं। उनकी रायमें संसारके सब देशों तथा कालोंकी मानव-जातिके आरम्भसे ही सब प्रकारकी संस्कृतियोंके रूप यद्यपि भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं, तो भी मौलिक दृष्टिकोणसे वह मानव-संस्कृति वस्तुतः एक ही है। इसका कारण यह है कि भाषा, धर्म, कला, विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाज संगठनका तन्त्र आदिका अलग अलग अध्ययन करते हुए प्रत्येकके सम्बन्धमें एक साधारण प्रक्रियाको निश्चित करना सम्भव होता है। उदाहरणके तौरपर भाषाकी उत्पत्ति तथा विकासकी प्रक्रिया और क्रमको निश्चित करते हुए मूल बर्बर अवस्थासे लेकर अत्यन्त उन्नत अवस्थामें व्यक्त स्वरूप प्राप्त होनेतक संसारकी सब भाषाओंका पृथक्करणात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन करना पड़ता है और उससे एक ही भाषाशास्त्रका तथा भाषाके एक तत्त्वज्ञानका निर्माण होता है। धर्म, कला, अर्थशास्त्र, विज्ञान तथा समाज-संगठनका तन्त्र आदिसे सम्बन्धित हरेक शास्त्र तथा तत्त्वज्ञानपर यही बात लागू होती है। यद्यपि प्रत्येक भाषा, प्रत्येक धर्म अथवा प्रत्येक संस्कृति अपने अपने स्वरूपमें भिन्न दिखाई देती है, फिर भी सब भाषाएँ, सब धर्म तथा सब संस्कृतियाँ अन्ततोगत्वा एक साधारण मानवसंस्कृतिके ही विशेष आविष्कार हैं। यह सच है कि प्रत्येक संस्कृतिकी रचना स्वतंत्र हुआ करती है; परन्तु प्रत्येक विशाल नदी यद्यपि अपना स्वतंत्र अस्तित्व रखती है, तो भी नदीके रूपमें उसका साधारण-धर्म क्या एक ही होता है। ठीक उसी तरह सब संस्कृतियोंका साधारण-धर्म एक ही है। हरेक मानव भले ही

अलग अलग हो; फिर भी उसका साधारण रूप याने मानव प्रकृति तो सब जगह एक ही है।

वर्तमान समयमें चीनी, हिन्दू मुसलमान, पश्चिमीय आदि ऐसी संस्कृतियाँ विद्यमान हैं जिनकी पूर्व-परम्परा सहस्रों वर्षोंकी है। इन संस्कृतियोंकी वृद्धि अविच्छिन्न तथा निकटवर्ती पारम्परिक साहचर्य एवं सहयोगसे नहीं हुई। इनका विकास पृथक् पृथक् रूपसे हुआ। अतएव इनमें विरोधी विशेषताओंका निर्माण हुआ। उक्त विशेषताओंके कारण ये संस्कृतियाँ परस्पर सामञ्जस्यके साथ निर्वाह नहीं कर सकतीं। इन्हीं विशेषताओंके कारण स्वतंत्र अहंकारों तथा अभिनिवेशोंका निर्माण हुआ है। उक्त सब संस्कृतियाँ आज पूर्णतया परस्पर सम्पर्कमें आई हैं। विश्वके सब राष्ट्रों और समाजोंके आर्थिक, राजनीतिक तथा बौद्धिक व्यवहार आजकल अभेद्य रूपसे आपसमें गूँथे हुए हैं। प्राचीन कालमें तथा मध्ययुगमें विभिन्न राष्ट्रों और समाजोंके, खासकर भिन्न खण्डोंमें स्थित राष्ट्रों और समाजोंके सम्बन्ध बहुत दूरके रहते थे। यद्यपि कई बार ऐसे सम्बन्ध स्थापित हुए तो भी उनका दीर्घकालतक बने रहना सम्भव नहीं हुआ। भिन्नताके उस वायुमण्डलमें निर्मित आचार-विचारोंका प्रभाव वर्तमान समयमें कम हो रहा है।

पाश्चात्य संस्कृति संसारके सब राष्ट्रों तथा समाजोंके एकत्र सम्मिलनका कारण बनी। अपने यातायातके साधनों तथा व्यापारकी पद्धतिके कारण यह संस्कृति समूचे संसारको एक जगह ले आई। यान्त्रिक संस्कृतिने गत तीन सौ वर्षोंमें मानव-जीवनमें क्रान्ति कर दी। सतरहवीं, अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियोंने पदपदपर पाश्चात्य संस्कृतिके उत्कर्षको देखा। अब उस संस्कृतिने सब सुसंस्कृत राष्ट्रोंके अन्तरङ्गमें प्रवेश किया है। प्रत्येक संस्कृतिके गर्भगृहमें आत्म-देवताके पास ही पाश्चात्य संस्कृतिसे निर्मित संस्थाएँ तथा यान्त्रिक संस्कृतिके विभिन्न उपकरण विराजमान हैं। विद्या तथा कला संस्कृतिका गाभा है। इसी गाभेमें संस्कृतिकी चैतन्य-शक्ति संचित रहती है। पौर्वात्य देशोंके विद्यापीठों तथा शिक्षा-संस्थाओंका प्रमुख शिक्षाक्रम वास्तवमें पाश्चात्य विद्याओं तथा कलाओंका ही शिक्षा-क्रम है। गणित तथा तर्कशास्त्र ही विज्ञानकी नींव है। भारतीय अथवा पौर्वात्य गणित तथा तर्कशास्त्रकी अपेक्षा इन विद्याओंमें पाश्चात्य बहुत ही आगे बढ़े हुए हैं। विज्ञान और विज्ञानपर आधारित अन्य दोनोंकी सैकड़ों शाखाएँ पूर्णतया नवीन हैं। इनके

विषयमें कुछ कालतक पौर्वात्योंको पाश्चात्य गुरुओंका ही अनुकरण करना होगा। सामाजिक शास्त्र भी अत्यन्त नवीन और पाश्चात्योंद्वारा प्रणीत ही हैं। पाश्चात्योंसे ही राजनीतिक संगठनके तत्त्वोंका स्वीकार करना आवश्यक हो उठा है। साहित्य तथा ललित कलाओंमें अभिव्यक्त भावनाओंके स्पन्दन तथा तन्त्र भी पाश्चात्योंके सम्पर्कसे बिलकुल बदल गए हैं। सच तो यह है कि पाश्चात्य संस्कृतिने सब पुरानी विद्यमान संस्कृतियोंको घेर लिया है। उन पुरानी संस्कृतियोंको एक विश्वव्यापी संस्कृतिके रसायनमें घोटनेके लिए पाश्चात्य संस्कृति बद्ध-परिकर है। पाश्चात्य संस्कृतिकी शक्तियाँ विशाल और प्रभावी, दिग्विजय करनेवाली और अत्यन्त दीप्तिमान् हैं। उन्होंने उक्त पुरानी संस्कृतियोंको बिलकुल निष्प्रभ बना दिया है। गत तीन सौ वर्षोंमें अप्रतिहत रूपसे पाश्चात्य संस्कृतिकी प्रगति हुई है। अतएव इस संस्कृतिके तत्त्ववेत्ताओंने यह तय किया है कि प्रगति ही मानव संस्कृति एवं इतिहासका स्वभाव धर्म है। उक्त तत्त्ववेत्ता इस सिद्धान्तकी स्थापना कर चुके हैं कि इतिहासकी शक्तियाँ बड़े बड़े घुमाव-फिरावसे अपने विकासके पथपर अनिवार्य रूपसे अग्रसर होती रहती हैं; उन्हें कोई भी नहीं रोक सकता। परन्तु बीसवीं सदीके मध्यमें उक्त संस्कृतिकी अवनतिके, विनाशके अशुभ चिह्न दृग्गोचर होने लगे हैं। विपरीत अनुभवोंके तथा आगामी सर्वविनाशक संग्रामके भयके धक्के प्रगतिवादके निश्चय एवं विश्वासको ढहा रहे हैं; वह विश्वास डगमगा गया है। विनाशके दुश्चिह्नोंको देखकर संस्कृतिके भविष्यकी चिन्ता करनेवाले तत्त्वचिन्तक, विनाश या अवनतिके कार्य-कारणभावकी चिन्ताजनक मीमांसा कर रहे हैं। गत तीस वर्षोंमें उक्त गंभीर मीमांसाके सैकड़ों बड़े बड़े प्रबन्धों, निबन्धों तथा ग्रंथोंकी रचना हुई है।

भौतिक विज्ञानके असीम उत्कर्ष और यान्त्रिक एवं औद्योगिक सुधारोंके प्रचण्ड विस्तारके बलपर पाश्चात्य संस्कृति वर्तमान विनाश कलमें भी इस आभासका निर्माण कर रही है कि मानव-जाति अपनी सम्पूर्ण समृद्धिके युगके अतीव निकट खड़ी है। परन्तु यह केवल आभास ही नहीं है, इसमें तथ्य भी बहुत है। यान्त्रिक संस्कृतिने जिन शक्तियोंको जन्म दिया वे दोनों तरहकी हैं – उत्कर्ष करनेवाली तथा विध्वंसक। किन्तु उक्त संस्कृति जलती हुई मशाल या धधकती अग्निके समान है। मशाल मार्गदर्शन भी करती है और घरोंको आग भी लगाती है। अग्नि देहको जलाता है और उसकी रक्षामें उपयोगी

भी सिद्ध होता है। सच तो यह है कि ये दोनों कार्य मशाल अथवा अग्निका उपयोग करनेवाले मानवपर निर्भर हैं। वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक संस्कृतिका भी यही हाल है। मानवकी नैतिक बुद्धि तथा ज्ञानके भ्रष्ट एवं नष्ट होनेके कारण ही मानवोंके विश्वके समूल नष्ट होनेकी भयानक आशङ्काका उदय हुआ है। मानवके अन्तरङ्गकी सदोष प्रवृत्तियोंकी वजहसे मानव-मानवके बीचके सम्बन्ध बिगड़े हुए हैं। क्या सामाजिक सम्बन्ध, क्या राष्ट्रोंके बीचके सम्बन्ध दोनों दोषपूर्ण बने हैं। यह नितान्त आवश्यक है कि मानव अपनी आत्माको शुद्ध करके और अपनेमें परिवर्तन करके सामाजिक तथा राष्ट्रीय सम्बन्धोंमें भी परिवर्तन कर दे; क्योंकि विश्वके सब प्रकारके सम्बन्धोंका जन्म आत्मासे ही होता है, व्यक्ति ही उनका कारण है। व्यक्तियोंके कुछ दल, वर्ग-संगठन या पक्ष-संगठन करके राजनीतिक सत्ताको प्राप्त करते हैं, समाजके आर्थिक जीवनपर नियन्त्रण रखते हैं और सत्ता-स्पर्धाकी राजनीतिको अपनाते हुए जनताके हितको खतरेमें डालते हैं। अतएव आध्यात्मिक शक्तियोंका आवाहन करनेवाली सत्प्रवृत्तियाँ ही भविष्यके प्रलयकारी संग्रामका परिहार करनेमें समर्थ होंगीं।

वर्तमान समयमें एक विश्वव्यापी मानव संस्कृति उत्पन्न होनेपर उतारू है। अब बड़ा भारी सवाल यह है कि क्या नवीन मानव-संस्कृति सब पुरानी मानव-संस्कृतियोंको अपनेमें समाविष्ट करके या उन्हें आत्मसात् करके अवतीर्ण होगी या सब संस्कृतियोंका पूर्ण विसर्जन करके ही उसका उदय होगा? मार्क्सवादी प्रवृत्ति जो कि सर्व पूर्ववर्ती संस्कृतियोंका विध्वंस करनेके लिए बद्धपरिकर है-संसारके सब राष्ट्रोंको चुनौती देते हुए आगे बढ़ रही है अवश्य; किन्तु यह एक मानी हुई बात है कि परम्पराके सम्पूर्ण विनाशसे नव-निर्माण नहीं हो सकता। अगर नवीन प्रवृत्तियाँ परम्पराका पूर्ण विध्वंस करनेके लिए सन्नद्ध होंगी, तो सर्वत्र पारम्परिक कलहोंका तथा अराजकताका निर्माण होगा और चारों ओर अंधेर-नगरी एवं अनवस्था अवश्य निर्माण होगी; क्रान्ति तो निश्चिय ही न होगी। परम्पराके स्थिर मूल्योंको आत्मसात् करनेकी पद्धतिका अवलम्ब करके ही विकास या प्रगतिकी शक्तियाँ यशको अर्जित कर सकती हैं। परम्परागत संस्कृतियोंपर नवीन प्रकाश डालनेकी प्रवृत्तिभी स्वागतार्ह होती है; इसीको जीर्णोद्धार-वाद कहा जाता है। केवल जीर्णोद्धार-वाद जीर्णोद्धार करते करते विलीन अथवा परास्त होता है। नवजीवन देनेवाला आन्दोलन ही यश प्राप्त करनेमें

समर्थ होता है; परन्तु यह कार्य न अतीतकी उपेक्षासे सम्पन्न होता है, न उसके पूर्ण विरोधसे।

विश्वव्यापी संस्कृतिकी स्थापना करना ही संसारके सब राष्ट्रोंके मानवोंका सर्व-प्रथम तथा सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। यही मानवोंका वह कर्तव्य है जो यथार्थमें सर्वोपरि माना जा सकता है। मानवको अपने कर्तव्यकी पहली जानकारी सहस्रों वर्षोंके पूर्व हुई। जिस समय मानवने सर्वव्यापी नीतिशास्त्रके सिद्धान्तोंका अनुभव किया और उन्हें मूल-भूत मान लिया उसी समय विश्वव्यापी मानव-संस्कृतिके अधिष्ठानका निर्माण हुआ। इसीपर साधुओंने अपना सर्वस्व न्योछावर किया। अब इस संस्कृतिकी सर्वाङ्गीण रचनाका समय आया है। यदि आज भी राष्ट्रभेद तथा वर्गभेद कायम रहे तो निश्चय ही सर्व-विनाश होगा, प्रलय होगा। अतएव यह कहना कि उक्त ध्येय दूरवर्ती है, कुछ अपवादरूप साधुओं ही का है वास्तवमें सर्व-विनाश एवं आत्म विनाशको चुनौती देना है। मानव जातिशास्त्रके ज्ञाताओं द्वारा प्रणीत मानव-संस्कृतिकी कल्पना अतीतपर लागू होती है। वह शास्त्रीय विवेचनके लिए उपयोगी अवश्य है; परन्तु उस व्याख्यासे हमारा वर्तमान उत्तरदायित्व क्या है इस प्रश्नका समाधान नहीं होगा। मानवजातिशास्त्रके ज्ञाताओंकी व्याख्याके अनुसार 'मानव-संस्कृति' इस शब्दके अर्थमें उन संस्कृति-योंका भी समावेश होता है जो एक दूसरेसे अलग और परस्पर-विरोधी हैं। परन्तु यह अतीव आवश्यक है कि सब परम्परागत संस्कृतियोंके महान् समन्वयकी शक्तिके रूपमें ही नवीन मानव-संस्कृतिका उदय हो।

वैदिक संस्कृतिके विकासकी मीमांसामें हमने इस बातको सिद्ध किया है कि भारतीय संस्कृतिमें वे भीतरी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं जिनके बलपर यह संस्कृति इस महान् समन्वयकी भागीदार बनकर उक्त विशाल शक्तियोंका पोषण करनेमें समर्थ होगी। ब्रह्म-विचार अथवा अध्यात्म विचारकी संज्ञासे भारतीय संस्कृतिकी इस शुभ शक्तिका बोध होता है। यही वैदिक संस्कृतिका अन्तिम निचोड़ है; यही आजतकके विकासकी बीज-शक्ति है।

परन्तु गत अनेकों शताब्दियोंके, खासकर वर्तमान समयके भारतीय संस्कृतिके इतिहासकी ओर निगाह डालनेसे निराशावाद ही मनको घेरे बिना नहीं रहता। जिस तरह विश्वकी संस्कृतियाँ प्रलयकी ओर दौड़ती हुई नजर आती हैं उसी तरह

भारतीय संस्कृतिभी उसी राहपर चलती हुई दिखाई दे रही है। पर भारतीय संस्कृतिके प्रलयके अशुभ चिह्न अलग ही हैं।

प्रथम तथा मूलगामी दुश्चिह्न है पिण्डपोषणके लिए आवश्यक अर्थकरी प्रवृत्तिका अभाव यानि अर्थोत्पादनके लिए आवश्यक अर्थकरी प्रवृत्तिका अभाव। अर्थोत्पादनके लिए नितान्त आवश्यक अदम्य उत्साह ही वास्तवमें प्राणिमात्रकी जीव-धारणाकी समर्थनाका शुभ लक्षण है। दुर्भाग्यसे भारतीय राष्ट्रमें उक्त प्रवृत्ति बहुत ही मन्द दिखाई देती है। मानव स्वभावतः अपूर्ण जीवन-साधनोंसे निर्मित प्राणी है। अन्य जीव-सृष्टिके लिए निर्माणकी आवश्यकता नहीं है; संचयकी है। मानव ही ऐसा प्राणी है जो निर्माण किए बगैर जीवनयापन नहीं कर सकता है। भारत अपने लिए पर्याप्त अन्नका उत्पादन नहीं करता; पर्याप्त वस्त्र, पात्र तथा गृह आदि साधनोंका निर्माण नहीं करता। यह परिस्थिति केवल वर्तमान समयकी ही विषादकारी कहानी नहीं है; गत शत वर्षोंका यही अर्थशास्त्र है और यह कहनेके लिए इतिहासिक प्रमाण पाए जा सकते हैं कि सैकड़ों वर्षोंका अर्थशास्त्र यही है। जो राष्ट्र अपनी प्राण रक्षाके लिए आवश्यक साधनोंका पर्याप्त निर्माण नहीं कर सकता, या साधनोंका निर्माण करनेवाली मङ्गल प्रवृत्तियोंको प्रदर्शित नहीं कर पाता उस राष्ट्रकी संस्कृति मुमूर्षु है, यह अनुमान स्वाभाविक रूपसे निकलता है।

दूसरा अमङ्गल चिह्न यह है कि गत सहस्र वर्षोंमें विदेशी आक्रमणोंके सामने इस राष्ट्रको और इस संस्कृतिको सदैव परास्त होना पड़ा है। इसका कारण यह है कि यहाँके समाज-संगठनका तत्त्व राष्ट्रमें राजनीतिक सामर्थ्यका निर्माण करनेमें सहायक नहीं था। इस देशमें जो राज्य-संस्थाएँ विद्यमान थीं उन्हें और उन राज्योंको प्रजाका एकरूप, सम्पूर्ण समर्थन कभी प्राप्त हुआ ही नहीं। क्षात्र-धर्म जिन व्यक्तियोंका जन्म-सिद्ध व्यवसाय माना गया था वे भी एक विशाल राजनीतिक संगठनके संरक्षकके रूपमें उससे नित्य सम्बद्ध कदापि न रहे। राजनीतिक दृष्टिकोणसे केन्द्रीय तथा एक-छत्र राज्य-संस्थाएँ यहाँ बहुत थोड़े समयतक टिकती थीं और शीघ्र ही विभिन्न, स्वयंपूर्ण, स्वतन्त्र राज्योंके खण्डोंमें इनका रूपान्तर हो जाता था। इन स्वतन्त्र राज्योंको, राज्योंकी अन्तर्गत प्रजाओंका एकरस यानी सम्पूर्ण, संगठित समर्थन किसी भी समय प्राप्त न हो पाया। इसका कारण यह है कि वर्णभेदके कारण इनमें 'हम लड़ाऊ हैं' इस तरहके ज्ञानका अभाव था। संसारके अन्य प्राचीन, मध्ययुगीन तथा

अर्वाचीन राष्ट्रोंके इतिहासकी ओर अगर हम दृष्टिपात करें तो कई बार यह दिखाई देता है कि आपत्कालमें राष्ट्रकी तरह समूची प्रजा शिबिरमें स्थित सेनाकी तरह एक हृदयसे राज्योंके पीछे युद्धार्थ प्रस्तुत है। इसका कारण यह है कि शान्तिके समय प्रजाजनों तथा नागरिकोंके पारिवारिक सम्बन्ध सामञ्जस्य-पूर्ण रहा करते थे। सामाजिक ऊँच-नीचताके भाव थे; किन्तु उसकी वजहसे सामाजिक बन्धुत्वको व्यक्त करनेवाले सुअवसर कभी कम नहीं हुए। आहार, विहार, खेल, धार्मिक कर्मकाण्ड, सामाजिक उत्सव आदि विषयोंमें एकरूपता प्रकट होती थी। शान्तिके कालमें युद्धके लिए आवश्यक सामाजिक भ्रातृ-भावनाका पोषण होता था। अटलाण्टिक महासागरके उस पार रहनेवाला योरोपीय परिवार और योरोपका निवासी योरोपीय परिवार दोनों एक स्थानपर आनेपर एकदम समरस या एकरूप होते थे। राष्ट्रभेद पारिवारिक एकरूपतामें बाधा-रूप नहीं होते थे। मुसलमानों तथा चीनी लोगोंकी कहानी यही है। जातिभेद तो परिवारिक दृष्टिकोणसे राष्ट्रभेदकी अपेक्षा भी अधिक दूरवर्ती सम्बधोंका निर्माण करता है। सचमुच भारतीय राष्ट्रकी राजनीतिक दुर्बलताकी मीमांसा बड़ी गहरी है।

तीसरा अशुभ चिह्न यह है कि यहाँकी परम्परागत समाज-व्यवस्था राष्ट्रके अङ्गभूत व्यक्तियों, परिवारों तथा मानव-समूहोंको प्रगतिके सर्व क्षेत्रोंमें निर्बाध स्वतन्त्रताका अनुभव नहीं करने देती; वास्तवमें उसमें बाधा-रूप ही सिद्ध होती है। जातिभेदसे निर्मित बाधाएँ अब धीरे धीरे कम हो रही हैं; किन्तु जातिभेदके कुछ बन्धन आज भी दृढ हैं। इसके फलस्वरूप रूढिके संस्कारोंके कारण नागरिकोंके पारस्परिक सम्बध आपसमें विशुद्ध आदर-भावनाका निर्माण नहीं होने देते। स्वातन्त्र्य, समता तथा बन्धुत्वके अनमोल मूल्योंको व्यवहारोंमें दृढमूल करनेमें पूर्ववर्ती संस्कार रुकावटें डालते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि जातीय मत्सर राजनीतिक तथा सामाजिक व्यवहारोंके वायुमण्डलको दूषित कर देता है।

चौथा और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दुश्चिह्न यह है कि यहाँके साधारण मानव तथा सुसंस्कृत व्यक्तिका जीवन-सम्बधी दृष्टिकोण ही दृश्यमान विश्वकी ओर उपेक्षासे देखनेका है। भारतीय मानवका तत्त्वज्ञान ही इस श्रद्धाके लिए पोषक नहीं है कि इस विश्वका अपने प्रयत्नोंसे ही सुधार करना आवश्यक है और मानवका अन्तिम कल्याण अन्ततोगत्वा इस विश्वको अधिक सुचारु एवं स्वस्थ बनानेपर ही निर्भर है। यहाँके मानवकी दृढ श्रद्धा यह है कि मनुष्य-जन्म पारलौकिक हित याने मृत्युके बादके हितको साध्य करनेके लिए ही हुआ है।

उन्नसवीं तथा बीसवीं शताब्दियोंके भारतीय तत्त्वद्रष्टाओंने इस विश्वके मानवी कर्तव्योंको उच्चतम स्थान प्रदान करनेवाले तत्त्वज्ञानके प्रतिपादनका प्रयत्न किया है। परन्तु इस देशके निवासी मानवके परलोकवादी दृष्टिकोणमें परिवर्तन करनेके लिए बहुत ही बड़े शैक्षणिक प्रयत्नोंकी नितान्त आवश्यकता है। यह एक अव्यवस्थित और सीधा-सादा भोला विचार है जो स्थूल लोक-भ्रमात्मक काल्पनिक कथाओं एवं पुराणोंपर अतिरिक्त भरोसा रखनेसे उत्पन्न हुआ है। सिवा वैचारिक क्रान्तिके यहाँके मानवको नवीन दृष्टि प्राप्त नहीं होगी। यह संघर्ष जड़वाद तथा अध्यात्मवादके बीचका संघर्ष नहीं है। राजा राममोहन राय, लोकमान्य तिलक, योगी अरविन्द तथा महात्मा गान्धी इन महानुभावोंके विचार भी अध्यात्मवादी ही थे अवश्य; किन्तु उन्होंने अपने अपने आदेशोंमें जिस अर्थको प्रदर्शित किया है वह यह है कि इसी विश्वके गुणवान्, पराक्रम-सम्पन्न एवं ज्ञानवान् व्यक्तिका जीवन ही सच्चे अर्थोंमें आध्यात्मिक जीवन है।

आर्थिक राजनीतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक दुर्बलताओंके उपर्युक्त कुलक्षणोंको नष्ट करनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि यहाँके मानवके जीवनविषयक दृष्टिकोणमें ही मूलतः परिवर्तन हो। अन्तरङ्गके मूल-भूत दोषोंकी वजहसे ही उक्त अवनतिके लक्षण उत्पन्न हुए हैं। आत्मशक्तिको नवीन रूपमें आलोकित किए बिना विक्रमशाली, गुणवान् तथा वैभवसम्पन्न मानवताका उदय नहीं होता। वर्तमान समयमें समूचे विश्वमें ही मानवताके व्यापक धर्मकी स्थापना परमावश्यक है। यह आवश्यक है कि अपनी तथा विश्वकी परम्परागत संस्कृतिके मननसे प्रत्येक राष्ट्र उस जीवन-दृष्टिसे लाभान्वित हो, जो सर्वव्यापी मानवताकी समान संस्कृतिकी नींवका निर्माण करनेमें समर्थ हो। इसी उद्देश्यसे प्रेरित होकर हमने यह वैदिक संस्कृतिके विकासकी मीमांसा की है। वैदिक संस्कृतिके विकासमें जो शक्तियाँ लाभदायी सिद्ध हुई वे सब मानवताको व्यापनेवाली शक्तियाँ थीं। उनका स्पन्दन तथा स्फुरण देशभेद तथा कालभेद दोनोंकी संकीर्ण सीमाओंको क्षुद्र एवं नगण्य मानता था। उपनिषदोंमें ग्रथित आत्म-दर्शन अखिल विश्वके भेदोंको भ्रमपूर्ण अथवा बन्धनरूप समझकर उनके विध्वंसका आदेश देता है। क्या शैव, क्या वैष्णव, क्या जैन, क्या बौद्ध सब धर्म-दर्शनोंकी नैतिक प्रेरणा मानव-मात्रके याने समूची मानव जातिके कल्याणको परमार्थ मानती है। भारतीय संस्कृतिकी मूल-भूत प्रेरणा विश्वव्यापी है।

प्रस्तुत पुस्तकमें किये गए सर्वाङ्गीण विवेचनसे उपर्युक्त सिद्धान्त स्पष्टतया प्रतीत होगा। मानवी इतिहासके तत्त्वज्ञान तथा मानव-जाति-शास्त्रके प्रमेयोंके आधारपर ही यह विवेचन किया गया है। आत्मशक्तिका अन्वेषण तथा आत्मशक्तिका उत्कर्ष ही यथार्थमें वैदिक संस्कृतिका सर्वव्यापी उद्देश्य है! इसी उद्देश्यके कारण भारतीय संस्कृति अत्यन्त प्रभावी हो पाई है और इसी महान् उद्देश्यके मन्द होनेके कारण वह परास्त भी हुई है। आत्मा ही वास्तवमें स्वयं मानव है।

वाई
वैशाख शुद्ध १२ शके १८७६ } लक्ष्मणशास्त्री जोशी

अनुक्रमणिका

अयं पन्था अनुवित्तः पुराणः
यतो देवा उदजायन्त विश्वे । —ऋग्वेद

" यह वह प्राचीन मार्ग है जो मान्य हुआ है ।
इसीसे सब देवताओंका जन्म हुआ है । "

वैदिक संस्कृतिका विकास

१—वेदकालीन संस्कृति

वैदिक संस्कृति संसारकी प्राचीन संस्कृतियोंमेंसे एक है। उसका स्थान बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान भारतवर्षकी इस संस्कृतिकी वृद्धि करनेमें अनेकों मानव-वंश प्राचीन कालसे ही संलग्न हैं। वर्तमान समयतक वह निरन्तर विकासके पथपर अग्रसर रही है। कतिपय परिवर्तन तथा क्रान्तियाँ इसके विकासकी उज्ज्वल कड़ियाँ बनी हैं। संसारकी विविध सभ्यताएँ इस संस्कृतिमें घुलमिलकर एक हुई हैं। अन्य महान् संस्कृतियोंने कुछ अंशोंमें अगर इसे उपकृत किया है तो इससे विरासतमें उन्होंने बहुत कुछ पाया भी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। वास्तवमें वैदिक संस्कृति विश्व-संस्कृतिका एक महत्त्वपूर्ण अंश है। अतएव वैदिक संस्कृतिकी प्रस्तुत समीक्षाका यह उद्देश्य रहा है कि वह विश्व-संस्कृतिके विकासकी पूर्ति एवं पोषण करनेमें अधिक सफल सिद्ध हो।

संस्कृतिकी मीमांसाके माने हुए सिद्धान्तोंके आधारपर ही वैदिक संस्कृतिकी समीक्षा करना उचित है। पश्चिमीय पण्डितोंके गत ढाई सौ वर्षोंके अन्वेषणके फल-स्वरूप संसारकी अन्यान्य संस्कृतियोंके इतिहास एवं स्वरूपोंके विषयमें अपार सामग्री संचित हुई है और आधुनिक मनीषियोंने इसी सामग्रीके आधारपर मानवनिर्मित संस्कृतियोंकी उत्पत्ति एवं विकासकी मीमांसा की है। इस मीमांसाके सिद्धान्त वैदिक-संस्कृतिपर भी यथार्थतया लागू होते हैं। संस्कृति-मीमांसाके सारको सामने रखनेके उपरान्त वैदिक संस्कृतिकी समीक्षाका श्रीगणेश करना उचित होगा। संसारकी अन्य संस्कृतियोंकी समुचित मीमांसाके प्रकाशमें ही भारतीय संस्कृतिका अन्तरङ्ग अधिक स्पष्ट एवं हृदयङ्गम हो उठता है। इसका प्रधान कारण यह है कि मानवोंकी संस्कृतिके जीवनके मूल तत्त्व सर्वत्र समान ही हैं। विभिन्न संस्कृतियोंके विकासमें भिन्नता भले ही हो, संस्कृतिकी साधना करने-वाली मानवकी बुद्धि तथा मन के व्यापारोंका प्रवर्तन एक ही ढंगसे होता आया

है। अतएव संस्कृतिके विकासमें विभिन्न स्तरोंपर स्थित मानव-समूहोंमें संस्कारोंका आदान-प्रदान सम्भव है।

संस्कृतिकी दो परिभाषाएँ

मानव-समूहोंके सब सांस्कृतिक अङ्गोंका अध्ययन करनेकी पद्धति मानव-जातिके शास्त्रके ज्ञाताओंमें प्रचलित है। उनकी रायमें संस्कृतिकी जो परिभाषा की गई है उसपर पहले विचार करेंगे। वैसे तो संस्कृतिकी मानी हुई परिभाषाएँ दो हैं; एक व्यापक अर्थमें और दूसरी सीमित अर्थमें। इसका कारण यह है कि 'संस्कृति' शब्द दो अलग अलग अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। पहले अर्थमें मानवोंद्वारा निर्मित आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक विश्वका संस्कृतिमें समावेश किया जाता है; तो दूसरेमें सिर्फ मानवकी मानसिक उन्नतिका।

व्यापक अर्थको लेकर संस्कृतिकी परिभाषा निम्नानुसार है। संस्कृति वास्तवमें वह जीवन-पद्धति है जिसकी स्थापना मानव व्यक्ति तथा समूहके रूपमें निर्माण करता है; उन आविष्कारोंका संग्रह है जिनका अन्वेषण मानवने अपने जीवनको सफल बनानेके लिए किया है। उक्त अन्वेषणमें मानव तब सफल होता है जब वह अपनी आत्मा तथा बाह्य विश्व दोनोंका संस्कार करे। मानव और उसके चारों ओर फैला हुआ संसार दोनोंका समाहार ही वास्तवमें प्रकृति है। कभी प्रकृतिमें परिवर्तन उपस्थित करके तो कभी इसका संस्कार करके मानव अपने जीवन-पथपर अग्रसर होता है। सच बात तो यह है कि संस्कृति मानवद्वारा प्रकृतिपर प्राप्त विजयकी क्रमबद्ध कहानी है। अपनी आत्मा तथा बाह्य विश्वपर विजय पाकर ही मानव उन्नत हो सकता है। जीवनको सफल बनानेके लिए यह आवश्यक है कि उसकी आत्माके बलका विकास हो; विश्वकी शक्तियोंपर उसे अधिकार प्राप्त हो। मानव और बाह्य विश्वका उक्त विभाजन विचारकी सुविधाके लिए ही किया गया है; वस्तुतः मानव विश्वसे अलग नहीं है। आत्मा ही मानव है। वैदिक रूढिके अनुसार 'आत्मा' शब्दसे स्थूल शरीर, इन्द्रियाँ, मन तथा ज्ञान-शक्तिका बोध होता है। आत्माके चारों ओर फैला हुआ संसार ही बाह्य विश्व कहलाता है; बाह्यका यहाँ अर्थ है वह जो इन्द्रियोंका विषय बन सके।

जीवनकी एषणासे प्रेरित मानव एक ओर बाह्य विश्वका संस्कार करके उसमें परिवर्तन करनेके लिए यत्नशील है और दूसरी ओर वह अपनी आत्माका संस्कार करके उसमें भी परिवर्तन उपस्थित करनेमें दत्तचित्त रहता है। आत्मा तथा विश्वके

संस्कारकी उक्त क्रियाएँ साथ साथ ही चलती हैं। मानव संगमर्मरके पाषाणोंको काट-तराश कर और उन्हें आकार प्रदान करके मूर्तियोंका निर्माण करता है। पाषाणोंसे मूर्तिका निर्माण बाह्य विश्वके संस्कारका ही प्रयत्न है। यही संस्कृतिका भौतिक अंश है। इस भौतिक संस्कृतिके सम्पर्कसे मनुष्यका याने उसके मनका संस्कार भी सम्पन्न होता है। प्रस्तुत उदाहरणमें मूर्तिकलामें अभिव्यक्त कौशल इसी संस्कारका रूप है। यही संस्कृतिका आध्यात्मिक अंश है। तात्पर्य यह कि संस्कृतिके ये दो पहलू हैं—आध्यात्मिक और आधिभौतिक। इन्हें पूर्ण रूपसे पृथक् तो नहीं माना जा सकता; लेकिन मानवकी जिस क्रियामें बाह्य विश्वके संस्कार एवं परिवर्तनको प्रधानता है उसे भौतिक संस्कृति कहनेकी पद्धति प्रचलित है और जिसमें मानवकी प्रकृति याने उसकी आत्माका संस्कार एवं सुधार ही प्रधान हो उठता है उसे आध्यात्मिक संस्कृति कहनेकी प्रथा सर्वसम्मत है। इसके अनुसार क्या कृषि, क्या पशु-पालन, क्या स्थापत्य, क्या धातुकला, क्या यन्त्र-निर्माण, क्या अर्थोत्पादन सबको भौतिक संस्कृतिकी संज्ञा दी जाती है। सारांश बाह्य विश्वके उपभोग या भौतिक प्रगतिको प्रधानता देना भौतिक संस्कृतिका लक्षण है। इसी अर्थमें आधुनिक पश्चिमीय (पाश्चात्य) संस्कृतिको भौतिक कहा जाता है। उसमें बाह्य विश्वपर विजय पानेकी प्रवृत्ति ही बलवान् है। किन्तु संस्कृतिके उपर्युक्त पृथक्करणके अनुसार आधुनिक पश्चिमीय संस्कृतिमें भी संस्कृतिके आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनों अंश निःसन्देह सम्मिलित हैं।

संस्कृतिके आध्यात्मिक अंशमें धर्म, नीति, विधि-विधान, विद्याएँ, कला-कौशल, साहित्य आदिके साथ साथ मानवमें स्थित सभी सद्‌गुणों एवं शिष्टाचारोंका अन्तर्भाव होता है। प्रकृतिपर विजय पानेकी अभिलाषा इस अंशमें भी विद्यमान है। उदाहरणके तौरपर धनकी तथा मनको मोहित करनेवाली युवतीकी अभिलाषाका उदय होना मानवकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अनेकों पीढ़ियोंके अनुभवके आधारपर मानवने विवाह-संस्थाका तथा आर्थिक जीवनके नियमोंका निर्माण किया। इसके लिए अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियोंपर विजय पानेका पाठ पढ़नेपर वह बाध्य हुआ। फलतः परिश्रमसे अर्जित धनपर अधिकारकी कल्पना तथा दम्पतिके बीच अटल प्रेमकी सराहनीयता जैसे मूल्योंकी स्थापना हुई। इसी तरह सभी आध्यात्मिक मूल्योंका मानवने अन्वेषण एवं निर्माण किया। यह तो मानी हुई बात है कि उन्नतिके शिखरपर ले जानेवाली प्रवृत्तियोंके साथ साथ अवनतिके गर्तमें ढकेलनेवाली प्रवृत्तियाँ भी मानवके हृदयमें सदैव निहित हैं। श्रद्धा, सत्यनिष्ठा, मित्रता, सहानु-

भूति, परिश्रमकी रुचि, दया, उदारता, ज्ञान-पिपासा, तर्कनिष्ठ आलोचना, न्यायबुद्धि आदि उच्च कोटिके गुणोंका वह भण्डार है सही; किन्तु साथ साथ श्रद्धाहीनता, मिथ्यावाद, मत्सर, द्वेष, आलस्य, क्रूरता, निद्रालुता, विद्याविमुखता आदि दुर्गुण भी उसमें बीज-रूपमें विद्यमान हैं, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। मनुष्यको अपने अनुभवसे, विचारोंसे और रूढ़िकी सहायतासे सत्प्रवृत्तियोंका चयन तथा संवर्धन करना पड़ता है। अतएव उच्च कोटिके आध्यात्मिक मूल्य यदि एक अर्थमें शाश्वत हैं तो दूसरे अर्थमें मानव-निर्मित भी। जीवनके महासमरमें निष्ठावान् दम्पतियोंकी सफलताको देखकर ही मानव विवाह-संस्थाका अन्वेषण तथा संगठन कर पाया। इसी तरह क्या धर्म, क्या नीति, क्या कला सबके उच्चतम मूल्य शाश्वत या चिरन्तन ही हैं; परन्तु सदियोंके सुदीर्घ अन्वेषणके उपरान्त ही मानव उनका निर्माण कर सका है। इस महाप्रयत्नमें कभी सफलताने उसे ताज पहनाया है तो कई अवसरोंपर उसे असफलताका शिकार भी होना पड़ा है। उसे अपनी पद्धतिमें बार बार परिवर्तन करना पड़ा। मूल्योंकी स्थापनाका यह इतिहास ही यथार्थमें मानव-जातिका इतिहास है। काम, क्रोधादि विकारोंको संयत करके चित्तकी समताको, 'समत्वबुद्धि'को प्राप्त करना एक बहुत ही उच्च कोटिका गुण है जिसकी खोजमें मानवके युग बीते। तात्पर्य आध्यात्मिक संस्कृतिका भी एक अपना इतिहास है। इस संस्कृतिका आविष्कार प्रधानतया आत्माको केन्द्र मानकर प्रकट होता है। इस दृष्टिसे गणित तथा भौतिक-विज्ञान भी आध्यात्मिक संस्कृतिके ही अंश हैं। बिना बुद्धिका संस्कार किये भौतिक-विज्ञानतक पहुँचना असम्भव है। संख्या एवं परिमाणके विषयमें मूल-भूत विशुद्ध कल्पनाएँ मानवकी बुद्धिमें सहज भावसे विद्यमान हैं ही; उन्हींके विकास तथा विवरणको गणित-विज्ञानकी संज्ञा प्राप्त है। गणित आत्माकी शक्तिका नितान्त विशुद्ध आविष्कार है। ललितकलाएँ भी मुख्यतया आत्म-निष्ठ हैं; सिर्फ उनका माध्यम भौतिक एवं बाह्य है। शब्द, ध्वनि, रंग, मृत्तिका आदि ललितकलाओंके माध्यम हैं। माध्यमका अभिप्राय है कलाके संकेतोंकी अभि-व्यक्तिके साधन। शब्द, ध्वनि, रंग, मृत्तिका आदि माध्यमों द्वारा कलाकार मानवके मनकी संचित अनुभूतियोंको उद्बुद्ध करता है। कलाकी अनुभूतिकी प्रमुख सामग्री रसिकके हृदयमें विद्यमान तो है ही; माध्यम असलमें सर्वत्र वह विद्युतप्रवाह है जिसके संचरणसे ही हृदयाकाशमें चैतन्यरूप प्रकाश छा जाता है। स्थूल पाषाणोंपर मूर्तिकार अपने अन्तःकरणके सूक्ष्म भावोंको अङ्कित करता है; कागजके छोटे-से टुकड़ेपर चित्रकार अथाह सागर तथा अनन्त आकाशके दर्शन कराता है। क्या

पाषाण, क्या कागज, क्या वर्ण (रंग) सभी कलाके, माध्यम हैं। ये मानवके हृदयमें संस्कारोंके रूपमें सुप्त अनुभूतियोंको सचेत करते हैं और उन्हें एक निश्चित पद्धतिके अनुसार संगठित करनेमें सहायक होते हैं। ललितकला वास्तवमें आध्यात्मिक संस्कृतिका ही उच्च कोटिका आविष्कार है।

उपर्युक्त संस्कृतिकी परिभाषा मानव-जातिशास्त्रके मर्मज्ञोंके संस्कृति-विषयक विवेचनके आधारपर की गई है। अमेरिका के मानवजातिशास्त्रज्ञ फ्रांझ बोस-(Franz Boas) ने संस्कृतिकी विवेचनामें संस्कृतिके तीन पहलुओंका (aspects) विवरण करते हुए लिखा है:-"संस्कृतिके पहलू अनेक हैं। (१) मानव तथा प्रकृतिके बीचके विविध सम्बन्ध। इसमें अन्नका अर्जन तथा रक्षण, आश्रय-स्थानोंका निर्माण, विश्वकी या प्रकृतिकी विविध वस्तुओंमें परिवर्तन करके उनका हथियार–औजारों एवं बरतनोंके रूपमें उपयोग, पशुओं, वनस्पतियों, निरिन्द्रिय पदार्थों, ऋतुचक्र, वातावरण आदिका उचित उपयोग तथा नियमन अथवा इनकी सहायतासे जीवनको नियन्त्रित एवं सुखकर बनानेके विविध मार्गोंकी खोज आदिका समावेश होता है। (२) मानव और मानवके बीचके रागात्मक सम्बन्ध, एक ही समाजके व्यक्तियोंके पारस्परिक सम्बन्धों तथा भिन्न समूहोंके व्यक्तियोंके बीच स्थापित होनेवाले सम्बन्धोंका सांस्कृतिक आविष्कार बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। परिवारों, गणों, जातियों तथा विभिन्न सामाजिक दलोंके बन्धन इसमें सम्मिलित हैं। सामाजिक स्तर तथा प्रभावसे उत्पन्न ऊँच-नीचकी परम्पराका इसीमें समावेश होता है। अवस्थासे उत्पन्न और यौन सम्बन्धों, राजनीतिक एवं धार्मिक संगठनों, शान्ति तथा संघर्षोंके समय उत्पन्न होनेवाले सामाजिक दलोंके सम्बन्धोंका अन्तर्भाव भी इसीमें किया जाता है। (३) मानव और प्रकृतिके बीच वर्तमान सम्बन्धों तथा मनुष्योंके पारस्परिक रागात्मक-सम्बन्धोंकी मानवके मनपर विशेष प्रकारकी प्रतिक्रिया होती है। इन प्रतिक्रियाओंका स्वरूप बौद्धिक भी रहता है और भाव-प्रधान भी। असलमें इन प्रतिक्रियाओंकी अभिव्यक्ति विचारों, भावनाओं तथा कार्योंके रूपमें होती है। नीति और धर्मसे सम्बद्ध तथा सौन्दर्य-विषयक मूल्योंको इनके अन्तर्गत रखा जा सकता है। इन सबका सम्मिलित रूपमें विचार करनेसे संस्कृति और जीवनके सम्बन्धोंका यथार्थ ज्ञान होता है।"

कतिपय विद्वानोंको संस्कृतिकी परिभाषाको अधिक सीमित करना पसन्द है। 'सुसंस्कृत मानव' जैसे शब्द-प्रयोगमें इसी सीमित परिभाषाकी ओर संकेत है। वह परिभाषा यों है– मानवकी मानसिक उन्नतिका परिचायक जीवनक्रम

अथवा आचरणपद्धति ही यथार्थमें संस्कृति है। इस व्याख्याके अनुसार वही मानव सुसंस्कृत कहलता है जिसमें सदसद्विवेक करनेवाली बुद्धिका भरसक विकास हुआ हो और जो नागरिकके नाते प्राप्त होनेवाले कर्तव्योंको भली-भाँति समझकर निबाहनेकी क्षमता रखता हो। विद्यासे विभूषित और सद्गुणोंसे मण्डित मानवको ही इस परिभाषाके अनुसार सुसंस्कृत कहा जाता है। उच्च कोटिका आदर्शवाद और उसके अनुसार आवश्यक जीवनपद्धति यही इस संस्कृतिकी व्याख्याका निचोड़ है। परन्तु इतिहास और समाज-शास्त्रके तात्त्विक विवेचनमें अक्सर 'संस्कृति' शब्द पहली परिभाषाके अर्थके अनुसार ही प्रयुक्त होता है। हाँ, यह सही है कि व्यवहारमें सामान्य रूपसे दूसरी परिभाषाका ही अङ्गीकार किया जाता है।

संस्कृतिकी रचना एवं विकासकी मीमांसा

इतिहास-शास्त्रके अनुसार संस्कृतिकी प्रधानतया दो अवस्थाएँ मानी गई हैं, एक प्रारम्भिक और दूसरी विकसित। प्रारम्भिक अवस्थाके विषयमें कई बार शिथिलतासे 'बर्बर' विशेषणका उपयोग किया जाता है। प्रारम्भिक अवस्थामें वर्तमान संस्कृतियोंकी परिधिमें भी तारतम्यसे कई श्रेणियोंका अन्तर्भाव होता है। प्रारम्भिक अवस्था उसे कहते हैं जिसमें विकसित संस्कृतिके सामान्य लक्षण दृग्गोचर नहीं होते। इस अवस्थामें मृगया, पशु-पालन, कृषि, पुरोहित-वर्ग, नौकानयन आदि संस्थाएँ तो उत्पन्न होती हैं; किन्तु शासन-व्यवस्था, ग्रन्थोंमें ग्रथित भाषा, गणित-जैसे शास्त्रोंकी अव्यक्त कल्पनाओंके संकेत तथा उनपर आधारित विज्ञान, द्रव्यके आदान-प्रदानसे चलनेवाला वाणिज्य आदि संस्थाएँ उत्पन्न नहीं हो पातीं। समूची मानव-जातिपर समान रूपसे लागू होनेवाले नीति-तत्त्वोंकी मान्यता यह एक विकसित संस्कृतिका परिचायक एवं महत्त्वपूर्ण लक्षण है। काम करनेके साधनों तथा हथियार औजारोंके आधारपर भी संस्कृतिकी विकसित तथा प्रारम्भिक अवस्थाका अनुमान किया जाता है। उदाहरणके लिए लोहेकी खोजके अथवा आर्थिक उत्पादनमें धातुओंके बड़े पैमानेपर उपयोग किये जानेके पूर्ववर्ती कालमें विद्यमान संस्कृतिके लिए इतिहासके पण्डित अक्सर 'प्रारम्भिक' शब्दका ही उपयोग करते हैं। सच बात तो यह है कि हरेक संस्कृतिमें ऐसी कई विभिन्न संस्थाएँ सम्मिलित होती हैं जो उसकी मानसिक, भौतिक तथा सामाजिक उन्नतिकी परिचायक हुआ करती हैं। इन्हीं संस्थाओंके सम्मिलित स्वरूपके आधारपर संस्कृतिकी विकसित अवस्थाको निश्चित करना उचित है।

प्रत्येक संस्कृतिकी अपनी विशिष्ट रचना होती है। इस विशिष्ट रचनामें सब सामाजिक संस्थाएँ ठीक उसी तरह पिरोयी जाती हैं जैसे शरीरमें अङ्ग-प्रत्यङ्ग। क्या धर्म, क्या नीति, क्या शिष्टाचार, क्या कर्मकाण्ड, क्या शिष्टाचार, क्या विधि-विधान, क्या विवाह-संस्था, क्या आर्थिक उत्पादन-पद्धति सभी सामाजिक संस्थाएँ एवं प्रवृत्तियाँ वास्तवमें घुली-मिली अतएव एक दूसरीपर निर्भर रहती हैं। उनमें सहयोग तथा संघर्ष निरन्तर प्रवर्तमान रहता है। उनमेंसे किसी एकका परिवर्तन अन्योंको शीघ्र ही प्रभावित करता है। विविध अङ्ग-प्रत्यङ्गोंसे संयुक्त रचना अथवा आकृति ही यथार्थमें संस्कृति है। प्रारम्भिक अथवा उन्नत अवस्थामें वर्तमान हरेक समाज अथवा समूहका जीवन अपनी पृथक् सत्ता रखता है।

उन्नतिके विभिन्न स्तरोंपर स्थित विविध संस्कृतियों तथा समान अवस्थामें वर्तमान भिन्न संस्कृतियोंके बीच आदान-प्रदान संघर्ष अथवा मिलनकी प्रवृत्तियोंका होना सम्भव है। इतिहासका निष्कर्ष है कि एक दूसरेके सम्पर्कमें आनेपर भिन्न संस्कृतियाँ जूझती हैं, आदान-प्रदान करती हैं और कभी कभी एक दूसरेमें विलीन भी होती हैं। सुदूर अतीतमें यूनानियोंसे स्थापित सम्पर्कके कारण भारतीयोंने उनसे ज्योतिष तथा मूर्तिकलाका स्वीकार किया। मध्ययुगमें अरबिस्तानके निवासियोंने भारतसे बीजगणित तथा चिकित्सा-शास्त्र पाया। मध्ययुगके योरोपने रोमके कानूनको ग्रहण करनेमें अपना गौरव समझा। जब एक संस्कृतिमें पले हुए मानव किसी भिन्न संस्कृतिवाले समाजमें पहुँचते हैं तब वे भले ही किसी वंशके हों—उस संस्कृतिकी धारामें सराबोर होते ही हैं। भारतीय मुसलमान इस बातकी सत्यताके साक्षी हैं।

प्रत्येक संस्कृतिका विकास एक विशिष्ट भौगोलिक तथा वांशिक वातावरणमें होता है। अतएव संस्कृतियोंके स्वरूपोंमें भिन्नता दिखाई देती है। यथार्थमें संस्कृतियोंके विभिन्न स्वरूपोंके निर्माणका मूल कारण है उनको अपनानेवाले विभिन्न मानव-वंशोंकी विशिष्ट बीजशक्ति। अतएव इतिहासके कुछ मर्मज्ञोंका यह दावा है कि एक संस्कृतिके सच्चे रहस्य या सारको दूसरी संस्कृतिमें विद्यमान मानव-समूह पूर्ण रूपसे कभी नहीं अपना सकता। उनका कथन है कि हरेक संस्कृतिकी जीवनशक्तिका यथार्थ प्रमाण है उसको अपनानेवाला मानव-वंश। अन्य मानव-वंश अपनेसे पृथक् वंशकी संस्कृतिका अनुकरण केवल ऊपरी तौरसे ही कर पाता है। अन्य संस्कृतियोंके आदर्शों, भावनाओं, प्रेरणाओं तथा संस्थाओंका स्वीकार करते करते उनमें अपनी बीजभूत प्रकृतिके अनुसार वह परिवर्तन कर ही देता

है। बिना परिवर्तन किए उनका स्वीकार वह कर नहीं पाता। वंशवादके समर्थकोंकी दूसरी दलील यह है कि सब मानववंशोंकी प्रकृति तथा सामर्थ्यमें समानता नहीं होती; जन्मसे ही उनमें कुछ तारतम्य, कुछ ऊँच-नीचका भाव विद्यमान रहता है। कोई वंश दासताके लिए ही जन्म लेते हैं तो अन्य कोई स्वभावसे ही प्रभुता एवं सामर्थ्यसे संयुक्त रहते हैं।

वंशवादके आधारपर की गई संस्कृतिकी उक्त समीक्षाको निर्दोष नहीं माना जा सकता। यह देखा गया है कि संसारकी प्राचीन, मध्ययुगीन तथा आधुनिक संस्कृतियोंको अपनानेवाले विशाल तथा प्रख्यात मानव-समूहोंमें अपनी अपनी संस्कृतियोंके अंशोंका आदान-प्रदान सहज भावसे होता आया है। बगदाद शहरमें अपने साम्राज्यकी स्थापनाके उपरान्त अरबोंने यूनानियोंकी सांस्कृतिक प्रेरणाको केवल आत्मसात् ही नहीं किया; अपितु उसमें वृद्धि भी की। सिर्फ गत दोसौ वर्षोंके इतिहासमें आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृतिका प्रचार एवं प्रसार समूचे संसारमें हुआ है। यह संस्कृति मूलतः पाश्चात्य है; फिर भी भारत, चीन तथा जपानके विद्यापीठोंने पाश्चात्य विद्याओं एवं कलाओंकी पूर्ति तथा विकासमें अपनी सामर्थ्यका समान ही परिचय दिया है। लेकिन योरोपीय, चीनी, भारतीय तथा जापानी लोगोंकी वांशिक एकताको सिद्ध करनेके लिए कोई भी प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि विद्यमान कुछ बर्बर जातियोंको यदि हम छोड़ दें तो वर्तमान मानव-समूहोंमें ऐसा एक भी मानव-समूह अथवा राष्ट्र दिखाई नहीं देता जिसमें परायी संस्कृतिका ठोस अनुकरण करनेकी क्षमता कम हो। वर्तमान पाश्चात्य संस्कृति भी सहस्रों वर्षोंके विविध मानव-वंशोंपर आधारित विभिन्न संस्कृतियोंका ही परिणत रूप है। यहूदी, यूनानी तथा रोमन संस्कृतियोंकी विशेषताएँ इस संस्कृतिकी पैतृक सम्पत्ति बनी हैं। वर्तमान समयमें यह संसारके सभी मानव-वंशोंकी संस्कृतियोंके उपयोगी अंशोंका संग्रह करनेमें दत्तचित्त है। नीग्रो लोगोंसे और रेड इण्डियन (मूलतः अमरीका-निवासी) लोगोंसे पाश्चात्योंने नृत्य-कलाके कई प्रकारोंका स्वीकार किया है। मिट्टीके बरतनोंकी सहायतासे की गई चीनके निवासियोंकी सजावट पाश्चात्योंके आकर्षणका विषय बनी है। इसी तरह यह निश्चय ही कहा जा सकता है कि वर्तमान भारतका इतिहास भी यथार्थमें विविध संस्कृतियोंके संघर्षों एवं संग्रहोंका इतिहास है।

संस्कृतिमें परिवर्तन दो तरहसे सम्पन्न होता है। एकमें समाजकी अन्तःशक्तियोंका स्वाभाविक रूपसे विकास होता है और दूसरेमें उन परिवर्तनोंका अन्तर्भाव

होता है जो विभिन्न संस्कृतियोंके पारस्परिक सम्पर्कसे उत्पन्न प्रतिक्रियाओंसे निर्मित हैं। इन दोनों परिवर्तनोंके आधारपर होनेवाले विकासके मूलमें एक ही तत्त्व है। मानव और परिस्थितिके बीच संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। मानव अपनी जीवनपद्धतिमें तबतक परिवर्तन करना पसन्द नहीं करता जबतक उसकी परिस्थितिमें कोई खास हेर-फेर न हो। लेकिन परिस्थितिमें अगर कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन होता है तो परिवर्तित परिस्थितियोंपर विजय पानेमें यत्नशील होकर वह अपनी जीवन-पद्धतिको बदल देता है। नवीन जीवन-पद्धतिकी सहायतासे प्राप्त परिस्थितिपर विजय पानेमें जब वह सफल होता है तब उपर्युक्त नवीन जीवन-पद्धति संस्कृतिके विकासमें अपना स्थान ग्रहण करती है।

संस्कृतिका विकास वास्तवमें उसमें सम्मिलित संस्थाओं, आदर्शों एवं पद्धतियोंका विकास है। संस्कृतिकी प्रत्येक पद्धतिकी आकृतिमें कोई ऊँच-नीचका भाव या तारतम्य रहता है। अर्थ-व्यवस्थामें विकासकी विभिन्न ऊँच-नीचकी परम्पराकी सीढ़ियोंका स्पष्ट रूपसे दिग्दर्शन किया जा सकता है। जिस तरह डार्विनने जीव-सृष्टिके ऊँच-नीच भावकी परिचायक विकास-श्रेणियोंका प्रतिपादन किया है उसी तरह अर्थशास्त्रके कुछ पण्डितोंने, खासकर कार्ल मार्क्सने मानव-जातिकी आर्थिक पद्धतियोंके ऊँच-नीच भावकी ओर संकेत करनेवाली विकास-श्रेणियोंका निरूपण किया है। उत्पादनके साधनोंके सामर्थ्यका सिलसिलेवार अध्ययन विभिन्न आर्थिक श्रेणियोंके विकास-क्रमको निश्चित करनेमें अर्थशास्त्रज्ञोंको बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। विविध प्रकारोंके उत्पादनकी शक्ति तारतम्यको निश्चित करनेमें साथ देती है। उत्पादनके साधनोंके स्वरूपमें परिवर्तन होते ही आर्थिक पद्धति परिवर्तित हो उठती है।

सामान्य रूपसे आर्थिक विकासकी प्रायः चार अवस्थाओंकी ओर निर्देश किया जा सकता है। प्रारम्भिक अवस्था वह है जिसमें समाजके सभी प्रौढ़ अवस्थाको प्राप्त व्यक्तियोंके परिश्रमसे उत्पन्न और जीनेके लिए मुश्किलसे पर्याप्त समान विभाजनकी आर्थिक व्यवस्थाका समावेश होता है। इसमें संचय या शेष सम्पत्ति बहुत कम रहती है। दूसरी अवस्थामें व्यक्तिगत अधिकारकी सम्पत्तिका बोध होता है। यह गुलामों तथा जानवरोंकी सहायतासे उत्पन्न होकर समाजमें विषम रूपसे विभाजित होती है। इस व्यवस्थाको अपनानेवाले समाजमें दो तरहके सामाजिक वर्ग स्थापित होते हैं—एक गुलामोंका और दूसरा स्वतन्त्र व्यक्तियोंका। तीसरी अवस्थासे उस व्यवस्थाकी ओर संकेत किया जाता है जिसमें दासताकी संस्था नष्ट हुई

हो। इस अवस्थामें समाजकी स्थिति जमीनसे बड़े पैमानेपर होनेवाले उत्पादनपर निर्भर रहती है। इस अवस्थामें जमीनके स्वामित्वसे वञ्चित श्रमिकोंका वर्ग कृषिके व्यवसायमें सम्मिलित होनेपर विवश रहता है। इस अवस्थाके बादकी चौथी अवस्था वह है जिसमें यान्त्रिक कारखानोंके उत्पादनको प्रधानता प्राप्त होती है। विज्ञानकी सहायतासे मानव प्रकृतिपर अपना अधिकार अङ्कित करता है। उक्त चौथी अवस्थाके बादकी और एक उच्चतम आर्थिक व्यवस्थाका प्रतिपादन कार्ल मार्क्सने किया। इसमें सम्पत्तिके व्यक्तिगत अधिकारपर आधारित आर्थिक व्यवस्था विनाशके गह्वरमें विलीन होती है और उत्पादनके सभी साधनोंपर समूचे समाजका अधिकार स्थापित होता है। इसमें सामाजिक समताके साथ साथ वह समृद्धि प्राप्त होती है जिसका उपभोग समाजके सभी व्यक्ति कर सकते हैं। सामान्य रूपसे विचार करनेपर उक्त पाँचों अवस्थाएँ सुसंगत मालूम होती हैं; परन्तु यह तो नहीं कहा जा सकता कि अतीत एवं वर्तमान समयके सभी प्रकारोंकी आर्थिक व्यवस्थाओंका उपर्युक्त पाँच अवस्थाओंमें सुयोग्य समावेश हो ही जाय।

विवाह-संस्था, धर्म, राज्य, विद्याएँ, कलाएँ आदिमें भी विकासके क्रमको सूचित करनेवाले रचना-क्रमका निर्देश करना सम्भव है। गुणोंके तारतम्यके आधारपर बहुपत्नीकत्व, एकपत्नीकत्व और समान अधिकारोंसे युक्त दम्पतियोंका विवाहसंबंध ये तीन अवस्थाएँ दिखाई देती हैं। एक अर्थमें स्वयंवर-पद्धतिको-बाल विवाहकी तुलनामें उच्चतर अवस्था कहा जा सकता है। धर्म-संस्थामें भी हीनतथा उच्च स्वरूपोंकी ओर संकेत करनेवाली विभिन्न अवस्थाओंको पाना सुतराम् सम्भव है। (१) हीन या निकृष्ट कोटिकी धर्म-संस्था वह है जिसमें जादू, इन्द्रजाल, कर्मकाण्ड, मानवेतर प्राणियों, वनस्पतियों अथवा जड़ वस्तुओंकी पूजा आदिको प्रधानता दी जाती है। (२) एकेश्वरवादपर आधारित भक्तिको प्रधानता देनेवाली धर्मसंस्था निःसन्देह इससे उच्च कोटिकी धर्म-संस्था है। धर्मके विशिष्ट उपदेशको, पवित्र ग्रन्थों तथा धर्म-संस्थापकोंको ही नितान्त, अटल श्रद्धाके साथ प्रमाण मानना यही इस दूसरी अवस्थाकी धर्म-संस्थाका महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इससे समूची मानव-जातिके विषयमें बन्धुत्व-प्रेमकी मङ्गलमय भावनाके निर्माण एवं प्रसारमें बाधाएँ उपस्थित होती हैं। (३) तीसरी और अन्तिम अवस्थामें उस परम-धर्मकी स्थापना होती है जिससे शब्दप्रामाण्य तथा परम्परामें निहित श्रद्धाकी सीमाओंको लाँघनेवाली मनकी अनुकूल भूमिका निर्मित होती है और धर्मके विभिन्न सम्प्रदायों तथा भेदकी अनेकों संकीर्ण भावनाओंका विलय होता है। यह

वही धर्म है जिसके सहारे समूची मानव-जातिके लिए आत्मीयताकी भावनाका उदय होता है और सीमित श्रद्धाकी अपेक्षा यथार्थमें व्यापक सत्यके अनुसंधानको प्रधानता प्राप्त होती है। यही धर्म-संस्थाकी उच्चतम अवस्था है।

विद्याओं और कलाओंके क्षेत्रमें भी विकासक्रमको इसी तरह निश्चित किया जाता है। जिस अवस्थामें ज्ञान तथा कला केवल अनुभूतिके भण्डारके रूपमें ही विद्यमान रहती है, उसे विद्या और कलाकी प्राथमिक अवस्था कहते हैं। विषयोंकी परम्परासे संचित अनुभवसंग्रह जब सामान्य नियमोंसे निर्धारित होता है और उसकी अभिव्यक्ति विचारोंकी दृष्टिसे सुसंबद्ध हो उठती है तभी वह शास्त्र कहलाती है। यही विद्याओंके विकासकी दूसरी अवस्था है। तीसरी और परिणत अवस्था वह है जिसमें सब प्रकारकी अनुभूतियों तथा विचारोंके क्षेत्रको स्पर्श करनेवाली, विशुद्ध तथा अव्यक्त कल्पनाओंके परिचायक विज्ञानकी स्थापना होती है। इसमें गणित, तर्कशास्त्र तथा दर्शनका समावेश होता है। इसके उपरान्त जब गणित और तर्कशास्त्रकी सहायतासे प्रयोगावस्थामें पहुँचकर विद्याएँ और कलाएँ निरन्तर विकास एवं उत्कर्षके पथपर अग्रसर होतीं हैं तब उनके विकासकी चौथी और परम एवं उन्नत अवस्थाके दर्शन होते हैं।

ऐतिहासिक प्रगतिके नियमोंकी चर्चा

उक्त उदाहरणोंद्वारा संस्कृतिके विभिन्न अंगोंके विकास-क्रमकी अवस्थाओंका निर्देश किया गया। परन्तु यह कोई नियम नहीं कि हरेक संस्कृतिमें सम्मिलित संस्थाओं एवं प्रवृत्तियोंका विकास ही हो। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं जिनमें विकास अवरुद्ध हुआ हो, प्रगति कुण्ठित हुई हो। कई संस्कृतियाँ ऐसी हैं जिनकी आज हस्ती तक नहीं मिलती।-इतिहास भी इस बातका साक्षी है कि " यूनानो, मिस्रो, रूमाँ सब मिट गये जहाँसे "। मिस्र, बाबीलोन आदिकी संस्कृतियाँ मौतके गालमें समा गईं। हिंदुस्तान, चीन और मध्यपूर्वके मुसलमान राष्ट्रोंमें अबतक अनेक सदियोंतक प्रगति रुकी रही। प्राप्त परिस्थितिपर विजय पानेसें जब असफलता मिलती है तब या तो विकास रुक जाता है, या संस्कृति विनाशके गर्तमें गिरनेपर उतारू होती है। वास्तवमें जो संस्कृति अपनेमें और परिस्थितिमें उचित परिवर्तन करके विजय पानेकी शक्ति रखती है उसीको सच्चे अर्थोंमें विकासके योग्य कहा जा सकता है। इस विकास-क्रममें यह भी कोई लिखित नियम नहीं कि परम्परासे प्राप्त सांस्कृतिक मूल्योंका पूर्ण रूपसे विनाश हो। क्योंकि इन मूल्योंका तौल-माप करके उनमें जो स्थायी एवं मंगल हों उनको सर्वथा सुरक्षित रखनेकी अभिलाषा

भी मानवके हृदयमें सदासे विराजमान है। सच पूछिए तो किसी भी देशकी संस्कृति ऐसे शाश्वत तथा सार्वजनीन मूल्योंके बलपर ही प्रगत बननेका दावा कर सकती है।

किसी भी संस्कृतिके मूलमें जो शक्ति विद्यमान रहती है वही विश्वकी संस्कृतिका मूल स्रोत है। सच बात तो यह है कि विश्व-संस्कृतिका बीज ही किसी देशकी या राष्ट्रकी संस्कृतिके रूपमें प्रस्फुटित होता है। ऋतुओंके परिवर्तनके अनुसार जीवनके क्रममें भी परिवर्तन होता है। गर्मीके दिनोंमें ऊनी कपड़ोंकी जरूरत नहीं होती, जाड़ेमें छातेका उपयोग अनावश्यक हो जाता है। ग्रीष्ममें जहाँ मनुष्यकी प्रवृत्ति बर्फ तथा शीतल पेयोंकी ओर होती है वहाँ शिशिरमें उष्ण पेयोंकी ओर। विभिन्न देश-कालोंमें तथा विविध परिस्थितियोंमें रहनेवाले मानव अपनी अपनी स्थितिके अनुकूल जीवन-क्रमका निर्माण तथा निर्वाह करते हैं; परन्तु अन्यान्य अवस्थाओंमें उत्पन्न जीवनके क्रमको निर्माण करनेवाली शक्ति या प्रेरणा सामान्य रूपसे एक ही रहती है; सिर्फ देशकालके अनुसार इसके आविष्कार भिन्न भिन्न होते हैं। होमरका काव्य, एस्क्लिस्के नाटक, सुकरातके संवाद, यूनानी कलाकारोंकी बनाई हुई वीनस और अपोलोकी मनोहर मूर्तियाँ, यूक्लिडकी भूमिति आदिके महत्त्वको संसारकी विविध संस्कृतियोंके विभिन्न युगोंमें रहनेवाले मनुष्योंने सहर्ष स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि यूनानकी संस्कृति विश्वकी संस्कृतिका ही एक विशिष्ट आविष्कार है। नल-दमयन्तीकी प्राचीन कथाको संसारके साहित्यमें सम्मानका स्थान मिला है। भगवान् तथागतके उज्वल चरित्रके सामने आजका शिक्षित मानव भी नतमस्तक होता है। इसका भी कारण यही है कि भारतीय संस्कृति विश्वसंस्कृतिका ही एक भव्य रूप है। प्रत्येक संस्कृतिके कुछ लक्षणों तथा अंशोंकी तहमें केवल संकीर्ण एवं सदोष परिस्थितियाँ रहती हैं। किसी विशेष दशामें कुछ संस्थाएँ और आचार अनिवार्य बनते हैं। विकासकी प्राथमिक अवस्थामें जो संस्थाएँ, भावनाएँ तथा आचार-विचार बड़े ही उपयोगी सिद्ध हुए हों, वे ही बादमें संकीर्ण बन्धन बन जाते हैं, अवनतिकी ओर ले जानेवाली शक्तिके समर्थ साधन बनते हैं। अतएव किसी भी संस्कृतिके उच्च कोटिके शाश्वत मूल्योंके आविष्कारों तथा विशिष्ट परिस्थितियोंसे उत्पन्न संकीर्ण अंशोंकी गवेषणा करनेमें तलस्पर्शिनी बुद्धिका उपयोग करना नितान्त आवश्यक है।

किसी भी संस्कृतिकी प्रगतिके कालमें विद्यमान वस्तुओंका मूल्य सीमित होता है। वास्तवमें सब मूल्य आपेक्षिक ही हैं; अपने अपने युगपर निर्भर हैं। युगके परिवर्तनसे मूल्योंमें परिवर्तन होता है। इस सिद्धान्तको मानकर चलनेवाले सर्वंकष

प्रगतिवादके प्रधान प्रवर्तक हैं कार्ल मार्क्स। आपने प्रगतिमें अर्थ या द्रव्यपर आधारित कार्य-कारणकी परम्पराका प्रतिपादन किया है। किसी भी समाजकी उत्पादन-पद्धतिकी अवनति या उन्नतिके अनुपातपर उसकी ऐतिहासिक प्रगतिकी अवस्थाओंका अनुमान करना संभव है। उत्पादन-पद्धति ही प्रगतिकी नींव है, समाजका अधिष्ठान है। इससे सामाजिक संबंधोंका निर्माण होता है, समाजके वर्गभेदोंका स्वरूप निश्चित होता है। उत्पादक साधनोंपर जिस वर्गका अधिकार है उसके आदर्शोंकी अमिट छाप संस्कृतिपर अङ्कित होती है। उत्पादन-पद्धति और उससे उत्पन्न सामाजिक संबंध ही मानसिक संस्कृतिकी आधारशिला है। स्वाभाविक है कि इनके बदलनेसे मानसिक संस्कृति भी बदले। सारांश मार्क्स मतमें आर्थिक पद्धति ही संस्कृतिका प्राण है, संस्कृतिके विविध अंगोंका विकास इस प्रगतिकी आनुषङ्गिक परिणति मात्र है।

मार्क्सका कहना है, " आर्थिक युग ही सामाजिक युग है। युगके परिवर्तनसे मूल्योंमें परिवर्तन उत्पन्न होना अनिवार्य है। उच्च कोटिके आर्थिक युगके मानसिक मूल्य भी उन्नत हैं; परन्तु इनकी उन्नति आपेक्षिक है। तात्पर्य ये मूल्य शाश्वत नहीं हुआ करते।" ऊपरी दृष्टिसे देखनेपर यह दृष्टिकोण सुसङ्गत मालूम होता है, परन्तु न इतिहास इसकी सत्यताका साक्षी है, न तात्त्विक या शास्त्रीय विश्लेषण इसके पक्षमें अपना मत दे सकता है। प्राचीन यूनानी संस्कृतिकी आर्थिक व्यवस्था और उत्पादनपद्धति मध्ययुगके योरोपकी और मुगल साम्राज्यकी अर्थव्यवस्था और उत्पादन-पद्धतिकी तुलनामें निःसन्देह पिछड़ी हुई थी; परन्तु मूर्तिकला, काव्य तथा दर्शनके क्षेत्रमें मध्ययुगके योरोपकी और मुगल साम्राज्यकी अपेक्षा प्राचीन यूनान ही अधिक सम्पन्न था। हिन्दुस्तानकी गुप्तकालीन अर्थरचना उसके पूर्ववर्ती कालकी तुलनामें उन्नत थी; परन्तु पूर्ववर्ती महाभारत रामायण जैसी अनूठी तथा प्रबल प्रतिभाके दर्शन गुप्तकालमें दुर्लभ हैं। कानूनमें रोमके निवासी प्राचीन भारतकी अपेक्षा बहुत ही आगे बढ़े हुए थे; परन्तु प्राचीन भारतके बौद्ध-धर्म जैसे धर्म और षड्दर्शनों जैसे दर्शनोंकी सृष्टि रोममें नहीं हो पाई। आजके मानवकी संस्कृति आर्थिक उत्पादनमें अनुपम उत्कर्षपर पहुँची हुई अवश्य है; किन्तु मानना होगा कि नीतिसे सम्बन्धित उत्तरदायित्वके ज्ञानका जहाँतक प्रश्न है, वहाँतक बुद्धकालीन भारतवर्षके मानवमें और आजके वैज्ञानिक युगके मानवमें कोई विशेष परिणति नहीं दिखाई देती। अतएव अर्थपर आधारित सर्वाङ्गीण प्रगतिकी कल्पना सच्ची समालोचनाकी कसौटीपर खरी नहीं उतरती। यह कोई नियम नहीं

कि संस्कृतिके कुछ अङ्गोंकी प्रगति उसके शेष अङ्गोंको भी विकासकी ओर अग्रसर करे। हाँ, इतना अवश्य है कि आर्थिक सामर्थ्य या सम्पन्नताके सिवा समाज और संस्कृतिमें स्वास्थ्यकी कल्पना नहीं की जा सकती। दो पुरुषार्थोंको—धर्म और कामको—अर्थमूल माननेमें अर्थशास्त्रके रचयिता कौटिल्यने औचित्यका ही पालन किया है। आर्थिक क्रान्तिके बलपर समाजमें क्रान्ति होती है यह कहना वास्तवमें बड़ा ही तथ्यपूर्ण है। परन्तु यह भी सोचना चाहिए कि क्रान्तिने उच्च कोटिके, पूर्वार्जित मूल्योंमें कौन-सा परिवर्तन उपस्थित किया; कौन-से नये महत्तम मूल्योंका आविष्कार किया। परम्परासे प्राप्त उच्चतम मूल्योंकी सुरक्षासे तथा नये महत्तम मूल्योंके निर्माणसे संस्कृति प्रगतिके भव्य मार्गपर अग्रसर होती है।

व्यक्ति और संस्कृति

संस्कृतिका निर्माण करनेवाले व्यक्तियोंका जीवन ही उस संस्कृतिका दर्पण है। मानवताका विकास ही यथार्थमें संस्कृति है। व्यक्तित्व और मानवता दोनों शब्द वस्तुतः पर्यायवाची हैं। व्यक्तित्वका विकास ही सांस्कृतिक मूल्योंकी अन्तिम परिणति है। रामायण तथा महाभारतमें वर्णित राम और पाण्डवोंका जीवन ही प्राचीन भारतीय संस्कृतिके सामर्थ्यका ज्वलन्त प्रमाण है। व्यक्तित्वका विकास ही प्रगतिका मानदण्ड है। पुरुषार्थकी साधनामें जो स्वतन्त्रता समाजके व्यक्तियोंको प्राप्त है उसीपर समाजकी प्रगति निर्भर है। व्यापकता या विशालता विकासकी मूल शक्ति है। व्यापकताके बलपर मानवोंका सहयोग वर्धमान रहता है। इस प्रकारसे सहयोगके अभावमें व्यक्तित्व गुणवान् और सम्पन्न नहीं बन पाता। पूर्ववर्ती पीढ़ियोंके सांस्कृतिक बलको प्राप्त करनेसे ही भविष्यकी पीढ़ियाँ गौरववान् बनती हैं। पाणिनिका व्याकरण और भास्कराचार्यका गणित असलमें वे शक्तियाँ हैं जिन्होंने बादमें आनेवाली पीढ़ियोंको शुद्ध भाषा एवं विशुद्ध विचार करनेमें समर्थ बनाया है। समाजके अतीत और वर्तमानमें उत्पन्न व्यक्तियोंका सहयोग ही व्यक्तिके व्यक्तित्वको विशाल बनानेमें सहायक होता है। समाजकी संपत्तिका उत्पादन श्रमके विभाजनके बलपर संपन्न होता है, जिससे हरेक व्यक्ति बहुतोंके—अनेक व्यक्तियोंके—श्रमके फलका भागी बनता है। सच बात तो यह है कि प्रत्येक व्यक्तिको महिमामय जीवन-पद्धति प्रदान करना ही संस्कृतिका लक्ष्य है। संस्कृतिको सार्वजनीन, अतएव व्यापक बनानेमें ही नीतिके शाश्वत मूल्योंका यथार्थ परिचय है। नीति तथा न्यायके क्षेत्रमें सब मानव समान हैं क्योंकि सहयोग और सौहार्दकी मंगल भावनाओंसे प्रेरित होकर मानवकी अगाध शक्ति उसके जीवनको

सफल एवं कल्याणकारी बनाती है। इसीलिए संस्कृतिके उत्कृष्ट स्वरूपको मानव-धर्मकी संज्ञा दी जाती है।

वैदिक संस्कृतिके विकासके अध्ययनमें जो सांस्कृतिक तथ्य उपयोगी एवं आवश्यक हैं उनकी उपर्युक्त विवेचना केवल प्रस्तावनाके तौरपर की गई है। इसमें परिलक्षित सिद्धान्तोंकी स्थापना अनेकों सदियोंके सांस्कृतिक अध्ययनका परिणाम है। इन सिद्धान्तोंके अवधानमें आयोजित भारतीय संस्कृतिका अनुशीलन विश्व-संस्कृतिकी जटिल समस्याओंको सुलझानेमें निस्सन्देह सहायक होता है। भारतीय संस्कृतिका भविष्य विश्व-संस्कृतिके भविष्यसे सुतराम् सम्बन्धित है। अतएव विश्व-संस्कृतिके सम्बन्धमें माने हुए तथ्योंके प्रकाशमें भारतीय संस्कृतिका मनन तथा अध्ययन करना अतीव लाभदायी सिद्ध होगा।

वैदिक संस्कृति और विद्यमान हिन्दू संस्कृतिका ऐतिहासिक सम्बन्ध—

भारतीय संस्कृति प्रधान रूपसे हिन्दू संस्कृति है। भारतमें स्थित मुसलमान, ईसाई, पारसी आदि समूहोंका समावेश इसीमें (हिन्दू संस्कृतिमें) होता है। भारतवर्षपर लिखे हुए अपने निबन्धमें कार्ल मार्क्सने इसी विधानका समर्थन किया है। हिन्दू संस्कृति वास्तवमें वैदिक संस्कृतिका ही विकसित रूप है। वैदिक संस्कृतिके परिणत आदर्शोंसे अनुप्राणित होकर ही हिन्दू संस्कृतिका निर्माण हुआ है। वेदोंके अधिकारसे वञ्चित और त्रैवर्णिकों द्वारा बहिष्कृत हिन्दू जातियाँ भी आजतक वैदिक संस्कृतिका ही पालन कर रही हैं। क्योंकि उनके आदर्श इसी संस्कृतिकी प्रेरणासे प्रभावित हैं। शिव और विष्णु, राम और कृष्णका देवत्व वेदोंकी महिमासे मण्डित है। सब हिन्दुओंका जीवनसम्बन्धी दृष्टिकोण वेदान्तके अध्यात्मवादसे प्रभावित तथा प्रस्फुटित है।

जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक संस्कृतिकी ही शाखाएँ हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हें वैदिक नहीं मानता। सामान्य मनुष्यकी इस भ्रान्त धारणाका कारण है मूलतः इन शाखाओंके वेद-विरोधकी कल्पना। सच तो यह है कि जैनों और बौद्धोंकी तीनों अन्तिम कल्पनाएँ—कर्म-विपाक, संसारका बन्धन और मोक्ष या मुक्ति—अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं।

हिन्दू संस्कृतिको वैदिक संस्कृतिका विकास तथा विस्तार माननेमें बीती हुई सदीके उन आधुनिक विद्वानोंको आपत्ति है जिन्होंने भारतीय संस्कृति और हिन्दू-धर्मका अध्ययन किया है। वे इस निर्णयपर पहुँचे हैं कि विद्यमान हिन्दू संस्कृति

असलमें वैदिक तथा अवैदिक, आर्य और अनार्य लोगोंकी विविध संस्कृतियोंका सम्मिश्र स्वरूप है। इन मनीषियोंके मतमें मूर्तिपूजा करनेवालोंकी पौराणिक संस्कृति अवैदिक एवं अनार्य समूहों द्वारा निर्मित संस्कृतियोंकी उत्तराधिकारिणी है और जैन तथा बौद्ध धर्म वैदिक धर्मके प्रतिद्वंद्वी है; वैदिकोंको परास्त करनेवाले प्रबल विद्रोही हैं। इनके कथनानुसार विद्यमान हिन्दू संस्कृति भिन्न भिन्न विचारोंकी चार धाराओंके मेलसे बनी है। पहली धारा है वेदोंके पूर्ववर्ती अनार्योंकी मूल संस्कृतिकी; दूसरी वेदोंके पूर्ववर्ती कालके भारतीय अनार्योंपर विजय पानेवाले आर्योंद्वारा स्थापित वैदिक संस्कृतिकी; तीसरी वेदोंके विरुद्ध विद्रोह करनेवाले जैनों तथा बौद्धोंके द्वारा निर्मित संस्कृतिकी और चौथी वेदपूर्व संस्कृतिके आविष्कारके रूपमें अवस्थित मूर्तिपूजक पौराणिक धर्मकी।

हम इतना ही सिद्ध करना चाहते हैं कि वेदपूर्व संस्कृतिके स्वरूपको भली भाँति समझनेके लिए आवश्यक साधनसामग्री और प्रमाण आज उपलब्ध नहीं हैं और ऐसी दशामें इतिहासकी दृष्टिसे ज्ञात वेद-राशिको ही वर्तमान हिन्दूसंस्कृतिका मूलस्रोत मानना अनिवार्य है। वैदिक संस्कृतिके विकास-क्रममें वेदपूर्व अवैदिकोंकी संस्कृति सम्मिलित हुई और इससे तथा वैदिक यज्ञ-संस्थाकी सहायतासे इतिहास और पुराणोंकी संस्कृतिका जन्म हुआ। जैन तथा बौद्ध धर्म भी वेदान्तकी याने उपनिषदोंकी विचारधाराओंके विकसित रूप हैं। अतएव वैदिक संस्कृति हिन्दू संस्कृतिकी वह प्रभावी केन्द्र-शक्ति है जिसने अन्य धाराओंको आत्मसात् किया है। भेदों तथा विरोधोंके वैचित्र्यकी अपेक्षा संगठन तथा समन्वय करनेवाली वैदिक संस्कृतिको ही मूल स्रोत मानना उचित होगा; क्योंकि हिन्दू-संस्कृतिके आदर्शवादका और उसके महत्तम मूल्योंका आविर्भाव इसी संस्कृतिसे हुआ है। इस बातको प्रमाणोंके आधारपर सिद्ध करना हमारा लक्ष्य है।

विद्यमान हिन्दू संस्कृति वेदोंकी मूल संस्कृतिका अन्तिम परिणाम है। इस सिद्धान्तकी स्थापनाके लिए प्रधानतया पाँच विभागोंका विचार करना आवश्यक है। प्रथम विभाग वैदिक संस्कृतिकी परिणत अवस्थाका निर्देश करता है। इसमें उपनिषद, छः वेदाङ्ग, साङ्ख्यादि दर्शन और वैदिक अर्थशास्त्र जैसी पारिभाषिक विद्याओंका समावेश होता है। दूसरा विभाग उन भारतीय विचारोंसे बना है जो स्मार्त धर्मशास्त्र और समाज-रचनासे तथा सामाजिक संस्थाओंसे सम्बद्ध हैं। तीसरे विभागमें महाभारत तथा पुराणोंद्वारा दर्शित धर्मसंस्था और तज्जन्य ललितकलाओंका अन्तर्भाव होता है। चौथे विभागमें बौद्ध तथा जैन धर्मोंकी उत्पत्ति और

प्रसारका विचार है। यह अंश भारतीय संस्कृतिकी विकासशीलताका, उसकी व्यापकताका परिचायक है। इसलिए वह अपना विशेष स्थान रखता है। पाँचवें और अन्तिम विभागमें पाश्चात्य संस्कृतिके सम्पर्कसे उत्पन्न सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन समाविष्ट हैं। वर्तमान सांस्कृतिक जीवनकी दिशाको समझनेके लिए यह विभाग बड़ा ही उपयोगी है। वैदिक संस्कृति उक्त पाँचों विभागोंका अधिष्ठान, मूलस्रोत एवं आधार शिला है।

वेदोंकी रचना, स्थल और काल

उपर्युक्त पाँचों विभागोंका क्रमशः अध्ययन करनेके पहले उपनिषदोंके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्यमें स्पष्टतया व्यक्त वैदिक संस्कृतिके स्वरूपकी ओर दृष्टिपात करना आवश्यक है। आधुनिक पाश्चात्य पण्डितोंने याने जर्मन, फ्रान्सीसी और अंग्रेज विद्वानोंने ऋग्वेद तथा अन्य वेदोंका बड़ा ही मार्मिक और मूलगामी अध्ययन किया है। यद्यपि विवादोंके कई विषय अबतक बाकी हैं; फिर भी ऐसा बहुत-सा संशोधन हुआ है जो विवादके परे माना जा सकता है। वैदिक संस्कृतिके अध्ययनके लिए संसारका अत्यन्त प्राचीन वास्तवमें सबसे पुराना वैदिक साहित्य–जैसा सुन्दर साधन उपलब्ध है। यह बड़े सौभाग्यकी बात है क्योंकि भाषा असलमें संस्कृतिका दर्पण है। उसमें मानवकी कृतियोंका सर्वाङ्गीण लेखा-जोखा मिलता है। मानवकी क्रियाओंका विस्तार एवं वैचित्र्य उसकी भाषामें पूर्ण रूपसे प्रतिफलित होता है। भाषाके स्वरूपसे संस्कृतिका नाप-तौल करना संभव है। ऋग्वेद वैदिकोंका धार्मिक साहित्य है। उसकी भाषा संस्कृतका सबसे प्राचीन उपलब्ध रूप है।

वैदिक संस्कृत और परवर्ती संस्कृतके गहरे अध्ययनसे प्राप्त सार तथा उससे उत्पन्न प्रमाणोंके कारण पाश्चात्य विद्याओंमें चार शास्त्रोंका जन्म हुआ। ये चार शास्त्र हैं तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, तुलनात्मक पुराण-कथा-शास्त्र, तौलनिक धर्म-विचार और तौलनिक साहित्य-चर्चा। तुलनात्मक भाषा-विज्ञानके अध्ययनसे सिद्ध हुआ कि फारसी, यूनानी, लैटिन, ट्यूटॉनिक, कैल्टिक और स्लाह्व देशीय भाषाएँ संस्कृत भाषाके कुलकी हैं। इससे निश्चय होता है कि संस्कृति किसी राष्ट्रविशेष या समाज-विशेषसे सीमित नहीं होती। राष्ट्रकी या देशकी भौगोलिक सीमाओंको लाँघकर समूचे संसारको व्यापनेकी उसकी प्रवृत्ति है।

चारों वेदोंमें ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। 'ऋक्'का अर्थ होता है छन्दोबद्ध रचना या श्लोक। ऋग्वेदके सूक्त विविध देवताओंका स्तवन करनेवाले भावभरे गीत हैं। इनमें भक्तिभावनाकी प्रधानता है। माना कि ऋग्वेदमें अन्य प्रकारके

सूक्त भी हैं; परन्तु देवताकी स्तुति करनेवाले स्तोत्रोंकी निःसंशय प्रधानता है। सामवेद सोमयागमें गाये जानेके लिए चुनी हुई ऋग्वेदकी ऋचाओंके विविध गानोंका संग्रह है। यजुर्वेद गद्यात्मक है। यज्ञमें कहे जानेवाले गद्यात्मक मन्त्रको यजुस् कहा जाता है। यजुर्वेदके पद्यात्मक मन्त्र ऋग्वेद या अथर्ववेदसे लिए गये हैं। इनमें स्वतंत्र पद्यात्मक मन्त्र बहुत कम हैं। ब्राह्मणोंके कालमें उक्त तीन वेदोंको ही 'त्रयी विद्या' की संज्ञा मिली। कुछ व्यक्तियोंका अनुमान है कि अथर्ववेदको वेदका पद तथा अन्य वेदोंके समान प्रतिष्ठा बहुत बादमें मिली; किन्तु इसके सम्बन्धमें सावधान होकर सोचनेकी आवश्यकता है। अथर्ववेदका स्वरूप और उसकी भाषा दोनोंके आधारपर तो यही अनुमान निकलता है कि उसकी रचना ऋग्वेदके बाद तुरन्त ही हुई होगी। ऋग्वेदके अनेकों सूक्त इसमें भी संग्रहीत हैं। जादूसे सम्बन्धित मंत्र-तंत्र, राक्षस, पिशाच आदि भयानक शक्तियाँ इस वेदका महत्त्वपूर्ण विषय बनी हैं। ऋग्वेदके उच्च कोटिके देवताओंको इस वेदमें गौण स्थान प्राप्त हुआ है। वास्तवमें धर्मके इतिहासकी दृष्टिसे ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनोंका बड़ा ही मूल्य है, इसे अस्वीकार कदापि नहीं किया जा सकता।

इतिहासकी दृष्टिसे ऋग्वेदकी रचना जितनी महत्त्वपूर्ण अतएव विचारके योग्य है उतनी अन्य वेदोंकी नहीं। सूक्तोंकी प्राचीन संपत्तिको सुरक्षित रखनेके उद्देश्यसे ऋग्वेदकी रचना की गई। परिवर्तन तथा विध्वंससे बचनेमें इसके रचयिताने बड़ी ही सावधानीका परिचय दिया है। इसमें सम्मिलित एक हजार अठाईस सूक्त दस मण्डलोंमें विभाजित किए गये हैं। इन मण्डलोंमें कुछ छोटे हैं और कुछ बड़े। पहला और अन्तिम दोनों समान रूपसे बड़े हैं। उनकी सूक्त-संख्या भी एक सौ इक्यानबे है। दूसरे मण्डलसे लेकर सातवें मण्डलतक का अंश वास्तवमें ऋग्वेदका हृदय है। संभव है कि शेष अंश प्रक्षिप्त हों। पहले मण्डलके ५१ से १९१ तकके सूक्तोंमें और साररूप उपर्युक्त छः मण्डलोंमें समानता है। अतः ऋग्वेदकी संहितामें छः मण्डलोंके साथ पहले मण्डलके उक्त अंशका समावेश करना उचित होगा। आठवें मण्डलमें और पहले मण्डलके प्रारम्भिक पचास सूक्तोंमें भी समता पाई जाती है; संभवतः ये दोनों प्रक्षिप्त हैं। नववाँ मण्डल पूर्ण रूपसे स्वतंत्र है, सोमसे सम्बन्धित है। अनुमान है कि यह भी आठ मण्डलोंकी संहितामें बादमें जोड़ा गया। कई पण्डितोंका अनुमान है कि सोमको विषय बनानेवाला नौवाँ मण्डल, आठ मण्डलोंमें पहलेसे ही सम्मिलित सोमसम्बन्धी सूक्तोंका स्वतंत्र संकलन है।

उपलब्ध आठ मण्डलोंमें केवल तीन सूक्त सोमसे सम्बन्धित हैं। नवीन सोमसूक्तोंकी रचना करके नववाँ मण्डल नहीं बनाया गया, इसे तो मानना चाहिए क्योंकि सोमयागका सम्बन्ध सीधे उस कालतक चला जाता है जब वैदिक और ईरानके आर्य एक ही देशके निवासी थे। इसलिए यह मत तर्कसंमत मालूम होता है कि नौवाँ मण्डल, आठ मण्डलोंमें सम्मिलित सोमसम्बन्धी सूक्तोंका संग्रह मात्र है; नवीन सूक्तोंकी रचना नहीं। दसवें मण्डलके रचयिताने पहले मण्डलकी सूक्तसंख्याको ही कायम रखा है जिससे उस रचयिताकी पूर्ववर्ती मण्डलोंकी जानकारीका पता लगता है। इस मण्डलका विषय, कथा, भाषा सभी परवर्ती कालके परिचायक हैं।

आरण्यकों तथा उपनिषदोंके पूर्व ऋग्वेदकी संहिता विद्यमान थी। वेदोंके निर्माणके समय उनकी संहिताको संग्रहका स्वरूप प्राप्त न था; वह उन्हें ब्राह्मणोंके कालमें मिला। यह तो निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सूत्रकालके पूर्व मन्त्रोंकी, संहिताओं तथा ब्राह्मणोंकी रचना हो चुकी थी। सामान्य रूपसे इस कालको भगवान् बुद्धके पूर्व याने ईसाके पूर्व छठी सदी माना जा सकता है। इतिहासका अनुसन्धान करनेवालोंमेंसे आज कोई भी ऋग्वेदको ईसाके एक हजार दो सौ वर्ष पहलेकी रचना नहीं मानते। ऋग्वेदके सुदूर पूर्व कालके सम्बन्धमें भारतीय और योरोपीय अन्वेषकोंमें प्रायः दो प्रकारके मत पाये जाते हैं। अधिकांश भारतीय अन्वेषक ऋग्वेदके प्रारम्भको हो सके उतने सुदूर पूर्वकालमें पहुँचानेके हिमायती हैं। ज्योतिषके कुछ उल्लेखोंके आधारपर प्रा० जेकोबीसाहब मन्त्रोंके रचनाकालको ईसाके चार हजार वर्ष पूर्व निश्चित कर चुके हैं। भारतके सुप्रसिद्ध विद्वान् लोकमान्य तिलकने इसी संशोधनपद्धतिका स्वीकार करके ऋग्वेदको ईसाके छः या चार हजार वर्ष पूर्वकी रचना मान लिया। स्वर्गीय पूज्य शंकर बालकृष्ण दीक्षितजीने शतपथ ब्राह्मणके उदयके समय पूर्व दिशासे कृत्तिका नक्षत्रके चलित न होने (२।१।२।३) के उल्लेखके बलपर ऋग्वेदका काल ईसाके दो हजार पाँच सौ वर्ष पूर्व निश्चित किया। उस समय कृत्तिका नक्षत्रमें संपात-बिन्दु विद्यमान् था। इस सम्बन्धमें नागपुरके विख्यात ज्योतिर्विद् के. ल. दफ्तरीजी इस बातको स्पष्ट कर चुके हैं कि वेद-कालमें दूरदर्शी यन्त्रोंके अभावके कारण ज्योतिषको चर्मचक्षुओंके बलपर निश्चित किया जाता था। ज्योतिर्गणितके आधारपर प्राचीमें होनेवाले कृत्तिका नक्षत्रके उदयको चर्मचक्षुओंसे देखना ईसाके एक हजार तीनसौ वर्ष पूर्व संभव था। इसलिए उनकी रायमें शतपथ ब्राह्मणका उक्त उल्लेख ईसाके केवल

एक हजार तीन सौ वर्ष पूर्वका माना जा सकता है; इसके पहलेका नहीं। श्रीमान् तिलक महोदयका मत प्रधानतया ऋग्वेदके ऊषा-सूक्तोंमें वर्णित आकाशकी स्थितिपर आधारित है। साथ साथ लो० तिलक यह भी मानते हैं कि ऋग्वेदकी अधिकांश रचना आर्योंके पंजाबमें आनेके बाद हुई। उनका अनुमान है कि ऋग्वेदका श्रीगणेश उत्तर-ध्रुव के पास किसी देशमें हुआ और पंजाबमें जब स्थलपरिवर्तन हुआ तब उसकी मुख्य रचना हुई। डॉ० अविनाशचन्द्र दासने तो ऋग्वेदके कालको ईसाके पचीस हजार वर्ष पूर्वतक खींचा है! परन्तु आजके अधिकतर पाश्चात्य और भारतीय मनीषी ऋग्वेदके कालको लो० तिलकद्वारा निर्णीत कालके बाद ही स्थिर करनेके पक्षमें हैं।

वैदिक कालको अधिकाधिक पूर्वकी ओर खींचना इतिहासकी कड़ियोंको जोड़नेमें बाधक होता है। इतिहासके स्पष्ट तथा निश्चित कालके अवशेषोंको मानकर ही ऐतिहासिक अनुमानोंकी स्थापना करना उचित है। ईसाके पूर्व तीसरी सदीके शासक सम्राट अशोकके लेखोंकी और त्रिपिटककी भाषासे ब्राह्मण-ग्रंथोंकी भाषा बहुत ही मिलती जुलती है। जिससे ब्राह्मणोंके कालको बुद्धके पूर्व चार सौ पाँच सौ वर्षोंतक ले जाना असम्भव है। वैदिक मन्त्रों और ब्राह्मण-ग्रन्थोंके कालमें भाषा, धर्म-कल्पना, संस्कृति आदिके विकासकी गति हम कितनी ही क्यों न माने; उनमें हजारों वर्षोंके व्यवधानको मानना सुतराम् असम्भव है। बोलचालकी भाषा सहस्रों वर्षोंतक स्थिर कदापि नहीं रह सकती; उसमें अनेकों परिवर्तन अवश्यम्भावी हैं। यह निश्चित है कि ब्राह्मण-ग्रन्थोंकी भाषाका ऋग्वेदकी भाषासे बड़ा ही निकटका सम्बन्ध है।

ऋग्वेदके आर्योंका स्थलपरिवर्तन और उस वेदके भौगोलिक प्रदेशके विषयमें मूलतः भिन्न मत विद्यमान हैं। पंजाब और अन्तर्वेद [याने गंगा और यमुनाके आसपासका प्रदेश] यजुर्वेद तथा अथर्ववेदकी रचनका देश निश्चित किया जाता है। कुरु तथा पांचालोंका देश और यजुर्वेदकी यज्ञ-संस्थाका प्रदेश दोनों एक ही हैं और वह है दिल्लीके आसपासका, पश्चिम दिशामें स्थित संयुक्तप्रान्तका प्रदेश। ऋग्वेदकी नदियोंके उल्लेखके आधारपर अनुमान किया जाता है कि उसकी रचनाका स्थल गांधार, काबुलसे लेकर दिल्लीतक का प्रदेश होगा। कोई पण्डित ऋग्वेदका सम्बन्ध अफगानिस्तानसे जोड़ते हैं। ईरान, असीरिया और कौकेशस पर्वतका जिसमें समावेश होता है उस अखण्ड प्रदेशको ऋग्वेदके आर्योंकी जन्मभूमि माननेवाले कुछ इने-गिने ही विद्वान् हैं। इस अनुमानका कारण यह है कि ऋग्वेदकी

अनेकों नदियोंके नाम भारतकी आजकी नदियोंके नामोंसे नहीं मिलते। ऋग्वेदमें उल्लिखित लड़ाके और न लड़नेवाले दोनों पक्षोंके व्यक्तियों तथा ऋषियोंके नामोंमें, आजके पश्चिम एशियाके और भूमध्य समुद्रके आसपासके प्रदेशके नामोंमें तथा वर्तमान समयकी नदियोंके अभिधानोंमें जो सादृश्य दिखाई देता है उसके आधारपर पश्चिम एशिया और काले समुद्रसे तथा भूमध्य समुद्रसे सटे हुए प्रदेशको वैदिक आर्योंकी ऋग्वेदकालीन जन्मभूमि माननेकी कुछ लोगोंकी प्रवृत्ति है।

अक्सर यह अनुमान किया जाता है कि वैदिक संस्कृतिके मूल व्यक्तियोंका ईरान तथा योरोपके प्राचीन मानव-वंशोंसे बड़ा ही निकटका सम्बन्ध था। इसके समर्थनमें आज अनेकों प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। मोहोंजदारो तथा हरप्पा के उत्खननमें उपलब्ध सांस्कृतिक अवशेष प्राचीन असीरिया तथा बाबीलोनकी संस्कृतियोंके निकटवर्ती सम्बधको सूचित करते हैं। भाषाक और भाषाके बलपर अनुमित संस्कृतिके आधारपर मनीषियोंने यह सिद्ध किया है कि योरोपीय मानव-वंशों तथा भारतीय वैदिक लोगोंका मूल स्थान एक ही रहा होगा। पारसी लोगोंके 'जेंद अवेस्ता' नामके धर्मग्रन्थके आधारपर तुलनात्मक अध्ययनमें प्रवीण पण्डितोंका मत है कि वैदिक आर्यों तथा प्राचीन इरानी साम्राज्यके संस्थापक आर्योंका मूल वंश एक ही था; महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक तथा धार्मिक मतभेदोंके कारण ईरानी आर्यों और भारतीय आर्योंमें मनमुटाव हुआ। सन् १९०७ में एशिया मायनरके बोगाजकोईके उत्खननमें जर्मन अन्वेषक ह्यूगो विंक्लेअरको कुछ ईंटें मिलीं जिनपर मीटानी और हिटीटे लोगोंके राजाओंके बीच जो सन्धि हुई उसकी शर्तें खुदी हुई थीं। उनमें बाबीलोनके निवासियों तथा हिटीटोंके देवतोंके साथ मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य [अश्विनी कुमार] के नाम पाये गये। इससे सिद्ध होता है कि भूमध्य समुद्रके पासकी प्राचीन संस्कृतिसे वैदिक आर्योंका सम्बन्ध था। खासकर असीरियाके राष्ट्र 'असुर' को बड़ी उपाधि मानते थे। ऋग्वेदमें वर्ण्य देवताकी महिमाको गाते हुए उसके बलकी अधिकताको स्पष्ट करनेके लिये 'असुर' शब्दका बड़े ही आदरके साथ उपयोग हुआ है। एक सूक्तमें महत् देवनामसुरत्वमेकम्' [अर्थात् 'देवोंका श्रेष्ठत्व एक है, अद्वितीय है।'] को बार बार दुहराया है। तात्पर्य, वैदिक संस्कृतिके प्राचीन सम्बन्धोंको निश्चित करनेके लिए वेदोंके अध्येताओंको चाहिए कि वे हिन्दुस्तानसे योरोपतकके स्थलमार्गोंका तथा प्रागैतिहासिक विविध संस्कृतियों एवं राष्ट्रोंका गहरा अध्ययन करें, बुद्धके पूर्व विद्यमान अफगानिस्तान ईरान, असीरिया, तुर्कस्तान तथा उत्तर समुद्रतक फैले हुए योरोपके निवासी मानवोंके सांस्कृतिक जीवन

और वैदिक संस्कृतिके बीचके सम्बन्धको अच्छी तरह समझें और बुद्धके बाद यूनान, ईरान, अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन, प्रशांत महासागरके जावा, बाली आदि द्वीपोंके निवासी मानवसमूहोंके साथ स्थापित भारतीय संस्कृतिके सम्बन्धकी ओर भी भली भाँति ध्यान दें। हिन्द-योरोप, हिन्द-असीरिया, हिन्द-ईरान जैसे वैदिक आर्योंके बीच विद्यमान सम्बन्धोंका ठीक विचार करके बुद्धके परवर्ती कालमें भारतकी सीमाओंके बाहर संस्कृतिका जो प्रसार हुआ उसे मिलाकर वैदिक संस्कृतिके सारको समझनेका प्रयत्न करना चाहिए।

वैदिक स्वर्णयुग अथवा वेदोंमें आर्थिक जीवन

वैदिक संस्कृतिके विकासके स्तरको निश्चित करनेमें वेदोंकी रचनाका काल और भौगोलिक स्थल साक्षात् महत्त्व नहीं रखते। उस संस्कृतिके विकासकी योग्यताके निर्णयमें अनमोल साधन है उस कालका आर्थिक जीवन। वैदिक कालमें कृषि, पशु-पालन, कीमियागीरी, पके मालके उत्पादनमें सहायक उद्योग आदि आर्थिक जीवनकी नींव थे। ऋग्वेद तथा अन्य वेदोंमें गाय-भैंस, बैल, घोड़े, भेड़-बकरियाँ, गधे, हाथी और ऊँट आदिकी समृद्धिके परिचायक अनेकों वर्णन मिलते हैं। मांस, दूध तथा दूधसे उत्पन्न चीजों, कपड़ो, यातायातके साधनों तथा खेतीके कामोंमें उक्त पशुओंका उपयोग किया जाता था। वैदिक लोग हाथीका उपयोग सिर्फ युद्ध और आवागमनमें और गाय, बैल, बकरियाँ, घोड़े ऊँट आदिका मांसके लिए उपयोग करते थे। ग्रामीण पशु वैदिक कालमें लेन-देनके साधन भी बनते थे। सच बात तो यह है कि जानवर या चौपाये उस समय सिक्कोंकी तरह विनिमयके प्रधान साधन माने जाते थे। सोमयागमें सोमवल्लीको विधिवत् खरीदनेकी क्रियाका वर्णन है। उसमें अध्वर्यु सोमवल्लीके मूल्यके रूपमें सोमके विक्रेताको जो दस वस्तुएँ प्रदान करता है वे निम्नानुसार हैं:- गाय, हालहीमें प्रसूत गौ, उसकी बछिया और बछड़ा, गाड़ीको खींचनेमें समर्थ बैल, गाय और बैल का जोड़ा, वस्त्र, सोना और बकरियाँ। इतनेसे सोमका विक्रेता अगर अप्रसन्न रहा तो और भी भैंस, घोड़ा आदिका दान किया जाता था। सोमका इतना मुँहमाँगा या महँगा दाम उसकी उस कालकी दुर्लभताकी ओर निर्देश करता है। वैदिक कालमें सोम-रसके स्वादकी तुलना अक्सर अमृत, मदन तथा स्वर्गसे की जाती थी। भूमिकी अपेक्षा पशुओंको महत्त्वपूर्ण धन या संपत्ति मानना उस कालकी पद्धति थी। दानस्तुतियोंके उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि ऋग्वेदके ऋषि पशुओंकी अपार समृद्धिकी, असीम विपुलताकी अभिलाषासे प्रेरित थे। कक्षीवान् नामक ऋषि कहते हैं, "राजाके द्वारा आग्रहपूर्वक दिए गये शत निष्कों तथा सौ

अश्वोंका मैंने एक साथ ही स्वीकार किया। समर्थ राजाके दिये हुए सौ बैलोंका स्वीकार करके मैंने उसकी अमिट कीर्तिको स्वर्गमें फैलाया" (ऋग्वेद १।१२७।२)। वशाका कहना है, "सत्तर हजार अश्व, दो सहस्र ऊँट और एक हजार कृष्णवर्णी घोड़ियाँ मुझे मिलीं, तीन जगह श्वेत चिह्नोंसे युक्त दस हजार गौएँ मुझे मिलीं" (ऋग्वेद ८।४६।२२)। वृश्यका कथन है कि "सौ बाँस, सौ कुत्ते, सौ सिझाये गये चमड़े, सौ बल्वज घासके पूले और चार सौ उज्ज्वल अश्व मेरे हैं" (ऋग्वेद ८।५५।३) पृषध्र कहते हैं, "सो गधे, ऊनके साथ सौ सेवक और शत मालाएँ मुझे प्रदान की गयीं" (ऋग्वेद ८।५६।३)। पशुओंकी विपुलताका इस तरह वर्णन करनेवाले सूक्त ऋग्वेदमें विद्यमान हैं। ऋग्वेद कालकी संपत्तिके वैभव तथा विस्मय-कारी स्वरूपको समझनेके लिए सर्वोत्तम साधन है सूक्तोंकी दानस्तुति। पुरोहितों द्वारा भिक्षुकों या ब्राह्मणोंको दिए गये इन दानोंपर आजके पाठकोंको विश्वास नहीं होता; परन्तु यह मानी हुई बात है कि संसारकी सभी प्राचीन संस्कृतियोंपर पुरोहितोंकी छाप अमिट रूपसे अङ्कित थी। उस कालके राजा अपनी कन्याएँ पुरोहितोंको अर्पित करते थे। वधू-दानके अनेकों उल्लेख ऋग्वेदमें पाये जाते हैं। सिंधुके पासका पंजाब और गंगा यमुनाके बीचका प्रदेश पर्याप्त वर्षासे अनुगृहीत और पशुपालनके लिये अतीव योग्य था। सैकड़ों कोसोंतक चौपायोंके चरनेके लिए फैले हुए चरोखरयुक्त जंगल तथा विपुल जलसे पूर्ण और वेगसे बहती हुई नदियाँ पशुपालनके लिए सर्वथा अनुकूल थीं। पैने और तांबेसे बनाए गये अन्यान्य हथियारोंका उपयोग करनेमें प्रवीण पशुपाल जंगली जानवरोंका नाश करते थे। इनमेंसे कई वैदिक समूहोंमें सम्मिलित थे। रुद्र और पूषन् नामके ऋग्वेदके देवता पशुपालन करनेवाले आर्य-समूहों द्वारा अपनायी गयी जीवन-पद्धतिको सूचित करते हैं।

ऋग्वेदका रुद्र इन्द्रकी तरह सुन्दर तथा गौरवर्ण है। उसके गलेमें सोनेके निष्कोंका हार शोभायमान है। 'विश्वरूप' इसी हारका विशेषण है जिससे यह बतलाया गया है कि उस हारमें विविध आकृतियोंकी सोनेकी मुद्राएँ गूँथी हुई हैं। रुद्रको 'तवस्तमः तवसाम्' याने वृद्धोंमें वृद्ध कहा गया है जिससे सिद्ध होता है कि वे आर्योंके बहुत पुराने या सनातन देवता हैं। केशोंकी कबरीसे अलंकृत पुषन्के हाथमें सोनेकी कुल्हाड़ी या तलवार विराजती है। ये भारद्वाजकुलके प्रिय देवता हैं। पूषन् खोए हुए चौपायोंकी खोज करके उनका पता लगाते हैं और भूले-भटके हुए व्यक्तियोंको राह दिखाते हैं। अथर्ववेद और यजुर्वेदमें रुद्रको

पशुपतिकी पदवी बहुत बार प्रदान की गई है। ऋग्वेदमें एक जगह सोनेकी मुद्राको 'मना नाम' दिया गया है जो बाबीलोनमें प्रसिद्ध है। खाल्डियाकी संस्कृतिका अध्ययन करनेवाले अन्वेषकोंने सिद्ध किया है कि बाबीलोनके प्रथम साम्राज्यके साथ व्यापार, दक्षिण तथा पश्चिम भारतके किनारेसे होता था। बाबीलोनको उस समय महीन कपड़ा भारतसे मिलता था। ऋग्वेदका 'पणि' शब्द चार हजार बरस पहले भूमध्यसमुद्रमें व्यापार करनेवाले फिनलैण्डके वणिजोंकी ओर निर्देश करता है। स्थलमार्गसे या जलमार्गसे सुदूर देशोंके साथ व्यापार तबतक संभव नहीं जबतक मुद्राओंके बल चलनेवाली लेन-देनकी पद्धति स्थिर न हो। दूरवर्ती प्रान्तों या प्रदेशोंके व्यापारमें प्रत्यक्ष वस्तुओंका लेन-देन सर्वथा असम्भव है। ऋग्वेद (१-१२६-२) में कहा गया है राजा भावव्ययने कक्षीवान् को सौ निष्क प्रदान किए। पुराने जमानेमें सोनेकी या चाँदीकी मुद्राओंका अलङ्कारोंके रूपमें उपयोग बड़ा ही गौण था। रुद्रको पहनाये गए निष्कोंके हारका उक्त उल्लेख ऋग्वेद (२।३३।१०) में मिलता है। प्राचीन कालकी भारतीय मुद्राओंको टंकित करके उनमें छेद रखनेकी पद्धति प्रचलित थी; संभवतः यह ऋग्वेदके कालसे चली आई है। इन मुद्राओंपर विविध आकृतियाँ अङ्कित रहती थीं। इसीलिए रुद्रके हारको 'विश्वरूप' याने विविध आकृतियोंसे युक्त या अलंकृत कहा गया है। गर्ग ऋषिको दिवोदाससे प्राप्त दस हिरण्यपिण्डोंका उल्लेख ऋग्वेद (६।४७।२३) में विद्यमान है। पिण्ड शब्दसे मुद्राके वर्तुलाकार होनेका अनुमान निकलता है।

स्थलमार्गसे और जलमार्गसे होनेवाले व्यापारसम्बन्धी यातायातके महत्त्वपूर्ण साधनोंका उल्लेख ऋग्वेदमें तो है ही। ऋग्वेदके एक मन्त्र (१।११६।५) में समुद्रमें सौ डांडोंसे चलनेवाली नौकाका वर्णन है। वरुणके सम्बन्धमें आदरके साथ कहा गया है कि उन्होंने आकाशकी सैर करनेवाले पक्षियों तथा समुद्रका प्रवास करनेवाली नौकाओं के मार्गको भली भाँति समझ लिया है (ऋग्वेद १।२५।७) महामना वशिष्ठ कहते हैं, "मैं और वरुण दोनों नौकामें बैठे और हमने नावको समुद्रमें छोड़ दिया। हम पानीकी लहरोंपर संचार करने लगे, झूलेकी तरह झूलने लगे। वरुणने मुझे अपनी नौकामें बिठाया और मुझ जैसे ऋषिको महान कार्योंके योग्य बनाया (महान् कार्योंका कर्ता बनाया।) (ऋग्वेद ७।८८।३,४)। आवागमनमें बैलोंकी दो पहियेवाली गाड़ियों तथा घोड़ोंके छोटे-बड़े रथोंका उपयोग किया जाता था (ऋग्वेद ३।५३, २।३९, ८।९१, १०।६०)। बैलों, घोड़ों और गधोंकी गाड़ियाँ तथा रथ वाहनोंके रूपमें अपनाये जाते थे। रथमें आवश्यकतानुसार

एक, दो, तीन या उससे भी अधिक घोड़े जोड़े जाते थे (ऋग्वेद १।३९; १०। ३३)। मनुष्योंके आवागमन और वस्तुओंके यातायातमें, प्रवासमें और युद्धों तथा स्पर्धाओंमें घोड़ोंके रथोंका उपयोग होता था। वास्तवमें पूर्ववर्ती भारतीय अवैदिकोंपर ऋग्वेदके आर्योंकी जो विजय हुई, जो प्रभुता स्थापित हुई, उसका प्रधान कारण है तेज चलनेवाले, भरकम अश्वरथोंका आर्योंद्वारा उपयोग।

वैदिक कालमें बढ़ईके कामको बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान दिया जाता था। सूक्तकर्ता ऋषि अपनी कविताको या कलाकृतिको बढ़ईद्वारा बनाये गये सुन्दर रथकी उपमा बार बार दिया करते थे। मालूम होता है कि इसी बढ़ईकी कलाने त्वष्टा नामके देवताकी कल्पना करनेमें सहायता दी। वेदोंकी कल्पना है कि त्वष्टा प्राणियोंके गर्भमें प्रवेश करके उनके विविध और मनोहर रूपोंका निर्माण करता है। रथकार या रथके कर्ताके लिए यजुर्वेदमें एक स्वतंत्र इष्टिकी याने यज्ञकी योजना हुई है। उस कालमें भवन-निर्माण करनेवाली जातिको याने थवइयोंको और राजोंको बड़ी प्रधानता प्राप्त थी। ऋग्वेदमें 'शत द्वारोंके पुर'का याने प्रासादका उल्लेख मिलता है। यजुर्वेदमें निषादोंके स्थपतिके लिए स्वतंत्र यज्ञकी सृष्टि की गई है। उस कालके स्त्री-पुरुष बुननेका काम अच्छी तरह करते थे। बुननेकी कलासे सम्बन्धित सुचारु दृष्टान्त वास्तवमें ऋग्वेदकी विशेषता है। वैदिक ऋषि यज्ञक्रियाको ही बुननेकी क्रियाकी उपमा देना अधिक पसन्द करते थे। तड़कीले भड़कीले वस्त्रोंकी शोभा ऋग्वेदमें बार बार वर्णित है (ऋग्वेद ५।२९,८।४६,१०।११)।

संस्कृतिके आर्थिक इतिहासमें धातुका अन्वेषण तथा उपयोग युगान्तकारी परिवर्तन माना जाता है। यों तो किसी भी संस्कृतिकी आर्थिक व्यवस्थाके अध्ययनमें मामूली बातोंकी भी ब्योरेवार गणना करनी पड़ती है, परन्तु छोटी-बड़ी निर्मित वस्तुओंकी पर्याप्त जानकारीसे भी संस्कृतिके अर्थ-विकासके स्तरको निश्चित नहीं किया जा सकता; उसके लिए अर्थोत्पादनके साधनोंकी विशेषताओंकी ओर गौरसे देखना आवश्यक है। वैशिष्ट्यसे युक्त कोई एक साधन भी आर्थिक विश्वकी रचनामें मूलतः परिवर्तन उपस्थित करनेमें समर्थ सिद्ध होता है। भापकी खोज द्वारा उत्पन्न औद्योगिक क्रान्ति इसका ज्वलन्त प्रमाण है। इसी दृष्टिसे धातुओंकी सहायतासे शस्त्रोंका निर्माण करनेके मनुष्यके कौशलको युगान्तकारी माननेमें इतिहासके विद्वानोंने औचित्यका ही पालन किया है। पाषाणयुग, कांस्ययुग और लौहयुगको मानवकी संस्कृतिके क्रमिक विकासके परिचायक युग माननेकी पद्धति है।

लोहेसे हथियार या आयुध बनानेकी कला वैदिक कालके भारतीयोंमें विद्यमान थी। असलमें यही कला वैदिकोंकी सर्वङ्कष तथा सर्वाङ्गीण प्रगतिका मूल कारण बनी। फिर भी यह मानना चाहिए कि ऋग्वेदमें लोहेके लिए किसी विशेष संज्ञाका उपयोग नहीं मिलता। लुहारको ऋग्वेदमें 'कर्मार' कहा गया है (ऋग्वेद ४।२।१७, १०।७२।२)। इस वेदकी कुछ ऋचाओंके बलपर सामान्य रूपसे यह अनुमान निकलता है कि उस समय कुल्हाड़ी या परशु, तलवार, छुरी, छुरा या उस्तरा (क्षुर), कैंची (भुरिज) आदि वस्तुएँ लोहेसे बनाई जाती थीं। 'अयस्' शब्द बादमें लोहेका वाचक बना। वेदमें उसका उपयोग तांबा या सामान्य धातुके अर्थमें हुआ है। इससे 'लोहे'के उपयोगके विषयमें सन्देह होता है। ऋग्वेदके कालमें छुरेसे केशोंका सम्पूर्ण मुण्डन करनेकी पद्धति प्रचलित थी। इसके कारण कुछ लोगोंका अनुमान है कि उस समय छुरा फौलादसे बनाया जाता था; तांबेसे या कांसेसे नहीं। अथर्ववेदके 'श्यामं अयः' (११।३।१,७) में लोहेका निर्देश स्पष्ट है। तैत्तिरीयसंहिता (४।७।२।१) तथा यजुर्वेदकी अन्य संहिताओंमें धातुओंकी सूचीमें 'श्याम' शब्दसे लोहेकी गणना की गई है। छान्दोग्य उपनिषद (६।१।६) में लोहेका दृष्टान्त दिया गया है—"एक नखनिकृन्तनसे समूचे कार्ष्णायसका ज्ञान होता है। वाणीको प्रेरित करनेवाला (वाचारम्भण) विकार नाममात्र (नामधेय) है; कृष्णायस् ही सत्य स्वरूप है।" यहाँ कृष्णायस्का अर्थ है कृष्णवर्ण धातु याने लोहा। इस वाक्यसे सिद्ध होता है कि उस समय लोहेसे अनेक विकारोंकी याने प्रकारकी वस्तुओंकी निर्मिति होती थी। भारतमें वैदिक आर्योंने अश्वमेधके द्वारा युद्ध करके बड़े बड़े राज्योंपर अधिकार पानेका जो सफल प्रयत्न किया उसका प्रधान कारण है शस्त्रनिर्माणमें लोहेका और वेगयुक्त प्रस्थानमें घोड़ोंका भरसक उपयोग। सौ बातोंकी एक बात यह है कि उत्पादनके साधनों तथा विविध शस्त्रास्त्रोंके निर्माणके लिए वैदिकोंने लोहेका पर्याप्त उपयोग किया। इसी वजहसे मोहोंजदारो तथा हरप्पा में उपलब्ध नागर संस्कृति आर्योंद्वारा परास्त हुई। सिंधु-संस्कृति भूमध्यसमुद्रके पासकी असीरिया संस्कृतिकी ही तरह-वास्तवमें उससे भी अधिक उन्नत थी। उसमें अन्य धातु मिल जाते हैं; सिर्फ लोहेका अभाव है। अतएव समझना आसान है कि लोहेका उपयोग करनेमें सिद्धहस्त वैदिक आर्य यहाँके पुराने राष्ट्रोंमें अपनी जड़ें जमानेमें, उनपर अपना अधिकार स्थापित करनेमें सफल हुए। इस ऐतिहासिक विजयके दो कारण हैं; एक लोहा और दूसरा अश्वरथ!

वैदिकोंको हिन्दुस्तानमें सोना विपुल मात्रामें मिला। इस बातका उनके आर्थिक जीवनपर बड़ा प्रभाव पड़ा इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। सुवर्णको अर्थ-शास्त्रमें विनिमयका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण साधन माना गया है। इस दृष्टिसे वैदिक कालको वाच्यार्थमें सुवर्णयुग कहना संभव है। सरस्वती नदीके पासके प्रदेशमें और अन्यत्र वैदिकोंको सोनेका प्राकृतिक अथवा लूटा हुआ संचय मिला। यह भी उनके वैभवयुक्त पराक्रमका एक कारण है। सोमयज्ञमें सुवर्णपात्रमें सोनेका निचोड़ निकालते थे (ऋग्वेद ९।७५।२)। अश्वमेध नामके यज्ञमें सोनेके या चाँदीके पात्रोंका उपयोग होता था। स्त्रियाँ तथा पुरुष सोनेके गहने पहनते थे (ऋग्वेद ५।५३।४)। घोड़ोंपर भी सोनेके अलङ्कार चढ़ाए जाते थे (ऋग्वेद ४।२।८)। यह तो हम पहले ही कह चुके कि विनिमयमें निष्क नामके सोनेकी मुद्राका उपयोग किया जाता था। एक अग्नि-चयनका नाम था नचिकेत। उसमें वेदीकी रचना सोनेकी ईंटोंसे की जाती थी, तैत्तिरीय ब्राह्मणसे यह सिद्ध होता है। तैत्तिरीय और यजुर्वेदकी अन्य संहिताओंमें सब प्रकारके अग्निचयनोंमें सोनेके कणों या टुकड़ोंको बिखराकर उनपर परमात्माकी सुवर्णमूर्ति स्थापित करनेकी विधिका विधान है। तात्पर्य, ऋग्वेदमें तथा अन्य वेदोंमें हिरण्य या सोनेको जो सम्पूर्ण प्रधानता दी गई है वह वैदिकोंके सुवर्ण-युगको ही सूचित करती है। जब जीवनके व्यावहारिक प्रयोजनोंकी पूर्ति आसान हो जाती है और जब जीवनके उपभोगके साधन बड़े पैमानेपर संचित होने लगते हैं तभी सुवर्ण-जैसे विनिमयके साधनका प्रचलन होता है। वैदिक आर्योंकी जिस पशु-समृद्धिका पहले दिग्दर्शन कराया उसके लिए सुवर्णका विनिमय अनिवार्य था।

संपत्तिका व्यक्तिगत अधिकार ऋग्वेदकालीन संस्थाओंकी नींव थी। संपत्तिका सामूहिक या सामाजिक अधिकार उस समय समाजकी आधारशिला नहीं थी। उस कालकी दाय, दान तथा ऋण सम्बन्धी कल्पनाओंसे यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेदकी सामाजिक व्यवस्था सभ्यताकी प्राथमिक अवस्थाको पार कर चुकी थी। पैतृक परम्परासे प्राप्त धनकी विरासतका अधिकार ऋग्वेदमें रूढ हो गया था। उदाहरणके तौरपर इस वेदमें लिखा है—हम "पैतृक वित्तके मालिक बनें" (ऋग्वेद १।७३।९) और 'अग्नि पैतृक धनकी तरह अन्न देते हैं" (ऋग्वेद १।७३।१)। तैत्तिरीय संहितामें मनुद्वारा पुत्रोंमें विभाजित धनका उल्लेख है (६।५।१०।१)। ऋग्वेदके परवर्ती वैदिक कालमें संपत्तिके निजी अधिकारकी महत्ताके परिचायक अनेकों वाक्य तथा वर्णन मिलते हैं। बँटवारेमें धनका सबसे बड़ा हिस्सा ज्येष्ठ पुत्रको मिलता था। ऋण-संस्था भी ऋग्वेदके कालमें निर्माण हुई थी। स्तोता कहते हैं, "हे वरुण

मेरे ऋणोंको नष्ट कीजिए; दूसरोंके आधारपर जीना मैं नहीं चाहता" (ऋग्वेद २।२८।९); "हे ब्रह्मणस्पति, तुम सचमुच ऋणोंका नाश करनेवाले हो" (ऋग्वेद २।२३।११)। सच पूछिए तो ऋणसे उऋण होकर स्वर्ग पहुँचनेकी कल्पनाने वैदिक कालके लोगोंके हृदयोंमें घर किया था (तैत्तिरीय संहिता ३।३।८।२)। ऋणकी कल्पनाके बलपर ही कर्तव्य तथा अकर्तव्य सम्बन्धी नैतिक तत्त्वज्ञानका जन्म होता है। देवऋण, पितृऋण, ऋषिऋण तथा मनुष्यऋणसे उऋण होनेमें ही जीवनके कर्तव्योंका सम्पूर्ण पालन होता है। वैदिक कालके धार्मिक तथा नैतिक कर्तव्योंकी यही मीमांसा थी, यही समाधान था। सारांश ऋण-संस्था संपत्तिके संचयकी परिचायक है। इसी तरह वेदोंकी दान-संस्था व्यक्तिगत संपत्तिके प्रचण्ड संग्रहको सूचित करती है। यज्ञमें दी जानेवाली दक्षिणाओंके परिमाणसे यह सूचित होता है कि वैदिक समाजमें बिना शारीरिक कष्टोंके जीनेवाले दाताओं तथा दानका स्वीकार करनेवालोंका एक बड़ा वर्ग निर्माण हुआ था। तात्पर्य, दाय, दान तथा ऋणका वैदिक समाजके आर्थिक उत्पादनमें प्रधान स्थान मिला था। ऋग्वेदमें दानस्तुति नामकी ऋचाएँ सर्वत्र बिखरी हुई हैं। उदारता या औदार्य भावनाका परिचायक ऋग्वेदीय दानसूक्त (१०।११७) बड़ा ही पठनीय है। उसमें गरीबों तथा भूखों को अन्न देने, सेवकोंके साथ अच्छा बर्ताव करने, अशिष्ट धन-संचय न करने तथा अतिथिको निराश न लौटानेका उपदेश दिया गया है।

यह कहना उचित है कि आर्थिक उत्पादनके विभिन्न साधनों तथा विनिमयके लिए उपयोगी मुद्राओंके विपुल संचयके बलपर वैदिक कालकी संस्कृति प्राथमिक अवस्थाको निश्चय ही पार कर चुकी थी। ऋग्वेदके आर्य बैलों और हलोंकी सहायतासे खेती करते थे। वे गाय, बैल, अश्व, ऊँट, हाथी, गधा आदिका उपयोग कृषि, दूध और दूधसे बनी हुई चीजोंके तथा यातायातके काममें करते थे। पशुपालनकी कलाके कारण उनके पास पशुओंकी विपुल संपत्ति थी। धातुकाममें या कीमियागरीमें वे कुशल कलाकार थे। शिरस्त्राण, कवच, धनुष और बाण, परशु, तलवार आदि (कांस्य, तांबे या लोहेके बनाए हुए) युद्धके साधनों एवं शस्त्रोंके वे अच्छे जानकार थे। गहनों तथा सिक्कोंके रूपमें सोनेका उपयोग करते थे; नावोंके जरिये व्यापार तथा समुद्रमें विहार करते थे। उनके भौतिक जीवनका यही स्वरूप था।

वैदिकोंकी मानसिक संपत्ति —

संस्कृतिकी साधना केवल भौतिक साधनोंसे नहीं की जाती। भौतिक साधनों तथा आर्थिक व्यवस्थाकी सुस्थितिके लिए मानसिक साधनोंकी भी आवश्यकता है। भाषा और गणित व्यवहारके मानसिक साधन हैं। विचारोंके निर्माणकी दृष्टिसे भाषाकी अपेक्षा गणितका महत्त्व अधिक है। बोलनेकी अपेक्षा तौलनेसे मनुष्य विश्वका आकलन करनेमें अधिक समर्थ होता है। इसलिए विद्याओं तथा कलाओं-की प्रगतिमें शाब्दिक संकेतोंकी अपेक्षा संख्या एवं परिमाणके संकेतोंकी विशेष रूपसे सहायता होती है। भाषाका लिपिबद्ध होना विकासके नए और उच्च कोटिके युगका श्रीगणेश है। गणना तथा लेखनमें वैदिक आर्य बहुत ही आगे बढ़े हुए थे। इसके लिए वेदोंमें प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रमाण उपस्थित हैं। ऋग्वेदमें वर्णमालाके लिए ‘अक्षर’ शब्दका उपयोग हुआ है (१।१६४।२४)। वैदिक कवि छन्दोंकी रचनामें अक्षरोंकी गणना करते थे। कहा गया है कि सात छन्द अक्षरोंमें गिने जाते थे। (ऋग्वेद १।१६४।२४)। अक्षरका व्युत्पत्तिगत अर्थ है न रिसनेवाला, न छननेवाला। संभव है कि ऋग्वेदमें अक्ष-रोंको खोदा जाता था। खुदा हुआ अक्षर स्याहीसे लिखित अक्षरकी तरह पानीके गिरनेसे छन नहीं सकता। ऋग्वेदके कई सूक्तकार सूक्तके उपसंहारमें हमेशा लिखते हैं, “इन्द्रके लिये नया सूक्त तराशकर तैयार किया गया” (ऋग्वेद १।६२।१३)। ‘तक्ष्’ धातुका अर्थ होता है तराशना, छीलना, काटना। ऋग्वेदमें कई जगह इस धातुको सूक्त-क्रियाका वाचक माना है। इसपर आक्षेप उठाया जाता है कि वैदिक कवि सूक्त-क्रियाको रथकी उपमा देते हैं और इससे संभव है कि ‘तक्ष्’ धातुका उपयोग उपमानको ले आनेके लिए या अलङ्कारको ध्वनित करनेके लिए किया हो। इसका यह उत्तर है कि ऋग्वेदमें कई स्थानोंपर उप-माके विवक्षित न होते हुए भी सूक्त-क्रिया या छन्द-रचनाके लिए ‘तक्ष्’ धातुका उपयोग किया गया है। “उन्होंने त्रैष्टुभ्‌को तराशकर निर्माण किया” (ऋग्वेद १।१६४।२३)—जैसे वाक्योंमें अलङ्कारका प्रश्न ही नहीं उठता। ऋग्वेदकी मना नामकी सुवर्णमुद्राका उल्लेख पहले हुआ है। उन मुद्राओंपर आकृतियाँ अङ्कित थीं। ‘मना’ संज्ञक मुद्रा वैदिकोंके बाबीलोनके साथ चलनेवाले व्यापारकी सूचक है। मेसापोटेमियाका अध्ययन करनेवाले अन्वेषकोंने इस व्यापारको अन्य प्रमाणोंके आधारपर भी सिद्ध किया है। प्रत्यक्ष प्रमाणके द्वारा यह भी सिद्ध हुआ है कि बाबीलोन तथा उस समयके पंजाब एवं सिंधमें लिखनेकी कला विद्यमान थी।

ऋग्वेदके उन्नत मानवके संबंधमें यह कल्पना करना कि अन्य किसी संबद्ध संस्कृतिके उन्नत मानवका अनुकरण करनेमें वह असमर्थ है, वास्तवमें निरदुस्साहस है। ऋग्वेदमें 'वर्ण' शब्द अक्षरोंका या वर्णमालाका पर्यायवाची था। इसके लिए ऐतरेय ब्राह्मणमें निश्चित प्रमाण मिलता है। इसमें कहा गया है–"उसने तीन शुक्रोंको (धातुओंको) तपाया। तपे हुए इन शुक्रोंसे तीन वर्णोंका-अकार, उकार तथा मकारका जन्म हुआ। इनको एकरूप किया और 'ॐ' (ओङ्कार) की सृष्टि हुई (२५।७)। 'वर्ण'का मूल अर्थ है रंग। वर्णमालाके अक्षरोंके लिए 'वर्ण' शब्दका उपयोग रंगीन स्याहीकी खोज एवं उपयोगके बाद ही संभव है। वैदिक साहित्यको कण्ठस्थ करनेकी क्रिया जब अतीव पवित्र बनी तब वैदिक पुरोहित लेखन-कलाकी महत्ताको भूल बैठे। इसलिए अत्यन्त प्राचीन कालमें, बुद्धके पहले जो वैदिक लेखन हुआ उसके लिए आज कोई प्रमाण नहीं मिलता। लेखनकी महत्ताका हृदयसे स्वीकार करनेवाली संस्कृतियोंमेंसे एक प्राचीन संस्कृति आज संसारमें विद्यमान है। और वह है चीन की संस्कृति! वैदिक कालके भारतीयोंने अपनी धार्मिक श्रद्धाके कारण कण्ठस्थ करनेकी क्रियाको बड़ा ही महत्त्व दिया। सहस्रों वर्षोंके पूर्व लिखित वैदिक ग्रन्थोंको, पाठभेदोंके या विशेष परिवर्तनोंके विना ज्यों-के-त्यों कायम रखनेके महान् उपकारके लिए वास्तवमें, भारतीयोंकी कण्ठस्थ करनेकी इस विस्मयकारिणी शक्तिके हम नितान्त ऋणी हैं। मध्य-युगमें लेखन-कला के महत्त्वको सर आँखोंपर करनेके बाद भी कण्ठस्थ करनेकी इस क्रियाकी गूढ पवित्रता कायम रही। यही कारण है कि लेखककी भूलों या गलतियोंसे उत्पन्न होनेवाले भाषाके विपर्यास-जैसे दोषोंका वेदोंमें प्रवेश न हो पाया। सहस्रों वर्षोंके पूर्व लिखित साहित्यको उच्चारण-पद्धतिके साथ अविकृत रूपमें कायम रखनेमें कण्ठस्थ करनेकी यह पावन महिमा ही सफल सिद्ध हुई। आज भी इसके सिवा अन्य किसी उपायकी कल्पना नहीं की जा सकती। वेदोंके अक्षर कालके प्रवाहसे आजतक जीर्ण न बने; न उनका नाश हुआ न वे विस्मृतिके गर्भमें चले गये। इसका मूल कारण है वेदोंके कण्ठस्थ करनेवालोंकी उज्ज्वल परंपरा।

अङ्कनकी कला तथा गणितमें अन्य प्राचीन राष्ट्रोंकी तुलनामें वैदिक बहुत ही आगे बढ़े हुए थे। काल तथा अक्षर की गणनाके लिए उन्होंने दशाङ्क पद्धतिका अन्वेषण किया था। गोपथ ब्राह्मणमें 'अङ्क' शब्द संख्यावाची है। इससे सिद्ध होता है कि वैदिक संख्याओंको लिखते थे। अङ्क माने लिखित या खुदा

हुआ चिह्न गोपथ ब्राह्मणमें मिलता है- "वर्णों; अक्षरों तथा पदों के अङ्कोंसे याने संख्यासे उसे पहचानना चाहिए (१।१।२७)। संदर्भसे मालूम होता है कि यहाँ 'उसे' शब्द व्याकरणकी ओर निर्देश करता है। गोपथ ब्राह्मणकी इस उक्तिका अभिप्राय है कि व्याकरणको समझनेके लिए वर्णों, अक्षरों और पदोंको गिनना चाहिए। यूनान तथा रोमकी संस्कृतियोंमें दशाङ्क-पद्धतिका अभाव था। भारतीयोंने इसी पद्धतिके बलपर गणितमें विशेष कौशलको प्राप्त किया था। शून्यकी कल्पना प्राचीन भारतीयोंका महान् अन्वेषण है। इस कल्पनाने गणित-शास्त्रमें युगान्तर उपस्थित किया। गणितके पारदर्शी मर्मज्ञ भी मानते हैं कि इस कल्पनाकी तरह विशुद्ध तथा प्रभावी कल्पना हो नहीं सकती। वैदिक साहित्यमें 'शून्य' शब्दका उपयोग 'रीते' या 'खोखले'के अर्थमें हुआ है (शतपथ ब्राह्मण २।३।१।६; तैत्तिरीय ब्राह्मण २।१।२।१२)। यहाँके 'शून्य आवसथ'का अर्थ है खाली घर। गणित-शास्त्रकी अनन्त (या असीम Infinity) की कल्पनाका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (१४।८।१) तथा बृहदारण्यकोपनिषद (५।१) में 'पूर्ण' नामकी संज्ञाके द्वारा हुआ है। ब्रह्मके वर्णनमें अनन्तके जोड़ तथा घटावको वहाँ रूपकद्वारा स्पष्ट किया गया है। "यह पूर्ण है और वह भी पूर्णसे पूर्ण ही निर्माण होता है। पूर्णसे पूर्णको कम करनेके बाद पूर्ण ही शेष रहता है।" इन वाक्योंके अंतिम अंशमें घटावकी कल्पना स्पष्ट है।

उत्पादनका लोहे-जैसा साधन, विचारोंका लिखित भाषा या लिपि-जैसा साधन, दशाङ्क-पद्धतिसे संयुक्त गणित, मुद्राओं-जैसे विनिमयके साधन और अश्वों तथा नौकाओं-जैसे यातायातके उपादान आदिका संकलित स्वरूप निश्चय ही उस वैदिक मानव्यका परिचायक है जो उन्नति या विकासके पथपर अग्रसर था; परन्तु मनुष्यकी बौद्धिक या आध्यात्मिक उन्नतिका लक्षण अलग ही है। वह उसके बौद्धिक तथा नैतिक विचारोंमें प्रतिबिम्बित होता है। वास्तवमें बौद्धिक एवं नैतिक मूल्योंके आधारपर ही असभ्य समाज तथा सुसंस्कृत समाजमें भेद करना संभव है।

असभ्य समाजके व्यक्ति भिन्न समाज या राष्ट्रके व्यक्तियोंको मानने तथा उनके अधिकारोंको पहचाननेमें हिचकते हैं। जंगली जानवरों और पराये व्यक्तियोंमें अधिक अन्तर मानना वे पसन्द नहीं करते। पराये या विदेशी व्यक्तियोंको लूटना, सताना या मारना उनकी आँखोंमें बहुत बुरी चीज़ नहीं। सिवा युद्ध या लड़ाईके भी इसी अवस्थामें

विद्यमान राष्ट्रकी संस्कृतिको बिना किसी संकोचके असभ्य कहा जा सकता है। 'मनुष्य,' 'जन' आदि शब्दोंका उपयोग करके मानवके कर्तव्य तथा अकर्तव्यको तय करनेका नैतिक दृष्टिकोण वैदिकोंके पास अवश्य था। ऋग्वेदमें इन्द्रको दासों तथा आर्योंका मित्र कहा गया है। यों तो दस्युओं एवं दासोंका निर्देश ऋग्वेदमें कई बार शत्रुओंके रूपमें किया गया है। उनको समूल नष्ट करनेवाले देवोंकी प्रार्थना करने तथा उनके नाश या विध्वंसमें अपना गौरव समझनेवाली प्रवृत्ति ऋग्वेदमें जहाँ तहाँ विद्यमान है; परन्तु इस वेदमें ही विद्वेषकी इस भावनाको पार कर मनकी विशालताकी ओर संकेत करनेवाली अवस्थाके भी दर्शन मिलते हैं।

मानव या मनुष्यकी कल्पना वास्तवमें बड़े व्यापक अर्थका परिचायक है। इस अन्वेषणके उपरान्त पुरुषसूक्तमें ईश्वरके लिए 'पुरुष' या 'मनुष्य' संज्ञाका उपयोग किया गया है। निसर्गकी शक्तियोंका दिव्य स्वरूप धीरे धीरे विकसित होता गया और उसके विकासकी चरम सीमाको व्यक्त करनेके लिए 'मनुष्य' या 'पुरुष' शब्दसे योग्य शब्द वेदोंको नहीं मिला। 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म' ईश्वरकी ओर निर्देश करते हैं अवश्य, और दर्शनकी दृष्टिसे वे 'पुरुष' या 'मनुष्य'की अपेक्षा अधिक योग्य भी हैं; परन्तु धार्मिक और नैतिक भावनाओंको सूचित करनेकी शक्ति 'पुरुष' या 'मनुष्य'में निःसन्देह अधिक है। ऐतरेय उपनिषदका कथन है—"मनुष्य विश्व-शक्तिकी सुकृति (विशुद्ध आविष्कार) है। मनुष्यका अर्थ है सुकृत या पुण्य।" सृष्टिमें मानव 'सबसे सुन्दरतम', सर्वोपरि है। सच बात तो यह है कि भक्ति तथा आदरकी अभिव्यक्तिके लिए ईश्वरका 'मनुष्य' रूप ही सबसे अधिक उपयोगी है।

समूचे संसारका चिन्तन करना सांस्कृतिक उत्कर्षका ज्वलन्त प्रमाण है। यह चिन्तन दो रूपोंमें अभिव्यक्त होता है; एक प्रतिभाके रूपमें, दूसरा तर्कशक्तिके रूपमें। प्रतिभा उत्स्फूर्त है, प्रेरणामयी है। पशुसामान्य प्रयोजनोंकी पूर्तिके भारको दूर कर, वास्तवमें उनसे ऊपर उठकर ही मानवका मन प्रतिभा या बुद्धिके कार्योंमें प्रवृत्त होता है। जीवनकी सामान्य या तुच्छ आवश्यकताओंकी पूर्तिमें उलझा हुआ मन प्रतिभात्मक मनन तथा बौद्धिक चिन्तनके लिए असमर्थ बनता है। मानव स्वतन्त्रताकी 'स्वर्णिम विभा'में तब प्रवेश करता है जब वह संस्कृतिके बलपर आहार, वस्त्र आदिकी प्राप्तिके लिए अविरत चलनेवाले संघर्षकी चिन्ताओंसे मुक्त हो जाता है। समाजकी भौतिक प्रगति उसकी आध्यात्मिक संस्कृतिकी

आधारशिला है। हाँ, इससे यह नियम तो नहीं बनाया जा सकता कि भौतिक वैभवके साधन जिन्हें अनायास ही प्राप्त हैं वे आध्यात्मिक या मानसिक विकासमें सहायक होंगे ही; इसका अर्थ केवल इतना है जो शारीरिक आवश्यकताओंकी पूर्ति करनेके लिए कष्ट उठानेपर बाध्य हैं वे विद्याओं तथा कलाओंकी साधना करनेमें असमर्थ बनते हैं।

ऋग्वेदके कालमें ही वैदिकोंने समृद्धिके स्वर्णयुगका निर्माण किया था जिससे विश्वके सम्पूर्ण रहस्यको समझनेकी महनीय आकांक्षासे प्रेरित होकर उनकी प्रतिभात्मक बुद्धि विश्वकी शक्तियोंसे हेलमेल बढ़ाने लगी, उनसे मित्रता स्थापित करनेके प्रयत्नमें अग्रसर हुई। बौद्धिक मननके पूर्व कविता जागृत होती है और भावनाओंको ही बौद्धिक कल्पनाओंका रूप देकर विश्वके रहस्यके अन्वेषणका प्रयत्न करती है। बुद्धिकी तार्किक सूक्ष्मताके स्तरपर पहुँचनेके पहले वैदिक ऋषियोंकी काव्यशक्ति प्रबुद्ध हुई, प्रस्फुटित हुई। परम्परा द्वारा प्राप्त रूढ संस्कारोंके संकीर्ण बन्धनोंको लाँघकर वैदिक कवियोंकी प्रतिभा असीममें, अनन्तमें विश्वके सुन्दर रहस्यका अन्वेषण करने लगी। उन्होंने विश्वकी भव्य, सुन्दर तथा पावन शक्तियोंके समूहको एक ही सूत्रमें पिरोया हुआ पाया। समूचे संसारके रहस्य को समझनेकी महान् क्रियाका प्रारम्भ असभ्य समाजमें सुतराम् संभव नहीं; और अगर हुआ भी तो उससे स्थिर एवं निर्बाध तत्त्वका निर्माण कदापि नहीं हो सकता। वैदिक ऋषिको विश्वसम्बन्धी सिद्धान्तकी–जो कि मानवके सभी भौतिक प्रयत्नोंका सार है–स्थापना करनेमें सफलता मिली। आकाशमें बिखरे हुए असंख्य तारकोंके प्रपुञ्ज, संसारपर उत्साहका अभिषेक करनेवाली और नर्तकीकी तरह नेत्रोंको आनन्द प्रदान करनेवाली स्मितवदना उषा, अनन्त आकाशको नापनेवाले प्रातःकालके सूर्य, अगाध और निर्मल जल, वर्षा, आँधी-तूफ़ान, मेघोंका गर्जन, बिजलीकी चमक-दमक आदि सबमें वैदिकोंकी प्रतिभाने एक ही नियन्त्रणका अनुभव किया। दिन और रात, ऋतुओंके चक्रमें उपस्थित होनेवाले नियत वार्षिक परिवर्तन, पत्रों, पुष्पों एवं फलोंके रूपमें होनेवाला वनस्पतियोंका नियत विकास, पशुओं तथा मानवोंकी गर्भधारणामें प्रतीत होनेवाली निश्चित कालकी अवधि आदिकी ओर वैदिक ऋषियोंने बड़े गौरसे देखा और उन्हें अनुभव हुआ कि 'प्रकृति-नटीके कार्यकलाप' नियमित रूपसे चलते हैं, उनमें किसी व्रतका पालन करनेकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। स्वर्ग और पृथ्वीके अटूट सम्बन्धने, सृष्टिकी आन्तरिक एकरूपताने उनकी प्रतिभाको सूचित किया कि विश्वमें

एक निश्चित व्यवस्था है, इन्द्र, वरुण, सविता, अग्नि, वायु, हिरण्यगर्भ आदि देवता विश्वके इसी नियमका बड़ी सावधानीसे और बिना किसी प्रमादके पालन करते हैं; सविता तथा वरुणके व्रत निर्बाध हैं, अखण्ड हैं। विश्वकी इसी व्यवस्थाको ऋग्वेदने 'ऋत' की संज्ञा दी। देवोंके प्रथम देवता प्रजापति या ब्रह्मा इसी ऋतसे उत्पन्न हुए; अतएव इन्हें 'ऋतज' कहा गया। अग्नि, सोम, वरुण, सविता आदि देवोंको 'ऋतावा' (याने ऋतको धारण करनेवाले) और 'ऋतपा' (याने ऋतकी रक्षा करनेवाले) की उपाधियाँ मिलीं।

विश्वको व्यापनेवाले 'ऋत' तत्त्वको वैदिक ऋषियोंने नीतिकी कल्पनाके बलपर उत्पन्न किया। ऋत तथा अनृतके द्वंद्वसे नीति और अनीतिके द्वंद्वका बोध होता था। वैदिकोंके नीतिशास्त्रमें 'ऋत' शब्द उचित कर्मोंका वाचक और सत्यके पथका परिचायक अतएव सराहनीय जीवन-पद्धतिका प्रमाण माना गया। मानवके मनमें सहज ही स्थित ऋत तथा अनृतके संस्कारोंसे उत्पन्न विवेकके बलपर उसके कर्तव्यों तथा अकर्तव्योंका निश्चय होता है। इसी आन्तरिक नीति-कल्पनाके सहारे निसर्गके शक्तियोंके कार्य-कलापोंमें वैदिक ऋषियोंको व्यवस्थाका भान हुआ। और उसे उन्होंने 'ऋत' संज्ञा प्रदान की। मानवके अन्तरङ्गके नैतिक सत्य तथा विश्वकी शक्तियोंके अस्तित्व एवं व्यापारोंके मूलमें स्थित सत्यकी एकताका यह निर्णय वैदिकोंकी विशाल प्रतिभाका ज्वलन्त प्रमाण है। वेदोंमें 'निर्ऋति' को पापदेवता माना है। इस शब्दमें 'ऋति' ऋतका समानार्थक शब्द है; अत एव 'निर्ऋति'का व्युत्पत्तिगत अर्थ होता है सत्यके पथसे च्युति या च्युत होना। विश्वमें कोई कुप्रबन्ध नहीं, कोई अव्यवस्था नहीं, कोई घपला नहीं; उसमें नियमबद्धता है, नियमन है। यही सिद्धान्त बौद्धिक प्रगति तथा विज्ञानकी आधारशिला है। बुद्धिके इसी निर्णयके सहारे मानवोंका सुधार तथा अनन्त विकास संभव है।

अग्नि, उषा, सविता, वायु आदि प्रकृतिके शक्तिरूप देवता तथा इन्द्र, वरुण, रुद्र आदि प्रकृतिकी शक्तिके परे विद्यमान देव भी ऋत-तत्त्वके अधीन हैं। यही कल्पना ऋग्वेदके मूल दर्शनकी निःसन्देह आधारशिला है। ऋग्वेदमें अनेकदेवतावाद है अवश्य; परन्तु वह ऋग्वेद-पूर्व परम्पराका अवशेष मात्र है। ऋग्वेदमें उसका स्पष्ट तथा वास्तव स्वरूप धीरे धीरे अदृश्य होता रहा। इन्द्र, अग्नि, ब्रह्मणस्पति, वरुण, सविता, मित्र, पूषा, रुद्र, धाता, विश्वकर्मा, हिरण्यगर्भ आदि उच्च कोटिके देवोंकी प्रशंसा करते समय जो देवता वर्णनके विषय हों वे

ऋग्वेदमें चराचर सृष्टिके नियन्ता तथा सर्वोंके ईश्वरके रूपमें वर्णित हैं। इसको देख-कर योरोपीय पण्डित बड़ी उलझनमें पड़ गये। मैक्समुलरने इस विचार-पद्धतिको 'इष्टदेवतावाद (Hemotheism)' की संज्ञा दी। जो देवता ऋषिके लिए प्रिय है या उस समय इष्ट है उसीको परमात्मा मानकर वह उसकी प्रशंसाके पुल बाँधता है। अतएव इस प्रवृत्तिको 'इष्टदेवतावाद' कहा गया। वास्तवमें यह विभूतिवाद है। उदाहरणके तौरपर अग्निदेवताको लीजिए। अग्नि विश्वकी मूल शक्तिका प्रकट आविष्कार है। उसमें विश्वकी शक्तिके दर्शक चिह्न विद्यमान हैं। अग्निकी महिमा विश्व-शक्तिके अर्थको प्रकाशित (द्योतित) करती है। अग्निका अर्थ है तेज, उष्णता। अब यह तो स्पष्ट है कि विश्व अर्थात् समस्त संसार तेजसे या उष्णतासे भरा हुआ है; असलमें जीवन उसीपर (उष्णतापर) निर्भर है। प्रकट तथा अदृश्य हो जाना ही विश्व-शक्तिके व्यापक व्यापार हैं। इनके दर्शन अग्निमें मिलते हैं। अग्नि घर्षणसे प्रकट होती है; कुछ अन्य कारणोंसे अदृश्य होती है। वह कहीं प्रकाशके रूपमें अभिव्यक्त होती है तो कहीं उष्णताके रूपमें। प्राणियोंके शरीरमें उसका अस्तित्व उष्णताके रूपमें भासमान होता है। यह उष्णता ज्योंही नष्ट हो जाती है; त्योंही प्राणी चल बसता है। अतएव मानवके सबसे अधिक निकट विद्यमान, व्यापक तथा उसके जीवनका आधार बनी हुई अग्नि परमात्माकी परम तत्त्वकी विभूति बनी।

निसर्गकी अनुभूतियोंके बलपर जो परमात्मा या परमेश्वरकी विभूति सिद्ध होते हैं या पुराणकी अन्यान्य कथाओंके कारण जिनका (परमेश्वर-) विभूतिमत्त्व क्या पराक्रममें, क्या महिमामें परम्परासे अङ्कित है उन दैवतोंमेंसे किसी एकका स्तवन सूक्तकार परमेश्वर या परमात्माके रूपमें करता है। अग्नि, सविता, वायु, पर्जन्य, पूषा आदि देवोंकी महिमा निसर्ग या प्रकृतिमें अनुभूतिका विषय बनती है। इन्द्र, वरुण, रुद्र आदिकी महत्ता उनके सम्बन्धमें प्रचलित पौराणिक कथाओं द्वारा अङ्कित की जाती है। पुराणकथासे यहाँ हमारा अभिप्राय केवल प्राचीन कथा (Myth) से है। परमात्माकी किसी एक विभूतिमें अपने मनको संपूर्ण-तया स्थिर करना उस व्यक्तिके लिए असंभव है जिनसे अपने मनकी आँखोंसे विश्वको व्यापनेवाले 'ऋत'-जैसे मूल तत्त्वके दर्शन किये हों। इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवोंके जन्मकी कल्पना ऋग्वेदके पूर्वकालसे चली आ रही है। इन्द्र, वरुण, सविता, मित्र आदिकी उपासना तो 'आदित्य' याने अदितिके पुत्रोंके रूपमें की गयी है। ऋग्वेदका अनेकदेवतावाद देवोंके जन्मके पहले एक मूल

कारणरूप शक्तिको मानता है । इस सर्वव्यापिनी, अखण्ड, असीम और अनन्त शक्तिको ऋग्वेदमें 'अदिति' नामकी संज्ञा प्राप्त है। ऋग्वेदमें कई देवता ऐसे हैं जिनमेंसे किसी एकको ही चुनकर उसके आधारपर यहूदी, ईसाई या इस्लाम जैसे अन्यान्य धर्मोंकी स्थापना हो सकती थी। सच बात तो यह है कि वेद यह सुप्रज तथा बहुप्रज माता है जिसने आजतक अनेकों धार्मिक कल्पनाओंको जन्म दिया है। इस सुपुती जननीसे जनित एक एक कल्पनामें सार्वजनीन, अतएव महत्त्वपूर्ण धर्मको निर्माण करने तथा ऊपर उठानेकी अनूठी शक्ति है।

'एकं सत्'से निर्दिष्ट तत्त्वका प्रतिपादन ऋग्वेदने किया। सब ईश्वरमय है, 'एकं सत्' से ही समूचे संसारका निर्माण हुआ है। ऋषि जिनकी महिमाका गान करते हुए नहीं अघाते वे विविध देवता भी अन्ततोगत्वा 'सत्' ही हैं। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, पंखोंके समूहसे शोभित दिव्य सुपर्ण आदि विविध रूपोंद्वारा विप्र उसी 'एकं सत्' का प्रतिपादन करते हैं (ऋग्वेद १।१६४।४६)। इसी सिद्धान्तके प्रतिपादनने हिंदूधर्मके इतिहासको एक विशिष्ट तथा नियत दिशा प्रदान की।

संसारके सभी धर्मोंका समादर करना हिंदूधर्मकी उज्वल विशेषता है। ईश्वरसे सम्बद्ध कोई भी महत्त्वपूर्ण विचार, उसकी उपासनाकी कोई भी पद्धति, उपासनाका विशिष्ट अङ्ग बना हुआ कोई भी कार्यकलाप सब 'एकं सत्'की ओर ही संकेत करते हैं; सब धर्म अन्ततोगत्वा उसीकी ओर उन्मुख होते हैं। हिन्दूधर्मके इस दृष्टिकोणका निर्माण करनेमें वेद ही सर्वप्रथम हैं। मैक्समूलरका वैदिक इष्टदेवतावाद इसीकी पुष्टि करता है। वास्तवमें इष्टदेवतावाद धर्मके क्षेत्रमें स्वतंत्रताका सन्देश देता है।

विश्वके प्रतिभात्मक चिन्तनके बलपर सूक्तके रचयिता ऋषियोंको 'ऋत' तत्त्व तथा 'एकं सत्' जैसे मौलिक विचारोंका धन प्राप्त हुआ। इस प्रतिभाको अमरत्व पानेकी, 'अमिताभ' बननेकी तीव्र अभिलाषा थी। अमरताके अन्वेषणमें विश्वके 'आशयकी थाह' लेनेकी प्रबल अभिलाषासे प्रेरित होकर इस प्रतिभाने स्वर्गके अन्तिम सोपानको भी लाँघनेका गौरव प्राप्त किया। 'मैं मर्त्य हूँ, अमर कैसे बनूँ?' इसी विचारमें वैदिक मानव मग्न था। यही उसकी 'व्याकुल एषणा' थी। वैदिक ऋषिका कहना है, "हे अग्नि, मैं मर्त्य हूँ और मित्रताकी, प्रेमकी दीप्ति दिखानेवाले तुम अमर्त्य हो। (काश!) मैं और तुम एक बन जाते" (ऋग्वेद ८।१९।२५)। "अमर देवोंको नियंत्रण देनेवाले इस अग्निको मैं देख चुका। यही

मर्त्योंकी, मृत्युका ग्रास बननेवालोंकी अमर ज्योति है। इसको निहारिए। यह तनु धारण कर उत्पन्न होती है और पनपती है! यही अमर्त्य है, सर्वत्र ध्रुव और अटल है" (ऋग्वेद ६।९।४) ऋग्वेदके ऋषि बार बार कहते हैं, "मैं मर्त्य (मानव) उस अमर्त्यको बुला रहा हूँ"। मृत्युके सम्बन्धमें नित्य होनेवाला यह भान ही मनुष्यको 'अमरताके पदको नापने' पर बाध्य करता है। इसी भान या ज्ञानसे संसारके सब धर्मोंका जन्म हुआ है।

अमृत कहाँ है? अमृतके रक्षक देवता कौन हैं? धर्मके अन्वेषणके मूलमें ये ही प्रश्न हैं। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, आप (विश्वका जल तत्त्व), तेज, पृथ्वी, द्युलोक, उषा आदि इन्द्रियोंका विषय बने हुए देवता मानवों या अन्य प्राणियोंकी तरह मृत्युके अधीन नहीं दिखाई देते। उनमें अमृतका वास है, वे अमर हैं। अतएव इनकी अमरताका भागी बननेकी आकांक्षासे वैदिक ऋषि इन्हें यज्ञमें पूजाके लिये निमंत्रण देते हैं। वैदिक ऋषियोंने इन्द्र, वरुण आदि बुद्धिगम्य परन्तु अगोचर और अमर देवोंका अन्वेषण किया। इन्द्रियगम्य या गोचर अमर देवताओंकी अमरताके सम्बन्धमें अनजानमें संशयाकुल ऋषिके मानसमें इन्द्र, वरुण जैसे अदृश्य देवताओंका आविर्भाव हुआ और पूजाके लिए इनका आवाहन आरम्भ हुआ। वास्तवमें ऋग्वेदके कालमें ही देवतोंके अस्तित्वके विषयमें कुछ व्यक्तियोंको सन्देह होने लगा। ऋग्वेदमें इन्द्रदेव सर्वो-परि थे लेकिन कुछ व्यक्ति इनके अस्तित्वपर भी सन्देह प्रकट करते थे। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय कुछ व्यक्तियोंके मनमें अन्य देवोंके अस्तित्व सम्बन्धी सन्देहने घर किया होगा। देवोंकी पूजा न करनेवाले कुछ 'अदेवयु'ओंका उल्लेख ऋग्वेदमें विद्यमान है। इन लोगोंको विश्वासमें लेनेके लिए गृत्समद् ऋषिने एक बड़े ही सुन्दर सूक्तकी सृष्टि की है। इसकी टेक है 'स जनास इन्द्रः' [ऐ मानवो (मित्रों) वह इन्द्र है]। इस टेकको सूक्तमें चौदह बार दुहराया गया है। सूक्तकी पाँचवी ऋचामें ऋषिने लिखा है, "वह कहाँ है? कुछ लोग उस भयावह इन्द्रके सम्बन्धमें कहते हैं "वह है ही नहीं"। ऐ मानवो, विश्वास रखिएगा कि जो शत्रुओंको संत्रस्त कर उनकी संपत्तिको हर लेता है वही इन्द्र है"।

वैदिक ऋषिकी आँखोंमें सब देवोंके साथ तादात्म्यको प्राप्त करना यही अमर-ताको प्राप्त करनेका एकमेव उपाय था। वैदिक ऋषिने इस बातका भी अनुभव किया कि असलमें मानवके अस्तित्वका यदि हम विश्लेषण करें तो हमें यह अवश्य

ज्ञात हो जाएगा कि विश्वके सब अमर देवता उसीमें वास करते हैं। सच तो यह है कि इन देवोंका समाहार ही मानव है। "सूर्य ही स्थिर एवं चर जगत्की आत्मा है" यही ऋग्वेदका कथन है। ऋग्वेदमें कई स्थानोंपर वायुको देवोंकी या सबकी आत्मा कहा गया है। अन्तमें मानव निसर्गमें विलीन हो जाता है। उस समाप्तिका, विलीनताका वर्णन ऋग्वेदमें निम्नानुसार है, "हे मृत मानव, तेरे नेत्र सूर्यमें विलीन हों, तेरी आत्मा वायुमें जा मिले, द्युलोक या पृथ्वीमें आधारकी शक्तिके रूपमें तू विलीन हो जा, या जलसे घुल-मिलकर एक बन; (अपने) अवयवोंसे वनस्पतियोंमें निवास कर।" अथर्ववेद (१०।२) में कहा गया है कि 'मानवमें ब्रह्मके साथ सब देवता उसी तरह निवास करते हैं जैसे गोशालामें गौएँ'। सारांश, मानव तथा देवतामें मौलिक रूपसे एकता है। जब वैदिक मानवने इसे पहचाना तब उसके हृदयमें अमरताकी प्राप्तिका प्रबल विश्वास निर्माण हुआ; 'अमिताभ बनने की दृढ श्रद्धाका उदय हुआ। वेदोंमें मृत्युके उपरान्त जीवकी या जीवात्माकी गतिके सम्बन्धमें कई कल्पनाएँ की गई हैं। देवोंके साथ आत्मभाव या तादात्म्य एक ऐसा विचार है जिसके धागोंको बुद्धिकी दृष्टिसे ठीक जोड़ा जा सकता है। यह विचार दर्शनकी दृष्टिसे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेदोंमें अन्यान्य कल्पनाएं पाई जाती हैं। स्वर्ग और नरक, देवलोक तथा पितृलोक, देवयान तथा पितृयान आदिके भी अनेकों वर्णन वेदोंमें उपस्थित हैं।

वैदिक संस्कृतिने परलोक तथा इहलोकके बीच संवादपूर्ण सम्बन्धको साँधनेमें संपूर्ण सफलता पाई थी। शरीर, मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंके लिये प्रबल आकर्षण सिद्ध होनेवाला यह संसार वैदिक ऋषिकी आँखोंमें स्वर्गके समान ही सुन्दर था। इस लोकको मृत्युका स्थान, मौतका आगार तथा 'काँटोंकी बाड़ी' समझ, मृत्युसे भयभीत होकर संसारके सम्बन्धमें उदासीनताकी, विकर्षणकी भावनाने उसके हृदयमें घर करनेके लिये अवसर न पाया। वह रमणीय सांसारिक जीवनको ही स्वर्गका सुन्दर साधन मानता था। नदियोंका नित्य बहता हुआ निर्मल जल ही उसके लिये स्वर्गकी पवित्रता एवं पावनता का परिचायक था। इसी भौतिक संसारमें अपने चर्मचक्षुओंसे स्वर्गके देवोंका साक्षात्कार उसे नित्य हो पाता था। उसकी अनुभूति उससे कहती थी कि स्वर्गका उदय होते ही सविता समूचे संसारको स्वर्गीय ज्योतिसे आप्लावित करता है। प्रातःकालकी रमणीय उषा उसके लिये स्वर्गकी वह सुन्दर नर्तकी थी जो प्रतिदिन मानवके मनको रिझानेके लिये अपने स्वर्गीय लावण्यको समेट उसकी सेवामें उपस्थित हो जाती थी।

खेतकी फसलमें तथा गोमाताके स्तनोंसे प्राप्त होनेवाली दूधकी धाराओंमें उसे अमृत प्रतीत होता था। कवियोंकी प्रतिभामयी वाणीके साथ साथ पण्डितोंकी विचार-शृङ्खलामें उसे स्वर्गीय संसारकी चरम सीमाके दर्शन होते थे जिसमें सब देवोंका आसानीसे समावेश हुआ हो (ऋग्वेद १।१६४।३६)।

विश्वमें निर्मित स्वर्गीय सौन्दर्यका उत्तराधिकार प्रजाको, यहाँके निवासियोंको प्राप्त है। इसीमें वैदिक ऋषियोंको अमरता प्रतिभासित होती थी। उनका दृढ़ विश्वास था कि प्रजामें, मानवोंमें ही सच्ची अमरता सुस्थित है। अग्निपुत्र वसुश्रुत कहते हैं, "हे अग्नि, बड़े कृतज्ञ भावसे तुम्हारा चिन्तन करते हुए मैं मर्त्य तुम्हारा, अमर्त्यका आवाहन कर रहा हूँ। हे सर्वज्ञ, हमें यश प्रदान करो। हे अग्नि, प्रजाके सहयोगसे मुझे अमरताको प्राप्त करा दो" (ऋग्वेद २।४।१०)। "हे सर्वज्ञ (प्रभु), सत्कर्म करनेवालोंके लिए तुम सुखसे भरे संसारका निर्माण करते हो। इस संसारमें उनके कल्याणके लिए उन्हें वह वैभव प्रदान करो, जो शौर्यसे, अश्वों, पुत्रों तथा गायोंसे परिपूर्ण हो (ऋग्वेद ५।४।११)। नैतिक एवं प्राकृतिक नियमोंकी एकतामें वैदिक मानवको पूर्ण विश्वास था। सूर्यको संबोधित करके एक ऋषिवर कहते हैं, "जिसके सहारे दिन-रातका क्रम अबाध रूपसे चलता है, जिसपर जंगम प्राणियोंका जीवित रहना निर्भर है, जिसके बहाए पानी निरन्तर बहते रहते हैं और जिसकी प्रेरणासे ही सूर्यका नित्य उदय होता है वह सत्य उक्ति मेरा सर्वथा रक्षण करे" (ऋग्वेद १०।३७।२)। "भगवान् सूर्य, सुविचार, सतर्कता तथा सुसंतानसे संयुक्त और साथ साथ निरामय एवं निष्पाप बनकर हम तुम्हारी सदैव पूजा करें। तुम्हारा (दिव्य) तेज ही हमारा सखा (मित्र) है। तुम मित्रोंका सम्मान करते हो। हम दीर्घजीवी बनें और हमें प्रतिदिन तुम्हारे दर्शन प्राप्त हों" (ऋग्वेद १०।३७।७)। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें मनुष्यसे कहा गया है, "हे मर्त्य, तुम निरन्तर प्रजाका निर्माण करते हो; यही तुम्हारी अमरता है" (१।५।५।६)। अथर्ववेद – (११।१।३४) में इसे 'प्रजामृतत्व' की संज्ञा प्राप्त हुई। प्रजाके रूपमें अमरत्व जीवनका आदर्श बना। अतएव 'प्रजापति' को देवोंमें सर्वोपरि स्थान मिला। प्रजापतिका अर्थ है प्रजाके पालनकर्ता। ये ही सुरों तथा असुरोंके पिता हैं। प्रजापति वास्तवमें परिवारके, गृहस्थीके देवता हैं।

वेदोंके जीवनसम्बन्धी दर्शनका सचाई-सार इहलोक एवं परलोककी अखण्डतामें है। ऐहिक जीवनको अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा शोभा समर्पित करनेमें ही परलोककी सच्ची सफलता है। वेदोंने इसी सत्यको सिद्ध किया। सच बात तो यह

है कि स्वर्गीय शक्ति अवनि या पृथ्वीके रूपमें विकसित होती है। यही वैदिक दर्शनका निचोड़ है।

यज्ञ—संस्कृतिका केन्द्र और आर्थिक शक्ति

वैदिक मानव द्वारा निर्मित यज्ञ स्वर्गके देवोंके मिलनका ऐहिक या सांसारिक स्थान है। स्वर्गकी, परलोककी, सर्व शक्तियाँ यज्ञमें सम्मिलित होती थीं। अतएव यज्ञसंस्था वैदिक संस्कृतिके विस्तारका केन्द्र बनी। यज्ञ समाजके जीवनकी प्रक्रिया और सामाजिक संस्थाओंके संघटन का हृदय था। क्या देवोंके साथ आत्मभाव, क्या दीर्घायुत्व, क्या संपत्ति सबकी साधनाका एकमेव और अनुपम साधन था यज्ञ।

विश्वकी इकाई जिसमें निहित है उस परमात्माके यज्ञ-रूपकी कल्पना ऋग्वेदमें विद्यमान है। यज्ञ ही उत्पत्तिका मूल है, विश्वका आधार है। पापोंका नाश, शत्रुओंका संहार, विपत्तियोंका निवारण, राक्षसोंका विध्वंस, व्याधियोंका परिहार सब यज्ञसे ही संपन्न होता है। क्या दीर्घायुत्व, क्या समृद्धि, क्या अमरत्व सबका साधन यज्ञ ही माना गया है। वास्तवमें वैदिकोंके जीवनका सम्पूर्ण दर्शन यज्ञमें सुरक्षित है। यज्ञके इस तत्त्वका स्वरूप ऋग्वेदमें यों व्यक्त हुआ है, "यज्ञ इस भुवनकी, उत्पन्न होनेवाले संसारकी नाभि है, उत्पत्ति-स्थान है। देव तथा ऋषि यज्ञसे ही उत्पन्न हुए; यज्ञसे ही ग्राम और अरण्यके पशुओंकी सृष्टि हुई; अश्व, गायें, अज, भेड़ें, वेद आदिका निर्माण भी यज्ञके ही कारण हुआ। यज्ञ ही देवोंका प्रथम धर्म था।"

ऋग्वेदमें सोमयागको केन्द्रीय स्थान प्राप्त है। सोम वर्षाका प्रतीक है; अग्नि प्रकाशका। प्रकाश तथा वर्षाके बल ही सजीव सृष्टि टिकी हुई है। अन्नकी उत्पत्ति इन्हींसे होती है। उषस्त चाक्रायणकी कथा छांदोग्य उपनिषदमें प्रसिद्ध है। उसमें प्रधान रूपसे यह सूचित किया गया है कि अन्न ही यज्ञके देवता हैं। अकालमें चाक्रायण अपनी स्त्रीके साथ महावतोंके गाँवमें रहे। उनके पास खानेके लिए कुछ भी न बचा। महावत कुलथीका साग खा रहा था उसे माँगनेपर उन्हें जूठा साग मिल गया और वे उसे खा गये। बादमें वे एक राजाके यज्ञमें पधारे। वहाँ सामगान करनेवाले ऋत्विजोंसे उन्होंने पूछा "कौन देवता आपके स्तवनका विषय है?" सामके ज्ञाता इस प्रश्नका उत्तर न दे सके। चाक्रायणने स्वयं ही उत्तर दिया, "प्राण, आदित्य तथा अन्न ही स्तवनके विषय हैं।" ताण्ड्य ब्राह्मण (६।१) में लिखा है, "प्रजापतिको इच्छा हुई कि प्रजाका निर्माण करे। उन्होंने

अग्निष्टोम नामका यज्ञ किया और उसकी सहायतासे प्रजाओंकी सृष्टि की"। यज्ञकी यह महिमा वैदिक संस्कृतिमें स्पष्टतया अभिव्यक्त हुई है।

जीवनकी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण क्रियाको यज्ञमें पिरोया गया है। सर्व ऐश्वर्य यज्ञपर ही निर्भर है। वामदेवका कथन है, "हे अग्नि, इस यज्ञका भङ्ग करना कदापि संभव नहीं। यह यज्ञ, गाय, बैल, भेड़, घोड़े, नेता, मित्र, अन्न, संतान, सभा और धनसे युक्त है। हे असुर, दीर्घ तथा विस्तृत आशयकी यह आर्थिक शक्ति (रयि) है" (ऋग्वेद ४।२।५)। ऋग्वेदमें अन्न तथा पशु-धन की उत्पत्ति यज्ञके बलपर होती थी। वैदिकोंने सब आर्थिक और सामाजिक संस्थाओंको यज्ञकी या अग्निकी साक्षीसे ही निर्माण किया था। तैत्तिरीय संहिता (७।१।१) तथा ताण्ड्य ब्राह्मणमें प्रजापतिसे यज्ञद्वारा निर्मित चार वर्णोंकी कथा है। वामदेवका कहना है, "यज्ञकी सहायता लेकर मैं गायसे दूधकी अपेक्षा रखता हूँ; कृष्णवर्ण होते हुए भी वह अपने श्वेतवर्ण और सबके आधाररूप पेयसे (दुग्धसे) प्रजाको पुष्ट करती है (ऋग्वेद ४।३।६)। आर्थिक उत्पादनकी क्रियाके साथ यज्ञका जो सम्बन्ध था वह भगवद्गीताके एक श्लोकमें सूचित हुआ है। गीताका कथन है, "प्रजापतिने यज्ञके साथ प्रजाओंका निर्माण किया और उसने यज्ञकी सहायतासे उत्पत्ति करनेको कहा क्योंकि यज्ञ ईप्सितको पूर्ण करता है।" कोई यज्ञ ऐसे हैं जिनका आर्थिक उत्पादनके साथ सम्बन्ध स्पष्ट है। आग्रायणेष्टि वह इष्टि (याने यज्ञ) है जो अनाजकी उत्पत्ति (सफल) के बाद योग्य ऋतुमें या उपयुक्त समयमें की जाती थी। इसे उपजके दोनों समय करनेकी विधि है। अग्निहोत्रके लिए 'सवत्सा गौ' अनिवार्य है। दर्शपूर्णमासेष्टि प्रत्येक पक्षके उपरान्त विहित है। इसके लिए छः गायोंकी आवश्यकता है। तैत्तिरीय संहिता (७।२।१४) में लिखा है, "सारस्वत सत्रको तबतक (अविरत रूपसे) चलाना पड़ता है जबतक गायों तथा बैलों की संख्या दससे सौतक और सौसे सहस्रतक न पहूँचे।" पशु, अन्न, संतान (प्रजा) आदिकी प्राप्तिके लिये भिन्न भिन्न यज्ञोंका विधान किया गया है। परन्तु यजुर्वेद तथा ब्राह्मणग्रंथोंमें वर्णित यज्ञ-विधानके आधानपर यह स्पष्ट नहीं किया जा सकता कि यज्ञमें अर्थ की या प्रजा (संतान) की उत्पत्तिको प्रधानता दी जाती थी। हाँ; पुरुषसूक्तके आधारपर यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि यज्ञके वेदपूर्व स्वरूपमें अर्थ और प्रजा (सन्तान) का उत्पादन समाविष्ट था। यजुर्वेद, क्या ब्राह्मणग्रंथ दोनोंमें अग्निष्टोमकी प्रशंसाके समय वर्णित चातुर्वर्ण्यकी उत्पत्तिसे भी यही सूचित होता है। वहाँ स्पष्ट रूपसे लिखा है, "दैवतों, छंदों, पशुओं

तथा चातुर्वर्ण्यको प्रजापतिने अग्निष्टोमकी सहायतासे निर्माण किया" (तैत्तिरीय संहिता ७।१।१)। इस अनुमानकी पुष्टि करनेमें गृह्यसूत्रकी विधियाँ सहायक हैं। ये विधियाँ वेदकालीन संस्कृति-परम्पराकी परिचायक हैं। इनमें एक ही अग्निके सम्बन्धमें विभिन्न यज्ञोंका विधान है। उपनयन, विवाह, गर्भाधान, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन आदि सब संस्कार जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटनाओं या परिवर्तनोंसे संबद्ध हैं। छांदोग्य उपनिषदमें सत्यकाम जाबालकी कथा है। उससे सिद्ध होता है कि ब्रह्मचर्याश्रममें विद्यार्थियोंको पशुओंके पालन तथा संवर्धन का काम सौंपा जाता था। "गायरूपी धनको चार सौसे हज़ारतक बढ़नेमें जो अवधि लगती है वह उसने अरण्यमें बिताई और प्रकृति या निसर्गसे ब्रह्मविद्याको प्राप्त किया" (छांदोग्य ४।४।५)। यज्ञमें प्रजाकी या संतानकी उत्पत्तिका अनुमान पौराणिक कथाओंके आधारपर किया जाता है। प्रसिद्ध है कि राजा द्रुपदको द्रौपदी यज्ञमें ही प्राप्त हुई थी।

वैदिक, अत्यन्त प्राथमिक अवस्थामें जो सांस्कृतिक जीवन व्यतीत करते थे उसके भी अवशेष यज्ञसंस्थामें पाये जाते हैं। अनाजको चक्कीमें पीसना जब मालूम नहीं था तब उसे बट्टेसे पीसकर रोटियाँ बनाई जाती थीं। यज्ञका पुरोडाश एक ऐसी वस्तु थी जिसे पीसकर तैयार किया जाता था। गायों तथा घोड़ोंको बलि देनेकी प्रथा वेदोंमें वर्णित है। तैत्तिरीय संहिता तथा ब्राह्मणग्रंथोंमें एक विधि वह है जिसमें मृत मानवके या अन्य चौपायोंके मुण्डको अग्निचयनकी वेदीपर रखनेके लिए कहा गया है। सारांश, यज्ञसंस्थाके विस्तारमें संस्कृतिके ऐतिहासिक अध्ययनके लिए आवश्यक सामग्री पर्याप्त मात्रामें मिलती है। ब्राह्मणग्रंथोंमें यज्ञको जादूका रूप प्राप्त हुआ; परन्तु ऋग्वेदमें तो यज्ञके यथार्थ दर्शन देवोंकी आराधनाके रूपमें होते हैं। सच बात तो यह है कि ब्राह्मणग्रंथोंमें यज्ञका जो रूप मिलता है वह उस संस्थाकी एक प्रकारकी अवनतिका परिचायक है।

भारतीयोंकी समाज-व्यवस्थाका, उनके राज्य-शासन और विधि-विधानका तथा पुराणों और कलाओंका विकास भी यज्ञसंस्थाके द्वारा संपन्न हुआ। उपनिषदोंके जैसा उच्च कोटिका दर्शन भी याज्ञिकोंके मननसे निर्माण हुआ। वास्तवमें भारतीय संस्कृतिकी एक भी शाखा, एक भी अङ्ग ऐसा नहीं है जो इतिहासकी दृष्टिसे वेद तथा यज्ञ से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें संबद्ध न होनेका दावा कर पाये।

भारतीय संस्कृतिके विकास एवं विस्तारमें वेदोंने किस तरह सहायता की इसीका विवेचन आगामी पाँच अध्यायोंमें किया गया है।

---

२ – तर्कमूल प्रज्ञामें वेदोंकी परिणति

उपनिषदों तथा सूत्रोंकी रचनाका काल वैदिकोंकी तार्किक प्रज्ञाके परम उत्कर्षका काल है। मानवकी संस्कृतिमें इस कालकी महिमा अपार है। निसर्गपर विजय पानेमें मानवकी तर्कशक्तिने ही उसका साथ दिया है। असलमें तर्क-बुद्धि ही मानवकी वह विशेषता है जो उसे पशुओंसे पृथक् कर देती है। पशु अथवा मानवेतर प्राणी निसर्ग का या प्रकृतिका उपयोग उत्पादनके साधनके रूपमें नहीं कर पाते। पिपीलिकाएँ, मधुमक्खियाँ तथा पक्षी बाह्य प्रकृतिको साधनके रूपमें अपनाकर अपने निवासके स्थानोंका निर्माण करते अवश्य हैं; परन्तु आसपासकी प्रकृतिका उपयोग किसी साध्यकी साधनाके लिए करना मानवका ही काम है। इसका कारण है मानवकी वह तर्कमूल प्रज्ञा जो कारणके अन्वेषणकी क्षमता रखती है। इसी प्रज्ञा या मेधाके बलपर मनुष्य अतीत, वर्तमान एवं भविष्य–तीनों कालोंके आकलनमें समर्थ होता है। इसीकी वजहसे मनुष्यको मृत्युका भान हुआ जिसकी कल्पना तक अन्य प्राणी नहीं कर सकते।

तार्किक बुद्धिका स्वरूप तथा संस्कृतिके विकासमें उसकी महिमा

बुद्धिके या ज्ञानशक्तिके दो रूप हैं; एक प्रतिभा और दूसरा तर्क। इनमें मूलतः कोई भेद नहीं। दोनों ज्ञानशक्तिके ही आविष्कार हैं। इन्हें पूर्णतया पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रतिभा अगर तर्कात्मक है, तो तर्क भी प्रतिभात्मक होता है। भाषा, गणित, सामान्य और विशेष कल्पनाएँ तथा पृथक्करण-युक्त विवेचना आदिकी सहायतासे मनके प्रतिभात्मक व्यापार तर्कात्मक बनते हैं। क्या प्रतिभा, क्या तर्क दोनों नैसर्गिक अवश्य हैं; परन्तु साथ साथ उन्हें प्रयत्नसे आर्जित भी करना पड़ता है। दोनों पारस्परिक सहायतासे वर्धमान होते हैं। प्रतिभात्मक विचारमें मूर्त तथा अमूर्तके भेदको स्थान नहीं मिलता। प्रतिभामें शुद्ध कल्पना और संमिश्र कल्पनाका भेद संभव नहीं है। गणितशास्त्रके एक, दो, तीन जैसे संख्यासम्बन्धी संकेत प्रतिभाकी उपज नहीं; विश्लेषणात्मक बुद्धिद्वारा निर्मित हैं। एक अश्व, दो बैल, तीन ऊँट आदि विभिन्न रूपोंमें संख्याओंका अनुभव होता है। अश्व, बैल, ऊँट, आदि मूर्त वस्तुओंसे भिन्न एक, दो, तीन जैसी शुद्ध संख्याओंका निर्माण मानवकी तर्क-बुद्धिके कारण ही संभव हुआ। प्रतिभामें वस्तुविषयक विचार वस्तुके चित्रको ध्यानमें रखकर किया जाता है। उसमें शुद्ध कल्पनाओंको प्रधानता नहीं दी जाती। जिस तरह स्वप्नमें वस्तुओंकी मूर्त आकृतियाँ मनकी आँखोंके सामने उपस्थित

होती हैं उसी तरह जो मन तर्कबुद्धिकी परिणत अवस्थातक नहीं पहूँच पाया है उसकी विचार-पद्धति वस्तुओंके मूर्त चित्रोंको सामने रखकर ही पनपती है। वस्तुओंके मूर्त आकार तथा प्रत्यक्ष-व्यापारको छोड़ केवल शुद्ध कल्पनाओंको सहायतासे विचार करनेकी पद्धतिको अपनानेका सौभाग्य उसी मानवको प्राप्त है जो स्वयं सुधरा हुआ हो, जिसने तर्ककी दृष्टिसे परिणत अवस्थाको पाया हो। प्राथमिक अवस्थामें विद्यमान व्यक्ति साहित्यिकों तथा कवियोंकी तरह उपमाएँ, रूपक, दृष्टान्त आदिकी सहायतासे ही मनन करते हैं। पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, इसापकी कथाओंमें विद्यमान चातुर्य एवं राजनीतिकी कल्पनाएँ चित्रात्मक हैं। वास्तवमें क्या पञ्चतन्त्र, क्या हितोपदेश दोनोंमें वर्णित राजनीतिको विज्ञान नहीं माना जा सकता क्योंकि विज्ञान विशुद्ध कल्पनाओंसे ही बनता है। प्रत्यक्ष कार्य करते हुए वस्तुपाठके रूपमें प्राप्त शास्त्रीय ज्ञानका जो स्वरूप होता है वही रूप उन विद्याओंका था जो विद्याएँ प्राचीन कालकी प्राथमिक अवस्थामें प्राप्त हुई थीं। पाकशास्त्र, शिल्पशास्त्र, अश्वविद्या, धनुर्विद्या, ओषधिविज्ञान आदिको शुद्ध वैज्ञानिक रूप प्राप्त होनेके लिए तार्किक बुद्धिकी बहुत ही परिणत अवस्थाकी आवश्यकता है । अतएव यह ज्ञान सदियोंतक वस्तुपाठके रूपमें ही विद्यमान था। कथाओं, कहानियों एवं वस्तुपाठोंके रूपको पार करके उच्च कोटिके रूपमें परिणत होनेके लिए यह आवश्यक है कि मानवकी बुद्धि, प्रतिभा या अनुभवकी अवस्थासे तार्किक, अतएव उन्नत अवस्थामें पहुँचे।

मिसर, असीरिया, बाबीलोन आदिकी प्राचीन संस्कृतियोंमें विद्याएँ तथा कलाएँ प्रतिभा या अनुभव पर आधारित अतएव चित्रात्मक विचारोंकी अवस्थातक ही सीमित थीं उस कालकी विद्याओंकी ठीक वही अवस्था थी जिसमें कथाओं, देव-चरित्रों तथा वस्तुपाठोंकी धूम थी । इस अवस्थाकी मर्यादाको लाँघकर सूक्ष्म, शुद्ध और तार्किक बुद्धिसे संयुक्त, उच्च कोटिकी अवस्थामें प्रवेश करनेका गौरव प्राचीन यूनान तथा प्राचीन भारतवर्षको ही प्राप्त है। स्वप्नके समान चित्रात्मक तथा मूर्तपर निर्भर विचारोंकी पद्धतिसे मुक्त होकर यूनान तथा भारतवर्षकी संस्कृतियोंने प्राचीन कालमें ही विशुद्ध कल्पनाओंकी विचार-सृष्टिमें प्रवेश किया और यही संस्कृतिके ज्ञानके इतिहासमें युगान्तकारी सिद्ध हुआ।

वैदिक विचारोंकी तीन अवस्थाएँ-कथा, रूपक तथा शुद्ध कल्पना

प्राचीन भारतवर्ष तथा प्राचीन यूनान दोनों देश दार्शनिक थे। अन्य प्राचीन राष्ट्र विश्वकी उत्पत्ति एवं सृष्टिके व्यवहारोंमें दृश्यमान कार्य-कारणकी परम्पराको

देव-चरित्रोंकी कथाओंके रूपमें ही समझते थे; उन्हींके द्वारा उसकी अभिव्यक्ति करते थे। बाबीलोनके निवासी मानते थे कि मर्डूकने जब विशालकाय, राक्षसी सर्पका वध किया तब उसके शरीरसे ही दृश्यमान सृष्टि उत्पन्न हुई। पौराणिक कथाएँ ही मिसर और असीरियाके लिए दर्शन बनी थीं। केवल पौराणिक कथाओंमें सन्तोष न मानकर, शुद्ध और वैज्ञानिक कार्यकारण-परम्पराके अन्वेषणमें मग्न होनेका गौरव सिर्फ यूनानियों तथा भारतीयोंको प्राप्त है। इनकी विचार-पद्धतिने प्रारम्भमें पौराणिक कथाओंका रूप ही अपनाया था। एक समय था जब वैदिक, देवों तथा असुरोंके पराक्रमको ही सृष्टिका व्यापार मानते थे। उनकी आँखोंमें सूर्य और चन्द्रके ग्रहणका मूल कारण था राहु तथा केतु जैसे असुरोंका उन्हें ग्रासनेका प्रयत्न। इन्द्र अपने विशाल बाहुओंसे द्युलोक तथा पृथ्वीको धारण करते हैं। प्रजापति-सृष्टिके पिता उसकी उत्पत्तिके लिए तप करते रहे, तपस्याके कारण वे पसीनेसे तर हुए और उस समय उनके पसीनेकी या स्वेदकी जो धारा बही उसीसे सृष्टिके प्रारम्भमें जलका निर्माण हुआ। प्रजापतिकी जागृतिमें सृष्टिका अस्तित्व संपन्न होता है और उनकी सुषुप्तिमें सृष्टिका प्रलय। विश्वकी उत्पत्ति एवं सृष्टिके व्यापारोंके विषयमें इस प्रकारकी कथात्मक या आख्यानात्मक कल्पनाएँ वेदोंमें यत्र-तत्र विद्यमान हैं। इन कथाओंको एक प्रतीक, एक रूपक माननेकी प्रवृत्तिका पहले उदय हुआ। यही तार्किक बुद्धिकी संशोधनशीलताका, अन्वेषणप्रियताका प्रथम चिह्न है।

पौराणिक कथाओं तथा देव-चरित्रोंके रूपकात्मक सारके कथनकी प्रवृत्ति वास्तवमें बौद्धिक विकासकी उन्नत अवस्थाका परिचय कराती है। वेदोंमें इस अवस्थाके परिचायक उदाहरण अनेक हैं। प्राचीन सृष्टि-कथाओंके अनुसार प्रजापतिने जलमें कमल-पत्रपर बैठकर विश्वको उत्पन्न किया था। वैदिकोंके मतमें प्रजापति विश्वके कर्ता थे। इसका कारण यह था कि उस समय लोकनायकों या नेताओंको प्रजापति कहा जाता था और वे ही समाजसंस्थाओंकी महत्त्वपूर्ण घटनोंके सच्चे सूत्रधार थे। क्या अर्थ, क्या परिवार, क्या युद्ध सबसे सम्बन्धित व्यवहार इन्हीं नेताओंके नेतृत्वमें संपन्न होते थे। अतएव वैदिक मानवोंमें अपने जीवन-क्रमको देखकर एक ऐसी दृढ़ श्रद्धाका निर्माण हुआ था कि इस विशाल विश्वके कर्ता तथा धर्ता भी एक ऐसे ही कोई नेता या प्रजापति होंगे। परन्तु बादमें विचार-पद्धतिमें जो सुधार हुआ, जो प्रगति हुई उससे इस श्रद्धाका आसन डाँवाडोल हुआ। इसलिए वैदिक मानव इसका कोई अलग अर्थ करनेमें यत्नशील हुआ। इसका अच्छा उदाहरण तैत्तिरीय संहिता (५।६।४।२.) में मिलता है।

वहाँ कहा गया है, " प्रारम्भमें सब जगह जल ही जल था। प्रजापति वायुरूप धारण कर कमलपत्रपर क्रीडा कर रहे थे "। चातुर्वर्ण्यकी याने समाजकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें साधारण वैदिक मानवकी यह धारणा थी कि प्रजापतिके मुखसे ब्राह्मण, बाहुओंसे क्षत्रिय, जङ्घाओंसे वैश्य तथा पैरोंसे शूद्र उत्पन्न हुए। जैमिनीय ब्राह्मणमें इस कथाके अर्थको रूपकके तौरपर सूचित किया गया है। इस ब्राह्मणका कथन है, "प्रजापति प्रारम्भमें विद्यमान थे; प्रजापति (देवता) का अर्थ है जनता, " (१।६।८)। इस अर्थसे स्पष्ट है कि मुख, बाहु आदिको भी एक रूपक ही मानना चाहिए। प्रजापतिसे सृष्टिकी जो उत्पत्ति हुई उसके कई रूपकात्मक अर्थोंका उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथोंमें मिलता है। संदर्भके आधारपर 'प्रजापति' शब्दके जो अनेकों अर्थ बतलाये गये हैं उनमें सूर्य, चन्द्र, संवत्सर, यज्ञ, वाणी, मन, प्राण, अन्न, मनु, अथर्वऋषि, आत्मा, सत्य तथा राजाका समावेश हुआ है। समूचे विश्वको भी प्रजापतिकी संज्ञा दी गई है। कहीं कहीं प्रजापतिका विवरण करते हुए यहाँतक लिखा गया है कि जिस किसी शक्ति, वस्तु या कर्मसे—कुछ भी क्यों न हो-उत्पन्न होता है उसीको प्रजापति कहते हैं। अन्तमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि प्रजापति वास्तवमें 'अनिरुक्त' हैं अर्थात् उनकी व्याख्या या परिभाषा नहीं की जा सकती। प्रजापतिकी तरह इन्द्रकी कल्पनाको भी ऋग्वेदमें कई जगह रूपक या प्रतीक माना है। सूर्य, आकाश, अग्नि, वायु, आत्मा, प्राण और राजा 'इन्द्र' शब्दके प्रमुख अर्थ माने गये हैं और अन्तिम निष्कर्ष यह है कि सामर्थ्य ही इन्द्र है। तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।५।७।४) में इन्द्रको बल अथवा बलपति कहा गया है। प्रारम्भिक कल्पना यह थी कि शरीरमें विद्यमान जीवात्मा एक मनुष्य है, उसका आकार मनुष्य-जैसा है; परन्तु विकासकी अवस्थामें धीरे धीरे यह विचार उदित हुआ कि आत्मा एक शक्ति है, वह मनुष्यके आकारसे युक्त याने इतनी स्थूल नहीं हो सकती। तब मनुष्यके अर्थमें जीवात्माका बोध करानेवाले 'पुरुष' शब्दके अर्थमें व्युत्पत्तिके आधारपर परिवर्तन करना अनिवार्य मालूम हुआ। 'पुरुष' शब्दका मूल अर्थ है मनुष्य। मनुष्य या मानव के शरीरके हृदय या नेत्रों जैसे अवयवमें स्थिर होकर विचार करनेवाली या शरीरके व्यापारोंको चलानेवाली जीवात्मा निश्चय ही सूक्ष्म है। अतएव वैदिक मुनियोंने सोचा कि इस जीवात्माके लिए 'पुरुष' शब्दका उपयोग भिन्न अर्थमें ही करना चाहिए। अथर्ववेदमें 'पुरुष' शब्दकी जो व्युत्पत्ति दी गई है वह है 'पुरि + शय' यानें पुरमें या घरमें रहनेवाला। शरीर विश्वकी शक्तियोंका पुर याने ग्राम है,

आगार है। 'पुरुष' की व्युत्पत्ति इस आलङ्कारिक अर्थको स्वीकार कर बतलाई गई। अथर्ववेद-(१०।२।२८-३३) में लिखा है, "पुरुष सब दिशाओंको व्यापता है। वह ब्रह्म है। उस ब्रह्मके पुरको (स्थानको, घरको) समझना चाहिए। इसीलिए उसे 'पुरुष' कहा जाता है। यह अयोध्या नगरी है जिसमें नौ द्वार तथा आठ चक्र हैं। इसमें जो सुनहला कोश (या नीड) है वही प्रकाशसे परिपूर्ण स्वर्ग है। इस दैदीप्यमान, यशसे परिवेष्टित, सौवर्ण तथा अपराजिता पुरीमें ब्रह्म प्रविष्ट हुआ।" यहाँ नौ द्वारोंका अभिप्राय शरीरके नौ छिद्रोंसे है। इससे अयोध्या नगरीका उपर्युक्त रूपक स्पष्ट हो जाता है।

प्राचीन भारतीय समाजकी नारियाँ और निम्न वर्ग भी मानसिक संस्कृतिके प्रवर्तक–

कथाओं तथा रूपकोंकी अवस्थाओंको स्वायत्त करके वैदिक तत्त्वचिन्तकोंने उपनिषदोंके कालमें प्रामाणिक, सुसंबद्ध तथा शुद्ध कल्पना-मूल तर्कबुद्धिके क्षेत्रमें प्रवेश किया। तत्त्वके चिन्तकोंका, दार्शनिकोंका यह वर्ग समाजके सब स्तरोंमें फैला हुआ था। जिस समाजके भौतिक तथा आध्यात्मिक वैभवका अनुभव समाजके सब स्तरोंपर रहनेवाले व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें कर पाते हैं उसी समाजपर वैभवका परिणाम शुभ होता है; वही समाज सच्चे अर्थोंमें निरामय है। जिस समाजमें किसी प्रकारका वैभव समाजके विशिष्ट वर्गतक ही सीमित होता है और बहुसंख्य व्यक्ति उससे वञ्चित, अतएव दुर्भाग्यके शिकार बनते हैं उसे–चाहे वह कितना ही उन्नत क्यों न हो– व्याधिग्रस्त ही समझना चाहिए। वैदिक कालका सामाजिक जीवन निरामय था; प्रसन्न था। वैदिक वाङ्मय इसकी सत्यताका ज्वलन्त प्रमाण है। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य तीनों ऋग्वेदके सूक्तकर्ता थे। ऋग्वेदके उत्तर-खण्डमें, बादके अंशोंमें शूद्रोंके दर्शन होते हैं। निषाद स्थपतियों तथा रथकारोंकी यज्ञसंस्थासे सूचित होता है कि उनमें भी वैदिक संस्कृतिका प्रसार हो पाया था। यज्ञसंस्थामें शूद्रोंका स्थान महत्त्वपूर्ण है। अश्वमेध-जैसे बड़े यज्ञोंके समारोहोंमें सूत, मागध, नट जैसे शूद्रोंके व्यवसाय करनेवाले व्यक्ति स्वरचित इतिहासों तथा पुराणोंको गाया करते थे। उस समय सूक्तकर्ता तथा ब्रह्मवादिनी नारियाँ भी विद्यमान थीं। नारियोंने ऋग्वेदके छब्बीस सूक्तोंका प्रणयन किया है। संवाद-सूक्तोंमें ग्रथित स्त्रियोंके नामोंको नाटकीय संवादोंमें सम्मिलित स्त्रियोंके नामोंकी तरह हम भले ही छोड़ दें, तो भी अठारह स्त्रियोंको सूक्तकर्ता मानना ही होगा। अपाला, घोषासूर्या, शची, गोधा, अदिति, विश्ववारा, आत्रेयी; वाक् आदि स्त्रियोंके सूक्त संवादात्मक नहीं हैं। श्रद्धा, वैवस्वती यमी तथा वाक्

(वाग्देवी) के सूक्त तो दर्शन तथा काव्यके मनोहर मेल हैं। श्रद्धा कहती है, “ यज्ञकी अग्नि श्रद्धासे प्रज्वलित होती है। श्रद्धासे हविका हवन संपन्न होता है। कहा जाता है कि श्रद्धा भाग्यके मस्तकपर स्थित है। यह हमें मालूम है। वायुके रक्षक तथा यज्ञकर्ता देव (भी) श्रद्धाकी उपासना करते हैं। श्रद्धाकी प्राप्ति हृदयके संकल्पोंसे होती है; श्रद्धाके ही कारण समूचा वैभव प्राप्त होता है ” (ऋग्वेद १०।१५१।१-२)। वैवस्वती यमीका कहना है, “ स्वर्गमें कतिपय व्यक्तियोंके लिए सोम प्रवहमान है, कुछको घृतकी प्राप्ति होती है तो कुछ व्यक्तियोंके लिए मधुका प्रवाह बहता रहता है। उनमें तू चला जा। जो तपस्याके बल सामर्थ्यसे संयुक्त हुए, जो तपके कारण स्वर्गके अधिकारी बने और जिन्होंने महान् तपस्या की है, उनमें तू प्रवेश कर। जो वीर युद्धमें लड़ते लड़ते अपनी तनुका त्याग करते हैं, वीरगति प्राप्त करते हैं उनमें तू चला जा। जो सहस्रोंकी संख्यामें दान करते हैं, उनमें तू सम्मिलित हो। जिन पूर्वजोंने सत्यको स्पर्श किया, जिन्होंने सत्यव्रतका कभी त्याग नहीं किया और जिन्होंने सत्यको निरन्तर बढ़ावा दिया उन तपस्वी पितरोंमें, हे यम, तू सम्मिलित हो जा। जो कवि सहस्रों मार्गोंका अन्वेषण कर सूर्यका रक्षण करते हैं उनमें और तपमें निर्माण तपस्वी ऋषियोंमें तू चला जा,” (ऋग्वेद १०।१५४)। यमी यमको, अपने प्रिय बंधुको उसकी मृत्युके बाद संबोधित करके यह कह रही है। तपस्वी, वीर, सत्यनिष्ठ तथा ज्ञानवान् व्यक्तिओंको मृत्युके उपरान्त जो उच्च गति प्राप्त होती है उसीकी कल्पना उपर्युक्त सूक्तमें की गई है। भारतीय धार्मिक साहित्यमें मृत्युके बाद प्राप्त होनेवाली अवस्थाका यही सबसे प्राचीन वर्णन है और इसकी अधिकारिणी एक नारी है, यह ध्यानमें रखने योग्य है। वास्तवमें यह कहना चाहिए कि बंधुके वियोगसे व्यथित एवं विह्वल नारीने अपनी दिव्य प्रतिभाके बलपर मृत्युके उपरान्त मनुष्यको प्राप्त होनेवाली अवस्थाका प्रथम ही अन्वेषण किया है। विश्वको व्यापनेवाली चिच्छक्तिसे एकरूप होकर अंभृण ऋषिकी कन्या वाक् अथवा वाग्देवी ऋग्वेदमें अपनी महिमाका वर्णन करती है। यों तो विश्वकी एकरूपताको, सर्वात्मभावको अभिव्यक्त करनेवाले चार सूक्त ऋग्वेदमें विद्यमान हैं; परन्तु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि वाग्देवीका सूक्त ही सबसे सुन्दर है, सर्वोपरि है। वाग्देवीका कथन है, “ मैं रुद्र, वसु, आदित्य तथा सब देवोंके साथ संचरण करती हूँ। मित्र और वरुण दोनोंका आधार मैं हूँ। मैं इन्द्र तथा अग्निको और साथ साथ दोनों अश्विदेवोंको (अश्विनीकुमारोंको) भी धारण करती हूँ। शूर सोम, त्वष्टा, पूषा तथा भगदेवका आधार भी मैं ही हूँ। सोमयाग

कर देवोंको तृप्त करनेवाले यजमानको मैं ही द्रव्य देती हूँ। मेरे ही कारण सब वैभवोंका संगम होता है। यज्ञमें जिनकी पूजा होती है उनमें मैं ही सर्वप्रथम हूँ। कई स्थानोंमें मेरा निवास है; अनेक स्थानोंमें मेरा प्रवेश हो चुका है। देवोंने अनेक स्थानोंपर मेरी स्थापना की है। कोई भी मानव अगर देखता है, साँस लेता है, श्रवण करता है या अन्न खाता है तो वह सब मेरे ही कारण संभव है। जो मुझे नहीं जानते वे नष्ट होते हैं। हे विद्वान् मानव, सुनो। मैं वही कहती हूँ जो श्रद्धेय है। अपनी इच्छाके अनुसार मैं किसीको भी शूर, ज्ञानवान् ऋषि, तथा बुद्धिमान् बनाती हूँ। ब्राह्मणोंका द्वेष करनेवाले दुष्ट शत्रुओंको नष्ट करनेके लिए रुद्रके धनुषको सज्ज करनेका काम मैं ही करती हूँ। मैं मानवजातिको आनन्द प्रदान करती हूँ। स्वर्ग तथा पृथ्वीमें मेरा प्रवेश है। इस संसारके मस्तकपर स्थित द्युलोकको मैं जन्म देती हूँ। समुद्र मेरा स्थान है। वहाँसे मैं भूतजातका नियन्त्रण करती हूँ। मेरा शरीर स्वर्गको स्पर्श करता है। सब भुवनों तथा वस्तुओंका निर्माण करते हुए मैं वायुकी तरह नित्य प्रवहमान हूँ। पृथ्वीके नीचे तथा स्वर्गके ऊपर तक मेरा विस्तार है" (ऋग्वेद १०।१२५)। ऋग्वेदकी इस पृष्ठभूमिकी ओर अगर हम अच्छी तरहसे ध्यान दें तो उपनिषदोंकी तत्त्वचर्चामें सोत्साह सम्मिलित होनेवाली नारियोंके दार्शनिक स्तरको आसानीसे समझा जा सकता है। तात्पर्य, उस समय ब्रह्मविद्या समाजके सब स्तरोंतक पहुँची हुई थी।

दासीपुत्रोंके वंशज कावषेय यज्ञके आध्यात्मिक रहस्यको स्पष्ट करनेवाले दार्शनिक थे। इनका उल्लेख महाऐतरेय उपनिषदमें मिलता है। छान्दोग्य उपनिषदमें कहा गया है कि षोडशकल ब्रह्मके द्रष्टा सत्यकामा जाबाल दासीपुत्र थे। उसी-उपनिषदसे स्पष्ट है कि राजा जानश्रुति स्वयं शूद्र थे और उन्हें संवर्गविद्या सिखानेवाले ऋषि रैक्व एक गाड़ीवान थे। उपनिषदोंमें प्रसिद्ध विश्वरूपी वैश्वानर आत्माके तत्त्वका दर्शन करानेवाले अश्वपति कैकेय क्षत्रिय थे। उपनिषदोंकी चर्चामें अश्वपति कैकेय, प्रवाहण जैवलि, अजातशत्रु आदि क्षत्रियोंकी प्रधानता तथा आचार्यत्वको देखकर ही डॉ. डायसेनने अनुमान किया था कि आत्मविद्या प्रधान रूपसे क्षत्रियोंकी वस्तु रही होगी। इसकी शिक्षाको ब्राह्मणोंने उन्हींसे ग्रहण किया। सम्राट् जनककी ब्रह्मवादिनी सभामें अनेकों गहन प्रश्नोंको उठाकर याज्ञवल्क्यको भी त्रस्त करनेवाली गार्गी वैदिक कालके स्त्रियोंके सांस्कृतिक स्तरका उत्कृष्ट परिचय कराती है। भौतिक वैभवके वितरणको दूर हटाकर अमरताकी प्राप्ति करानेवाली तत्त्वचर्चामें निमग्न मैत्रेयीका, याज्ञवल्क्यकी पत्नीका वर्णन बृहदारण्य-

कोपनिषदमें किया गया है। तात्पर्य, वैदिक कालमें भारतीयोंका पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन बौद्धिक संस्कृतिके निर्दोष एवं निर्बाध उत्कर्षमें सहायक हुआ था। उस युगमें सौभाग्यसे उस सामाजिक विकृतिका जन्म नहीं हुआ था जो स्त्रियों तथा पुरुषों अथवा उच्च वर्ग तथा हीन वर्गके व्यक्तियोंमें सम्पूर्ण मानसिक अलगावका निर्माण करती है। यूनानकी अवस्था इसके बिलकुल विपरीत थी। यों तो यूनान भी भारतीयोंकी तरह दार्शनिकोंका देश था; परन्तु वहाँ ऐसी नारीका एक भी उदाहरण नहीं मिलता जो तत्त्वचिन्तनके क्षेत्रमें प्रवेशकी अधिकारिणी बनी हो। अफलातूनके संवाद तत्त्वोंकी दृष्टिसे निस्सन्देह समृद्ध हैं; परन्तु उनकी तत्त्व-चर्चामें सम्मिलित होनेवाले व्यक्तियोंमें एक भी नारीके दर्शन नहीं होते। उत्सवों, यज्ञों, क्रीडाओं, व्यायामकी शालाओंमें व्यक्त होनेवाले सामाजिक जीवनका प्रतिबिम्ब वहाँ मिलता है अवश्य, किन्तु एक भी वर्णन ऐसा नहीं दिखाई देता जिसमें किसी सार्वजनिक स्थानमें इकट्ठा होकर स्त्रियाँ और पुरुष हेलमेलके साथ कार्य कर रहे हों। प्राचीन भारतीयोंके दैनिक, खानगी तथा सार्वजनिक व्यवहारोंमें नारियोंका सुधरा हुआ स्तर सचमुच ध्यान देने योग्य था। उस कालमें इसके अनेकों प्रमाण मिलते हैं। स्त्रियोंका बौद्धिक विकास उन्नतिका सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। ज्ञान वास्तवमें उच्चतम तथा अन्तिम मूल्य है। अतएव बौद्धिक विकास सर्वाङ्गीण उत्कर्षका परिचायक है। ज्ञानका मानवके सब व्यवहारोंसे बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। अक्सर यह देखा गया है कि जीवनके विषयमें जितने प्रकारके प्रयत्न किये जाते हैं उतनी ही विद्याएँ और कलाएँ निर्माण होती हैं। इसलिए ज्ञानको सर्वाङ्गीण स्वरूप देनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि ज्ञानार्थ किये जानेवाले प्रयत्नोंमें समाजके सभी अंग भाग लें। सब प्रयत्नोंकी सफलता ज्ञानपर निर्भर है। सच बात तो यह है कि ज्ञान मुख्य साधन है और अन्तिम साध्य भी।

उपनिषदोंके विषय

प्राचीन भारतीयोंके ज्ञानविकासमें बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और क्रान्तिकारी युग वह है जिसमें समृद्ध, व्यापक तथा शुद्ध कल्पनाओंका सृजन एवं रचना हुई। विशाल, व्यापक और शुद्ध कल्पनाओंके निर्माणका यह कार्य उपनिषदोंमें दिखाई देता है। उपनिषदोंमें कल्पनाओंकी सुसम्बद्ध रचना नहीं मिलती। उनका लेखन सुगठित नहीं माना जा सकता। सच पूछिए तो वह उच्च कोटिके विचारोंका आविष्कार मात्र है। युक्तियुक्त और सिलसिलेवार गठनके लिए विचार-समृद्धिकी परम्पराका रहना आवश्यक है। जब पहली बार मौलिक, व्यापक और शुद्ध

कल्पनाओंका उदय होता है तब मानवकी बुद्धि उनकी युक्तियुक्त रचनाकी ओर प्रवृत्त नहीं होती। ब्योरेवार प्रबन्ध तथा विचारव्यवस्थाका प्रश्न बादमें याने सूत्रकालमें उत्पन्न हुआ। यों तो सूत्रकाल और उपनिषदोंका काल आपसमें घुले-मिले हैं; परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सूत्ररचनाकी प्रधानताका काल वास्तवमें मूल उपनिषदोंकी समाप्तिका काल है।

उपनिषदोंमें प्रधान रूपसे तीन विषयोंका प्रतिपादन हुआ है। ये विषय हैं-धर्म, सृष्टि और अन्तिम वस्तुतत्त्व। संसारके अन्तिम सत्यका प्रतिपादन उपनिषदोंका प्रधान लक्ष्य है। इस अन्तिम वस्तुतत्त्व याने ब्रह्मके अथवा आत्माके स्वरूपको ठीक तरह समझनेमें सृष्टिका विचार सहायक होता है। इसी दृष्टिसे इसको उपनिषदोंमें स्थान मिला है। यह सच भी है क्योंकि अन्तिम सत्य अनुभूतिका विषय बननेवाले जीवनका सुन्दर रहस्य है। इसलिए जीवन तथा विश्वके अर्थको और कार्यकारणभावको अच्छी तरह समझनेसे अन्तिम सत्यके आविष्कारमें सहायता मिलती है। धर्म सत्यके दर्शनका साधन है। श्रेयकी प्राप्ति उसीपर निर्भर है। स्पष्ट है कि यहाँ 'धर्म' शब्दसे केवल यज्ञरूप कर्मकाण्ड विवक्षित नहीं। यज्ञरूप कर्मकाण्ड उपनिषत्पूर्व वेदोंका मुख्य विषय रहा। उपनिषदोंमें यज्ञसे सम्बद्ध या स्वतंत्र उपासनाओंका प्रतिपादन है। उनमें व्रतों, नियमों तथा मोक्षके शम-दमादि साधनोंका—संक्षेपमें धर्मका—प्रतिपादन किया गया है।

उपनिषदोंकी व्यापक, शुद्ध, धार्मिक तथा तात्त्विक कल्पनाओंका मूल पूर्वकालके वैदिक वाङ्मयमें मिलता है। उपनिषदोंमें अन्तिम सत्यको, प्रतिपाद्य मुख्य विषयको पुरुष, ब्रह्म तथा आत्माकी तीन कल्पनाओं द्वारा अभिव्यक्त किया गया है। ये तीनों कल्पनाएँ उपनिषत्पूर्व वैदिक साहित्यमें वर्धमान थीं; उपनिषदोंमें इन्हें पूर्णता प्राप्त हुई। इन कल्पनाओंका इतिहास ही भारतीय दर्शनकी पार्श्वभूमि है। उपनिषदोंके दर्शनकी वैचारिक कार्य-कारणपरम्पराको समझनेके लिए चारों वेदोंके देवों तथा यज्ञोंसे सम्बन्धित विचारोंकी ओर ध्यान देना परमावश्यक है। एकरूप बने हुए कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्डके इस सम्बन्धको बिना समझे उपनिषदोंके ज्ञानकाण्डकी अभिव्यक्तिके मर्मको समझना सुतराम् असम्भव है।

ज्ञान तथा कल्पनाओंका इतिहास उन्हींका अंतर्गत अंश है। किसी भी वस्तुका इतिहास उसके (वस्तुके) अस्तित्वके अर्थको स्पष्ट करता है। असलमें वस्तुका इतिहास उसके स्वरूपमें ही समाविष्ट होता है। बलवान् तथा फला-फूला (लहलहाता) वृक्ष उसके पोषणके विद्यमान क्रमको सूचित करता है। फलों

और पुष्पोंसे समृद्ध अतएव शोभायमान उद्यानकी रचनाके ज्ञानमें उपजाऊ जमीन, निर्दोष जल, व्याधियोंके कीटाणुओंका परिहार, बीजका संस्कार तथा अन्य साधन-सामग्री आदिका भी ज्ञान समाविष्ट है। इतिहासको मानवकी संस्कृतिके स्वरूपमें बड़ा ही प्रधान स्थान प्राप्त है। इतिहासने विवाह, गृहसंस्था, राज्य, कानून, धर्म, नीति आदि विभिन्न शाखाओंके जीवन-रसको पूर्ण किया है। यह एक मानी हुई बात है कि बिना इतिहासके राजनीति तथा अर्थशास्त्र बिलकुल अन्धे हैं। खासकर धर्म तथा दर्शनके भावार्थ और कार्यको सिवा इतिहासको समझना सर्वथा असम्भव है। आधुनिक मनोविज्ञानका कथन है कि व्यक्तिके बालमनको बिना समझे उसके व्यक्तित्वकी थाह-को समझना कदापि सम्भव नहीं। किसी भी व्यक्तिका इतिहास ही उस व्यक्तिके रहस्यको स्पष्ट करता है। व्यक्तित्व वर्तमानके कुछ क्षणोंमें सीमित नहीं हो सकता। 'अशोक'की कल्पनामें अशोकके समूचे शासनकालका समावेश करना आवश्यक है। अलेक्जैंडर, बुद्ध, ईसा मसीह, शिवाजी, नैपोलियन, तिलक, गान्धी आदि शब्दोंसे जिस व्यक्तित्वकी ओर संकेत किया जाता है उनमें उन व्यक्तियोंके सम्पूर्ण चरित्रोंका अन्तर्भाव होता है। सारांश, मनोविज्ञानमें जिस तरह व्यक्तित्वको भली भाँति समझनेके लिए व्यक्तिके चरित्रको ध्यानमें रखना पड़ता है उसी तरह धार्मिक तथा तात्त्विक कल्पनाओंके मर्मको ग्रहण करनेके लिए उन कल्पनाओंके इतिहासका यथार्थ परिचय पाना नितान्त आवश्यक है।

वैदिक मूलभूत कल्पनाओंमें परमपुरुषकी कल्पना

वैदिक कल्पनाओंमें धर्म या तत्त्वकी दृष्टिसे बड़ी महत्त्वपूर्ण कल्पनाएँ सिर्फ तीन हैं—पुरुष, ब्रह्म तथा आत्मा। यहाँ 'पुरुष' शब्दका अभिप्राय 'परमेश्वर'से है। विश्वका अन्तिम सत्य पुरुषरूप है। अतः ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें उसका निर्देश केवल 'पुरुष' संज्ञासे किया गया है। छान्दोग्य उपनिषदमें इसीको 'उत्तम पुरुष' कहा गया है। ईश्वर, पुरुषोत्तम अथवा परम पुरुष है यह कल्पना वास्तवमें संसारके सब इतिहास-प्रसिद्ध तथा मान्य धर्मोंकी आधारशिला है। क्योंकि स्तोत्र, प्रार्थना, पूजा या समर्पण ही सब धर्मोंका स्वरूप है। जो सर्वज्ञ है, कृपावान् है उसीकी प्रार्थना, पूजा, आराधना तथा भक्ति करना समीचीन है। अन्तिम कल्याण अथवा निःश्रेयसकी और संसारमें यशकी प्राप्तिके लिए एक साधनके रूपमें मानव धर्मका उपयोग करता आया है। इसलिए यह श्रद्धा रखना अनिवार्य है कि ईश्वर पुरुष है, मनुष्य है। ईश्वर वह मानव है जो सब मनुष्योंमें सर्वोपरि है, जो विश्वकी

सर्व शक्तियोंसे भी अधिक प्रभावशाली है। यही श्रद्धा विश्वके सभी प्रथित धर्मोंकी जड़ है।

निसर्गकी महान शक्तियोंको पुरुषका रूप प्रदान कर उनकी आराधनाके साथ साथ निसर्गकी शक्तियोंका नियन्त्रण करनेवाले देवताको भी पुरुषरूप मानकर की गई प्रार्थना ऋग्वेदमें उपस्थित है। सोम, अग्नि, सूर्य, सविता, पूषा, ऊषा, वायु, आप (जल), पृथ्वी, द्युलोक आदि निसर्गकी शक्तियाँ हैं। इन्द्र, वरुण, बृहस्पति, विश्वकर्मा, धाता, प्रजापति अथवा अदिति निसर्गकी शक्तियोंके नियामक देवता हैं; किन्तु इन्हें किसी एक विशेष शक्तिसे एकरूप नहीं माना जा सकता। इन दोनों प्रकारके देवताओंसे सम्बन्धित भावोंका समावेश करनेवाली कल्पनाका ऋग्वेदमें उदय हुआ और वही है 'पुरुष'की कल्पना। पुरुषसूक्तमें वर्णन है कि पुरुष विश्वरूप है, विश्वातीत है। इस विचारके दो अंश हैं; एकमें माना गया है कि सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी, दिशा आदि समूची सृष्टिका जन्म इसी पुरुषसे हुआ और दूसरेमें यह स्वीकार किया जाता है कि यह सृष्टि पुरुषसे भिन्न नहीं है। ये दोनों अंश पुरुषसूक्तमें विद्यमान हैं।

विश्व-तत्त्व अथवा ईश्वरके पुरुषरूपकी कल्पना उसे निसर्गकी शक्ति मानने-वाले विचारकी या उसके (ईश्वरके) विश्वातीत होनेमें विश्वास रखनेवाली कल्प-नाकी अपेक्षा अधिक गम्भीर, अर्थपूर्ण और धर्म भावनाको कृतार्थ करनेवाली है। मानवकी रचनामें व्यक्त समस्या, व्यवस्था तथा विस्मयकारिताके साथ साथ मानवमें विश्व-शक्तियोंका जो चमत्कृतिपूर्ण मेल हुआ है उसे देखकर वैदिक मुनिके मनमें परमपुरुषकी कल्पनाका आविर्भाव हुआ। अथर्ववेदके दसवें काण्डके दूसरे सूक्तमें मनुष्यकी रचनाके सम्बन्धमें साश्चर्य कुतूहल प्रकट हुआ है। इस सूक्तमें विभिन्न रूपोंमें सही; किन्तु बारबार यह प्रश्न उठाया गया है कि मानवके विविध अवयवोंका उनके वैचित्र्यपूर्ण कार्योंके साथ सामञ्जस्य स्थापित कर उसके शरीरकी यह अतीव अद्भुत रचना कैसे हुई? और किसने की? अति प्राचीन कालमें मानवको मनुष्यकी रचनाके सम्बन्धमें प्रथम जिज्ञासा कैसे उत्पन्न हुई इस बातका यह सूत्र एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इसमें प्रश्न पूछा गया है कि जागृति तथा निद्राको, सुख और दुखको, सुबुद्धि एवं दुर्बुद्धिको, भूख और प्यासको, सत्य तथा असत्यको, बल और दुर्बलता को, रेतस् और मनको किसने निर्माण किया? इसके साथ साथ दूसरा प्रश्न है—भूमि, द्युलोक, अग्नि तथा संवत्सरकी व्यवस्था किसने की? दोनों प्रश्नोंका वहाँ उत्तर दिया गया है कि मानव तथा विश्वकी रचना पुरुषरूप ब्रह्माने

की है। ब्रह्माके साथ सब देवता मानवमें उसी तरह निवास करते हैं जैसे गोशा-लामें गौएँ। मानवके शरीरमें विश्व-शक्तियोंका वह मेल हुआ है जो उसके कार्योंके लिए उपयोगी है। इसे देखकर विश्वमें इसी तरहके मेलकी कल्पनाका उदय हुआ और इसी कल्पनाने परम-पुरुषकी कल्पनाको जन्म दिया। निसर्ग या प्रकृतिकी शक्तियोंमें जो व्यवस्था, जो तर्कसंगति दिखाई दी उसका समाधान विराट-पुरुषकी कल्पनासे हुआ।

वेदोंमें परम-पुरुषके अग्निरूपका अथवा सूर्यरूपका विचार किया गया है। संसारके सब प्राणियोंका जीवन सूर्यपर निर्भर है। दृश्यमान पार्थिव पदार्थोंके अस्तित्वका भी यही हाल है। अतएव वेदोंमें आदि-पुरुषको अग्निरूप या सूर्यरूप माना गया है; उसे 'हिरण्मय पुरुष'की उपाधि दी गई है। वाजसनेयी संहिता (३१।१८) में तथा तैत्तिरीय आरण्यकमें पुरुषके सम्बन्धमें कहा गया है, "आदित्य-वर्ण महान् पुरुष तमके परे है। उसे मैं जानता हूँ। उसीके ज्ञानको प्राप्त करनेके बाद मानव मृत्युके परे पहुँचता है। श्रेयस्की ओर जानेके लिए दूसरा मार्ग नहीं है।" इसके अनन्तर वहाँ लिखा है, "श्री और लक्ष्मी उसकी पत्नियाँ हैं। दिन तथा रात उसकी दो कक्षाएँ हैं। नक्षत्र ही उसका रूप है। अश्विदेव उसका अनावृत रूप है।" वाजसनेयी संहितामें यह भी कहा गया है कि "अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, तेज, ब्रह्म, जल, तथा प्रजापति सबका अन्तर्भाव उसी एकमें होता है। उस विद्युत्-पुरुषसे सर्व निमे-षोंका (काल-विभागोंका) निर्माण हुआ। ऊपर, नीचे तथा मध्यमें उसका आकलन नहीं किया जा सकता। उसका नाम ही है महान् यश। उसकी कोई प्रतिमा नहीं है। हिरण्यगर्भसूक्तमें (ऋग्वेद १०।१२१) उसीका वर्णन किया गया है। तैत्तिरीय आरण्यकमें भी यही वर्णन आया है।

पुरुषोत्तमकी उपासना तथा अग्निचयनसे उपनिषदोंका सम्बन्ध

यजुर्वेदमें पुरुषरूप अग्निकी अग्निचयन-संज्ञक पूजाकी विधि है। अग्निचय-नकी भावना है कि अग्नि ही परमपुरुष अथवा विश्वपुरुष है। तैत्तिरीय संहिता, काठक संहिता, कापिष्ठल संहिता, मैत्रायणी संहिता, वाजसनेयी संहिता, तैत्तिरीय ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक तथा शतपथ ब्राह्मणमें अग्निचयनकी विधि विस्तारसे वर्णित है। यजुर्वेदके कालमें अग्निचयनको सोमयागके समान ही महत्त्व प्राप्त हुआ था। सोमयाग, अश्वमेध आदि बड़े बड़े यज्ञोंमें अग्निचयन किया जाता था। यज्ञ-धर्मके इतिहासमें अग्निचयनकी संस्था एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण मंजिल

है। क्योंकि ईश्वरकी पुरुष रूपमें उपासना तथा मूर्तिपूजाका जन्म अग्निचयनसे हुआ है। अग्निचयनसे ही मंदिर-संस्था तथा धार्मिक स्थापत्यका श्रीगणेश होता है। इस सचाईकी ओर वैदिक धर्म अथवा हिन्दूधर्मके प्रसिद्ध इतिहासकारोंने समुचित ध्यान नहीं दिया है। शैव तथा वैष्णव धर्मोंका उदय भी अग्निचयनमें हुआ। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे अग्निचयनका अर्थ है अग्निकी रचना। कई तरहकी सहस्रों मापित ईंटोंसे इसकी रचना करनी पड़ती है। इस रचनाको 'अग्नि' की पारिभाषिक संज्ञा प्राप्त है। इसीपर पक्षरूप परमपुरुष या विराट्पुरुषकी कल्पना की जाती है। वास्तवमें यह रचना एक तरहकी वेदी ही है। इसपर मनुष्यके आकारकी एक सुवर्णमूर्ति स्थापित की जाती है। इसे 'हिरण्मय पुरुष' (तैत्तिरीय संहिता ५।२।७) कहा जाता है। यह सुवर्णमूर्ति एक रुक्मपर या सोनेके स्थण्डिलपर और यह रुक्म या स्थण्डिल पुष्कर-पर्णपर याने कमल-पत्रपर रखा जाता है। 'हिरण्मय पुरुष-' की स्थापनाके समय ऋग्वेदके हिरण्यगर्भ-सूक्तके पठनका विधान है।

चयनके द्रष्टा ऋषि परम पुरुषको ही 'अग्नि' कहते हैं। इसीलिए उसे 'हिरण्मय पुरुष' कहा जाता है। ऋग्वेदमें अग्निको 'वैश्वानर' की संज्ञा प्राप्त है। 'वैश्वानर'के दो अर्थ हैं; विश्वरूप नर या सबमें निवास करनेवाला नर। वैश्वानर अग्निको सर्वव्यापी माननेवाले अनेकों वर्णन ऋग्वेदमें (१।५९,९८;२।१) स्थान स्थानपर पाये जाते हैं। अद्वैतवादकी दृष्टिसे ऋग्वेदमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्त वह है जिसमें अग्निको सर्व देवतामय कहा गया है। वह सूक्त निम्नानुसार है:– "हे अग्नि, वीरोंमें वीर इन्द्र तुम हो। विशाल मार्गसे गमन करनेवाले वन्दनीय विष्णु तुम हो। हे ब्रह्मणस्पति, धनके ज्ञाता ब्रह्मा तुम हो। धृतव्रत राजा वरुण तुम्हीं हो। शूर और प्रशंसाके पात्र मित्र तुम्हीं हो। सत्के पालक तथा संभोग्य दानके दाता अर्यमा तुम्हीं हो। हे देव, यज्ञमें फल देनेवाले अंश तुम हो। सुपुत्रोंको प्रदान करनेवाले त्वष्टा तुम्हीं हो। ... ... वह असुर रुद्र भी तुम्हीं हो जो स्वर्गकी महिमा है।" (ऋग्वेद २।१)। सब देवता अग्निमें विद्यमान हैं (ऋग्वेद ५।३।१)। अग्नि देवोंका मुख तथा जिह्वा है (ऋग्वेद २।१।१४)। इसको ऋग्वेदमें बहुत बार दुहराया गया है। यह भी बतलाया गया है कि तीन हज़ार तीन सौ उनतालीस देवता अग्निकी पूजा करते हैं (ऋग्वेद ३।९)। इस वेदमें अग्निका स्तवन करते हुए कई बार दुहराया गया है कि वे अनेक जन्म लेते हैं, वे सर्वज्ञ (जातवेदस्), पापनाशन्, राक्षसोंके विध्वंसक, कृपावान्, भक्तोंके सखा, सबके नेता, पिता, माता, बंधु तथा मित्र हैं। संसारके उच्च कोटिके धर्म तथा

भक्तिमार्गमें भगवान् तथा भक्तके बीच प्रबल आकर्षणसे पूर्ण, 'निपट निकट' के जिस सम्बन्धका वर्णन हुआ है उसी गहनतम सम्बन्धकी स्थापना वेदोंमें अग्नि तथा अग्निपूजकके बीच हुई है। इसी पार्श्वभूमिके कारण अग्निचयनमें परमपुरुष या विश्वपुरुषके रूपमें अग्निकी उपासनाका स्वीकार हुआ है। अग्निचयनमें वैश्वानर-होमकी भी विधि स्वीकृत है। शतपथ ब्राह्मण (६।३।१३) में कहा गया है कि भूलोक, अन्तरिक्ष तथा द्युलोक याने समस्त त्रैलोक्य ही इस वैश्वानरका स्वरूप है। शतपथ ब्राह्मणका दसवाँ काण्ड 'अग्निरहस्य' के नामसे प्रसिद्ध है। उसमें अग्निचयनके वैश्वानरके स्वरूपको यों स्पष्ट किया गया है– "द्युलोक उसका मस्तक, आदित्य उसका नेत्र, वायु उसका प्राण, आकाश उसका शरीर, जल उसका पेडू तथा पृथ्वी उसके पैर हैं।" छान्दोग्य उपनिषदमें वैश्वानर परमात्मा इसी तरह वर्णित है।

अग्निचयनसे उपनिषदोंका बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। उपनिषदोंमें प्रसिद्ध 'हिरण्मय पुरुष' अग्निचयनमें ही पहली बार दिखाई देता है। 'हिरण्मय पुरुष'का अर्थ है परमात्मा अथवा जीवात्माका शुद्ध स्वरूप। ऋग्वेदमें अग्नि, पक्षी तथा पुरुष दो रूपोंमें वर्णित है। अग्निचयन, महाव्रत तथा महदुक्तमें इन दोनोंका समन्वय कर पक्षि-पुरुषकी उपासनाका विधान किया है। इस सुवर्णमय पक्षिपुरुषकी उपासनाको अग्निचयन तथा महाव्रतमें उस मानसिक उपासनाका रूप प्राप्त हुआ जो कर्मकाण्डसे पूर्णतया स्वतंत्र और शुद्ध था। शतपथ ब्राह्मणके उपर्युक्त अग्नि-रहस्य नामके प्रसिद्ध (दसवें) काण्ड, तैत्तिरीय ब्राह्मणमें सावित्रचयन, नाचि-केत चयन तथा वैश्वसृज चयनके सम्बन्धमें किए गए प्रतिपादनसे और तैत्ति-रीय आरण्यकमें आरुणकेतुक चयनके विषयमें किए गए विवेचनसे इस इतिहासको निश्चित किया जा सकता है। ऐतरेय उपनिषद् ऐतरेय आरण्यकका बड़ा ही महत्त्वपूर्ण अंश है। ऐतरेय आरण्यककी प्रधान उपासना वास्तवमें चयन तथा महाव्रतमें प्रसिद्ध पक्षिपुरुषकी ही उपासना है। यह तो निश्चित रूपसे मानना चाहिए कि शतपथ ब्राह्मणका अग्निरहस्य नामका दसवाँ काण्ड उपनिषदकी वह अवस्था है जो बृहदारण्यक उपनिषदके पूर्व विद्यमान थी। छान्दोग्य उपनिषदकी वैश्वानर विद्या तथा शाण्डिल्यविद्या दोनों अग्निरहस्यमें प्रथम पाई जाती हैं। शाण्डिल्य ऋषि चयनके द्रष्टा हैं। सच बात तो यह है कि शाण्डिल्यविद्या उप-निषदोंकी आत्मविद्याका सूत्ररूप सार ही है। विद्या तथा अविद्याके सम्बन्धमें ईशावास्योपनिषदकी गूढ कल्पनाका उदय प्रथम अग्निरहस्य (१०।४।२।२, १०। ४।३।१०) में ही हुआ। उपासना और कर्म दोनोंके समुच्चयकी आव-

श्यकताका स्वीकार तथा अस्वीकार दोनों मत अग्निरहस्यमें विद्यमान हैं। विद्या शब्दसे वहाँ उपासनाका निर्देश हुआ है। कठोपनिषदका भी अग्निचयनसे बड़ा ही निकटवर्ती सम्बन्ध है। कठोपनिषदके द्रष्टा नचिकेतस् मूल रूपसे अग्निचयनकी विशिष्ट विधिके प्रणेता हैं। यह विधि तैत्तिरीय ब्राह्मणमें विहित है। कठोपनिषदमें नचिकेतस् उपदेष्टा गुरु, यम या मृत्युदेवता हैं। अग्निरहस्यके अध्ययनकर्ताकी समझमें यह आसानीसे आ सकता है कि ये मृत्युदेवता या यम असलमें अग्निचयनके अग्निदेव हैं (१०।४।३।११; १०।५।२।३)। अधिक विचार करनेपर यह भी विदित होता है कि अग्निचयनकी पक्षिपुरुषकी उपासनासे तैत्तिरीय उपनिषदका भी साक्षात् सम्बन्ध है। तैत्तिरीय उपनिषद् तैत्तिरीय आरण्यकका ही एक अंश है। उपनिषदोंके पहले तैत्तिरीय आरण्यकमें आरुणकेतुक नामके अग्निचयनकी उपासना विहित है। इस उपासनाके साक्षात् सम्बन्धको बिना समझे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय आत्माके ब्योरेवार वर्णनका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता। वर्णनके अनुसार उक्त पांचों आत्माएँ पक्षिपुरुषके आकारकी हैं। अन्नमय पुरुषसे मनुष्यका बोध होता है। मनुष्यके न पंख या पर होते हैं न परोंका कलाप या समूह। वहाँ वर्णित अन्नमय आदि सब आत्माओंके पंख (पक्ष) भी हैं और परोंके कलाप भी। अग्निचयनकी पक्षिपुरुषकी उपासनाको समझनेके बाद ही तैत्तिरीय उपनिषदमें वर्णित आत्माओंके पंखोंकी तथा कलापकी कल्पनाका सच्चा रहस्य समझमें आ सकता है। ऐतरेय आरण्यकका मुख्य विषय महाव्रत अथवा महदुक्थ रहा है। उसमें भी हिरण्मय पुरुष का निर्देश है। उसमें पक्षिपुरुषकी यही उपासना है। ऐतरेय आरण्यकके अन्तमें (५।३।३।१) कहा गया है कि अग्निचयनके साथ ही महाव्रतका अनुष्ठान करना आवश्यक है। शतपथ ब्राह्मण (१०।१।२।२) में भी अग्निचयन महाव्रत तथा महदुक्थ के एकत्र अनुष्ठानकी विधि विहित है। मैत्रायणी उपनिषदका भी अग्निचयनके साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। उस उपनिषदके प्रास्ताविक खण्डसे ही यह स्पष्ट होता है। बादमें छठे प्रपाठकमें (३२) फिर एक बार चयनसम्बन्धी तात्त्विक उपासनाका विधान हुआ है। सारांश, विश्वात्मक परमपुरुषकी उपासनाका विस्तारके साथ आरम्भ अग्निचयनमें ही हुआ। उसीमें उपनिषदोंके तात्त्विक मननका श्रीगणेश हुआ। सच बात तो यह है कि उपनिषदोंके इतिहासकी दृष्टिसे अग्निचयनकी उपेक्षा करना सर्वथा अनुचित है। फिर भी कहनेमें खेद है कि इसकी ओर आजतक भारतीय दर्शनके इतिहासकारोंने दुर्लक्ष ही किया है।

चैतन्यरूप सूक्ष्म तत्त्व-पुरुष

मानवचैतन्य, काल-चैतन्य तथा विश्व-चैतन्य तीनोंको 'पुरुष' की संज्ञा प्राप्त है। यह चैतन्य स्थूल शरीरसे भिन्न है। इसलिए बड़े विचारके बाद 'पुरुष'का अर्थ किया गया 'पुरनिवासी तत्त्व'। सूर्यमें स्थित पुरुष काल-चैतन्य है। उसीके कारण संवत्सरात्मक काल समझमें आता है और ऋतु-चक्र घूमता रहता है। विराट्-पुरुष ही विश्व-चैतन्य है। 'पुरुष' शब्दके इस सूक्ष्म अर्थके स्वीकृत होनेके बाद भिन्न प्रकारकी उपासनाओंके विभिन्न विषय उस सूक्ष्म तत्त्वके प्रतीक निश्चित हुए। यह निष्कर्ष हुआ कि सभी धार्मिक पूजाओंका आलम्बन एक ही है। इसी समय वैदिक धर्ममें सर्व धर्मोंके समन्वयका महान् तत्त्व पिरोया गया। अग्निरहस्यमें (शतपथ ब्राह्मण १०।५।२।२०) कहा गया है, "अग्नि अथवा 'यजु-' (यजुर्वेद)के रूपमें अध्वर्यु उसीकी उपासना करते हैं। 'यजु' वह वस्तु है जिसके कारण सब एक ही जगह जुड़ा हुआ है। सामवेदको माननेवाले 'साम-' (सामवेद)के रूपमें उसीकी उपासना करते हैं; क्योंकि 'साम'का अर्थ है सम अथवा एकरूप। उसमें समूचा विश्व एकरूप हुआ है। ऋग्वेदको माननेवाले 'उक्थ' (ऋग्वेदके सूक्त)के रूपमें उसकी उपासना करते हैं; क्योंकि उसीसे विश्वका उत्थान होता है। जादूगर 'जादू'के रूपमें उसकी उपासना करते हैं; क्योंकि जादू नियन्त्रण करनेवाली शक्ति है। उसने सबको अपने नियन्त्रणमें रखा है। सर्पोंके ज्ञाता सर्पके रूपमें, देव अन्नके बलके रूपमें, मनुष्य धनके रूपमें, असुर मायाके रूपमें, पितर स्वधाके रूपमें, देवजनोंक ज्ञाता देवजनके रूपमें, गंधर्व रूपके तथा अप्सराएँ गंधके रूपमें उसीकी उपासना करते हैं। जो जिस रूपमें उसीकी उपासना करता है वह वही बनता है। सब रूपोंमें उसकी उपासना करना संभव है। उससे (मनुष्य) सर्वरूप बनता है और उसका रक्षण होता है"। ऐतरेय आरण्यकमें एक परिच्छेद इसी अर्थकी अभिव्यक्ति करता है। आदित्यमें स्थित पुरुष तथा जीवात्मा (प्रज्ञात्मा) की एकताको बतलाकर वहाँ कहा गया है, "ऋग्वेदको माननेवाले महदुक्थमें उसीका विचार करते हैं। अध्वर्यु अग्निचयनमें इसीकी मीमांसा करते हैं। सामवेदको माननेवाले महाव्रतमें इसीका मनन करते हैं। पृथ्वी, स्वर्ग, वायु, आकाश, जल, ओषधि, वनस्पति, चन्द्र, नक्षत्र, प्राणिमात्र आदिमें इसीकी उपासना की जाती है। इसीको ब्रह्म कहते हैं" (ऐतरेय आरण्यक ३।२।३)। अग्निरहस्य तथा छान्दोग्य उपनिषद (३। १४।१-४) में कहा गया है कि "हिरण्मय पुरुष ही ब्रह्म है। उसकी उपासना

परमात्माके रूपमें करनी चाहिए। इससे मृत्युके उपरान्त उपासक परमात्मरूप बनता है। क्योंकि मानवको उसी तरहका रूप प्राप्त होता है जिस प्रकारका दृढ संकल्प वह करता है और जिस तरहकी श्रद्धा वह रखता है।" छान्दोग्य उपनिषदमें 'हिरण्मय पुरुष' की संज्ञा इस संदर्भमें तो अप्राप्य है; किन्तु अन्यत्र याने उद्गीथ उपासना (१।६।६) में वह अवश्य उपस्थित है। ब्रह्म, परमात्मा तथा पुरुष तीनों शब्द उपनिषदमें सर्वत्र पर्यायवाची या समानार्थक माने गये हैं। बृहदारण्यकोपनिषद्-(३।९)में याज्ञवल्क्य द्वारा उस वाक्यका उच्चारण हुआ है जो यह सूचित करता है कि पुरुष ही उपनिषदोंका प्रतिपाद्य विषय है। याज्ञवल्क्य शाकल्यसे कहते हैं, "मैं पूछ रहा हूँ कि वह 'औपनिषद पुरुष' क्या है?"

आत्मतत्त्वकी कल्पनाका इतिहास और मीमांसा

पुरुषकी कल्पनाकी अपेक्षा आत्माकी कल्पना दर्शनकी दृष्टिसे अधिक महत्त्व-पूर्ण है। अन्तिम सत्यके पुरुष-रूपकी कल्पना धार्मिक भावनाका सार है अवश्य; परन्तु दर्शनमें उसका उपयोग केवल सूचित या व्यञ्जित अर्थमें ही हो सकता है। वह व्यङ्ग्यार्थ निम्नानुसार है। मानवके शरीरमें विविध शक्तियोंका संगठन निर-न्तर कार्यशील है। संवादिता, तालबद्धता तथा उद्देश्यकी सफलताके अनुसार ही उन शक्तिओंका कार्य प्रवर्तमान है। भिन्न भिन्न कर्मोंसे प्राप्त होनेवाली अवस्था-ओंमें एक ही सूत्र पाया जाता है। ये ही गुण विश्वकी विविध शक्तियोंमें दिखाई देते हैं। अतएव विश्वको 'पुरुष' की संज्ञासे संबोधित किया गया है। मानवमें जो कर्म-सम्बन्धी स्वतंत्रता परिलक्षित है वही विश्वकी शक्तियोंमे प्रतीत होती है। यह स्वतंत्रता विश्वकी किसी भी शक्तिका अङ्गभूत धर्म नहीं है। जिस तरह मनुष्यके शरी-रमें कोई भी एक इन्द्रिय या अवयव स्वतंत्र नहीं है उसी तरह विश्वमें किसी भी एक शक्तिको स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है। वास्तवमें स्वतंत्रता वस्तुकी पूर्णताका आविष्कार है। सम्पूर्ण विश्वशक्ति स्वतंत्र है; उसका कोई भी अंश स्वतंत्र नहीं। पुरुषकी कल्पनामें महत्त्वपूर्ण आपात्ति तो यह है कि वह जन्म, जरा तथा मृत्यु तीनों अवस्थाओंसे संबद्ध है। उसमें इन्द्रिय-गोचरता भी है और स्थूलता भी। इसके विपरीत विश्वशक्ति अज, अजर और अमर है। स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों अवस्था-ओंमें वह दिखाई देती है। उसका पूर्ण स्वरूप अनन्त है। पुरुषमें जन्म, जरा, मरण, स्थूलता तथा सान्तत्व जैसे धर्म दृश्यमान हैं। अतएव पुरुषकी कल्पना विश्वशक्तिसे सम्बन्धित अर्थको पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त करनेमें असमर्थ है। जैसा कि पहले कहा गया है, पुरुष शब्दके अर्थको बदलनेका यही कारण है। पुरुष

शब्दकी अपेक्षा 'आत्मा' शब्द अधिक निर्दोष है क्योंकि मृत्युके उपरान्त तथा जन्मके पूर्व भी उसके अस्तित्वको ऋग्वेद-कालमें ही मान्यता मिली गई थी।

ऋग्वेदमें अस्यवामीय सूक्त (१।१६४) उच्च कोटिकी रहस्यात्मके लिए बड़ा ही प्रसिद्ध है। उसमें कई बार कहा गया है कि अमर्त्य मर्त्य शरीरसे संलग्न होता है। इस अमर्त्यको मर्त्यका सहवासी (सयोनि) याने सहचर बन्धु कहा गया है। ऋग्वेदमें कई स्थानोंपर असु, प्राण तथा आत्मा तीनों शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं। वेदोंमें आत्मन् (आत्मा) शब्द प्रधानरूपसे दो अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। पहला अर्थ है देहकी या शरीरकी जीवनशक्ति और दूसरा है समूचा व्यक्ति। समूचे व्यक्तिमें शरीर, इन्द्रियाँ, अवयव, मन तथा वाणी सम्मिलित हैं। यह व्यक्तित्व 'अहम्' (अस्मत्) संज्ञासे व्यक्त होता है। 'आत्मा' शब्द वैदिक भाषामें सामान्य रूपसे 'अहम्' के वाचकके रूपमें रूढ है। उसी भाषामें धार्मिक एवं तात्त्विक विचारोंमें चैतन्य जीवनशक्ति, प्राण या जीवके अर्थमें रूढ है। ऋग्वेदके समय यह कल्पना विद्यमान थी कि वायु और प्राण तत्त्वतः एक ही हैं। यही कल्पना बादमें कायम रही। ऋग्वेदमें 'आत्मा' की संज्ञामें वायुका निर्देश बहुत बार हुआ है। वहाँ कहा गया है कि मृतका चक्षु सूर्यमें तथा आत्मा वायुमें विलीन होती है। परन्तु तत्त्वकी दृष्टिसे 'आत्मा'का अर्थ ऋग्वेदमें 'जीवनशक्ति' ही रहा होगा। इस अनुमानके लिए ऋग्वेदमें अवकाश है। जिस प्रकार वायुको देवोंकी आत्मा कहा गया है उसी प्रकार सूर्यको स्थावर तथा जंगम (चर तथा अचर) की आत्मा कहा गया है। इससे उक्त अनुमानकी पुष्टि होती है। ऋग्वेदमें 'आत्मन्' या 'त्मन्' शब्द 'स्वयम्' या 'खुद' जैसे निजवाचक सर्वनामके अर्थमें बार बार आया है। यह 'आत्मा' का तीसरा अर्थ है। इसका उदाहरण है—"द्युलोक तथा पृथ्वी समूचे विश्वको स्वयं (आत्मना) ही धारण करते हैं।" इन तीन अर्थोंके सिवा 'आत्मन्' का उपयोग यजुर्वेद तथा ब्राह्मणग्रंथोंमें शरीरके मध्यभागके अर्थमें कई बार किया गया है। उपनिषदोंमें ग्रथित 'आत्मन्' या 'आत्मा' से सम्बन्धित कल्पनाका विचार करते समय ये चारों अर्थ उपयोगी सिद्ध होते हैं।

'पुरुष' अथवा 'ब्रह्मन्' शब्दसे विश्वके अन्तिम सत्यका उल्लेख या निर्देश करनेकी पद्धति उपनिषदोंके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्यमें अधिकतर अनुपातमें अपनाई गई। 'आत्मन्' शब्दके सम्बन्धमें ऐसा नहीं हुआ। 'आत्मन्' शब्दका तात्त्विक अर्थमें उपयोग अथर्ववेदके ब्रह्मसूक्त (१०।८।४४) में केवल एक ही बार हुआ है। वहाँ कहा गया है, " वह अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभु और रससे

तृप्त है। उसमें किसी प्रकारकी न्यूनता नहीं है। उसी धीर, अजर तथा युवा आत्माके ज्ञाता मृत्युसे नहीं डरते।" 'आत्मा' शब्दसे बड़े पैमानेपर विश्व-सत्यकी ओर संकेत करनेवाली पद्धतिका सूत्रपात उपनिषदोंमें ही हुआ। 'आत्मा' की कल्पना विचारोंकी परिणत अवस्थाकी परिचायक है। संसारके दर्शनमें यह बड़ी ही महत्त्व-पूर्ण कल्पना है।

विश्वसत्य परमपुरुष-रूप है। इसी विचारसे उसे आत्मा माननेवाली कल्पनाका उदय होता है। क्योंकि मानव (पुरुष) अपना उल्लेख 'अहम्' से करता है। 'आत्मा' से मनुष्य अपनी जीवनशक्तिका निर्देश करता है। ऋग्वेदमें 'आत्मा' का यह अर्थ बहुत प्रसिद्ध है। 'आत्मा' वही जीवन-प्राण तथा चैतन्य-रूप सूत्र है जिसमें जागृति, स्वप्न और सुषुप्तिकी अथवा जन्म और मरणकी अवस्थाएँ पिरोयी गई हैं। विश्व उत्पत्ति, स्थिति तथा लयकी अवस्थाओंसे गुजरता है। इन सब अवस्थाओंको व्यापनेवाली जीवन-शक्तिके अर्थमें 'आत्मा' शब्द उपनिषदों द्वारा परमपुरुषके लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेदके मुख्य देवता हैं इन्द्र। यह पुरुषकी कल्पनाका पूर्ववर्ती विचार है। अनेक सूक्तोंमें इन्द्र अपना (स्वयंका) उल्लेख 'अहम्' से करते हैं। इन्द्र कहते हैं, "हे भक्त, यह मैं हूँ। मुझे यहाँ देखो। मैंने सब वस्तुओंको विशालतासे व्याप्त किया है। यज्ञके उपदेष्टा मेरी पूजा करते हैं। मैं विध्वंसक हूँ, भुवनोंका विदारण करता हूँ। मैं जब सुन्दर अन्तरिक्षके पृष्ठ-पर आसीन होता हूँ तब सत्यके अभिलाषी ऊँचे उठकर मेरी ओर आते हैं। मेरा मन मेरे हृदयसे कहता है कि पुत्र-पौत्रादिसे युक्त संसारसे संयुक्त होकर मेरे भक्त आकुलतासे मेरा आवाहन निरन्तर करते हैं," (ऋग्वेद ८।१००।४,५)। "वे पिताकी तरह मुझे पुकारते हैं। मैं दानशील व्यक्तिको सुख प्रदान करता हूँ। मैं, इन्द्र कभी परास्त नहीं होता। मेरे कारण धन प्राप्त हुए बिना नहीं रहता। मैं मृत्यु-गोचर याने मृत्युका विषय कदापि नहीं बनता। इसलिए सोमपान करने-वालो, मेरे पास धनकी याचना करो; ऐ मानवो, मेरी मित्रताका त्याग मत करो," (ऋग्वेद १०।४८।१,५)। "मैं मनु तथा सूर्य बना। विद्वान् ऋषि कक्षीवान् मैं ही हूँ। उशना कवि मैं ही हूँ। मुझे देखो। मैंने आर्यको भूमि दे दी, दानशील मर्त्यको वृष्टि प्रदान की। कलकल करनेवाला जल मैं लाया। देव मेरे संकल्पके अनुसार चलते हैं," (ऋग्वेद ४।२६)। इस देवस्वरूप 'मैं'का ही अर्थ 'आत्मा' है।

विश्वशक्तिको देवता मानकर उसकी भक्ति तथा उसके लिए यज्ञ करनेवाला मानव देवताके साथ अभेद-सम्बन्धकी स्थापना अथवा अन्वेषणके लिए व्याकुल

है। इसकी अभिव्यक्ति उपनिषदोंके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्यमें कई जगह हुई है। ' मैं ही विश्वशक्ति, देवता हूँ। " इसीसे " विश्वशक्ति आत्मा है " का निष्कर्ष निकला। राजा त्रसदस्युने इन्द्र तथा वरुण देवताओंसे एकात्मभावका जो अनुभव किया उसका वर्णन ऋग्वेदके एक सूक्तमें उपस्थित है। " क्षत्रियों तथा सब मानवोंका अधिपति मैं हूँ। मेरा राष्ट्र दो तरहका है। सब अमर (देव) हमारे हैं। देवता वरुणके अनुसार चलते हैं। पास ही वर्तमान तथा शोभायमान प्रजाका राज्य मैं करता हूँ। राजा वरुण मैं ही हूँ। इन्द्र तथा वरुण मैं हूँ। मेरे लिए ही सब शक्तियाँ वर्धमान हैं। ये दोनों सुचारु, गम्भीर तथा विस्तीर्ण लोक (यानी द्युलोक तथा पृथ्वी) मैं ही हूँ। मैं त्वष्टाकी तरह सब भुवनोंका ज्ञाता हूँ। स्वर्ग तथा पृथ्वीको प्रेरणा मैं देता हूँ और उन्हें धारण भी करता हूँ। मैंने स्वर्गको सत्यके सदनमें रखा है। मैं सत्यरक्षक अदितिका सत्यसे निर्मित पुत्र हूँ। तीनों स्थानोंपर फैले हुए संसारका विस्तार मैंने किया है। मेरा वरण करनेवाले मानव तथा उत्तम अश्वोंपर आरूढ और शूर योद्धा रणमें मददके लिए मुझे ही बुलाते हैं। धनस्वामी इन्द्र—जो लड़ते हैं—मैं हूँ। मैं ही रेणुको प्रेरित करता हूँ। सब काम मैंने किये हैं। दिव्य बल मुझसे लोहा लेकर मुझे अवरुद्ध नहीं कर सकता। मैं सोमरससे उत्तेजित हुआ हूँ; स्तोत्रसे उत्साहित हो गया हूँ। अपार स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनों मुझसे भयभीत हैं, " (ऋग्वेद ४।४२)। ऋषिकन्या वाग्देवता विश्वके साथ इसी तरहके एकात्मभावको प्रकट करती है (ऋग्वेद १०।१२५)। उसका सम्पूर्ण अनुवाद पिछले अध्यायमें किया गया है। राजसूय यज्ञमें राज्याभिषेकके अवसरपर पुरोहित ब्रह्मा राजासे कहते हैं, " सत्यके प्रेरक सविता, सत्यके ओज तथा प्रजारूप ओजको धारण करनेवाले इन्द्र और सब ओजोंके आगर वरुण तुम हो, " (काठकसंहिता १५।८, वाजसनेयी संहिता १०।२८)। सोमयागके अथवा अन्य किसी भी यज्ञके अवभृथ स्नानके उपरान्त आहवनीय अग्निके सामने खड़े होकर अन्तिम समिधाको अर्पण करते हुए यजमान कहते हैं, " पृथ्वी, उषा, सूर्य, तथा समूचा संसार निरन्तर घूमता रहता है। मैं वैश्वानर ज्योति बनूँ और सर्वव्यापी श्रेयोंका उपभोग ले लूँ, " (काठकसंहिता ३८।५, वाजसनेयी संहिता २०।२३, तैत्तिरीय ब्राह्मण २।६।६।५)।

" पुरुष ही सब विश्व है, " (ऋग्वेद १०।९०।२) इस विचारके निश्चित हो जानेके बाद भक्त तथा भगवानकी एकताका निर्णय हुआ। इसके कारण यह स्वाभाविक हुआ कि विश्वशक्तिकी एकरूपताका अनुभव करनेवाले तत्त्व-चिन्तक

इस एकताका निर्देश इसी 'आत्मा' शब्दसे करें। विश्वका मूलतत्त्व है प्राण, प्रजापति या ब्रह्म और उपनिषदोंके पूर्ववर्ती वैदिक साहित्यमें यह विचार प्रकट हुआ है कि प्राण, प्रजापति अथवा ब्रह्म मानवमें प्रविष्ट हुआ है। विश्वशक्तिकी दृष्टिसे मानव उसी विश्वशक्तिका एकरूप है और मानवकी दृष्टिसे विश्वशक्ति उसीका (मानवका) मूलरूप है। वेद इस द्विविध निर्णयपर पहुँचे। इसी निर्णयके कारण उपनिषदोंकी प्रगति 'आत्मा ही विश्वसत्य है' के महान् सिद्धान्ततक हो पाई।

सारांश, उपनिषदोंको 'विश्वसत्य आत्मा है' जैसे साक्षात्कारकी जो प्राप्ति हुई उसके तीन कारण वैचारिक इतिहासकी दृष्टिसे पाये जाते हैं। एक है- आदि-पुरुषकी कल्पना, दूसरा है परम देवता अथवा विश्वशक्ति और उपासक अथवा भक्तके अभेदकी प्रतीति और तीसरा है मानवमें आदिपुरुष या ब्रह्म या प्रजापतिके प्रवेशकी कल्पना। आत्माके विषयमें उपनिषदोंके विस्तृत विचारोंकी यही वैदिक पृष्ठभूमि है।

उपनिषदोंके आत्मविषयक मन्तव्योंका सार दस अङ्गोंमें निम्नानुसार कहा जा सकता है-(१) सब शक्तियोंके मूलमें एक ही तृप्त अक्षर तत्व है; विश्व उससे भिन्न नहीं है। विश्व इसीमें विलीन होता है। नाम, रूप (आकार) तथा कर्म यही विश्वका स्वरूप है। इनकी एकता ही वास्तवमें आत्मा है। (२) आत्मा वह है, जिससे सब कर्मोंका उत्थान होता है। आत्मा ही सबको प्रेरित करनेवाली शक्ति है। मानवके मन तथा इन्द्रियोंको वही प्रेरणा देता है। (३) विश्वके वैचित्र्यमें भी एक सुसंगति दिखाई देती है। उसमें वस्तुएँ एक दूसरेपर निर्भर रहती हैं। इसका कारण सबका नियन्त्रण करनेवाली शक्तिकी एकतामें ही मिल सकता है। (४) सूर्य, चन्द्र, तारे, पर्जन्य, पृथ्वी, वायु आदि अचेतन वस्तुओं अथवा वनस्पति, प्राणी, पशु तथा मनुष्य आदि चेतन वस्तुओंमें उसी एक अन्तर्यामीका निवास है; वही प्रत्येक वस्तुको नियन्त्रित करता है। (५) भोक्ता तथा भोग्यका भेद स्वयं निर्मित है। (६) जनक-शक्ति मिथुनात्मक है। स्त्री तथा पुरुषका मिथुन ही जनक आत्मा है। आत्माका जनन करनेवाला स्वरूप मिथुन-रूप ही है। (७) विश्वात्मा ही मनुष्य-रूपसे विकसित हुआ है। मनुष्य-व्यक्ति ही धर्म तथा नैतिक कर्तव्योंका अधिष्ठान है। सब कर्तव्य उसके लिए ही निर्माण हुए हैं। (८) ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण, मन तथा समूचा शरीर उसी प्राज्ञ आत्माके आविष्कार हैं। जागृति, स्वप्न तथा सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंके रूप वही धारण करता है। (९) वह आत्मा अवस्थात्रयसे और सब कर्मोंसे अलिप्त एवं असंग है। वह अज, अजर तथा अमर है।

वह विश्वातीत है। सम्पूर्णता ही उसका लक्षण है। (१०) आत्मा द्वैतरहित स्वयं-सिद्ध द्रष्टा है। यही स्वरूप मोक्षका सहायक है। आत्माका स्वभाव है सर्वतंत्रस्वतंत्रता तथा पूर्णता।

ब्रह्मकल्पनाकी परिणतिका क्रम तथा अभिप्राय

आत्माकी कल्पनाकी तरह ब्रह्म-कल्पना भी दर्शनकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है। आत्मकल्पना आदिपुरुषकी कल्पनासे उत्पन्न तथा परिणत हुई; परन्तु ब्रह्म कल्पनाका विकास स्वतंत्र रूपसे हुआ। ऋग्वेदमें 'ब्रह्मन्' पदका मूल अर्थ है देवताकी महिमाका वर्णन करनेवाला काव्य। इस काव्य या कविताको ही ऋचा, स्तोत्र या सूक्त कहा जाता है। ऋग्वेदकी ऋचाओं, स्तोत्रों या मन्त्रोंमें देवोंकी महिमा वर्णन करनेवाली प्रार्थनाएँ पाई जाती हैं। उनमें देवोंका पराक्रम या उनकी भक्त-पर की गई कृपा वर्णित है। 'ब्रह्मन्' पद प्रथमगणके परस्मैपदी 'बृह्' धातुसे बना है। इस धातुका अर्थ है वर्धमान होना, बढ़ना, बड़ा होना या विस्तृत बनना। अतः ब्रह्मका अर्थ होता है विशालता, वृद्धि, विकास अथवा महिमा। महिमाका वर्णन करनेवाली कविता या काव्यके अर्थमें यह शब्द रूढ हुआ। विषयका वाचक शब्द उस विषयके वर्णनका भी वाचक बना। यह प्रवृत्ति सभी भाषाओंमें विद्यमान् है। यह उसी तरह है जैसे भूगोलका वर्णन करनेवाली पुस्तक भूगोल कहलाती है। ब्रह्मशब्द पहले स्तोत्ररूप काव्यका वाचक था। वही अन्तमें विश्वकी चैतन्य-शक्ति या अन्तिम सत्यके अर्थमें रूढ हुआ। इसके पीछे जो कारण-परम्परा है उसका ऋग्वेद-कालसे ही अन्वेषण करना चाहिए। वास्तवमें यह कारण-परम्परा अत्यन्त उद्बोधक है। उसका संक्षेपमें सार निम्नानुसार है।

स्तोत्र एक पवित्र शक्ति है, सामर्थ्य है। उसके कारण स्वर्गके अमर देवता मर्त्य-लोकके निवासी मानवोंके यज्ञोंके मेघोंकी तरह आकृष्ट होते हैं। देवोंको उत्साह तथा सामर्थ्य स्तोत्रसे प्राप्त होता है। स्तोत्रके कारण ही देव यजमानको युद्धमें विजय प्राप्त करानेमें समर्थ होते हैं। शत्रुओं, व्याधियों, राक्षसों तथा पापोंसे बचनेकी शक्ति स्तोत्रसे प्राप्त होती है। इस प्रकार 'ब्रह्मन्' शब्दसे निर्दिष्ट स्तोत्रकी महिमा ऋग्वेदमें बार बार वर्णित है। इसके कुछ उदाहरण निम्नानुसार हैं। "सोमरसके आनन्दमें मैंने इन्द्रका बल निर्माण करनेवाले स्तोत्रकी रचना की" (ऋग्वेद १।८०।१)। जब भक्तकी पुकार सुनकर इन्द्र दौड़ते हैं तब स्वर्गमें उनके अश्व रथसे जोड़े जाते हैं। इसका कारण है भूलोकमें यज्ञमें गाया जानेवाला कविका स्तोत्र। देवोंके अश्वोंके लिए 'ब्रह्मयुज' (याने ब्रह्मसे स्तोत्रसे जोड़े

जानेवाले) विशेषणका उपयोग बहुत बार किया गया है (ऋग्वेद १।८२।६; १।८४।३; ८।१।२४)। जिसे स्तोत्र प्रिय है उसी भक्तको देवता चाहते हैं (१।८३।२)। अग्नि, सोम, उषा, अश्विदेव, इन्द्र, वरुण, मित्र, मरुत्, रुद्र, ब्रह्मणस्पति आदि सब देवोंका पोषण तथा वर्धन ब्रह्मसे याने स्तोत्रसे होता है (१।९३।६; १।१२४।१३; २।१९।१; २।३९।८; ३।३२।२; ३।३४।१; ३।५१।१२; ५।७३।१०; ६।२०।३; ६।२३।५; १०।५०।४)। देवोंमें श्रेष्ठ देवताका शौर्य ऐसा है कि उन्होंने ब्रह्मकी याने स्तोत्रकी सहायतासे दृढ़ पर्वतोंको जर्जर किया, शिथिल वृक्षोंको सुस्थिर बनाया, बन्धनमें पड़ी हुई गायोंको मुक्त किया। वल नामके राक्षसका वध किया, तमको नष्ट किया और स्वर्गको प्रकट किया (२।२४।३)। ब्रह्मसे याने स्तोत्रसे प्रेरित होकर इन्द्र विशाल-काय बनते हैं और स्वर्ग एवं पृथ्वी दोनोंको व्यापते हैं (३।३४।१)। स्तोत्रके कारण सोमरस इन्द्रके अङ्गप्रत्यङ्गमें भिन जाता है (३।५१।१२)। अपने स्तोत्रकी सामर्थ्यके कारण इन्द्र अनेक बार अनन्त रूपोंको धारण करते हैं; मुहूर्तमात्रमें स्वर्गकी तीन बार परिक्रमा कर लौटते हैं (३।५३।८)। अत्रिने अपने स्तोत्रके सहायतासे तमसे आवृत सूर्यका सफल अन्वेषण किया (५।४०।८)। ऋषि कहते हैं, " हे इन्द्र, स्तोत्रसे तुम महान् बने हो, " (१०।५।४)। ब्रह्म इन्द्रका अन्न है (१०।२२।७)। ब्रह्म कवचकी तरह रक्षा करता है (६।७५।१९)। विश्वामित्रके ब्रह्मके कारण लोगोंका रक्षण होता है (३।५३।१२)। अग्नि, वरुण, पूषन्, वायु, अश्विदेव, इन्द्र आदि देव 'ब्रह्मकृत्' याने स्तोत्रोंके कर्ता या रचयिता हैं (६।१६।३०;७।९७।३;१०।६६।५)। अग्नि, इन्द्र, सोम, ब्रह्मणस्पति आदि देवोंको 'ब्रह्म'की संज्ञा प्राप्त है। इसका अर्थ तो यह है कि स्तोत्र-शक्ति ही उनका सच्चा स्वरूप है (२।१।३; ४।६।४; ७।७।५; ६।४५।७; ७।२६।२; ८।१६।७; ६।९६।६)। समाजके श्रेष्ठ और गरिष्ठ पुरोहित-वर्गको भी 'ब्रह्म'की संज्ञा दी गई है (४।५०)। राजाकी अपेक्षा इस वर्गका महत्त्व अधिक बतलाया गया है। जो राजा ब्रह्मका याने ब्राह्मणका सन्मान करते हैं उन्हींको देव समृद्ध बनाते हैं और उनकी रक्षा करते हैं। समाजके वरिष्ठ पुरोहित — वर्गकी श्रेष्ठता उसकी स्तोत्र-शक्तिमें संचित है। उस वर्गको 'ब्रह्म'की संज्ञा प्रदान करनेका यही कारण है। स्तोत्र-शक्ति ऋग्वेदमें सर्वत्र इसी अतिशयोक्तिपूर्ण तथा गूढ़ भावनामय श्रद्धासे परिपूर्ण है। देवताकी अपेक्षा उसकी महिमा बढ़कर है और देवताकी महिमा गानेवाली कविता या कवित्व-

शक्ति उस महिमासे भी श्रेष्ठ है। मालूम होता है कि यही ऋग्वेदका आशय है। वाणी या भाषाके विषयमें गंभीर, आश्चर्यमय भावना ही इस श्रद्धाकी जड़ है। वाणी-सम्बन्धी यह वाणीविषयक भावना ऋग्वेदके एक सुन्दर सूक्तमें अभिव्यक्त हुई है।

सच बात तो यह है कि वह सूक्त भारतीय साहित्यका तत्त्वदर्शन पहली बार कराता है। वह सूक्त यों है: हे बृहस्पति, वस्तुओंका नामकरण करनेके लिए उन्होंने प्रथम वाणीको प्रेरणा दी। उनमें जो कुछ निर्दोष, निष्पाप तथा श्रेष्ठ था, जिसको उन्होंने प्रेमसे हृदयमें सुरक्षित रखा था उसे उन्होंने प्रकट किया। (१) जिस तरह सूपसे यवोंका शोधन किया जाता है उसी तरह विचारवान् मनसे शोधन करके जब वे भाषाका निर्माण करते हैं तब मित्रोंको मित्रताका भान होता है। ज्ञानवान् व्यक्तियोंकी वाणी सचमुच भद्र लक्ष्मीकी निधि है। (२) यज्ञकी सहायतासे उन्होंने वाग्देवताके मार्गको पा लिया। ऋषियोंमें प्रविष्ट वाग्देवताको पाकर उन्होंने उसका अङ्गीकार किया और उसका अनेक विभागोंमें विस्तार किया। सात पक्षी (सात छन्द) उसका हमेशा गान करते हैं। (३) दीखती हुई भी वह किसीको दिखाई नहीं देती; सुनते हुए भी कोई उसे नहीं सुनता। सुन्दर वस्त्र परिधान की हुई पत्नी जिस तरह पतिके सम्मुख प्रेमसे अपने तनको अनावृत करती है उसी तरह किसी एकके सामने वह अपना स्वरूप प्रकट करती है। (४) कोई उसके संग पान कर उन्मत्त बनता है। स्पर्धामें कोई उससे होड़ नहीं ले सकता। कोई निष्फल मायामें चक्कर काटता रहता है, फल-पुष्पविहीन (वन्ध्य) वाङ्मयका श्रवण करता है। (५) जो मित्रको पहचाननेवाले सुहृद्का त्याग करता है उसे भाषाका (याने भाषा-प्राप्तिका) सौभाग्य नहीं मिलता। असलमें वह जो कुछ सुनता है, सो व्यर्थ है; उसे सुकृतके मार्गका ज्ञान नहीं होता। (६) नेत्रेन्द्रिय तथा श्रवणेन्द्रियकी समानताके रहते हुए भी मनकी गतिमें वाङ्मयके सब भक्त या उपासक समान नहीं हुआ करते। कौन कितनी गहराईमें है यह कहना कठिन है। कुछ जलाशयोंमें गले या मुँह बराबर पानी होता है तो कुछमें मुश्किलसे स्नानके लिए पर्याप्त जल। (७) हृदयद्वारा निर्मित मानसिक उन्नतिकी सहायतासे साहित्य-प्रेमी (वाङ्मय-भक्त) ब्राह्मण उपासना करते हैं। उनमेंसे कोई ज्ञानमें बहुत पिछड़ जाते हैं तो कोई आसानीसे आगे बढ़ते हैं। (८) जो इस पार भी नहीं और उस पार भी नहीं, वे न ब्राह्मण हैं न सोमयाजी। वे गँवार तथा मलिन भाषाका अङ्गीकार कर अनाड़ी तथा उजड्ड बनते हैं। (९) सभाओंमें वीर सुहृत्के

आगमनसे सब साहित्य-प्रेमियोंको बहुत हर्ष होता है। वह कल्मषको नष्ट कर वैभवका निर्माण करता है। वह स्पर्धाके लिए हमेशा प्रस्तुत रहता है (१०)। कोई कविताओंके सामर्थ्यकी वृद्धि करता है तो कोई कवितामें गायत्र-साम गाता है। कोई ज्ञानवान् ब्राह्मण समयोचित ज्ञान देता है तो अन्य कोई यज्ञके विस्तारमें निरत रहता है (११)।

इस सूक्तमें वैदिक कालके साहित्यिक जीवनका प्रतिबिम्ब मिलता है। इसी वातावरणमें ऋषियोंके हृदयमें यह भावना दृढ़मूल हुई थी कि ब्रह्म याने विश्व-शक्तियोंका स्रोत अद्भुत सामर्थ्यसे संयुक्त है और वही विश्वशक्तियोंका प्राणभूत तत्त्व है। इसीसे 'ब्रह्मन्' तात्त्विक, गहरे तथा व्यापक अर्थमें परिणत हुआ। ऋग्वेदकी यह पृष्ठभूमि ही पूर्णतया इस परिणतिका कारण है। यह ऋग्वेदमें उस शब्दके इस परिणत अर्थकी ओर संकेत करती है। 'सब देवता ऋचाके अक्षरोंमें आकर बसे हैं' (१।१६४।३९) यह ऋग्वेदका वाक्य इसीकी ओर इशारा करता है।

उपनिषदोंमें उदित ब्रह्म-विचारका प्रथम आविर्भाव अथर्ववेदमें दिखाई देता है। देवताओंमें श्रेष्ठ देवताका निर्देश करनेके लिए 'ब्रह्मा' नामकी संज्ञाके उप-योगका सूत्रपात ऋग्वेदमें ही हुआ था (९।९६।६)। ये ब्रह्मा (ब्रह्मदेव) ही देवोंके पिता, प्रजापति हैं। यजुर्वेदमें तथा ब्राह्मणग्रंथोंमें बारबार कहा गया है कि प्रजापतिसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और प्रजापति स्वयं ही सृष्टिरूप बने। परन्तु प्रजापतिका वाचक 'ब्रह्म' शब्द पुल्लिंगमें प्रयुक्त होता है। संस्कृतमें जब 'ब्रह्म' शब्द नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त होता है तब वह अन्तिम सत्यकी ओर निर्देश करता है। अथर्ववेदमें नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त ब्रह्म शब्दसे ही यह निर्देश हुआ है। अतः नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त ब्रह्मशब्दके अर्थके इतिहासकी विवेचना आवश्यक है। ब्रह्म शब्द 'वेद'के अर्थमें ऋग्वेदमें ही रूढ हुआ है। यह ऋग्वेदके 'ब्रह्मचारिन्' शब्दसे स्पष्ट है जिसका अर्थ है वेदोंका अध्ययन करनेवाला (१०।१०९।५)। अथर्ववेदके ब्रह्मचारि-सूक्तमें कहा है कि, "ब्रह्मचारी तेजस्वी ब्रह्मको धारण करता है। इस ब्रह्ममें ही सब देवोंका समावेश है," (११।७।२४)। इस सूक्तमें ब्रह्मचारीके रूपमें सूर्यके रूपककी कल्पना की गई है। "सूर्य एक तपस्वी ब्रह्मचारी हैं और ब्रह्मचर्यकी तपस्यासे या तपसे वे विश्वको धारण करते हैं।" तैत्तिरीय उपनिषदका कहना है कि तप और ब्रह्मचर्यका सम्बन्ध ब्रह्मचर्य-व्रतमें रहता है; अतएव तप ही ब्रह्म है। ब्राह्मणोंके कालमें ही वेदाध्ययनको

ब्रह्मयज्ञकी संज्ञा मिली थी (शतपथ ब्राह्मण ११।५।७)। अथर्ववेदके ब्रह्मचारि-सूक्तमें यह स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि ब्रह्मचारी तपसे संसारकी रक्षा करता है। उसका जन्म भी ब्रह्मसे ही हुआ है। वेदरूप ब्रह्म ही विश्वका सृजन करनेवाली शक्ति है। तैत्तिरीय ब्राह्मणके वैश्वसृज चयनमें वेदरूप ब्रह्मको विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयका कारण बतलाया गया है। वहाँ कहा गया है, "चारों दिशाएँ चार वेदोंकी हैं। सूर्यकी गति वेद-त्रयीपर निर्भर है। सब मूर्तियाँ ऋचाओंसे जन्म लेती हैं; सर्व गतियाँ यजुर्वेदसे निर्माण होती हैं। सर्व तेज सामरूप है। सारांश, यह सब ब्रह्मद्वारा ही निर्मित है," (३।१२।६)। इसी वेदरूप शक्तिको विश्वशक्ति माननेकी कल्पनाके उदयके उपरान्त नपुंसकलिंगमें प्रयुक्त ब्रह्मशब्द विश्वशक्तिका बोधक बना। इसको 'प्रथमज' याने 'सबसे पहले निर्मित' कहा जाने लगा। 'प्रथमज' ब्रह्मके सम्बन्धमें अथर्ववेद तथा यजुर्वेदमें बार बार दुहराए गए मन्त्रका कथन है, "प्रथम ही सम्मुख निर्माण होनेवाला ब्रह्म सुन्दर रूपोंको धारण करता है, अन्तरिक्षके विविध दृश्योंको प्रकट करता है," (अथर्ववेद ४।१।१)। अथर्ववेदमें ब्रह्मके लिए 'ज्येष्ठ' विशेषणका उपयोग हुआ है। वहाँ ज्येष्ठब्रह्म-सूक्त विस्तारके साथ विद्यमान है (१०।८) 'स्कंभ' याने विश्वकी नियन्त्रक शक्तिके रूपमें ब्रह्मका निर्देश कर वहाँ उसकी महिमाका विस्तारके साथ वर्णन किया गया है (१०।७)। अध्यात्मविद्याके इतिहासमें उपनिषदोंकी प्रस्तावनाकी दृष्टिसे अथर्ववेदके चार सूक्त (१०।२,७,८;११।८) बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। सिवा इनके काल-सूक्त, काम-सूक्त तथा प्रणय-सूक्त भी दर्शन या तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं माने जा सकते। काश्मीरी अथर्ववेदकी पैप्पलाद शाखाकी संहितामें एक और ब्रह्मसूक्त (८।६) हमें उपलब्ध हुआ है। बादरायणके ब्रह्मसूत्रमें इसीपर एक स्वतंत्र सूक्त (८।६) मिलता ह। इसपर लिखे गए पूज्यपाद शंकराचार्यके भाष्यमें अथर्ववेदीय ब्रह्मसूक्तके इस मन्त्रका उल्लेख हुआ है। वहाँ वर्णन है कि दाश (धीवर), दास, कितव (जुआरी) आदि सब ब्रह्म ही हैं। 'ब्रह्म दाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवाः।' मैंने धर्मकोशके उपनिषत्काण्डमें (पृष्ठ २५१) पाठोंको शुद्ध कर इस ब्रह्मसूक्तको प्रकाशित किया है। इस ब्रह्मसूक्तमें समूचे विश्वके ब्रह्म होनेका वर्णन बड़े विस्तारके साथ किया गया है। तात्पर्य, उपनिषदोंके ब्रह्मसम्बन्धी महत्त्वपूर्ण विचारोंके मुख्य बीजात्मक तत्त्व अथर्ववेदके ब्रह्मसूक्तोंमें प्रथम निर्दिष्ट हुए हैं। ये तत्त्व चार हैं:-(१) मानवका शरीर ब्रह्मपुर है, उसमें ब्रह्म प्रविष्ट हुआ है (१०।२; ११।८); (२) ब्रह्म ही 'स्कंभ'

याने सबका नियन्त्रण करनेवाली शक्ति है; (३) ब्रह्म सबमें ज्येष्ठ है (१०।७–८) और (४) ब्रह्म ही विश्वात्मक है (पैप्पलाद संहिता ८।९)। केनोपनिषदमें ब्रह्मका 'यक्ष' के रूपमें जो उल्लेख हुआ है वह भी अथर्ववेद (१०।२।३२;१०।७।३८; १०।८।४३) से लिया गया है। तुलनात्मक अध्ययनसे यह निश्चित हुआ है। सूक्ष्म अध्ययनके आधारपर यह पूर्णतया स्पष्ट हो गया है कि उपनिषद अथर्व-वेदके बहुत ही ऋणी हैं। ब्रह्मको अन्तिम सत्य माननेके अथर्ववेदीय विचारोंका ऐतरेय ब्राह्मण (४०।५), शतपथ ब्राह्मण (१०।३।५; ११।२।३) तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण (२।८।८।९) पर भी गहरा असर हुआ है। ऋग्वेद (१०।८१।७) में यह प्रश्न पूछा गया है कि जिससे स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनों उत्पन्न हुए वह कौन – सा वन है, कौन – सा वृक्ष है ? इस प्रश्नका स्पष्ट उत्तर वहाँ दिया नहीं गया। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें इसी प्रश्नको इन्हीं शब्दोंमें उपस्थित कर उत्तर दिया गया है कि, " वह वन तथा वह वृक्ष है ब्रह्म। स्वर्ग तथा पृथ्वी दोनों उसीको तराशकर निर्माण किए गए। वही ब्रह्म वस्तुओंका धारण तथा नियन्त्रण करता है। ऐ विचारको, विचार करके ही मैं यह उत्तर दे रहा हूँ, " (२।८।९।७)।

'आत्मा' शब्दसे त्रिविध अर्थ व्यक्त होता है (१) सब कर्मोंका प्रेरक तत्त्व, (२) अस्तित्वके रूपमें सबकी एकता तथा (३) स्वयंसिद्ध द्रष्टा में 'ब्रह्मन्' शब्दसे इससे किंचित् भिन्न अर्थकी छाया व्यञ्जित होती है। 'ब्रह्म' शब्दका भावार्थ है उत्साह, स्फूर्ति, आनन्द, स्वयंसंवेद्य, अपार एवं विस्मयकारी सामर्थ्य और स्वातंत्र्य। स्वयंभू सर्वात्मक चैतन्यशक्ति ही उसका लक्षण है। इन्हीं लक्षणोंके कारण वेद इस निर्णयपर पहुँचे कि आत्मा ब्रह्म ही है। व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे उसका अर्थ है सर्वव्यापित्व अथवा विभुत्व। अतएव छान्दोग्य उपनिषदमें इस तत्त्वको नाम दिया गया है 'भूमा' या 'महान्'। 'भूमा' की संज्ञा ब्रह्मशब्दके व्युत्पत्तिगत अर्थसे ही प्राप्त हुई। स्तोत्रोंकी जो महिमा ऋग्वेदमें वर्णित है उससे 'आनन्दमय, उत्साहमय विश्वशक्ति'वाले अर्थकी निष्पत्ति हुई। उपनिषदोंमें ब्रह्मशब्दका भावार्थ है (१) शाश्वत स्वयंभु विश्वशक्ति (२) स्वतंत्र तथा सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्रेरक तत्त्व तथा (३) आनन्दका चेतन तथा स्वयंपूर्ण आगार। केनोपनिषदमें इस भावार्थके पहले दो अंश आए हैं और बृहदारण्यकोपनिषद तथा तैत्तिरीयोपनिषदमें ब्रह्मका चिन्मय तथा आनन्दस्वरूप तीसरा अंश विद्यमान है।

उपनिषदोंमें तार्किक बुद्धिका प्रथम आविष्कार

आत्मविषयक अथवा ब्रह्मविषयक विचारोंकी ऐतिहासिक परिणति तथा सारको संक्षेपमें बतलानेका अबतक प्रयत्न किया गया। भारतीयोंकी बौद्धिक संस्कृ-

तिके विकासकी यह नींव है। सब विद्याओंपर दर्शनका बड़ा ही गहरा प्रभाव पड़ता है। अतएव उपनिषदोंने उसको 'परा विद्या' की पदवीसे विभूषित किया। इस 'परा विद्या'का जन्म केवल प्रतिभात्मक स्फूर्तिसे नहीं हुआ; उसके गर्भमें तर्कपर आधारित साधक-बाधक विवेचन भी है। सच तो यह है कि इस प्रकारके विवेचनके अभावमें किसी भी विचारको सच्चे अर्थोंमें दर्शनकी पदवी प्राप्त नहीं हो सकती। 'नैषा तर्केण मतिरापनेया' (तर्कसे इस मतिको प्राप्त नहीं किया जा सकता) कठोपनिषद्‌में कहा गया है सही; परन्तु उस कथनका स्वीकार आलङ्कारिक या गौण अर्थमें ही करना चाहिए। युक्तियुक्त तथा सुव्यवस्थित विचारका बोध ही तर्क है। तर्कके इस प्रधान अर्थकी दृष्टिसे देखें तो यह निश्चित हो जाता है कि बुद्धिका समूचा स्वरूप ही तर्कात्मक है। क्षर तथा अक्षर, नित्य तथा अनित्य, श्रेय और प्रेय, धर्म और अधर्म, सत्य तथा असत्य, सत् और असत्, भूमा और अल्प, चेतन और अचेतन, जीवात्मा तथा परमात्मा, माया और ब्रह्म इस तरहका वैचारिक विभाजन तर्क-बुद्धिका ही कार्य है। विश्व कैसे और किससे उत्पन्न हुआ? आरम्भमें क्या था? मन तथा इन्द्रियोंकी प्रेरणा कहाँसे आती है? आदि मूलभूत प्रश्न तर्कबुद्धिके ही व्यापार हैं। 'नाम, रूप तथा कर्मका ही अर्थ है 'विश्व' इस तरहकी परिभाषा तार्किक बुद्धिकी परिणतिका ज्वलन्त प्रमाण है। अतएव कहना पड़ता है कि कठोपनिषदकी तर्कखण्डनामें 'तर्क' शब्दका उपयोग सीमित अर्थमें किया गया है। बादरायणके ब्रह्मसूत्र तथा आचार्योंके भाष्य सम्पूर्णतया तार्किक रचनाएँ हैं। अतः मानना चाहिए कि कठोपनिषदके 'तर्क' शब्दका अर्थ है केवल अनुमानात्मक बुद्धि। केवल अनुमानसे सत्यका आकलन नहीं हो सकता, यही कठोपनिषदका मन्तव्य है। 'तर्क अप्रतिष्ठ है' जैसे ब्रह्मसूत्रोंके विधानका अर्थ स्पष्ट करते हुए पूज्यपाद शंकराचार्यने अपने प्रसिद्ध भाष्यमें 'अनुमान' को ही 'तर्क'का अर्थ माना है; परन्तु 'तर्क' शब्दका एक व्यापक अर्थ भी है और वह है ज्ञानको जन्म देनेवाली प्रमाणोंकी व्यवस्था। प्रमाण-व्यवस्थाके बिना ज्ञानकी उत्पत्ति असंभव है। साथ साथ ज्ञानकी अन्तर्गत रचना तर्कात्मक ही होती है; इसलिए व्यापक अर्थमें तार्किक बुद्धिका अस्वीकार करना सर्वथा अनुचित है क्योंकि अस्वीकारमें अविश्वास तथा आत्मवञ्चना ही कूट कूट कर भरी रहती है।

छान्दोग्य उपनिषदका छठा अध्याय तार्किक बुद्धिका सुन्दर प्रतीक है। यहींपर 'तत्त्वमसि'के सिद्धान्तको प्रथम व्यक्त किया गया है। प्रयोगयुक्त तार्किक संशोधनका

यही श्रीगणेश है। शास्त्रीय नियम अथवा सिद्धान्तका प्रधान लक्षण है व्यापकता। अनेकों उदाहरणों तथा घटनाओंपर समान रूपसे लागू होना यही शास्त्रीय नियमोंका स्वभाव है। इसीलिए उसे 'नियम' कहा जाता है। प्रस्तुत अध्यायका पहला ही प्रश्न है जिस एकका ज्ञान होनेसे शेष सबका-अर्थात् जिसका ज्ञान नहीं हुआ है, जिसको देखा नहीं है-उसका ज्ञान हो जाता है, वह क्या है? इसी प्रश्नसे इस अध्यायकी तत्त्व-विवेचनाका आरम्भ हुआ है। यहाँ कार्य-कारणभावके नियमके स्वरूपको स्पष्ट करनेके लिए अनेकों सुन्दर दृष्टान्त दिए गए हैं। मिट्टीके एक पदार्थको देखना मिट्टीके सब विचारोंको देखने-जैसा है; लोहेके एक पदार्थको समझना लोहेसे बनी हुई सब वस्तुओंको समझना है आदि समुचित दृष्टान्तोंका उपयोग करके यह स्पष्ट किया गया है कि 'एकं सत्'के ज्ञानसे समूचे विश्वका ज्ञान हो जाता है क्योंकि समूचा विश्व उसी 'एकं सत्'से बना है। इस अध्यायमें वर्णित उपवासका प्रयोग प्रयोगात्मक तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे बड़ा ही उद्बोधक है। यहाँ आचार्य उद्दालक आरुणिने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कहा कि मन अन्नमय है और प्राण आपोमय (याने जलमय)। इस सिद्धान्तको मनपर अङ्कित करनेके लिए आचार्यने अपने पुत्रसे सोलह दिनोंका सम्पूर्ण अनशन कराया। अन्तमें पुत्रकी स्मृति नष्ट हुई, वह कण्ठस्थ वेदोंको भी याद न कर सका। इससे सिद्ध हुआ कि मन अन्नके सूक्ष्म रससे बना है क्योंकि वह अन्नके विना दुर्बल बनकर अपने कार्यमें असमर्थ हो जाता है। पानी न पीनेसे प्राण नष्ट होता है। इसे सिद्ध करनेके हेतु आचार्यने पुत्रको सोलह दिनोंतक पानी न पीनेकी आज्ञा दी। उससे सिद्ध हुआ कि प्राण आपोमय है। कार्यकारण-भावमूल तर्कशास्त्रके नियमोंमें सबसे मूलभूत नियमका स्पष्ट निर्देश भी प्रथम इसी अध्यायमें किया गया है। वास्तवमें यह नियम संसारकी वैचारिक संपत्तिका एक विशुद्ध जगमगाता रत्न है। इसको यों कहा जा सकता है-असत्से सत्का निर्माण नहीं हो सकता; शून्यसे किसी भी चीजकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। एक अस्तित्व या सत्तासे दूसरे अस्तित्व या सत्ताका प्रादुर्भाव होता है। आज यह विचार समस्त मानवजातिकी बौद्धिक संस्कृतिकी महत्त्वपूर्ण पैतृक संपत्ति बनी है। इस विचारके प्रथम प्रवर्तक थे आचार्य उद्दालक आरुणि।

तर्कशास्त्रकी संगतिसे संयुक्त ग्रन्थ-रचना

उपनिषदोंके उपरान्त षडङ्गोंका तथा अन्य भारतीय विद्याओंका विस्तार हुआ। षडङ्गोंमें शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस् तथा ज्योतिषका समावेश होता है।

षडङ्गों तथा इन विद्याओंमें तार्किक विवेचन-पद्धति अनेक दृष्टियोंसे चरम सीमाको पहुँची हुई है। दार्शनिक अथवा पारिभाषिक विद्याओंकी पद्धतियोंके प्रधान अङ्ग निम्नानुसार हैं – (१) व्याख्या (लक्षण), (२) वर्गीकरण तथा विभाग, (३) सामान्य तथा विशेष नियम, (४) प्रमाणोंकी रचना, (५) पूर्वोत्तरपक्षात्मक चर्चा और (६) सिद्धान्तोंका प्रणयन। इस पद्धतिकी महत्त्वपूर्ण विशेषता है विपक्षीके सिद्धान्तोंको स्पष्ट करनेके बाद अपने सिद्धान्तका समर्थन करना। प्राचीन भारतीय पण्डितोंकी यही धारणा थी कि अनेकों प्रतिकूल तथा अनुकूल मतोंके परामर्शके बिना स्व-सिद्धान्त सिद्ध ही नहीं होता। 'ईश्वर नहीं है', 'वेद कोई प्रमाण नहीं है' आदि नास्तिपक्षीय विचारोंको स्पष्ट करनेके उपरान्त ही 'ईश्वर है', 'वेद प्रमाण है' आदि अस्तिपक्षीय सिद्धान्तोंका प्रणयन प्राचीन भारतीय तत्त्ववेत्ताओंने किया है। वे जानते थे कि वैचारिक विरोध ही विचार-वृद्धिकी प्रवर्तक शक्ति है। नास्तिकको पथका दावादार समझकर उसे नष्ट करनेका प्रयत्न वे नहीं करते थे; बल्कि उसे खेलका साथी समझ वैचारिक क्रीड़ाङ्गणमें सम्मिलित कर लेते थे। विद्याके विषयमें इनकी बौद्धिक संस्कृतिका यही प्रण था। इसीसे उन्हें देहलीदीप-न्याय जैसे सुन्दर नियमोंका भान हुआ। देहलीदीपका अर्थ है देहली या चौखटपर रखा हुआ दिया। वह गृहके भीतरी भाग तथा बाहरी मार्ग दोनोंको आलोकित करता है। इसीके अनुसार विभिन्न दृष्टियोंसे समस्याओंको सुलझानेवाले सिद्धान्तोंका प्रणयन वे कर सके। अल्पाक्षर, व्यवस्थित, सन्देहरहित, सुन्दर, सुविधापूर्ण, विश्वतोमुख तथा निर्दोष परिभाषा बनानेमें वे अपना सानी नहीं रखते थे। सूत्रबद्ध रचनाओंका निर्माण करके उन्होंने बड़े बड़े ग्रंथोंकी राशियोंका सफलतासे संक्षेप किया और सूत्र-ग्रंथोंमें ज्ञान-समुद्रको ऋषि अगस्तिकी तरह अंजलिमें समाकर रखा।

कल्पसूत्र, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा

श्रौतसूत्रों, गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रोंके त्रिविध वाङ्मयको कल्पसूत्र कहा जाता है। इनमें श्रौतसूत्रोंकी उत्पत्तिके दो कारण हैं। एक कारण यह है कि यज्ञविद्याका विधान करनेवाले ब्राह्मणग्रंथ यज्ञके प्रयोगको व्यवस्थित तथा सुसंगत रूपसे स्पष्ट नहीं करते; उनमें विधिके अंशोंकी प्रशंसा करनेके लिए तथा निषेधके अनौचित्यको स्पष्ट करनेके लिए कथात्मक, प्रशंसात्मक अथवा निन्दात्मक वर्णन अनावश्यक विस्तारके साथ रहता है। इन वर्णनोंमें कहीं उकतानेवाली पुनरुक्ति दिखाई देती है, कहीं निस्सार तथा उपयोगहीन शब्दोंके आडम्बरसे पाठक ऊब

जाते हैं तो कहीं असंभाव्य और बच्चों-जैसी अपक्व अतिशयोक्तिके दर्शनसे पाठकोंको अरुचि भी उत्पन्न होती है। अतएव वैदिक आचार्योंने ब्राह्मण ग्रंथोंसे उपयुक्त और सुसंगत यज्ञप्रयोगका चयन करके कल्पसूत्रोंका निर्माण किया। कल्पसूत्रोंके निर्माणका दूसरा कारण निम्नानुसार स्पष्ट किया जा सकता है। प्रत्येक वेदकी छोटी बड़ी शाखाओं तथा उपशाखाओंका विस्तार उस समय हुआ था। एक ही यज्ञसे संबद्ध कर्मके अनेकों स्वरूप भिन्न भिन्न शाखाओंमें विद्यमान थे। इनमेंसे कुछ स्वरूपोंमें विरोध था तो कुछमें अविरोध। याज्ञिक धर्मसंस्थामें बिना किसी कारणके अनेकों विरुद्ध अथवा विचित्र धाराओंका निर्माण हो रहा था। अतएव वेदकी समस्त शाखाओंका सुन्दर समन्वय करके वैकल्पिक अथवा संकलित रूपमें कर्मप्रयोगको ग्रथित करनेका कार्य कल्पसूत्रकारोंने किया है। वास्तवमें वेदोंकी संगतिका जो शास्त्र बादमें निर्माण हुआ उसकी पार्श्वभूमि इन कल्पसूत्रकारोंने उपस्थित की। तर्कशास्त्रके इतिहासमें ग्रंथसंगतिके शास्त्रका जन्म एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण घटना है। तर्कशास्त्रका प्रासाद वाक्यविचारकी नींवपर ही खड़ा होता है। वेदवाक्योंकी संगतिका विचार करनेवाले शास्त्रको मीमांसा कहा जाता है।

कल्पसूत्रोंकी रचनाके प्रयत्नसे ही पूर्वमीमांसाका जन्म हुआ। पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा दोनों विद्याओंका वैदिक धर्मसे बड़ा ही निकटवर्ती सम्बन्ध है। जैमिनि-प्रणीत पूर्वमीमांसामें दर्शन या तत्त्वज्ञानका अंश बहुत ही कम है। कर्मकाण्डसे संबद्ध वेदोंका अर्थ निश्चित कैसे करें इस विषयमें सूक्ष्म नियमोंकी स्थापना जैमिनिकी पूर्वमीमांसामें की गई है। ये नियम ब्राह्मणोंके कालसे बनते आये थे। सूत्रकालके अन्तमें इनको स्वतन्त्र विद्याका रूप प्राप्त हुआ। यों तो पूर्वमीमांसाके नियम केवल कर्मकाण्डसे ही संबद्ध हैं; परन्तु इनका उत्तरमीमांसा तथा अन्य दार्शनिक और वैज्ञानिक विद्याओंसे बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके लगभग विद्यमान आचार्य शबरस्वामीका पूर्वमीमांसाके सूत्रोंपर लिखा हुआ भाष्य आज उपलब्ध है। कुमारिलभट्टने पूर्वमीमांसामें दर्शन तथा प्रमाण-विद्याकी स्वतंत्र और विस्तारके साथ रचना की। शबरस्वामीने इनका अत्यन्त अल्प मात्रामें श्रीगणेश किया था। कुमारिलभट्ट तथा प्रभाकर संप्रदाय द्वारा इसे महान् दर्शन-विद्याका रूप प्राप्त हुआ। बौद्धधर्मकी विचार-पद्धतिका, खासकर दर्शनका मुकाबला करनेके लिए कुमारिलभट्टने पूर्वमीमांसाको तत्त्व-दर्शनका रूप

प्रदान किया। कुमारिलभट्ट दक्षिण भारतके निवासी थे; द्रविड-भाषाओंके जानकार थे।

उपनिषद्रूप वेदोंके अर्थकी मीमांसा कर उनमें अभिव्यक्त विचार-कुसुमोंको सुचारु रूपसे गूँथनेके लिए मुनि बादरायणने ब्रह्मसूत्र लिखे। इसीको उत्तर-मीमांसा कहते हैं। ईसाकी आठवीं शताब्दीमें आद्य शंकराचार्यका आविर्भाव हुआ। उन्होंने ब्रह्मसूत्रोंपर विस्तृत, गंभीर तथा प्रसन्न भाष्य लिखा। इसी भाष्यसे सूत्रोंके अर्थको समझना सम्भव है। सच बात तो यह है कि ब्रह्मसूत्रोंपर लिखे गए विभिन्न भाष्योंसे ही भारतके अनेकों बड़े बड़े वेदान्त-संप्रदायोंका जन्म हुआ। ब्रह्मसूत्रोंपर लिखे गए दस आचार्योंके स्वमत-प्रतिपादक भाष्य उपलब्ध हैं। इन आचार्योंके नाम हैं—शंकर, रामानुज, भास्कर, निम्बार्क, मध्व, वल्लभ, श्रीकंठ, श्रीकर, विज्ञानभिक्षु तथा बलदेव। मतभेदोंकी दृष्टिसे ये भाष्य महत्त्वपूर्ण हैं। रामानुज (ईसवी सन् ११७५–१२५०), मध्व (११९७-१२७६) तथा वल्लभ (१४७८–१५३०) के भाष्य शंकराचार्यके भाष्यके समान ही प्रसिद्ध हैं। रामानुज, मध्व, वल्लभ तथा बलदेवके भाष्य वैष्णव भक्ति–संप्रदायके हैं और श्रीकंठ तथा श्रीकरकृत भाष्य शैव-संप्रदायके हैं।

वैदिकोंमें ब्रह्मवादी यज्ञसंस्थाके अनुषङ्गमें निर्माण हुए। उन्होंने वैदिक धर्मकी कल्पनाओंका तथा सम्पूर्ण धार्मिक संस्कृतिकी मीमांसाका सूत्रपात किया। पाणिनीय व्याकरणके अनुसार 'मीमांसा' शब्दका अर्थ है 'पूजित विचार'। वेदान्तमें इस शब्दका उपयोग प्रश्नोत्तररूप या संशोधनरूप चर्चाके अर्थमें किया गया है। ब्रह्मवादियोंने षडङ्गोंका निर्माण किया। उपनिषद, मीमांसा आदि दर्शनोंका निर्माण भी उन्हींके द्वारा हुआ। उपनिषदोंमें संगतिको दिखाकर उत्तरमीमांसा अपने निष्कर्षपर पहुँचती है। परन्तु उपनिषदोंके कालमें ही वैदिक ब्रह्मवादी तत्त्वविचारमें और आगे बढ़नेमें समर्थ हुए जिससे सांख्य दर्शनका जन्म हुआ।

सांख्य दर्शनका उदय

सांख्य दर्शनके प्रथम आचार्यने दो मूल तत्त्वोंका – पुरुष और प्रकृतिका प्रतिपादन किया। परन्तु आत्मवाचक 'पुरुष' शब्द वैदिक परम्परामें दर्शनकी दृष्टिसे अत्यन्त प्रौढ़ एवं संपन्न हो चुका था। उसके उच्चतम रूपको छान्दोग्य उपनिषदमें 'परं ज्योतिः' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। बृहदारण्यक उपनिषदमें 'आत्मज्योति' अथवा 'स्वयंज्योति' पुरुषका जो वर्णन हुआ है उसमें वह

असंग या संगरहित अथवा केवल द्रष्टाके रूपमें वर्णित है। सांख्यदर्शनमें भी पुरुषका वर्णन कमलपत्रकी तरह अलिप्त तथा संगरहित द्रष्टाके रूपमें किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि सांख्य दर्शन वैदिक विचार-पद्धतिका ही एक परिणत रूप है।

सांख्य दर्शनका पुरुष अविकारी है; उसके शुद्ध स्वरूपमें वास्तविक परिवर्तन नहीं होता। इसलिए इस दर्शनके अनुसार यह मानना संभव नहीं कि पुरुषसे दृश्यमान सृष्टि और शरीरकी उत्पत्ति होती है। उपनिषदोंने एक ओर तो पुरुषके असंग तथा अविकृत स्वरूपको माना और दूसरी ओर यह भी कहा कि वही (पुरुष) सृष्टि तथा शरीरके रूपमें परिणत या विकसित होता है। यह असंगत मालूम होता है। इससे बचनेके लिए विश्वके अथवा शरीरके मूल द्रव्यको भिन्न मानना चाहिए। इस तर्कपर जोर देकर सांख्याचार्योंने आत्मतत्त्वसे पृथक् 'प्रकृति' नामके विश्वके मूलद्रव्यका प्रतिपादन किया। उन्होंने विश्वके विविध मूल तत्त्वोंको गिनना शुरू किया। उपनिषद् संख्यारहित और एक ही तत्त्वतक पहुँचे थे। सांख्योंने पृथक्करणका प्रारम्भ किया। इसलिए उन्हें गिननेकी आवश्यकता महसूस हुई। वास्तवमें संख्याका अर्थ है गणना और इसीसे 'सांख्य' शब्द बना है।

सांख्योंको प्रकृतिकी कल्पना ब्रह्मकी तैत्तिरीयोपनिषद् कृत परिभाषासे सूझी। उस उपनिषद्में ब्रह्मकी परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "जिससे इस भूतजातका जन्म होता है, जिसमें रहकर और जिसके कारण वे (भूत=सर्व प्राणी) जीवित हैं और अन्तमें जिसमें विलीन होते हैं वही ब्रह्म है।" आचार्य वि. प्र. लिमये-का अनुमान है कि 'भगवद्गीता'के कालमें जो सांख्य दर्शन उपलब्ध था उसमें ब्रह्मशब्द 'प्रकृति'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ होगा। इसके लिए 'भगवद्गीता'में अनेकों प्रमाण हैं। उदाहरणके तौरपर क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी चर्चा करते हुए 'भगवद्गीता' (१४।३-४) में कहा गया है "मैं बीजप्रद पिता हूँ और मैं ही महत् ब्रह्ममें गर्भकी स्थापना करता हूँ।" ब्रह्मसूत्रोंके और उनपर लिखे गए शांकरभाष्यके आधारपर यह सिद्ध होता है कि बादरायणकृत ब्रह्मसूत्रोंकी रचनाके कालमें ऐसे सांख्य दार्शनिक विद्यमान थे जो प्रकृतिको ही ब्रह्म कहकर उपनिषदोंके ब्रह्मवादका अर्थ स्पष्ट करते थे। पूज्यपाद शंकराचार्यके मतसे सांख्य-दार्शनिक ही ब्रह्म-सूत्रकारके प्रमुख प्रतिद्वंद्वी थे। इसीलिए उन्होंने लिखा है कि प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायके अनुसार याने प्रधानमल्लको पराजित करनेके बाद अन्योंको तथा गौण मल्लोंको हरा-नेकी अनावश्यकताको स्पष्ट करनेवाले नियमके अनुसार सांख्यदर्शनका परिहार करनेसे

अन्य गौण दर्शनोंका भी परिहार संपन्न होता है । शंकराचार्यविरचित ब्रह्मसूत्र-भाष्य (ब्रह्मसूत्र १।१।५-११) से यह भी निश्चित होता है कि प्राचीन कालके सांख्यवादके प्रवर्तक भी उपनिषदोंके ' ब्रह्म ' शब्दका ' प्रकृति ' वाला अर्थ ही स्वीकार करते थे और उपनिषदोंसे सांख्य दर्शनके सिद्धान्त निकालते थे। उपनिषदों अथवा वेदोंसे सांख्य दर्शनके लिए अनुकूल अर्थको निकालनेकी यह परम्परा ब्रह्मसूत्र-कालके उपरान्त उत्पन्न सांख्यदर्शनमें पिछड़ गई ।

अथर्ववेद-संहिताके कालमें ही सांख्यदर्शनका प्रादुर्भाव हुआ । क्योंकि अथर्ववेदके एक ब्रह्मसूक्त (१०।८।४३) में कहा गया है, " नवद्वार पुण्डरीक (कमल) त्रिगुणोंसे आवृत है । उसमें जो यक्षरूप मूर्तिमान है उसे ब्रह्मवेत्ताओंने जान लिया ।" इस वाक्यमें नवद्वार पुण्डरीकका अर्थ है मानव-शरीर अथवा मानव-हृदय। वह तीन गुणोंसे आवृत या आच्छादित है । अतएव इसमें स्थित यक्षरूप आत्माका सफल अन्वेषण ब्रह्मवेत्ता करते हैं। यही इसका भावार्थ है । सत्त्व, रज तथा तम ये शब्द भी अथर्ववेदमें मिलते हैं । मालूम होता है कि कठ, श्वेताश्वतर, प्रश्न तथा मैत्रायणी जैसे प्राचीन उपनिषदोंपर सांख्यदर्शनका बड़ा ही गहरा असर पड़ा है । उपनिषदोंके परवर्ती कालकी प्रधान भारतीय विचारधाराओंमें सांख्यदर्शनने अटल पद पाया है । वेदान्त तथा सांख्य दर्शनका मनोहर मेल करके वैदिक भारतीयोंने अपनी दार्शनिक विचार-पद्धतिका निर्माण किया था । महाभारत, भगवद्गीता, मनुसंहिता तथा पुराणोंका दर्शन सांख्य और वेदान्तके समन्वयसे बना है । भगवान् बुद्ध तथा जिन महावीर के विचार भी सांख्य दर्शनके वायुमण्डलमें फूले, फले और पले । संभव है कि सांख्योंकी व्यवस्थित विचार-पद्धतिका जन्म ईसाके पूर्व ८००-५५० के लगभग हुआ होगा । ईसाके पूर्व ही सांख्य दर्शनका विचार भारतवर्षकी सीमाओंके बाहरतक फैला हुआ था । ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दीमें चीनके साहित्यमें एक प्रसिद्ध तथा मार्मिक सांख्य दृष्टान्तका उपयोग किया गया है; वह है अन्धपंगुन्याय । सांख्यदर्शनका कहना है कि जिस तरह अन्धेकी पीठपर बैठकर आँखोंवाला अपाहिज या पंगु प्रवास करनेमें समर्थ होता है उसी तरह अचेतन प्रकृति-तत्त्वके सहयोगसे चैतन्य-रूप पुरुष संसारयात्रा करता है ।

सांख्यदर्शनका कपिलप्रणीत ग्रंथ आज विद्यमान नहीं है । इस दर्शनके अनेकों अतिप्राचीन ग्रंथ नष्ट हो गए हैं । ईसाकी तीसरी शताब्दीके पूर्व (२५०) निर्मित ईश्वर-कृष्णद्वारा विरचित सांख्यकारिका आज सौभाग्यसे उपलब्ध है । तीसरी शताब्दीमें

वर्तमान बौद्धधर्मके पण्डित वसुबन्धुके समय इस ग्रंथपर लिखी गई एक टीका भी उपलब्ध थी । इस टीकाका चीनी भाषामें अनुवाद ईसाकी छठी शताब्दीमें मिलता है । फ्रान्सके संस्कृत पण्डित आगस्त बार्थका कहना है, "सांख्य कारिका' नामक निबन्ध भारतीयोंके दर्शन-साहित्यका एक सुन्दर मोती है। सांख्यकारिकापर पण्डित वाचस्पति मिश्रकी टीका सब टीकाओंमें उत्कृष्ट है । सांख्यदर्शन एक ऐसा दर्शन है कि जो शुद्ध बुद्धिको प्रमाण मानकर चला है । यह दर्शन शब्दको प्रमाण मानकर अथवा श्रद्धाका आधार लेकर किसी भी तत्त्वको सिद्ध करनेका प्रयत्न नहीं करता । "

योगदर्शन और मनोविज्ञानकी दृष्टिसे उसकी महत्ता

सांख्यदर्शनसे संबद्ध एक दूसरा दर्शन है जो योगदर्शन कहलाता है । इस दर्शनकी भी मूल विचार-धारा वेदपूर्वकालसे चली आ रही है । व्युत्पत्तिकी दृष्टिसे 'योग' शब्दका अर्थ है 'जोतना' या 'जोड़ना' । तितर-बितर होकर इधर उधर भागनेवाले, नैसर्गिक अवस्थामें विद्यमान चौपायोंको मानवसे परिचित कराके जिस तरह रथ या गाड़ीमें जोता जाता है उसी तरह मन तथा इन्द्रियोंको 'नेक राह' पर चलानेके लिए उन्हें वशमें रखना और उस तरफ झुकाना यही 'योग' शब्दका अर्थ लगाया गया । मनको संयत करके एक ही तत्त्व या कर्मपर उसे केंद्रित करनेकी क्रियाको 'योग'की संज्ञा मिली । प्रधान रूपसे मन, श्वास तथा शरीरको संयत करके चित्तको किसी विशिष्ट ध्येयपर स्थिर एवं एकाग्र करनेके लिए योगशास्त्रकी क्रियाओंका विधान हुआ है । योगका मुख्य उद्देश्य है दिव्यशक्ति तथा दिव्यज्ञानको प्राप्त कर लेना ।

योगक्रियाओंका आरम्भ उस वेदपूर्व कालसे हुआ है जहाँ धार्मिक साधुमें और जादूगर या ऐन्द्रजालिकमें अन्तर नहीं माना जाता था। सिन्ध प्रान्तकी प्राचीन संस्कृतिके अवशेषोंमें योगस्थ पशुपति शिवकी मूर्ति उपलब्ध हुई है जिससे योगकी अति प्राचीनता निश्चित की जा सकती है । बौद्ध तथा जैन धर्मोंमें योगक्रियाको आरम्भसे ही महत्ता प्राप्त हुई थी । भारतीयोंके सब वैराग्य-संप्रदायोंमें योगको महत्त्व है । योगविद्या मन तथा इन्द्रियोंके संयमको सम्पूर्ण प्रधानता देती है । सच तो यह है कि योगसंप्रदायने ही नैतिक तत्त्वकी वास्तविक भूमिकाको दृढ किया है । सब धर्मसंस्थाओंपर वैराग्यवादियोंके नीतिशास्त्रका ही सहस्रों वर्षोंसे प्रभाव पड़ता आ रहा है। इसका मूल कारण योगविद्या ही है । चित्तको ईश्वरपर पूर्णतया एकाग्र करनेके सिवा न ईश्वरकी कृपा मिल सकती है और न साक्षात्कार ही की संभावना है ।

अतएव सांसारिक विषय-वासनापर विजय पाना अतीव आवश्यक है। वास्तवमें मनपर विजय पाना ही योगविद्याका मुख्य विषय है। इसलिए हिन्दू धर्मसंस्थाओंमें योगको श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हुआ। पतंजलिके योगसूत्रोंमें कहा गया है कि ईश्वर वह सर्वज्ञ गुरु है जिसमें मानवी आत्माके दोष और उसकी अपूर्णता नहीं होती और जो क्लेश, कर्मविपाक तथा मलिन संस्कारोंके स्पर्शसे कोसों दूर है। परन्तु यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि ईश्वर-भक्ति क्रियायोगका एक अंश मात्र है। योगविद्या ईश्वर या परमात्माकी कल्पनाके सिवा भी संभव है और इसी ईश्वर-विरहित योगविद्याका प्रतिपादन निरीश्वर सांख्यों, जैनों तथा बौद्धोंने किया है।

कहा जाता है कि योगदर्शनके सूत्र पतंजलिके लिखे हुए हैं। प्रसिद्ध व्याकरण-महाभाष्यके रचयिता पतंजलि और योगसूत्रकार पतंजलि एक ही हैं या नहीं, इसके सम्बन्धमें निर्णायक प्रमाण आज उपलब्ध नहीं हैं। सांख्यदर्शन ही योग-सूत्रोंमें प्रतिपादित विश्वविषयक दर्शन है। योगसूत्रोंपर व्यासभाष्य और व्यास-भाष्यपर लिखी गई वाचस्पति मिश्रकी उत्तम टीका दोनों उपलब्ध हैं। भाष्यकार व्यासका महाभारतके रचयिता भगवान् व्यास महर्षिसे कोई सम्बन्ध नहीं है। भाष्यकार व्यास ईसाकी पाँचवीं शताब्दीके लगभग विद्यमान थे। विज्ञानभिक्षु तथा भोजराजने भी सांख्यशास्त्रपर टीकाएँ लिखी हैं। कुछ योगियोंने 'हठयोग' नामकी स्वतंत्र शाखाका निर्माण किया है। पातंजलयोगको 'राजयोग' कहा जाता है।

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे योगदर्शनका महत्त्व अधिक है। आधुनिक मनोविज्ञान और योगदर्शनप्रणीत मनोविज्ञानमें एक बड़ा ही मूलभूत मतभेद है। आधु-निक मनोविज्ञान कामादि मनोविकारों अथवा वासनाओंको ही मनका मूल, स्वाभाविक अथवा नैसर्गिक रूप मानता है। सब मानवी प्रयत्नों, विचारों तथा उद्देश्योंका सार कामनामय या काममय है। आजके मनोविज्ञानके पण्डितोंके मतमें मानवके समूचे जीवन-व्यापारका अर्थ समझनेके लिए यह आवश्यक है कि हम उसके संस्कारोंके रूपमें स्थित, अज्ञात या अधूरे रूपमें ज्ञात वासनामय मनके 'आशयकी थाह' को पायें। इन पण्डितोंके कथनका सार यों दिया जा सकता है:--मानव शुद्ध तथा सत्य ज्ञानका अधिकारी नहीं हो पाता। शुद्ध आदर्शवादी, उदात्त तथा निर्मल जीवन बिताना उसके लिए सुतराम् असंभव है; क्योंकि उसका मन ज्ञात, अर्ध-ज्ञात तथा अज्ञात, हीन कामनाओंके संस्कारोंके बन्धनसे पूर्णतया

मुक्त कदापि नहीं हो सकता। साधुता तथा सत्यनिष्ठाका अधिष्ठान या आधार भी अज्ञात पाशविक तथा हीन भावनाओंसे व्याप्त होता है; क्या साधुता, क्या सत्य-निष्ठा सब बाहरी आवरण मात्र है। इन्द्रियोंकी तृष्णा तथा मांसविकार ही मान-वके अन्तरङ्गका यथार्थ रूप है। प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, साक्षात् या परोक्ष रूपमें शरीरकी लालसाएँ ही उदात्त एवं विशुद्ध स्वरूपका विलोभनीय दृश्य निर्माण करती हैं; वास्तवमें वह नाटकका अभिनय-मात्र है। हाँ, यह सच है कि सिवा संयमके मानवी संस्कृतिका प्रासाद खड़ा नहीं हो सकता, परन्तु संयमसे वास-नाएँ दब जाती हैं; नष्ट नहीं होतीं। वे परिस्थितिसे मिलते-जुलते रूप धारण कर लेती हैं और विकृत या अशुद्ध रूपमें मनके अज्ञात अंशमें रहकर कार्य करती रहती हैं। उदात्त रूप धारण करनेमें असमर्थ होनेपर वे मानसिक व्यथाओंके रूपमें दृग्गोचर होती हैं। मानवी संस्कृतिका बहुत ही बड़ा अंश मनकी इस विकृतिसे ही उत्पन्न हुआ है। इसका कारण है निरामय मनःस्थितिकी दुर्लभता। निरामय मनका मानव शायद ही मिलेगा।

योगविद्याका मौलिक सिद्धान्त इससे भिन्न है। सांख्यशास्त्रके आधारपर ही नैसर्गिक वासनाओंको सात्त्विक, राजस तथा तामस इन तीन रूपोंमें विभाजित किया गया है। यह कोई नियम नहीं कि नैसर्गिक वासनाओंका रूप हमेशा हीन ही हो। जिस तरह निर्मल जल, स्वस्थ तथा मधुर अन्न, उत्साहवर्धक वातावरण आदि प्राकृतिक या नैसर्गिक हैं उसी तरह मनकी निर्मल, उदार तथा मधुर वृत्तियाँ भी पूर्णतया नैसर्गिक हैं। जिस तरह रज तथा तम प्रकृतिके दो गुण हैं उसी तरह सत्त्व भी प्रकृतिका उतना ही प्राकृतिक गुण है। प्रकृतिके सत्त्वगुणके उद्रेकसे मनकी रचना हुई है और यह अन्तर्यामी मनका शुद्ध तथा अलिप्त साक्षी है। अतएव नैसर्गिक सत्त्वगुणका आश्रय पाकर राजस तथा तामस प्रवृत्तियोंपर विजय पाना तथा मनके स्वाभाविक और सात्त्विक स्वरूपको विकसित करना संभव है और इससे शुद्ध साक्षी प्रकट हो सकता है। विकारोंको दबोचना संयमका कार्य नहीं है; उसका महत्त्व सिर्फ़ तात्कालिक है। मनके सुवर्णको योगरूप तपसे शुद्ध करना पड़ता है। प्रखर अग्निमें तपाकर सुवर्णके स्वभावको बदला नहीं जाता; नवागत तथा अस्थायी उपाधियोंको जलाकर उसके वास्तविक रूपको सुस्पष्ट किया जाता है। अगर द्वेष, हिंसावृत्ति, परधनके अपहारकी प्रवृत्ति आदि नैसर्गिक मनोवृत्तिके आविर्भाव हैं तो दया, अलोलुपता और सहानुभूति भी उतने ही नैसर्गिक भाव हैं। योगविद्याका अन्तिम निर्णय है

कि साधुता तथा सत्यनिष्ठा उच्च संस्कृतिके आविष्कार हैं; नैसर्गिक मनकी स्वस्थ तथा स्वाभाविक परिणति है।

योगविद्याका सिद्धान्त है कि सत्त्वप्रकाश अथवा ज्ञान ही मनका स्वाभाविक रूप है। इसलिए योगशास्त्रमें इसी सिद्धान्तके अनुसार मनोवृत्तियोंका वर्गीकरण किया गया है। मनकी पाँच वृत्तियाँ मानी गई हैं—प्रमाण, विकल्प, विपर्यय, निद्रा तथा स्मृति। विविध सुख तथा दुःख अथवा इच्छा, द्वेष आदि विकार इन वृत्तियोंके नाना रूप हैं। 'वृत्ति' शब्दसे मनके व्यापार अथवा मानसिक अवस्थाका बोध होता है। प्रमाण यह एक वृत्ति है। (१) प्रमाणवृत्ति सत्यका आकलन करनेवाली अथवा सत्यानुरोधी मनोवृत्ति है। जागृत अवस्थामें प्रधान रूपसे इनका प्रभाव पड़ता है। अतएव जागृतिके व्यवहार अधिक मात्रामें यशस्वी होते हैं। (२) विचारोंकी सुविधाके लिए भाषाद्वारा निर्मित भेदोंके संकेत ही वास्तवमें विकल्प हैं। उदाहरणके तौरपर 'वृक्षकी ऊँचाई', 'फूलका रंग', 'स्फटिककी स्वच्छता', 'त्रिकोणकी भुजाएँ' आदि शब्दप्रयोगोंकी ओर देखिए। इनमें वृक्ष तथा ऊँचाई, फूल और रंग, स्फटिक और स्वच्छता, त्रिकोण तथा भुजाएँ आदि भेद दर्शक शब्दयुगल न खरे हैं, न खोटे। वृक्षसे उसकी ऊँचाई, फूलसे उसका रंग, स्फटिकसे उसकी स्वच्छता अथवा त्रिकोणसे उसकी भुजाएँ वास्तवमें भिन्न नहीं हैं; परन्तु विचारकी सुविधाके लिए मनके द्वारा यह भिन्नता विशेष रूपसे कल्पित है। इसीलिए इसे विकल्प कहते हैं। वास्तवमें यहाँ योगशास्त्रने उस सूक्ष्म सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है जो दर्शनमें विचार-प्रक्रियाके लिए अत्यन्त आवश्यक है। (३) विपर्ययका अर्थ है भ्रम या विपर्यास। यह वह भ्रमात्मक मनोवृत्ति है जो सत्यसे असंबद्ध या वास्तविक स्थितिसे असंगत होती है। प्रमाण-वृत्तिके ठीक विपक्षमें यह वृत्ति है। (४) निद्राका अर्थ है शून्याकार वृत्ति। अन्य वृत्तियोंका अभाव ही निद्रावृत्तिका अङ्ग है। (५) स्मृतिका अर्थ है अन्य वृत्तियोंकी पुनः जागृति अथवा अवतार। प्रमाण, विकल्प तथा विपर्यय तीनों वृत्तियाँ पुनः जागृत होती हैं, अवतीर्ण होती हैं। इस जागृति अथवा अवतारको स्मृति कहते हैं।

तुलनात्मक मनोविज्ञानके निर्माणके लिए योगशास्त्रके इस मनोविज्ञानका विस्तारसे विवेचन करना आवश्यक है। वास्तवमें योगविद्या मनोविज्ञानके निर्बाध तत्त्वोंका अनमोल भण्डार है।

योगविद्या वेदोंकी प्रणवोपासना या प्राणोपासनासे संबद्ध है। योगविधि, ध्यानयोग तथा अध्यात्मयोग ये शब्द कठोपनिषद तथा श्वेताश्वतरोपनिषदमें आये

हैं। उपनिषदोंमें कई जगह वर्णित प्राणविद्यामें यह बार बार कहा गया है कि सब इन्द्रियोंका तथा मनका अस्त प्राणमें होता है और उदय भी प्राणसे ही होता है। अतएव योगविद्यामें समाधि तथा शरीर-शुद्धिके उद्देश्यसे प्राणायामको बड़ी महत्ता प्राप्त हुई है। वेदों तथा उपनिषदोंने सब ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मनको प्राणकी संज्ञा दी है। इतना ही नहीं, जीवात्मा, सजीव शरीर तथा परमात्मा तीनोंके लिए 'प्राण' शब्दका कई बार उपयोग किया गया है। कौषीतकि उपनिषदमें परमेश्वर (इन्द्र) कहते हैं कि "प्रज्ञात्मा प्राण मैं हूँ"। अतएव प्राणविद्याकी अपार महिमा योगविद्यामें सुरक्षित है।

बृहदारण्यक उपनिषदमें यह विचार आया है कि सब विचारों, संकल्प-विकल्पों तथा कामनाओंका निराकरण करके केवल साक्षीरूप द्रष्टाकी अवस्थाको प्राप्त कर लेना ही निर्भय मोक्ष है। इस मोक्षरूप अवस्थाको स्वायत्त कर लेनेकी कला ही वास्तवमें योगविद्या है। इस विद्याका उदय तथा विकास वैदिक संस्कृतिमें हुआ है। उपनिषदोंका अन्तिम ध्येय है निष्काम तथा शुद्ध आत्मा। शारीरक भाष्यमें पूज्यपाद श्रीशंकराचार्यद्वारा उद्धृत योगसूत्रमें कहा गया है कि 'योग आत्मदर्शनका उपाय है'। यह सूत्र आजकलके उपलब्ध योगसूत्रोंमें नहीं मिलता।

तर्कविद्याका विवेचन

न्याय तथा वैशेषिक दर्शन वे विचार-पद्धतियाँ हैं जो सांख्य तथा योगसे भिन्न परन्तु एक दूसरेसे निकट रूपसे संबद्ध हैं। ये विचार-पद्धतियाँ धार्मिक श्रद्धासे बहुत ही दूर चली गई हैं। इनको 'तर्कविद्या'की संज्ञा दी गई है। सांख्योंने यह घोषित किया कि एकसे अधिक मूलतत्त्वोंका रहना आवश्यक है और वेदोंकी अद्वैत प्रधान विचार-पद्धतिके बन्धनसे अपनेको मुक्त कर लिया। इससे मौलिक रूपमें भिन्न तत्त्वोंके आधारपर विश्वके वैचित्र्यों तथा भेदोंकी उपपत्ति सिद्ध करनेका विचार तत्त्वचिन्तकोंमें प्रभावी बना। मुनिवर कणादने स्वतंत्र प्रज्ञाके बलपर वेदोंद्वारा प्रदत्त विचार-संपत्तिके पृथक्करणका उपन्यास किया। उपनिषदोंमें कहा गया है कि एक ही आत्मतत्त्वसे क्रमशः पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति हुई। कणादने कहा कि पञ्चमहाभूतोंके मूलमें पाँच भिन्न तत्त्व हैं। नित्य तथा विभु होनेके कारण आकाश उत्पन्न ही नहीं होता। पृथ्वी, जल तेज तथा वायु चारों कार्यरूप तथा विनाशी हैं। इसलिए इनके मूलमें इन्हींके गुणधर्मोंके सूक्ष्म, अदृश्य कण होंगे। चार भूतोंकी इकाईके रूपमें चार कण हैं; उन्हें (कणोंको) 'परमाणु'की संज्ञा

प्राप्त है। ये परमाणु अभेद्य और शाश्वत हैं। इन परमाणुओंके संयोगोंसे दृश्य विश्व उत्पन्न होता है और वियोगोंसे (विभाजनसे) नष्ट। ये परमाणु भूमिति-शास्त्रके बिन्दुकी तरह हैं। इनके न लम्बाई है, न चौड़ाई, न ऊँचाई। इसलिए इनका नाश नहीं हो सकता। इन बिन्दुरूप परमाणुओंमें जो भिन्नता है, जो भेदक धर्म है उसको 'विशेष' संज्ञा दी गई है। सारांश, संसारके दृश्य भेदोंके मूलमें विद्यमान तथ्यों या तत्त्वोंका स्वरूप 'विशेष'–युक्त है। इसीलिए विश्वमें भेदों एवं वैचित्र्योंकी सृष्टि हुई। कणादद्वारा प्रणीत उक्त विचार वैदिक कल्पनाके सर्वथा विपरीत याने सम्पूर्ण विरोधी है। इस 'विशेष' नामक तत्त्वके प्रतिपादनसे ही कणाद मुनिके दर्शनको 'वैशेषिक' विशेषण प्राप्त हुआ। इस दर्शनमें कार्यकारणभावकी कल्पनाको छानबीन तथा विस्तारके साथ विशद किया गया है। आधुनिक तर्कशास्त्र वैज्ञानिक संशोधन या अनुसंधानमें सहायक है और इसमें कार्यकारणभावकी मीमांसाकी महिमा अपार है। इस मीमांसाका जन्म वैशेषिक दर्शनमें हुआ।

पाश्चात्य दर्शनोंमें (अरस्तूको लेकर कैण्टतकके दर्शनमें) पदार्थ-कल्पनाओं (Categories) को मूलभूत महत्त्व दिया जाता है। दर्शनका मुख्य कार्य है वस्तुओंका सामान्य रूपसे सम्पूर्ण वर्गीकरण करके वस्तुस्वभावका अर्थ लगाना। इसे पदार्थ-विचार कहा जाता है। पदार्थ-कल्पनाका जन्म वैशेषिक दर्शनमें हुआ। यह तो आज भी कहा जा सकता है कि वैशेषिक दर्शनमें प्रस्तुत वस्तु-सत्यका वर्गीकरण यथावत् ठीक है। इस दर्शनने समूचे अस्तित्व तथा अनस्तित्वको सात पदार्थोंमें–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभावमें– समाकर रखा। वैशेषिक दर्शनकी पदार्थ-कल्पनाका उदय व्याकरणशास्त्र तथा आयुर्वेदमें अथित शब्द तथा पदार्थ-सम्बन्धी मननसे हुआ। व्याकरणमें द्रव्यवाचक, गुणवाचक तथा क्रियावाचक संज्ञाओं और शब्दोंका संस्कार उनकी वाचक शक्तिसे होता है। व्याकरणमें शब्दोंके दो भेद भी किए जाते हैं– सामान्यवाचक तथा विशेषवाचक। इस तरह वैशेषिक दर्शनकी द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष आदि पदार्थ-कल्पनाओंका मूल व्याकरणमें दिखाई देता है। आयुर्वेद भी द्रव्य, गुण तथा क्रियाके रूपमें वस्तुओंका मनन करता है और उनके कार्यकारण भावको भी इसी रूपमें दिखाता है। आयुर्वेद एक प्रयोगात्मक शास्त्र है। उसमें वस्तुओंके कार्यकारण भावकी भी मीमांसा करनी पड़ती है। तात्पर्य, अनेक प्रबल प्रमाणोंके आधारपर यह अनुमान किया जा सकता है कि वैशेषिक दर्शनकी उपपत्तिसे आयुर्वेद और व्याकरणके शब्द-विषयक तथा पदार्थविषयक मननका साक्षात सम्बन्ध है।

न्याय-दर्शन वैशेषिक दर्शनसे संबद्ध है और उसी दर्शनके विचारमन्थनसे यह निर्माण हुआ है। न्यायदर्शन परमाणुवादको मानता है। इस दर्शनके रचयिता थे अक्षपाद गौतम। इनका काल ईसाकी तीसरी शताब्दीके पहलेका नहीं माना जा सकता। इनका उदय कब हुआ इस बातका ठीक पता नहीं लगाया जा सकता; परन्तु दर्शनके इतिहासमें निश्चय ही यह अत्यन्त विकसित अवस्थाका रूप है। न्यायसूत्रोंपर लिखित पक्षिलस्वामी वात्स्यायनका भाष्य लगभग ईसाकी चौथी शताब्दीके मध्यकाल (३५०) का है। इस भाष्यपर उद्योतकरका वार्तिक उपलब्ध है। उद्योतकरका उल्लेख कवि सुबन्धुद्वारा हुआ है। इसलिए उद्योतकरका काल ईसाकी लगभग छठी या सातवीं शताब्दी होगा। न्याय-दर्शनपर पण्डितोंने बड़े बड़े ग्रंथ लिखे हैं। न्याय-दर्शनका अध्ययन करनेवाले तीव्रबुद्धि पण्डितोंका संप्रदाय आज भी विद्यमान है।

न्याय-दर्शनके विषय हैं वादपद्धति, ज्ञानके साधन (प्रमाण), तथा तर्कके नियम। इस दर्शनमें यथार्थ तथा अयथार्थ ज्ञानके स्वरूप तथा कार्यकारणभावकी चर्चा की गई है। तर्कशास्त्र (System of logic) तथा प्रमाणविद्या (theory of knowledge) ही इस दर्शनका स्वरूप है। किसी भी विषयकी योग्य मीमांसाके लिए आवश्यक नियमोंकी पद्धति- (method) का यहाँ निर्देश किया गया है। प्राचीन भारतमें ज्ञानकी अभिवृद्धिकी दृष्टिसे विद्वानोंके वादोंको बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। निर्दोष विचारों, चर्चाओं तथा अनुमानोंके लिए आवश्यक नियम ही न्याय हैं। इनका कथन इस दर्शनमें किया गया है। अतएव यह न्यायशास्त्र कहलाता है। न्याय-दर्शनकी उत्पत्तिसे अध्यात्मविद्या, न्यायालयोंके धर्मवादों तथा आयुर्वेदादिक प्रयोगात्मक विद्याओंकी परम्पराओंका प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। धार्मिक तत्त्वचिन्तकोंकी सभामें अक्सर अध्यात्म विद्याकी चर्चाएँ चलती थीं। इन चर्चाओंसे ज्ञान तथा ज्ञानके साधनोंके विचारका जन्म हुआ। इसे प्रमाणविचार कहा जाता है। प्रमाणोंका प्रथम निर्देश तैत्तिरीय आरण्यकमें मिलता है। न्यायालयमें पक्ष तथा विपक्षकी विचार-पद्धतिमें दिखाई देनेवाले दोषों तथा हेत्वाभासोंका पता लगाकर धर्म-निर्णय करनेकी आवश्यकता होती है। वादपद्धतिके शास्त्रका निर्माण न्यायालयके वादोंमें हुआ। स्मृतियों तथा धर्मसूत्रोंमें वाद-पद्धतिके नियमों तथा वादोंके गुण-दोषोंका विचार किया गया है। आयुर्वेदमें वैद्य-पण्डितोंने 'तद्विद्यसम्भाषा-परिषद'[1] बुलाकर साधक-बाधक

---

१ तद्विद्य = तज्ज्ञ, संभाषा = चर्चा; तज्ज्ञोंकी चर्चा जिसमें चलती है वह परिषद।

चर्चाओंके नियमोंका कथन किया है। इन नियमोंको चरक-संहितामें बड़ा महत्त्व दिया गया है।

न्यायदर्शन तथा वैशेषिक दर्शन दोनों बौद्धिक और शुद्ध कल्पनाओंकी सृष्टि करनेवाले दर्शन हैं। बौद्धिक संस्कृतिकी दृष्टिसे ये दर्शन भारतीयोंकी विद्याराधनामें एक उच्च कोटिकी परिणतिके दर्शन कराते हैं। न्याय-वैशेषिक दर्शनोंद्वारा निर्मित प्रवृत्तिओंका अनुकरण करके बौद्ध तथा जैन आचार्योंने तर्कशास्त्रके अध्ययनकी वृद्धि की। दिङ्नाग नामक बौद्ध आचार्यने मध्ययुगीन तर्कशास्त्रका श्रीगणेश किया। यद्यपि बौद्धोंके बहुतेरे तर्क-ग्रंथ नष्ट हो गये हैं तथापि उनके तिब्बती भाषामें किये गए अनुवाद तिब्बतके बौद्ध मठोंमें सुरक्षित हैं। नालंदा विद्यापीठके महान् बौद्ध दार्शनिक आचार्य धर्मकीर्ति सातवीं शताब्दीके आरम्भमें हुए थे। उन्होंने 'प्रमाणवार्तिक,' 'न्यायबिन्दु' आदि तर्कग्रंथोंकी रचना की। योरोपमें बर्कले महाशयने जिस 'विश्वस्वप्नवाद'का प्रतिपादन किया उसीकी स्थापना आचार्य धर्मकीर्तिने अपने 'प्रमाणवार्तिक'में बर्कलेके चौदह सौ बरस पहले की थी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायनको धर्मकीर्तिके 'न्यायबिन्दु' तथा 'प्रमाणवार्तिक' दोनों ग्रंथ मूल संस्कृतमें हाल ही प्राप्त हुए हैं और उन्होंने उनको प्रकाशित किया है। विख्यात जैन पण्डित सिद्धसेन दिवाकर तथा हेमचन्द्रने जैनोंके तर्कशास्त्रपर सूत्रात्मक ग्रंथ लिखे हैं। न्यायशास्त्रपर जैनोंके संस्कृतमें लिखे गए अनेकों विशाल ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं।

चार्वाकका जडवाद

माधवाचार्यद्वारा लिखित 'सर्वदर्शनसंग्रह' सब दार्शनिक शाखाओंका सारग्रन्थ है। उसमें चार्वाकके भौतिकवादी तथा निरीश्वरवादी दर्शनका सार प्रथम दिया गया है। एक अपवादको यदि हम छोड़ दें, तो चार्वाकदर्शनके अन्य ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें चार्वाकदर्शनका निर्देश 'लोकायत'के रूपमें किया है। अर्थशास्त्रके कालमें भारतीय राजा, ब्राह्मण तथा विद्याप्रेमी इस नास्तिक विद्याको एक तत्त्वविद्या मानकर उसका अध्ययन बड़े आदरके साथ करते थे। 'लोकायत' दर्शनका उल्लेख विनयपिटकमें है। इस दर्शनके सूत्रकार थे बृहस्पति। उपनिषदोंके कालमें ईश्वर, परलोक तथा अमर आत्माको न माननेवाले व्यक्ति भी हुए थे। उनका निर्देश कठोपनिषद तथा छान्दोग्योपनिषदमें हुआ है।

---

१ मानवको जो विश्वसम्बन्धी ज्ञान इन्द्रियों तथा मनके द्वारा होता है वह स्वप्न-मात्र है। इस सिद्धान्तको माननेवाली विचार-पद्धतिको विश्वस्वप्नवाद कहते हैं।

मैत्रायणी उपनिषदमें बृहस्पतिप्रणीत नास्तिक विद्याका उल्लेख मिलता है। लोकायत दर्शनपर लिखित 'भागुरि' नामके नास्तिककी टीकाका उल्लेख पतञ्जलिके महाभाष्य-(७।३।४५) में किया गया है। ईसाकी दसवीं शताब्दीमें विद्यमान भट्ट जयराशिका इस दर्शनपर लिखा गया 'तत्त्वोपप्लव' नामका ग्रन्थ हाल ही प्रसिद्ध हुआ है। अंग्रेज दार्शनिक डेविड ह्यूमने जिस तरह कार्यकारणभावके सिद्धान्तका खण्डन किया और अनुमानपर आधारित सामान्यविषयक कल्पनाको निराधार सिद्ध करके अनुमान-शास्त्रकी असम्भाव्यताका प्रतिपादन किया उसी तरह कार्यकारणभावका खण्डन तथा अनुमानकी अशक्यताका प्रतिपादन करनेवाले और ह्यूमकी पद्धतिसे ठीक मिलते-जुलते विचार माधवाचार्यद्वारा 'चार्वाक दर्शन-सार' तथा भट्ट जयराशिकृत 'तत्त्वोपप्लव'में पाये गये हैं। विचार-शुद्धिकी दृष्टिसे चार्वाकदर्शन बड़ा ही महत्त्व-पूर्ण है। इस प्रकारकी विचार-पद्धति निर्मूल कल्पनाओंके मिथ्या आग्रहको नष्ट करनेमें अधिक सहायक होती है। नवीन रचना तथा प्रगतिके लिए वैचारिक विध्वंस अथवा विध्वंसक समीक्षा भी आवश्यक होती है।

भौतिकवाद, अध्यात्मवाद, निरीश्वरवाद, सेश्वरवाद, तर्कवाद, श्रद्धावाद, संशयवाद आदि भारतीय दर्शनके विविध पहलू हैं। भारतीय दर्शनके विशाल विश्वमें विचारोंकी सब सम्भाव्य कक्षाओं तथा पक्षोंका उद्भव, विस्तार, खण्डन अथवा मण्डन पाया जाता है। यह एक सचाई है कि भारतीय दार्शनिक विद्याओंमें तत्त्वचिन्तकको बुद्धिविलासके उस विश्वरूपके दर्शन होते हैं जो निस्सन्देह बुद्धिवृद्धिकारी, धन्य एवं हितकारक है।

शब्दशास्त्रकी महत्ता

शब्दशास्त्र भारतीयोंके बौद्धिक विश्वकी सूक्ष्म तथा विवेचक विद्या है। इंग्लैण्डके संस्कृत-पण्डित मैक्डोनलका कहना है, "यह भारतीय शास्त्र (शब्द-शास्त्र) पाश्चात्य भाषाशास्त्रका जन्मदाता शास्त्र है। संसारमें सबसे पहले शब्दोंका प्रकृति-प्रत्यय जैसा पृथक्करण उपस्थित करनेमें संस्कृत वैयाकरण ही अग्रगामी हैं। उन्होंने प्रत्ययके कार्य निश्चित करनेमें सफलता पाई। इतनी पूर्णताको प्राप्त तथा निर्दोष व्याकरण-पद्धति संसारके अन्य किसी भी देशमें नहीं मिल सकती।"

ऋग्वेदके सूक्तोंके पृथक्करणसे व्याकरणशास्त्रका सूत्रपात हुआ। ऋग्वेदका शाकल्य-प्रणीत पदपाठ ब्राह्मणग्रन्थोंके कालमें ऐतरेय आरण्यकके पूर्व तैयार हुआ था। यह पदविभाग सिर्फ़ वाक्योंका पृथक्करण नहीं है; उसमें समासों, शब्दों

तथा पदोंका भी व्यवस्थित विभाजन है। यह व्याकरणशास्त्रके शाकल्यपूर्व अस्तित्वका ज्वलन्त प्रमाण है। उदाहरणके तौरपर लीजिए:– 'गोमातरो यच्छुभायन्ते अन्जिभिस्' (ऋग्वेद १।८५।३) इसका पदपाठ यों है 'गो-मातरः, यत्, शुभायन्ते, अन्जि-भिः'।

प्रातिशाख्य तथा शिक्षा भी एक दृष्टिसे व्याकरणशास्त्रके ही ग्रन्थ हैं। इस तरहके ग्रन्थ ब्राह्मण-कालमें ही निर्माण हो रहे थे। ब्राह्मण ग्रन्थोंमें व्याकरणके पारिभाषिक शब्द पाये जाते हैं। धातुरूप, कृदन्त, प्रातिपदिक, प्रत्यय, नाम, निपात, अव्यय, लिङ्ग, विभक्ति, वचन, मात्रा, अक्षर तथा वर्ण ये शब्द गोपथ ब्राह्मण-(१।१।२६) में उपस्थित हैं। उपनिषदोंमें कई बार व्याकरण-विद्याका नामसे निर्देश किया गया है। निरुक्त व्याकरणकी ही एक शाखा है। निरुक्तका उल्लेख प्रश्नोपनिषदमें है।

यह अब मानी हुई बात है कि व्याकरणशास्त्रमें पाणिनिका व्याकरण संसारमें सर्वश्रेष्ठ है। पाणिनिका काल पूर्णतया निश्चित नहीं किया जा सकता; परन्तु मैक्डोनलके मतसे उसे ईसाके पूर्व ४५० के भी इस पार नहीं खींचा जा सकता। सीमाप्रान्तमें अटकके पासका शालातुर नामका ग्राम पाणिनिका जन्मस्थान है। पाणिनिके व्याकरणमें पूर्ववर्ती दस व्याकरणकारोंका उल्लेख है। उनके व्याकरणोंमेंसे एक भी इस समय उपलब्ध नहीं है। इसका भी अधिकांश कारण है पाणिनिका अलौकिक रचनाचातुर्य जिससे पूर्व-सूरि एकदम पिछड़ गये। भारतीय उन्हें भूल गये। पाणिनिके बुद्धि-वैभवसे पाश्चात्य विद्वान् भी अचरजसे दंग रह गये। पाणिनिकृत नियम बीजगणितकी तरह संक्षिप्त किन्तु निश्चितार्थ-बोधक हैं। मूल धातुओंसे शब्दोंका निर्माण करनेकी ओर पाणिनिका झुकाव अधिक है। पाणिनिके समयकी भाषाका स्वरूप ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों तथा सूत्रोंसे अधिक मिलता-जुलता था। कालिदास, भवभूति आदिकी संस्कृत-भाषा पाणिनिके व्याकरणका आधार नहीं है। भास, कालिदास, भवभूति आदिकी भाषाकी उत्पत्तिका काल वास्तवमें कात्यायन तथा पतञ्जलिका काल है। मान्य-संस्कृत (classical) नामकी भाषाकी विशेषता कात्यायन तथा पतञ्जलिके समय विद्यमान थी और वही कालिदास आदिके द्वारा स्वीकृत हुई। पाणिनिके कालकी भाषामें बादमें परिवर्तन हुआ और इसलिए कात्यायनको पाणिनिके सूत्रोंपर वार्तिक लिखना पड़ा। कात्यायनने पाणिनिके एक तिहाई नियमोंका सुधार किया तथा उनमें और जोड़ दिया। पतञ्जलिका महाभाष्य वास्तवमें पाणिनिके

सूत्रों तथा कात्यायनके वार्तिकोंकी सुन्दर समीक्षा है। पतञ्जलिके महाभाष्यकी शैली सुलभ, स्वच्छ तथा संवाद-बहुल है। भाष्यके अन्तर्गत प्रमाणों-(Internal Evidence) से यह सिद्ध हुआ है कि पतञ्जलिका काल ईसाके पूर्व १५० है। उक्त मुनित्रयके उपरान्त संस्कृत व्याकरणकी प्रगति नहीं हुई; क्योंकि इसके बाद इस मुनित्रयके व्याकरणकी ही सूक्ष्म चर्चा तथा संक्षिप्त अथवा विस्तृत विवेचन होता रहा। इन विवेचनात्मक ग्रन्थोंमें ईसाकी सातवीं शताब्दी-(६६२) के लगभग लिखी गई जयादित्य तथा वामनकृत ' काशिकावृत्ति ' एक उत्कृष्ट टीका मानी गई है। ईसाकी सतरहवीं शताब्दी-(१६२५) के करीब करीब भट्टोजी दीक्षितने पाणिनिके व्याकरणकी नवीन सटीक रचना उपस्थित की जिससे पाणिनिका व्याकरण अधिक आसानीसे विद्यार्थीकी पहुँचमें आने लगा। ईसाकी सातवीं शताब्दीके मध्य-(६५१) के पहले विद्यमान भर्तृहरि नामके पण्डितने ' वाक्य-पदीय ' नामका ' दार्शनिक व्याकरणशास्त्र लिखा। भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे भर्तृहरिका यह ग्रन्थ एक विशेष स्थान रखता है। भारतीय पण्डितोंने पाणिनिके व्याकरणसे भिन्न स्वतंत्र व्याकरण-ग्रन्थ लिखनेके अनेकों प्रयत्न आजतक किए; परन्तु कोई भी व्याकरण पाणिनीय व्याकरणके समकक्ष न आ सका। कुछ स्थानोंपर आज भी कुछ पण्डित तथा विद्यार्थी कातंत्र, चान्द्र, तथा शाकटायन नामके व्याकरणशास्त्र पढ़ते हुए पाये जाते हैं।

प्राकृत भाषाओंके व्याकरण भी प्राचीन कालसे विद्यमान हैं। वररुचिका ' प्राकृतप्रकाश ' प्राकृत का वह विद्यमान-व्याकरण है जो सबसे पुराना है। भामह-(ई. स. ६५०) ने इसपर एक टीका लिखी थी। वररुचिने उपभाषाओंके-महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी तथा शौरसेनीके व्याकरणका निरूपण किया है। दूसरे बड़े विख्यात प्राकृत व्याकरणकार हैं हेमचन्द्र। इन्होंने सात उपभाषाओंका व्याकरण लिखा है। कात्यायन नामके व्यक्ति-(ई. स. ५००-१०००) ने पाली व्याकरण लिखा है। सीलोन तथा बर्मामें बौद्धधर्मके उपासक इस व्याकरणका अध्ययन करते हैं।

भाषाके अध्ययनका और एक साधन वैदिक कालसे ही उपस्थित है। वह है कोशग्रन्थ। वैदिक कालमें ' निघण्टु'के नामसे कोश तैयार हो रहे थे। धातुपाठ तथा गणपाठ जैसे सूक्ष्म व्याकरणकी वृद्धिमें उपकारक कोश पाणिनिके पहले निर्माण हो चुके थे। अमरकोश, त्रिकाण्डशेष, हारावलि, अनेकार्थसमुच्चय, अभिधान-रत्नमाला, वैजयन्ती, विश्व-प्रकाश, अभिधान-चिन्तामणि, मेदिनी आदि संस्कृत कोश टीकाग्रंथोंमें उद्धृत हैं। ये सब कोश आज भी उपलब्ध हैं।

ज्योतिष तथा गणितका प्रकाश

ज्योतिष तथा वैद्यक दोनों विद्याओंका जन्म वेदोंसे ही हुआ। ज्योतिषके दो प्रकार हैं– फलज्योतिष और गणितज्योतिष। ज्ञानके इतिहासकी दृष्टिसे गणितज्योतिष बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आकाशकी ज्योतियोंकी ओर वैदिक कवि बहुत ही आकृष्ट हुए थे। वैदिक ऋषिको इस बातपर साश्चर्य आदर होता था कि चन्द्र, सूर्य, तारक आदि आकाशके प्रकाश-पुञ्ज नैसर्गिक नियमोंका याने 'ऋत'का परिपालन निर्बाध रूपसे करते थे। इसी आदर-भावनासे भारतीय गणित-ज्योतिषका जन्म हुआ। ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा गया है कि वास्तवमें सूर्यका न अस्त होता है न उदय, सिर्फ पृथ्वीके चारों ओर घूमनेके कारण उदय और अस्तका आभास होता है और दिन एवं रातका चक्र चलता रहता है। यज्ञके कारण सत्ताईस नक्षत्र, चन्द्रकी अवस्थाएँ, सूर्यके संक्रमण, ऋतुओंके परिवर्तन आदि सबका बड़ी बारीकीके साथ एवं सुव्यवस्थित परिगणन करनेपर वैदिक ऋषि बाध्य हुए थे। श्रौत तथा गृह्य कर्मोंके लिए आवश्यक पंचांगका जन्म भी वैदिक कालमें हुआ था। आकाशमें सत्ताईस नक्षत्रोंकी रचनाका सर्वप्रथम अन्वेषण वेद-कालमें वैदिकोंने ही किया। ज्योतिष-विद्यामें यह एक सर्वथा मौलिक अतएव महत्त्वपूर्ण खोज है। इसीसे वेदाङ्ग-ज्योतिषका पहले जन्म हुआ।

वेदोंके परिवर्ती कालके जो ज्योतिष-ग्रन्थ शास्त्रकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं वे सब ईसाकी शताब्दीके बादके हैं। यूनानी ज्योतिषके ऋणका स्वीकार करनेके उपरान्त ये ग्रंथ लिखे गए। इसके पहले रचित अनेकों ज्योतिष ग्रंथ नष्ट हो गए हैं। उनके आधारपर लिखित ग्रन्थ बहुत ही बादके हैं। सिद्धान्त संज्ञक पाँच ग्रंथोंके नाम आज ज्ञात हैं; किन्तु उनमें केवल 'सूर्यसिद्धान्त'ही उपलब्ध है। 'पितामह', 'वसिष्ठ', 'पौलिश' तथा 'रोमक' चारों सिद्धान्त-ग्रंथ कालके प्रवाहमें नष्ट हो गए। सौभाग्यकी बात है कि विख्यात ज्योतिर्विद् वराहमिहिर-(ई. स. ५०५) का 'पञ्चसिद्धान्त' नामका ग्रन्थ उपलब्ध है। इससे भारतीय ज्योतिष-शास्त्रके इतिहासको बड़ा ही महत्त्वपूर्ण आधार प्राप्त हुआ है। आर्यभट्टका ग्रन्थ वराह-मिहिरकी रचनासे अधिक प्राचीन है। उसमें गणित तथा ज्योतिष दोनोंका अन्तर्भाव हुआ है। आर्यभट्टका कथन है कि पृथ्वीका अपने ही चारों ओर दैनंदिन घूमना यही दिन और रातका कारण है। आर्यभट्टने अपना ग्रंथ ४९९ ईसवीमें लिखा। उनके खुद ही दिए गए जन्मकालसे निश्चित होता है कि उनका जन्म ४७६ ईसवीमें हुआ था। वराहमिहिरके उपरान्त ब्रह्मगुप्त तथा भास्कराचार्य बड़े

प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् हुए। ब्रह्मगुप्तने अपना 'ब्रह्मस्फुटसिद्धान्त' ६२८ ईसवीमें लिखा। भास्कराचार्य-(ई. स. १११४) ने 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामके बड़े ग्रन्थकी रचना की। इस ग्रन्थके चार खण्ड हैं–लीलावती, बीजगणित, ग्रहगणित तथा गोलाध्याय। भास्कराचार्यके उपरान्त उनके जैसा महान् ज्योतिर्विद् भारतीय ज्योतिष-शास्त्रके इतिहासमें दूसरा नहीं हुआ।

आर्यभट्ट, ब्रह्मगुप्त तथा भास्कराचार्यके ज्योतिषसम्बन्धी ग्रंथोंमें ही गणित और बीजगणित दोनोंकी रचना हुई है। ब्रह्मगुप्त तथा भास्कराचार्यके ग्रंथोंसे मालूम होता है कि उस समय गणित अत्यन्त उच्च कोटिकी अवस्थातक पहुँचा था। अठारहवीं शताब्दीके फ्रान्सीसी गणित-तज्ज्ञ लाग्रॉंज-(Lagrange) तक योरोपीय गणित-विद्याने जितनी प्रगति की थी उतनी प्रगति भारतीय गणित-मर्मज्ञ बारहवीं शताब्दीमें ही कर चुके थे। ऐलेक्जेंड्रियाके यूनानी गणित-विज्ञों-(ई. स. २५०) ने बीजगणितको जिस अवस्थातक पहुँचाया था उसकी अपेक्षा भारतीय बीजगणित सब दृष्टियोंसे बहुत ही आगे बढ़ा हुआ था। हैंकेल (Hankel) नामके गणितके पण्डितका कथन है कि भारतीय गणित-पण्डितोंने संख्यासम्बन्धी अनेकों सूक्ष्म कार्योंका सफल अन्वेषण किया; उनके कालमें संसारका अन्य कोई भी राष्ट्र उनसे टक्कर न ले सका।

वैदिक कालसे भारतीयोंकी जो बौद्धिक प्रगति हुई उसका हमने यहाँ अल्प शब्दोंमें दिग्दर्शन कराया है। इस विहंगावलोकनमें वैदिक संस्कृतिका विकास कैसे हुआ इसका सिर्फ़ परिचय कराना ही हमारा अभिप्राय था; न कि इसका विस्तारसे परामर्श लेना। आगामी अध्यायमें हम नीतिशास्त्र, सामाजिक तत्त्वज्ञान, धर्मशास्त्र और समाज-विकासके सम्बन्धमें वेदकालीन भारतीयोंने जो विचार उपस्थित किए उनकी विवेचना करेंगे।

३—वैदिकोंकी कुटुम्बसंस्था तथा समाजसंस्था

वैदिकोंकी कुटुम्ब तथा समाज संस्थाएँ वेद-पूर्व कालसे चली आ रही हैं। वेद-पूर्व कालमें यज्ञसंस्थाका जन्म हुआ और इसी संस्थाके धार्मिक बलपर वैदिकोंने कुटुम्ब और समाजकी स्थापना की। यज्ञसंस्थाने मानसिक बल प्रदान किया। यज्ञ ही पहला धर्म था। व्यक्ति, समाज तथा कुटुम्बके पोषण तथा सुस्थितिके लिए जो मानवी क्रिया आवश्यक है उसीको वैदिकोंने 'धर्म' की संज्ञा दी। नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे 'धर्म'-कल्पना एक विशेष महत्त्व रखती है। वास्तवमें यह एक अत्यन्त व्यापक कल्पना है। वेदोंमें ऐसी अनेकों कल्पनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं, जो नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे मौलिक तथा व्यापक मानी जाएँगी। इन कल्पनाओंका अध्ययन करनेके बाद ही वैदिकोंकी कुटुम्ब तथा समाज संस्थाओंका अध्ययन करना उचित होगा; क्योंकि नीतिशास्त्र मानवके सामूहिक जीवनका प्रमुख अधिष्ठान है। धर्मशास्त्रकी संस्थाओं तथा विचारोंके विकासको नापनेका वह एक सुन्दर मानदण्ड है। यह सत्य है कि जिस आचारमें या जिस संस्थामें नैतिक तत्त्व अधिक प्रतिबिम्बित होते हैं उसी आचारको या संस्थाको अधिक उन्नत मानना चाहिए।

वैदिक नीतिशास्त्र

सत्य, दान, सौमनस्य अथवा मानसिक एकताकी कल्पनाएँ नैतिक हैं और इन तीनोंकी महिमा ऋग्वेदमें वर्णित है। ऋग्वेद-(१०।१९०) में कहा गया है-कि परमात्माके तपसे ऋत तथा सत्यका प्रथम जन्म हुआ और बादमें संसारकी या विश्वकी उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनोंमें संज्ञानकी यानी मानवोंके बीच विद्यमान सद्भावनाकी बार बार प्रशंसा हुई है; उसके लिए प्रार्थना की गई है। देवताके सामने शपथ लेते हुए वसिष्ठ बड़े ही करुण भावसे कहते हैं, "हे वरुण, मैंने ऐसा कौन-सा बड़ा पाप किया है जिसके कारण तुम मुझ जैसे मित्र तथा भक्तका नाश करनेकी ओर प्रवृत्त हुए हो। उस पापको शीघ्र कह दो जिससे प्रायश्चित्त करके मैं निष्पाप बनूँगा और तुम्हारी भक्ति करूँगा," (ऋग्वेद ७।८६।४)। ऋग्वेदके ऋषि कहते हैं, "सत् तथा असत्का न्याय करके सोमदेव असद्वादीका निःपात करते हैं।" वेदोंमें सत्यकी अपार महिमा वर्णित है। वेदोंमें कई जगह बतलाया गया है कि सत्य ही विश्वका आधार है। अपने अन्नका अंश दूसरेको न देनेवाले व्यक्तिको ऋग्वेदमें स्पष्ट रूपसे मूर्ख एवं

निरा पापी कहा गया है। ऋग्वेदमें सृष्टिव्यापारका स्वरूप ही नैतिक कल्पना-द्वारा अभिव्यक्त हुआ है। देवताओंके कर्तव्योंको पद पदपर दो शब्दोंसे-ऋत तथा सत्यसे स्पष्ट किया गया है। सर्व देवता वरुण अथवा सविताके व्रतोंका पालन करते हैं। वैदिक कविका आश्वासन है कि कोई भी देवता इन व्रतोंका भङ्ग नहीं कर सकते।

वेदोंमें जिन नैतिक तत्त्वोंकी अभिव्यक्ति हुई उन्हें दार्शनिक उपपत्तिका रूप उपनिषदोंमें प्राप्त हुआ। देवोंके क्रोधसे बचनेके लिए वेदकालीन मानव पापसे कोसों दूर रहनेका प्रयत्न करता था। उसकी दृढ श्रद्धा थी कि देवताकी प्रार्थनासे तथा यज्ञसे पाप नष्ट होता है। उसको इस बातपर हार्दिक खेद होता था कि मानवके हाथों पाप अनिवार्य रूपसे होता रहता है और अवसर प्राप्त होनेपर भी मोहके कारण पुण्यकर्म संपन्न नहीं होता। मेरे हाथों पाप क्यों हुआ? पुण्य क्यों नहीं हुआ? यही भावना उसके चित्तको व्याकुल करती थी; दग्ध करती थी। वैदिक मानवको इस दाहक नैतिक चिन्तासे मुक्त करनेका काम अध्यात्मविद्याने किया। आत्मविद्यामें नैतिक प्रश्नोंका सफलतापूर्वक हल हुआ।

आत्मविद्याने मूल्योंकी मीमांसाको सिद्ध किया। उपनिषदोंने सम्पूर्ण आत्मदर्शन जैसे अन्तिम साध्यका अन्वेषण किया। साध्य तथा साधनोंकी मीमांसा ही मूल्य-मीमांसा कहलाती है। इष्ट तथा अनिष्ट, प्रिय एवं अप्रिय, सुख और दुःखको और साथ साथ इनके साधनों या कारणोंको भी मूल्य कहते हैं। मूल्य दो तरहके हैं—साध्यरूप और साधनरूप। आत्मज्ञान अथवा आत्मप्राप्ति अन्तिम मूल्य है; क्योंकि वही सबसे उच्चतम ध्येय अथवा श्रेय है। उच्चतम ध्येय तथा श्रेय ही नीतिशास्त्रका प्रमुख निकष है। योग्य तथा अयोग्यको निश्चित करनेका प्रमाण ही असलमें निकष या कसौटी है। वास्तवमें उपनिषदोंने इस सिद्धान्तकी स्थापना की है कि नीति ही आत्मदर्शनका उपाय है, आत्मज्ञानकी स्वाभाविक परिणति है।

आत्मा ही विश्वका अन्तिम सत्य है; सृष्टिका सम्पूर्ण, 'एकमेवाद्वितीय' कारण है। इस वस्तुतत्त्वज्ञानका प्रतिपादन उपनिषदोंने किया। इस तत्त्वज्ञान या दर्शनका नीतिशास्त्रकी मूल्य-मीमांसा अथवा श्रेयकी कल्पनासे जो सम्बन्ध है उसके दर्शन उपनिषदोंने कराये। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्माको विश्वका मूल-तत्त्व माननेवाली कल्पनाका श्रेयकी कल्पनासे क्या सम्बन्ध है? वास्तवमें यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि विश्वके कार्यकारणभाव अथवा विश्व-

रचनाके तत्त्व और नीतितत्त्वका सम्बन्ध कैसे स्थापित करे ? उपनिषदोंने इस प्रश्नका उत्तर देनेका प्रयत्न किया ।

ऐतरेय आरण्यक याने महा-ऐतरेय उपनिषदमें सृष्टिके उच्चतम मूल्योंका आत्मासे जो सम्बन्ध है उसे बतलाया गया है । मानव ही सृष्टिका उच्चतम मूल्य है । वहाँ विकासवादका प्रतिपादन हुआ है–" पहले पञ्चमहाभूत-रूप आत्मा रहती है । उसमें विभाजन होता है–अन्न और अन्नाद । औषधि तथा वनस्पति ही अन्न हैं और प्राणभृत् याने प्राणी अन्नाद । प्राणभृतोंमें मानव और मानव-जैसे प्राणी अन्नाद याने भोक्ता हैं और अन्य प्राणी इनका अन्न हैं (२।३।१) । " इसके उपरान्त आत्माके क्रमशः विकासका दिग्दर्शन किया गया । इसी विकासको आत्माका 'आविस्तराम्' याने अधिक आविर्भाव कहा गया है । " ओषधि तथा वनस्पति आत्माके आविर्भाव हैं, प्राणी इनसे भी उच्च कोटिका आविर्भाव है । – क्योंकि अन्य वस्तुओंकी तरह इसमें केवल रस ही नहीं अपि तु 'चित्त' नामका एक अधिक गुण भी रहता है । प्राणियोंकी अपेक्षा उच्च कोटिका आविर्भाव है मानव; क्योंकि प्राणियोंकी तुलनामें इसमें भिन्न और महान् गुण हैं । वह (मानव) प्रज्ञावान् है । उसके जैसी प्रज्ञा अन्यत्र नहीं मिलती । जो जो विज्ञात या ज्ञात होता है उसे वह कह देता है; जो ज्ञात है उसे भी फिर देखता है । वह भूत और भविष्यको जानता है, लोकालोक याने स्वर्ग तथा नरकको पहचानता है; मर्त्य होकर भी अमरताकी अभिलाषा रखता है । यही उसकी प्रज्ञा-संपन्नता है । अन्य पशु सिर्फ़ क्षुधा, भूख और प्यासको जानते हैं; भूत तथा भविष्य, योग्य तथा अयोग्यको नहीं समझ पाते (२।३।२) । " सृष्टिमें मानवका जो सर्वोपरि स्थान है उसका पुनरपि निर्देश ऐतरेय उपनिषदमें भिन्न प्रकारसे किया गया है । उसमें आलङ्कारिकताका सहारा लेकर जीवन-क्रियाके अर्थको भी विशद किया गया है । वहाँका कथन निम्नानुसार है–" आत्माने लोकों तथा लोकपाल देवताओंका निर्माण किया । इन लोकपाल देवताओंने अपनी क्षुधा तथा पिपासाकी शान्तिके लिए या अन्नभक्षणके प्रयोजनसे आत्माके याने आदिपुरुषके पास उत्तम स्थानकी याचना की । आदिपुरुषने अन्नोपभोगके स्थानोंके रूपमें गाय तथा अश्वको इन देवताओंके सम्मुख रखा । देवताओंने कहा, " ये स्थान हमारे लिए पर्याप्त नहीं हैं । तब आदि पुरुष उनके लिए पुरुष याने मानवको ले आये । देवता प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, " इसे तो हमारा सुकृत ही कहना चाहिए " । मानव यही सुकृत है । योग्य स्थान देखकर देवता मानवमें प्रविष्ट हुए । लोकपाल

देवता ही विश्वकी भौतिक शक्तियाँ हैं। ये लोकपाल हैं अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, वनस्पति, चन्द्र, मृत्यु और जल। अन्तमें वहाँ यह कहा गया है कि उन देवताओंने शरीरमें वाणी, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, लोम, मन, अपान और रेतस्के रूपमें निवास किया। सब मानवी इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियाँ वास्तवमें विश्वकी भौतिक शक्तियोंकी क्षुधा तथा तृष्णाके रूप हैं। यहाँ मार्मिक ढंगसे यही सूचित किया गया है। उक्त विवेचनमें प्रधान वस्तु यह है कि मानव ही आत्माका सबसे उत्कृष्ट तथा पुण्यमय ज्ञेय रूप है। इस उत्कर्षका प्रधान चिह्न है मानवमें दिखाई देनेवाली प्रज्ञा। प्रज्ञा ही आत्माका उपास्य एवं ज्ञेय रूप है। यह कहकर ऐतरेय उपनिषदका उपसंहार किया गया है। यह विचार मूल्य-मीमांसाकी दृष्टिसे अतीव उद्बोधक है।

छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदोंमें नैतिक व्यवहारका सम्बन्ध प्राण-तत्त्वसे जोड़ा गया है। प्राण ही आत्माका प्रमुख रूप है। प्राणोपासना ही वास्तवमें आत्मोपासना है। प्राणोपासनासे प्रधानतया दो नैतिक कल्पनाओंका जन्म हुआ है। इन्द्रियोंकी विषयाभिरति याने विषयासक्ति पापका याने मृत्युका कारण बनती है। अतएव प्राणधारणरूप जीवनव्यापारको ही प्राधान्य देना चाहिए। यह एक तत्त्व है। दूसरा तत्त्व है भूतदया। सबका प्राण तत्त्वतः एक ही है; अतः व्यवहार ऐसा होना चाहिए जिससे सबकी प्राण-धारणा संपन्न हो। भूतदयाका यही भाव है। पहले तत्त्वका प्रतिपादन उपनिषदोंने कथाके रूपमें और रूपकात्मक तथा सूचक भाषामें किया है। छान्दोग्योपनिषद तथा बृहदारण्यकोपनिषदमें यह कथा अल्प परिवर्तनके साथ आई है। बृहदारण्यकोपनिषद- (१।३) की कथा नैतिक तत्त्वका प्रतिपादन अधिक स्पष्टताके साथ करती है। वह कथा यों है- सुर याने देव तथा असुर दोनों एक ही पिताके पुत्र हैं; देव बड़े तथा असुर छोटे। उनमें बड़ी स्पर्धा थी। देवोंने आपसमें कहा कि हम यज्ञके साम-गान-(उद्गीथ) से असुरोंको परास्त करेंगे। उन्होंने वाग्देवतासे कहा, "हमारे लिए तुम उद्गान करो। उसने उद्गानमें स्वार्थ-साधन किया। असुरोंने उसपर पापका प्रहार किया। यह पाप है अयोग्य भाषण। देवोंने क्रमशः घ्राणेन्द्रिय, चक्षु, श्रोत्र तथा मनकी देवताओंको उद्गानका कार्य करनेको कहा। इन सबमें स्वार्थ विद्यमान था। अतएव इनपर पापका प्रहार हुआ। वह पाप क्रमशः है अयोग्य गन्धका ग्रहण, अयोग्य रूपका दर्शन, अनुचित श्रवण तथा अनुचित विचार। अन्तमें देवोंने मुखसे संचार करनेवाले प्राणको उद्गाताके रूपमें चुन लिया। उसमें स्वार्थका अभाव था, जीवनको धारण

करना ही उसका कार्य था। पापरूप मृत्यु उसे स्पर्श नहीं करती। आक्रमण करनेवाले असुरोंका चट्टानपर गिरे हुए ढेलोंकी तरह विध्वंस हुआ। प्राणदेवता इन्द्रियोंकी देवताओंको पापके उस पार याने वास्तवमें मृत्युके उस पार ले गए। प्राणदेवता अन्नकी याचना केवल पोषणके लिए करते हैं और अपना तथा साथ साथ इन्द्रियोंका पोषण करते हैं; अन्योंको अपने अन्नका भागी बनाते हैं। प्राण अवयवोंका सार है; वाणी तथा ज्ञानका अधिपति है। वह सामरूप है। साम वास्तवमें समताका तत्त्व है। चींटी, मच्छर हाथी, त्रैलोक्य आदि सबमें छोटे-बड़ेका भेद न करके वह एकरूप बनता है। वह चींटीमें चींटीके आकारको, हाथीमें हाथीके आकारको और त्रैलोक्यमें त्रैलोक्यके विस्तारको अपनाता है।"

छान्दोग्य उपनिषदमें इसी प्राणको वैश्वानर आत्मा कहकर सूचित किया गया है कि अग्निहोत्रमें इसी अग्निपर होम किया जाता है। भूखे चण्डालको जूठन देनेसे भी अग्निहोत्रका होम संपन्न होता है; क्योंकि प्राणिमात्र अन्न-ग्रहण करते हैं, याने अग्निहोत्रकी उपासना करते हैं। वहाँ यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है कि वैश्वानर आत्मामें हवन करनेका ही अर्थ भोजन है (५।२४)। इस वैश्वानर आत्माकी विद्याके प्रवक्ता अश्वपति कैकेय विद्याप्राप्तिके लिए आये हुए ऋषियोंसे कहते हैं, "मेरे राज्यमें न कृपण हैं, न मद्यप, न अनाहिताग्नि विद्वान्। स्वैरी (स्वैराचारी-स्वैर आचरण करनेवाला) ही नहीं तो स्वैरिणी कहाँ? (५।११।५)। वैश्वानर विद्या तथा नैतिक प्रभावके सम्बन्धकी यहाँ सुन्दर व्यञ्जना है।

बृहदारण्यक उपनिषदमें नैतिक दृष्टिसे आत्म-तत्त्वका विवेचन कई प्रकारोंसे किया गया है। मधु-विद्या-(२।५) में कहा गया है कि इस संसारकी वस्तुओंके पारस्परिक मधुर सम्बन्धका कारण है उनमें विद्यमान या भासमान तेजोमय तथा अमृतमय आत्मा। विश्वकी सब वस्तुएँ एक दूसरेपर निर्भर हैं। इस सम्बन्धको शंकराचार्य उपकार्योपकारकभाव कहते हैं। दध्यङ् आथर्वणने अश्विदेवोंको इस मधु-विद्याकी शिक्षा दी।

बृहदारण्यकोपनिषदमें देवलोक, पितृलोक तथा मनुष्यलोकको ही आत्मा माना गया है। आत्मा ही देव, ऋषि, पितर, मनुष्य, पशु, प्राणिजात सबका आधार है। अतएव उसे देवलोक आदि संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं। मानव यज्ञ, अध्ययन, श्राद्ध, प्रजोत्पादन, अतिथिसत्कार, दान तथा भूतदयाके कार्य करता है; क्योंकि वही सबकी आत्मा है। यहाँ आत्माका अर्थ है व्यक्ति स्वयम्। यहाँका कथन है कि आत्मा वही है जो वाणी तथा अन्य इन्द्रियोंकी सहायतासे कर्म करता है (२।४।१७)।

इसी उपनिषद्में उस प्रश्नका सफलतापूर्वक हल किया गया है जो नीतिशास्त्रके दृष्टिकोणसे बड़ा ही गम्भीर है। वह प्रश्न है सबसे उत्कृष्ट या अन्तिम ईप्सित क्या है ? आत्मा स्वयं ही सबसे प्रिय है। वह पुत्र तथा अन्य सबकी अपेक्षा अधिक प्रिय है। इस सिद्धान्तको इस उपनिषद्में बड़े आवेशके साथ स्थिर किया गया है। सुविख्यात दम्पतिके, याज्ञवल्क्य तथा मैत्रेयीके वार्तालापमें विस्तारके साथ इसकी विवेचना की गई है। याज्ञवल्क्य मैत्रेयीसे कहते हैं कि पति, जाया, पुत्र, वित्त, ब्रह्मतेज, क्षात्रतेज, देव, भूतजात आदि सब स्वयं उनके लिए नहीं होते; अपि तु अपनी आत्माके लिए प्रिय होते हैं। अतएव आत्माके दर्शन प्राप्त करने चाहिए, आत्माका ही श्रवण, मनन तथा निदिध्यास करना आवश्यक है; क्योंकि ये सब आत्माके अन्तर्गत हैं। जिस तरह दुन्दुभि तथा वीणाको हस्तगत करनेसे उनके नाद भी वशमें आते हैं उसी तरह आत्माके प्राप्त हो जानेसे सबकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें याज्ञवल्क्यके उक्त सिद्धान्तमें संसारका एक अत्यन्त महान् और सुन्दर सत्य अवश्य निहित है, परन्तु, इसके ठीक अर्थको न समझनेमें उतनी ही बड़ी भ्रान्ति है; क्योंकि इससे सम्पूर्ण स्वार्थका समर्थन करना संभव है। इस भ्रान्त धारणाके उद्भवको रोकनेके लिए वहाँ सर्वात्मभावका आदेश दिया गया है।

बृहदारण्यकोपनिषद ब्रह्मवेत्ताओंकी उस सभाका वर्णन है जिसमें याज्ञवल्क्यने ब्रह्मवादिनी गार्गी वाचकनवीको अक्षर-विद्याका उपदेश दिया। इस विद्यामें फिर एक बार नीतिशास्त्रके विचारका प्रतिपादन किया गया है। याज्ञवल्क्यका कहना है, " हे गार्गि, इस अक्षर-तत्त्वके प्रशासनसे ही मानव दाताकी प्रशंसा करते हैं; देवों तथा पितरोंके कार्य संपन्न होते हैं। हे गार्गि, इस अक्षर (-तत्त्व) को न समझते हुए कोई भी इस संसारमें सहस्रों वर्षोंतक हवन, यज्ञ तथा तप भले ही करते रहें; उनका कार्य अन्ततोगत्वा सान्त ही रहेगा। जो इस अक्षरको विना समझे संसारका त्याग करता है वह निश्चय ही कृपण है। जो इसे जाननेके बाद चल बसता है वही ब्राह्मण है।" याज्ञवल्क्यके उक्त विधानमें नीतिशास्त्रका सार कूट कूट कर भरा हुआ है। यहाँ आत्मज्ञानसे कृपणता तथा उदारताका सम्बन्ध जोड़ा गया है। आत्मा अक्षर याने अविनाशी है। सत्कर्मकी प्रेरणा आत्मज्ञानपर निर्भर है। आत्मज्ञानकी जिस मात्रामें मन्दता है, कमी है, उसी मात्रामें सत्कर्म सीमित तथा संकुचित होता है। यही इसका भावार्थ है।

तैत्तिरियोपनिषद्में आत्माका ब्रह्मरूप प्रधानतया वर्णित है। यहाँ ब्रह्मकी प्रमुख परिभाषा की गई है। उसमें आत्माके पाँच रूप वर्णित हैं। ये पाँच रूप

हैं अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। आत्मा ही ब्रह्म है। यहाँ ब्रह्मके पञ्चविध स्वरूपको अन्न, प्राण, मन, विज्ञान और आनन्दको निश्चित किया गया है। इन रूपोंमें भी प्रधानतासे अन्न ही ब्रह्म है। इसी सिद्धान्तसे अन्नविषयक नीतिशास्त्रका निर्माण किया गया। सब प्राणियोंका जन्म, स्थिति, तथा लय अन्नपर निर्भर है। इसीलिए अन्न ब्रह्मकी महिमा वर्णित है और अन्नसम्बन्धी प्रधान कर्तव्योंका निर्देश किया गया है। अन्नकी निन्दा कभी न करें, अन्नको बड़े पैमानेपर उत्पन्न करें, अन्नार्थी अतिथिको अन्न तथा पनाह देना अस्वीकार न करें, आदि व्रत यहाँ विहित हैं। आत्माके सब रूप अन्नमय आत्मापर निर्भर हैं। अतएव 'मैं अन्न भी हूँ और अन्नका भोक्ता भी।' इस विचारको महत्ता प्रदान करके यह उपनिषद् समाप्त हुआ है।

कठोपनिषद्में नीतिशास्त्रविषयक कल्पनाको अधिक शास्त्रीय रूप मिला है। मानवकी प्रवृत्तियोंके दो विषयोंका—श्रेय तथा प्रेयका— यहाँ प्रतिपादन हुआ है। यहाँ कहा गया है कि बुद्धिकी जड़ताके कारण मानव तात्कालिक योगक्षेम एवं क्षणिक सुखको प्राप्त करनेकी अभिलाषासे प्रेयकी ओर आकृष्ट होता है और व्यापक हितके विचारका जब उदय होता है तब वह श्रेयके मार्गको अपनाता है। यहाँ जीवन-यात्राकी द्विविध प्रवृत्तिका, कल्याणकारी तथा विध्वंसक या घातक प्रवृत्तियोंका— वर्णन रथके रूपककी सहायतासे किया गया है। इसमें दिखाया गया है कि आत्मज्ञान और सदाचारका सम्बन्ध अभेद्य एवं अटूट है। यहाँ बुद्धिको सारथि, इन्द्रियोंको अश्व, मनको बागडोर (प्रग्रह), आत्माको रथी और इन्द्रियोंको विषयोंका मार्ग कहा गया है। सुबुद्धि अगर सारथि है तो यह रथ विष्णुपदतक पहुँच पाता है और जीवन सार्थ या सफल हो उठता है। परन्तु यदि कुबुद्धि सारथि बनती है तो इन्द्रियरूप दुष्ट अश्व इस रथको अवनतिकी ओर ले जाते हैं और उसका नाश करते हैं। इस उपनिषद्में आत्म-ज्ञानके जो तीन ही उपाय बतलाये गये हैं वे हैं दुश्चरितसे निवृत्ति, शान्ति तथा समाधि।

परन्तु कौषीतकि उपनिषद्में एक ऐसा विचार व्यक्त हुआ है जो उक्त नैतिक तथा आत्मविद्यासे सम्बद्ध विचारका विरोधी है। इस उपनिषद्में साक्षात् परमात्मरूप इन्द्र ही आचार्य हैं। "दिवोदासके पुत्र प्रतर्दन युद्ध तथा पौरुषसे इन्द्रके प्रिय धामको प्राप्त कर चुके थे। इन्द्रने उसे वह वर प्रदान किया जो मानवके लिए सबसे अधिक हितकारी है। आत्मविद्या ही यह वर है। इन्द्र कहते हैं कि उन्हें

याने ईश्वरको जाननेमें ही मानवका अन्तिम कल्याण निहित है। मैं ही प्रज्ञात्मा प्राण हूँ। आयुष्य तथा अमरताके रूपोंमें मेरी उपासना करो। यह कहते हुए इन्द्र अपनी महिमा भी कहते हैं। उनका कहना है, "त्रिशीर्षा त्वाष्ट्रका वध मैंने किया। यतियोंको उलटे लटकाया और उन्हें भेड़ियोंके प्रति भक्ष्यके रूपमें दे दिया। स्वर्गमें प्रह्लादके वंशों, अन्तरिक्षमें पौलोमों तथा पृथ्वीपर कालकाश्योंका मैंने विध्वंस किया। परन्तु इससे मेरा बाल भी बाँका नहीं हुआ। जो मुझे जान लेगा उसका ईप्सित किसी भी चीजसे नष्ट नहीं होगा। मातृवध, पितृवध, स्तेय तथा भ्रूणहत्यासे उसके ईप्सितको बाधा नहीं पहुँचती। उसने पाप भले ही किया हो, उसके मुखकी शान नहीं बिगड़ती (३।१)।" इसी उपनिषदमें आगे कहा गया है, "यह प्राण प्रज्ञात्मा, आनन्द, अजर तथा अमर है। साधु कर्मसे यह न अधिक बड़ा होता है, न असाधु कर्मसे छोटा। वह जिसकी उन्नतिकी इच्छा करता है उससे साधु कर्म करवाता है और जिसकी अवनतिका वह इच्छुक है उससे असाधु कर्म करवाता है। वह लोकपाल तथा लोकाधिपति है। वही अपनी आत्मा है। इसे समझना चाहिए (३।८)॥"

कौषीतकि उपनिषदके इस नीतिविषयक विचारकी छाया अन्य उपनिषदोंपर बिलकुल नहीं पड़ी। परन्तु मैक्स-मुलरसे लेकर बेरोडिले कीथतकके पश्चिमीय पण्डित इन्हीं वाक्यों तथा सन्दर्भोंको प्रधान स्थान देकर उपनिषद्के नीतिशास्त्रका नाप-तौल करते हैं। यहाँ एक मौलिक तत्त्वकी ओर इन पण्डितोंने ध्यान नहीं दिया और इसी कारण वे वैदिक नीतिशास्त्रके सम्बन्धमें संदेहमें पड़े हैं। उपनिषदोंके साधनसम्बन्धी विचारोंकी परिणति वैराग्य तथा संन्यासमें हुई है। निष्कामताको उपनिषदोंने अन्तिम ध्येय तथा आत्माका शुद्ध स्वरूप माना है। बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषदोंमें उच्च स्वरसे घोषित किया गया है कि अकामहत तथा अवृजिन (निष्पाप) श्रोत्रियको ही ब्रह्मानन्दके अनन्त स्वरूपकी अनुभूति प्राप्त होती है। बृहदारण्यकमें एषणाके त्यागकी अनिवार्यताका कथन आत्मज्ञानके लिए किया गया है। याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे प्रथम ही कहा कि वित्तार्थीको अमरताकी आशा कभी नहीं करनी चाहिए। इन सब बातोंका अगर हम एक साथ विचार करें तो आत्मज्ञान तथा चित्तशुद्धिका अभेद्य सम्बन्ध निश्चित हो जाता है। अतएव यह सिद्ध है कि उपनिषदोंके दर्शनमें तथा नैतिक सिद्धान्तोंमें सम्पूर्ण अलगावको सिद्ध करनेका प्रयत्न निराधार है। पारलौकिक गतिकी जो मीमांसा उपनिषदों-द्वारा की गई है उसकी ओर यदि हम ध्यान दें तो नैतिक व्यवहारका सिद्धान्त

पूर्ण रूपसे प्रस्थापित होता है। कौषीतकि उपनिषदके उपर्युक्त वाक्यसन्दर्भने पश्चिमीय पण्डितोंको अकारण ही झमेलेमें डाल दिया है। वह एक तरहका गूढवाद है। इस उपनिषदमें साधु कर्मका उन्नतिसे और असाधु कर्मका अवनतिसे जो सम्बध जोड़ा गया है उसकी ओर पश्चिमीय विद्वानोंने ध्यान नहीं दिया। मानवी आत्माके लिए कर्मका बन्धन तो है ही; हाँ, परमात्मभावनामें यह बन्धन नहीं रहता। त्रैलोक्यमें या अखिल विश्वमें जो हेरफेर नित्य होते रहते हैं उनपर केवल मानवी जीवनके रूपमें सीमित पाप-पुण्यका विवेक लागू नहीं होता। इन्द्रने इसी बातको सूचित किया है। परमात्मभावका अनुभव करनेवाले मानवके लिए अतीतके महापातक बन्धन-रूप नहीं बनते; क्योंकि परमात्मस्थितिके अनुभवका अधिकारी मानव अपनी आत्मामें विश्वव्यापारका अनुभव करता है। विश्वव्यापार पुण्य तथा पाप दोनोंके परे है। नदीमें गिरकर अगर कोई बालक डूब गया तो नदीपर बालहत्याका पाप लागू नहीं होता। यदि कोई स्त्री अग्निमें जलकर मर गई तो अग्निको स्त्रीहत्याकी बाधा नहीं पहुँचती। इन्द्रके नैतिक गूढवादसे केवल इतना ही द्योतित होता है।

तीन नैतिक कल्पनाएँ—धर्म, ऋण तथा पुरुषार्थ

उपनिषदोंके नीतिशास्त्रके परामर्शके बाद धर्मशास्त्रसे सम्बद्ध समाजशास्त्रके तत्त्वोंका विचार करना चाहिए और उसके बाद प्रत्यक्ष रूपसे धर्मशास्त्रकी चर्चा करना समीचीन होगा। इससे एक अनुकूल भूमिका प्रस्तुत होगी। धर्म तथा ऋण दोनों बड़ी मौलिक कल्पनाएँ हैं और उनके लिए भारतीय समाजशास्त्र वेदोंका ऋणी है। ये दोनों कल्पनाएँ उन संस्थाओंको जन्म देती हैं जो वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन-पद्धतिके लिए आवश्यक हैं। धर्म-कल्पनाका प्रधानतः विवेचन बृहदारण्यकोपनिषदमें किया गया है। उसमें धर्म-कल्पनाके विकासकी कथा है। न्याय ही उसका मुख्य रूप है। उस कथामें धर्म-कल्पनाका विकास निम्नानुसार वर्णित है:—

"पहले ब्रह्म विद्यमान था। इसका मतलब है समाज उस समय एकरूप था। उस समाजमें स्तोत्र तथा यज्ञकी महिमा वर्णित है। यह महिमा ही ब्रह्म है। यही कारण है कि वहाँ समाजको ही ब्रह्म कहा गया है। उस ब्रह्मकी सामर्थ्यकी कमीसे प्रगति रुक गई। अतः उसने अपनी अपेक्षा अधिक उच्च कोटिके समाजस्वरूपका निर्माण किया। इसी स्वरूपको 'श्रेयोरूप' कहा गया है। यही श्रेयोरूप क्षत्र है। क्षत्रका अर्थ है शासनसंस्था। जब इससे भी निभ न सका तब

अधिक उच्च कोटिके स्वरूपका निर्माण हुआ और यह है 'वैश्य'। वैश्य सामूहिक रूपसे अर्थव्यवहार करते हैं। जब इससे भी निर्वाह न हो सका तब और एक अलग समाज-रूपका सूत्रपात हुआ और वह है सबका पोषक शूद्रवर्ण। शूद्र वही सामाजिक वर्ण है जो श्रमके आधारपर किए जानेवाले उत्पादनमें सहायक होता है। चातुर्वर्ण्यका निर्माण भी निर्वाहमें पूरी तौरसे सहायक नहीं हो पाया। अतः जिस उच्च तत्त्वका निर्माण हुआ वही धर्म है। इसके आधारपर दुर्बल भी बलवानको आदेश दे सकता है। धर्म वह तत्त्व है जो क्षत्र या राज्यसंस्थाकी अपेक्षा अधिक शक्तिसंपन्न है। धर्म ही सत्य है और सत्य ही धर्म है। धर्मसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। धर्म और सत्य एक ही हैं।" (बृहदारण्यक उपनिषद् १।४। १०–१४)।

महाभारतमें धर्मकी जो परिभाषा विद्यमान है वह इसी वैदिक कल्पनापर आधारित है। "धर्मसे ही प्रजाओंका धारण होता है। अतएव इस धारण-क्रियासे ही 'धर्म' संज्ञा बनी। यह निर्णय हुआ है कि धर्म वही है जो धारण-क्रियासे संयुक्त है।" (महाभारत– शान्ति-पर्व १०९।११)। महाभारतकृत धर्म-विवेचनका बादमें विस्तारके साथ विवेचन करना है। यहाँ इस विषयमें केवल इतना ही कहना है कि धर्म लोक-व्यवहारको सुचारु रूपसे चलानेके लिए ही निर्माण हुआ और वेदोंकी इस कल्पनाको व्यास महर्षिने समीक्षाके साथ स्पष्ट किया है। नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे प्रस्तुत कल्पना बड़ी ही मौलिक तथा व्यापक है। 'धर्म' शब्दके अर्थमें आधुनिक नीतिशास्त्रके नैतिक कर्मोंके साथ साथ अन्य अनेकों कर्मोंका समावेश होता है। रूढि, धार्मिक संस्कार, ईश्वर-भक्तिसे सम्बद्ध आचार एवं विचार, विधि-विधान, राज्यका व्यवहार, न्याय तथा नैतिक सद्गुण– सबका उसमें अन्तर्भाव होता है। भारतीय धर्मशास्त्रमें नीतिशास्त्रके नैतिक आचरणके लिए भी 'धर्म' शब्दका उपयोग किया गया है। स्मृतिकारोंने उसे 'साधारण धर्म'की संज्ञा दी है।

धर्म-कल्पनाकी तरह ऋण-कल्पना भी भारतीय सामाजिक नीतिशास्त्रमें एक विशेष स्थान रखती है। यह कल्पना वास्तवमें नैतिक उत्तरदायित्वकी कल्पनाके मूलतः विकासकी सूचक है। आश्रमव्यवस्था अथवा आश्रमधर्म इसी ऋणकल्पनापर आधारित है। नित्य चलनेवाले आदान-प्रदान तथा विनिमयपर ही मानवसमाज अधिष्ठित है। सामाजिक व्यवहार तबतक असंभव है जबतक पासमें विद्यमान संचित धन आवश्यकता पड़नेपर दूसरे व्यक्तिको नहीं दिया जाता। साथ साथ

यह भी सच है कि दूसरेसे ली गई वस्तुओंको लौटाए बिना आदान-प्रदान सुचारु रूपसे नहीं हो सकता। दूसरेसे लिया गया तथा लौटाया जानेवाला धन ही ऋण कहलाता है। धन-सम्बन्धी ऋणकी इस सीमित कल्पनासे ही ऋणकी व्यापक कल्पनाका जन्म हुआ। मानवके सिरपर जो विविध अथवा चतुर्विध उत्तर-दायित्व है उसपर यह कल्पना वैदिक कालमें ही लागू हुई। वेदोंके कथनानुसार मानवके ऋण चार होते हैं– देवऋण, ऋषिऋण, पितृऋण तथा मनुष्यऋण। (१) विश्वके व्यवहारको सुचारु रूपसे संपन्न बनानेवाली दैवी शक्ति व्यक्तिको जीवनके साधन प्रदान करती है। मानवजीवनपर विश्वके अनन्त उपकार अङ्कित हैं। यही धार्मिक और पवित्र भावनाका तथा ईश्वर-भक्तिका मूल स्रोत है। वेदोंने 'देवऋण'की संज्ञासे इसी उपकारकी ओर संकेत किया है। (२) विद्या तथा कलाओंके परम्परागत संचयके ही कारण मानवकी संस्कृति विकासके पथपर अग्रसर होती है। हमारे ऋषिवर्य विद्याओं और कलाओंके आद्य प्रणेता थे। वैदिक कालमें विद्याओं तथा कलाओंको 'वेद'की संज्ञा प्राप्त थी। वास्तवमें वेद ही ऋषियोंका ऋण है। वेदके अध्ययनसे 'ऋषिऋण'को चुकाया जाता है। इसका मतलब यही है कि ब्रह्मचर्याश्रमके स्वीकारसे अथवा शिक्षाको अर्जित करनेसे ही मानव 'ऋषिऋण'से उऋण होता है। (३) मानव-वंशोंकी अटूट तथा अखण्ड परम्परा अनन्त आपत्तियोंमें सुरक्षित रही है। हममेंसे हरेकका अस्तित्व असलमें इन असंख्य आपत्तियोंसे जो सुरक्षा हुई उसीका ज्वलन्त प्रमाण है। अनादिकालसे मानवके पूर्वजोंने दृढताके साथ समय समयपर आनेवाली आपदाओंसे लोहा लेकर आत्मरक्षण तथा प्रजा-रक्षण किया। अतएव उनको 'पितृ' अथवा 'पितर' की संज्ञा मिली है। 'पितृ'का अर्थ है पालनकर्ता। यहाँ 'पितृ' शब्द माता, पिता तथा सब पूर्वजोंका बोध कराता है। हमारा जीवन ही वास्तवमें वह ऋण है जो हमें उनसे प्राप्त हुआ है। इस ऋणसे मुक्त होनेका एकमेव उपाय है गृहस्थाश्रमका स्वीकार करके पुन: प्रजोत्पादन। प्रजाको निरन्तर बनाये रखना यही पितरोंके प्रयत्नका मुख्य उद्देश्य है। उसे पूरा करनेसे ही 'पितृऋण'से उऋण होना संभव है। (४) शतपथब्राह्मणमें चौथे ऋणका, मानवोंके ऋणका प्रतिपादन किया गया है। पारस्परिक सहयोगके बलपर ही मानवी सृष्टि प्रवहमान है। यही 'मनुष्यऋण' है। औदार्य तथा दान ही इस ऋणसे मुक्त होनेका उपाय है।

ऋणकल्पनाका आश्रमव्यवस्थासे जो सम्बन्ध है उसका प्रथम निर्देश तैत्तिरीय संहितामें हुआ है। वहाँ कहा गया है, "जन्म प्राप्त करनेवाला ब्राह्मण

तीन ऋणोंके साथ ही जन्म लेता है। ऋषियोंका ऋण ब्रह्मचर्यसे, देवोंका ऋण यज्ञसे तथा पितरोंका ऋण प्रजोत्पादनसे चुकाया जा सकता है। पुत्रवान्, यजनशील तथा ब्रह्मचर्यको पूर्ण करनेवाला मानव उऋण होता है," (६।३।१०।५)। इसी विचारका महत्त्वपूर्ण सुधारोंके साथ प्रतिपादन शतपथब्राह्मणमें हुआ है। उसमें 'ब्राह्मण' शब्दको हटाया गया है और यह सिद्धान्त सामान्य मानवके सम्बधन्में स्थापित किया गया है। उसमें और एक सुधार किया गया है। उसमें यह भी बतलाया गया है कि मानव केवल देवों, ऋषियों तथा पितरोंका ही ऋणी नहीं है; अन्य मानवोंके भी ऋणमें वह बद्ध है। वहाँ कहा गया है, "जो अस्तित्वमें आया (याने जिसका जन्म हुआ) वह (निस्सन्देह) ऋणी बना। उसपर जन्मसे ही देवों, ऋषियों, पितरों तथा मनुष्यों का ऋण विद्यमान है। देवोंका ऋण यज्ञ तथा होमसे सिद्ध होता है। अध्ययनसे ऋषियोंका ऋण चुकाया जाता है। अनूचानको (विद्वानको कुल्लूकके अनुसार साङ्गवेदाध्येताको) ऋषियोंका 'निधिगोप' कहा जाता है। संतत तथा अखण्ड प्रजाके उत्पादनसे पितरोंके ऋणसे मुक्ति मिलती है। मानवोंको अन्न तथा वस्त्रका दान करनेसे मनुष्यऋण अदा किया जाता है। जो (व्यक्ति) इन सब कर्तव्योंको पूर्ण करता है वह कृतकृत्य (याने कृती) है। यही कहना चाहिए कि उसने सब पाया, सब जीत लिया।" (१।७।२।१-६)।

आश्रमव्यवस्थाका सुव्यवस्थित वर्णन पहली बार छान्दोग्य उपनिषदमें मिलता है। वहाँ तीन आश्रमोंका वर्णन किया गया है। इन तीन आश्रमोंका निर्देश वहाँ 'धर्मस्कन्ध'से किया गया है। स्कंधका अर्थ है वृक्षकी शाखा। धर्मरूप वृक्षकी तीन शाखाएँ ही वास्तवमें तीन आश्रम हैं। वहाँका कथन यों है:- "धर्मस्कंध तीन हैं। यज्ञ, अध्ययन तथा दान ही प्रथम स्कंध है (गृहस्थाश्रम)। द्वितीय स्कंध है तप (वानप्रस्थ)। तृतीय स्कंध है आचार्यकुलका निवासी ब्रह्मचारी। ये सब पुण्यलोक याने पुण्यस्थान हैं। ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाला व्यक्ति अमरताको प्राप्त करता है।"

---

१ श्रीशंकराचार्यने 'ब्रह्ममें निष्ठा रखनेवाला'का अर्थ संन्यासी बतलाया है (छान्दोग्य उपनिषद २।२३।१)। यहाँ संन्यासाश्रमका स्पष्ट विधान नहीं है। वह बृहदारण्यक, नारायण तथा जाबाल उपनिषदोंमें मिलता है। नारायण उपनिषदमें 'न्यास' ही संन्यासवाची संज्ञा है। इस उपनिषदका काल बौधायन तथा आपस्तम्बके गृह्य और धर्मसूत्रोंके पूर्वका है। बृहदारण्यकके उल्लेख इनमें सबसे अधिक प्राचीन हैं। संभव है कि ऋग्वेदके 'मुनि' शब्दका वही अर्थ हो।

'त्रिवर्ग' अथवा 'पुरुषार्थ' शब्दसे वैदिकोंने मानवके सम्पूर्ण इष्टका निर्देश किया है। 'त्रिवर्ग' अथवा 'पुरुषार्थ'का स्पष्ट निर्देश वैदिक वाङ्मयमें नहीं पाया जाता। सबसे प्राचीन उल्लेख आपस्तम्ब-धर्मसूत्रोंमें मिलता है। पहले 'मोक्ष' नामके चतुर्थ पुरुषार्थकी स्वतंत्र गणना नहीं की जाती थी। त्रिवर्गकी परिभाषा ही पहले रूढ हुई। भारतीय नीतिशास्त्रकी दृष्टिसे 'त्रिवर्ग' अथवा 'पुरुषार्थ' की कल्पना बड़ी उपयोगी है। कुछ लोगोंकी कल्पना है कि नीति वह आचार है जो मानवके केवल परलोकसम्बन्धी ध्येयकी प्राप्तिका साधन है। इन्द्रियोंकी आवश्यकता-ओंको नीतिके मूल्योंमें जरा भी स्थान न देनेकी पद्धति एक ऐसे नीतिशास्त्रको जन्म देती है जो वास्तविकता तथा व्यवहारसे कोसों दूर एवं काल्पनिक है। उससे मिथ्याचारकी वृद्धि होती है; सन्तुलन नष्ट होता है। यह सिद्ध है कि इसकी अपेक्षा त्रिवर्ग अथवा पुरुषार्थकी विचारपद्धति अधिक शुद्ध है। महाभारत, पुराण तथा स्मार्त धर्मशास्त्रमें चतुर्विध पुरुषार्थको महत्त्व दिया गया है। केवल मोक्ष अथवा धर्म साध्य नहीं बन सकता; धर्म और मोक्षको भी अर्थ तथा कामके आधारकी आवश्यकता होती है। इस सत्यका स्वीकार वहाँ स्थान स्थानपर किया गया है। इस सम्बन्धमें मनुस्मृतिके वचन बड़े ही मार्मिक हैं। वहाँ पहले चार पक्षोंका निर्देश करके अन्तमें सिद्धान्तकी स्थापना की गई है। "कुछ लोग धर्म और अर्थके मिलानको श्रेय मानते हैं तो कुछ काम और अर्थके मिलानको। किसीका कहना है कि धर्म ही श्रेय है तो कोई अर्थको ही श्रेय मानता है। परन्तु सिद्धान्त तो यह है कि त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) ही श्रेय है।" (मनुस्मृति २।२२४)। कौटिलीय अर्थशास्त्र, कामसूत्र तथा महाभारतमें इस विषयकी युक्तियुक्त चर्चा की गई है। सामान्य रूपसे शुद्ध नैतिक आचरण ही धर्म है, उपयोगिता-वादसे मिलने-जुलनेवाला साध्य ही अर्थ है और प्रत्यक्ष उपभोग्य वस्तुएँ अथवा उपभोगरूप जीवन-क्रम ही काम है। 'धर्म' शब्दमें पारमार्थिक कल्याण अथवा मोक्षका भी पहले अन्तर्भाव किया गया था। उसका पृथक्त्व (या पार्थक्य) परवर्ती कालमें स्वीकृत हुआ। अगर हम व्यापक अर्थका अङ्गीकार करें तो धर्मरूप पुरुषार्थमें बाकी सब पुरुषार्थोंका आसानीसे अन्तर्भाव करना संभव है। आप-स्तम्बका कहना यही है। " "फलके लिए वृक्षके निर्माणके बाद छाया तथा गन्ध आनुषङ्गिक रूपसे प्राप्त होते ही हैं। उसी तरह धर्मके आचरणसे अर्थ तथा काम सिद्ध होते हैं।" धर्मशास्त्रमें गृहस्थाश्रमका विधान है। उसमें 'काम' रूप पुरुषार्थका समावेश आप ही आप होता है। धर्मशास्त्रकी वर्ण-व्यवस्थामें वृत्ति-व्यवस्थाका कथन

है, राजधर्मका भी विधान है। वर्ण-व्यवस्था तथा राजधर्मसे 'अर्थ' रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है। पुरुषार्थोंके रूपमें 'अर्थ' तथा 'काम' की इस स्वीकृतिके कारण मानवके ऐहिक जीवन-क्रमको नैतिक तथा धार्मिक मूल्य प्राप्त हुआ। यही त्रिवर्ग-कल्पनाकी विशेषता है।

धर्म, ऋण तथा त्रिवर्ग (पुरुषार्थ) के तीनों तत्त्वोंको भारतीयोंकी जीवन-पद्धतिकी आधारशिला कहा जाता है। इन्हींके बलपर भारतीयोंकी संस्कृतिका सुचारु विकास हुआ है। प्रत्येक व्यक्तिपर जो नैतिक उत्तरदायित्व है उसे ऋणकी कल्पनाने स्पष्ट किया और उसके अधिकारोंका निर्देश पुरुषार्थकी कल्पनाने किया। इससे व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध स्पष्ट होता है। व्यक्तिको समाजसे विरासतके रूपमें कुछ अधिकार मिलते हैं और उन्हींके कारण कर्तव्योंके बन्धनोंका स्वीकार करना उसके लिए अनिवार्य हो उठता है। विरासत ही वास्तवमें ऋण है। समाजसे व्यक्ति लाभान्वित होता है और इसीसे समाजके प्रति उसके कर्तव्योंका जन्म होता है। हमारे पूर्वजों तथा मातापिताओंने हमारे जीवनका निर्माण किया है। अतएव भविष्यके गर्भमें विद्यमान पीढ़ीके जीवनको सुरक्षित रखना हमारा पवित्र कर्तव्य बनता है। असलमें हमारा अपना अस्तित्व ही उस कर्तव्यका सूचक है। नैतिक कर्तव्य ही 'धर्म' संज्ञक पुरुषार्थ है। जिस तरह मानवके लिए 'अर्थ' और 'काम'की आवश्यकता नैसर्गिक तथा स्वयंसिद्ध है उसी तरह 'धर्म' तथा 'मोक्ष'की भी। 'पुरुषार्थ'का अर्थ है मानवोंका इष्ट, ईप्सित अथवा ध्येय। मानवका सुसंस्कृत मन धर्म तथा मोक्षकी, नीति तथा परमार्थकी इष्टताका स्वीकार करता है। अगर यौनवासना, सौन्दर्यकी अभिरुचि, क्रीडाका आकर्षण, वैभवकी अभिलाषा, अर्थोत्पादनकी ईर्ष्या, संग्रहकी प्रवृत्ति आदिका उदय मानवके मनमें सहज भावसे होता है तो साथ साथ दया, उदारता, मित्रता, क्षमाशीलता, स्वार्थत्याग, इन्द्रिय-निग्रह, मौन, तत्त्वचिन्तन तथा सत्यजिज्ञासाका भी। अतएव महर्षि व्यास आदि वैदिक मुनियोंने 'धर्म' तथा 'मोक्ष' दोनोंको पुरुषार्थकी पदवीसे विभूषित किया है। 'पुरुषार्थ'का अर्थ है पुरुषका याने मानवका अर्थ याने इष्ट या ईप्सित। सच तो यह है कि धर्मशास्त्र-कारोंने त्रिवर्ग अथवा पुरुषार्थ-चतुष्टयके रूपमें मानवकी सब प्रवृत्तियों तथा ईप्सि-तोंकी सुचारु तथा सुसंगत व्यवस्था की है, स्वार्थ तथा परमार्थमें सुसंवादका निर्माण किया है; व्यक्ति और समाजके बीच विरोधकी, संघर्षकी जो संभावना है उसे नष्ट करके समाजके लिए व्यक्ति और व्यक्तिके लिए समाज जैसे अन्योन्या-

अयका हृदयसे स्वीकार किया है। ऋण-कल्पनाने सामाजिकताको प्रधानता दी और पुरुषार्थ-कल्पनाने व्यक्तित्वकी महिमाको सिर आँखोंपर बिठाया। भारतीय स्मार्त (स्मृतिप्रणीत) धर्मशास्त्रकी यही दार्शनिक पार्श्वभूमि है।

समाजके अनुशासन या नियमनके प्रतिपादक ग्रन्थ याने धर्मशास्त्र

गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा श्लोकात्मक स्मृतिग्रंथोंमें वैदिकोंके धर्मशास्त्रका प्रतिपादन किया गया है। पूर्वमीमांसा तथा मनुस्मृतिमें 'स्मृति' शब्दसे इन सबका निर्देश हुआ है। वैदिकोंकी समाजसंस्थामें वेदपूर्व कालसे लेकर सूत्रकालतक जो सामाजिक अथवा धार्मिक आचार-विचार रूढ हुए थे उन्हींका संग्रह स्मृतियोंमें कभी छोटे तो कभी बड़े पैमानेपर किया गया है। ये आचार ही सामाजिक तथा धार्मिक विधि-विधान या क़ानून हैं। ग्रंथोंके रूपमें इनका संकलन होनेके पहले याने सूत्रकालतक शिष्टोंकी स्मृतिपरम्परा ही आचरण तथा नियमनकी आधार-शिला थी; अतएव उसे 'स्मृति' कहा जाता है। परन्तु बादमें सामाजिक तथा धार्मिक व्यवहार बहुविध तथा जटिल बनते गए और सिर्फ़ स्मृतिपरम्पराके आधार-पर उनकी सुरक्षा असंभव हो उठी। इसीलिए ग्रंथोंके रूपमें उनके संकलनका श्रीगणेश हुआ। गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों तथा अन्य स्मृतिग्रंथोंमें केवल वेदोंके ही नहीं अपितु वेदपूर्व कालसे परम्पराके रूपमें प्राप्त कर्मकाण्ड, विधिनिषेधों, आचारों तथा सामाजिक रूढियोंका प्रतिपादन हुआ है। इन ग्रंथोंमें वेदपूर्व कालकी असभ्य अवस्थासे लेकर सूत्रकालकी उन्नत अवस्थातकके आचारोंको लिपिबद्ध रूप प्राप्त हुआ है। इसीलिए गृह्यसूत्रोंमें असभ्य अवस्थामें विद्यमान आर्योंकी 'शूलगव' जैसी विधि पाई जाती है। आपस्तम्ब धर्मसूत्रके प्रारम्भमें 'सामयाचारिक धर्मका प्रतिपादन कर रहा हूँ' कहकर उपक्रम किया गया है। आपस्तम्बका अभिप्राय शायद यह है कि स्मृतियोंका धर्म वास्तवमें प्रधान रूपसे वैदिकोंके संकेतोंद्वारा निर्मित आचार-मात्र है। इनमेंसे कुछ आचार वेदोंमें भी मिलते हैं। अतएव आपस्तम्बका कहना है कि वेद भी धर्मका प्रमाण है। आपस्तम्ब धर्मज्ञोंके समयोंका याने धर्मज्ञोंद्वारा किए गए प्रस्तावोंका अधिक समर्थन करता है। आपस्तम्ब यह स्पष्ट रूपसे कहना चाहता है कि स्मृतियोंके आचार शिष्टकृत याने शिष्टों या सभ्यों-द्वारा निर्मित हैं। अतएव बादमें उसने कहा, "यं आर्याः क्रियमाणं प्रशंसन्ति स धर्मः" याने 'आर्य जिसका आचरण तथा जिसकी प्रशंसा करते हैं वही धर्म

---

१ समयाचारका अर्थ है समयसे याने संकेतोंसे अथवा प्रस्तावोंसे विहित (निश्चित) आचार-समयाचारके याने समयाचारमें परिलक्षित- सामयाचारिक धर्म।

है'। आपस्तम्बने यह भी कहा कि स्त्रियों तथा शूद्रोंकी आचार-पद्धतिको उनमें वर्तमान रूढ़ियोंके आधारपर समझना चाहिए। जो आचार-विचार स्मृतियोंमें प्रत्यक्ष रूपसे वर्णित नहीं हैं उनको भी स्मृतिकारोंने प्रमाण माना है। इसके दो कारण हैं। एक तो यह कि क्या गृह्यसूत्र, क्या धर्मसूत्र दोनों वैदिक समाजके केवल चुने हुए आचारोंका तथा कर्मकाण्डका विवेचन करते हैं। इसीलिए कहना पड़ा कि जिस आचारका उल्लेख नहीं हुआ उसे रूढ़िके आधारपर समझना चाहिए। दूसरा कारण यह है कि नवीन परिस्थितियोंमें निर्माण तथा नये रूपसे वर्धमान नवीन सामाजिक समूहोंके आचार-धर्मोंका अनुशासन स्मृतिग्रंथोंमें नहीं मिलता। अतएव स्मृतिग्रंथोंने रूढ़ि तथा सदाचारके प्रामाण्यका स्वीकार किया।

धर्मशास्त्रके ग्रंथोंमें गृह्यसूत्र तथा धर्मसूत्र सबसे प्राचीन हैं। आश्वलायन, बौधायन, आपस्तम्ब, पारस्कर, गोभिल, कौशिक आदि १७ गृह्यसूत्र संप्रति उपलब्ध हैं। धर्मसूत्रोंकी ओर निगाह डालें तो आपस्तम्ब, गौतम, वसिष्ठ तथा बौधायन ये चार ही प्राचीन धर्मसूत्र आज शुद्ध स्वरूपमें उपलब्ध हैं। अन्य धर्मसूत्रोंके वचन धर्मपर लिखित निबन्धोंके रचयिताओं द्वारा संगृहीत हैं अवश्य; परन्तु मूल ग्रंथ नष्ट हो गये हैं। धर्मसूत्रोंके बाद श्लोकात्मक स्मृतियोंका उत्कर्ष हुआ। उनमें मनु तथा याज्ञवल्क्यकी स्मृतियोंका प्रामाण्य सबसे अधिक प्रस्थापित हुआ। यों तो अन्य स्मृतियाँ भी उतनी ही प्रमाण मानी गई हैं; परन्तु इन दो स्मृतियोंकी महत्ता हिन्दू समाजमें बहुत मानी गई। 'मिताक्षरा' और 'कृत्यकल्पतरु' ऐसे धर्म-निबन्ध हैं जिन्होंने अपने अपने विषयपर लिखित स्मृतियोंके संग्रहका प्रथम सूत्रपात किया। इसमें उल्लिखित धर्मसूत्र तथा श्लोकात्मक स्मृतिग्रंथ उपलब्ध नहीं हैं। परन्तु यह सच है कि 'मिताक्षरा', 'कृत्यकल्पतरु' तथा इसी तरहके अन्य निबन्धरूप ग्रंथोंमें नष्ट स्मृतियोंके जो वचन संगृहीत हैं उनके संकलनसे यह ध्यानमें आता है कि इन नष्ट स्मृतियोंमें इनसे अधिक महत्त्वपूर्ण विषय शेष न रहा होगा। न्यायालयके व्यवहारपर लिखित 'नारद स्मृति' वास्तवमें एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। बृहस्पति तथा कात्यायनके स्मृतिग्रन्थ भी उतने ही महत्त्वपूर्ण रहे होंगे। उनके श्लोकोंके उपलब्ध संग्रहसे यह अनुमान निश्चित रूपसे निकलता है। प्रस्तुत पंक्तियोंके (मूल) लेखक

---

१ 'व्यवहार' स्मृतिशास्त्रका पारिभाषिक शब्द है। उसका मुख्य अर्थ है मानवका वह आचार जिसपर क़ायदा लागू हो। इस शब्दका अर्थ 'क़ायदा' या 'क़ानून' भी हो सकता है।

द्वारा संपादित धर्मकोशके व्यवहारकाण्डमें आज अनुपलब्ध छियालीस (४६) स्मृतियोंपर लिखित निबंध तथा टीकाग्रंथोंमें पाये जानेवाले व्यवहारसम्बन्धी वचन पूर्णतया संगृहीत किए गए हैं।

धर्मसूत्रों तथा श्लोकात्मक स्मृतियोंके प्रधान विषय हैं वर्णधर्म तथा आश्रम-धर्म। धर्मसूत्रोंमें राजधर्म तथा न्याय और व्यवहारके धर्मका संक्षिप्त विवेचन है। इनका विस्तृत विवेचन मनुस्मृति, विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति तथा नारदस्मृतिमें किया गया है। खासकर मनुस्मृति राजधर्मकी दृष्टिसे बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसके उत्तरखण्डमें याने सातवें अध्यायके बाद सामाजिक संस्थाओं तथा राजनीतिका विस्तारके साथ विवेचन है। इससे यह कहना आवश्यक होता है कि मनुस्मृति भारतीय धर्मशास्त्रके इतिहासमें विकास या प्रगतिके नये युगकी परिचायक है। मनुस्मृतिकी समाजसम्बन्धी विचार-पद्धतिमें वैदिकोंके ऐहिक दृष्टि-कोणका प्रथम परिचय प्राप्त होता है। धर्मसूत्रोंमें यह दृष्टिकोण नहीं पाया जाता है। मालूम होता है कि उस कालमें राज्य तथा वर्ण-व्यवस्थाके विषयमें ऐहिकता-प्रधान विचार पद्धतिका जन्म नहीं हुआ था; कमसे कम उसको एक प्रौढ रूप प्राप्त नहीं हुआ था। मनुस्मृति और एक दृष्टिसे भी अपना विशेष महत्त्व रखती है और वह है परिस्थिति तथा कालके भेदोंके अनुसार मनुस्मृतिपर समय समयपर किये गए अनेकों संस्कार जिनसे धर्मके परिवर्तनोंका क्रम पाया जाता है। इस सम्बन्धमें नियोगका उदाहरण बड़ा सुन्दर है। मनुस्मृतिमें एक जगह नियोगका विधान है तो बादमें दूसरे स्थानपर उसकी घोर निन्दा भी उपस्थित है। इस तरहका और इतना अन्तर्विरोध गौतम, आपस्तम्ब आदि धर्मसूत्रोंमें नहीं मिलता। अन्य स्मृतिग्रंथोंके और महाभारत तथा पुराणके आधारपर यह तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि प्राचीन कालमें नियोगको त्रैवर्णिकोंकी मान्यता मिली थी। इस सम्बन्धमें मनुस्मृतिका कथन है कि दुष्ट राजा वेनके कालमें इस पशु-धर्मका सूत्रपात हुआ। निषेधके महत्त्वको पाठकोंके मनपर अङ्कित करनेके लिए यह कहा गया; इसमें ऐतिहासिक सत्य नहीं; वास्तवमें यह एक अर्थवाद[1] (Legal Fiction) है।

---

१ प्राचीन कायदोंमें अर्थवादको बड़ा महत्त्व प्राप्त था। काल्पनिक युक्तियों तथा कल्पनाओंके आधारपर विधि-निषेधोंका जो समर्थन किया जाता है वह अर्थ-वाद कहलाता है।

जब स्मृतियोंको ऐहिक समाज-धारणाके शास्त्रका रूप प्राप्त होने लगा तब उस ऐहिक विचार-पद्धतिका सूत्रपात हुआ जो धार्मिक तथा पारलौकिक विद्यासे पूर्णतया स्वतंत्र थी। इसीसे परलोककी कल्पनासे अलग याने ऐहिक विचारोंपर आधारित सामाजिक विद्याका उदय हुआ। इस विद्याको प्राचीन कालमें 'अर्थ-शास्त्र' कहा जाता था। राजनीति तथा राज्यशासन 'अर्थशास्त्र'के विषय थे। उपनिषदोंके परवर्ती कालमें जिस तरह वेदविद्यासे पृथक् दर्शन उत्पन्न हुए उसी तरह धर्मशास्त्रोंकी रचनाके उपरान्त उनसे पृथक् (भिन्न) समाजविद्याका, 'अर्थ-शास्त्र'का निर्माण हुआ। उशना तथा बृहस्पतिद्वारा प्रणीत अर्थशास्त्र सबसे प्राचीन हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें दोनोंका उल्लेख है। इस पुस्तकके 'विद्यासमुद्देश' नामके प्रकरणमें जो चर्चा की[१] गई है उससे अनुमान निकलता है कि ये तीनों अर्थशास्त्र त्रयीको अर्थात् धर्मशास्त्रको विद्या माननेके लिए तैयार नहीं थे। जिस तरह रोमका क़ानून परलोकसम्बन्धी धर्मके आचारका अंश नहीं था उसी तरह अर्थशास्त्रके समयका क़ानून भी पारलौकिक धर्म-विचारका विभाग न रहा। अर्थशास्त्रोंने महाभारतकी विचार-प्रणालीको बहुत दूरतक प्रभावित किया है। (देखो शान्तिपर्व अध्याय ३३५–३४५)। वहाँ उशना तथा बृहस्पति दोनोंको दण्डनीतिकार मानकर उनके शास्त्रकी प्रशंसा की गई है।

स्वायंभुवादि धर्मशास्त्रों तथा बार्हस्पत्यादि अर्थशास्त्रोंके संस्कारोंसे महाभारतका धर्म-चिन्तन बड़ा ही गहरा और व्यापक बना। फलतः धार्मिक एवं सामाजिक विचारोंकी दृष्टिसे महाभारतके शान्ति तथा अनुशासन दोनों पर्व मनुस्मृति-जैसे ग्रंथकी अपेक्षा भी अधिक अनमोल हैं। इन पर्वोंमें धर्मपरिवर्तनके इतिहास, राज्यशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा अध्यात्मविद्याका उत्कृष्ट मन्थन करके सुविचारोंको ग्रथित किया गया है। समाज, कुटुम्ब तथा व्यक्ति तीनोंके विषयमें तात्त्विक और मौलिक विचार वहाँ प्रतिपादित हुए हैं। महाभारतकी यह विचार-राशि वास्तवमें महर्षि व्यासद्वारा प्रणीत विशाल स्मृति है। यह व्यासस्मृति समूचे स्मृति-साहित्यमें अद्वितीय है। महाभारतकी यह धर्म-मीमांसा बुद्धिवादको अपनाकर की गई है। उसमें धर्म-प्रमाणोंके सम्बन्धमें अनेक पक्षोंका प्रतिपादन है। कहा गया है, "कोई कहते हैं कि श्रुतियाँ धर्मके प्रमाण हैं, कोई उन्हें धर्मके लिए प्रमाण नहीं मानते। हम किसी

---

१ इस अर्थशास्त्रके विषय और आज जिसे अर्थशास्त्र कहा जाता है उसके विषयमें बड़ा अन्तर है।

भी अभिनिवेशका स्वीकार न करते हुए यह कहते हैं कि श्रुतियोंद्वारा सब कुछ कहा गया है।" (शान्तिपर्व १०६।१३)। शान्तिपर्वमें वैदिक पशुयागकी गर्हणीयता, एकेश्वरभक्ति तथा वर्णव्यवस्थाकी अस्थिरताका प्रतिपादन किया गया है। यह भी बतलाया गया है कि एक जमाना था जब वर्णभेदोंसे रहित और धर्मपर आधारित समाजव्यवस्था विद्यमान थी। राज्यसंस्था तथा वर्णव्यवस्थाकी उत्पत्तिकी बौद्धिक युक्तियुक्तता यहाँ विचारका विषय बनी है। श्रद्धामूल धार्मिक आचारोंकी अपेक्षा नैतिक और नींवके रूपमें स्थित तथ्योंकी श्रेष्ठता यहाँ वर्णित है। बार बार उपदेश दिया गया है कि नैतिक तत्त्व ही सब धर्मोंकी आधारशिला है (शान्तिपर्व अध्याय २५६; अनुशासनपर्व अध्याय १६२, १६३)। सब मानवोंको परमार्थ-साधनाका समान अधिकार दिया गया है। सर्वभूतहितको धर्मके लक्षणके रूपमें मान्यता दी गई है। यह प्रतिपादित हुआ है कि धर्मके निर्णयमें सिर्फ़ वैदिक शब्दोंके प्रमाणसे काम नहीं हो सकता, सर्व-हितका विचार करनेवाले साधुओंके मन्तव्योंको भी प्रमाण मानना होगा। सच बात तो यह है कि महाभारत विवेचनात्मक दृष्टिसे संयुक्त सुविचार-रत्नोंका एक बड़ा कोष है।

ऐहिक-विचार-प्रधान अर्थशास्त्र तथा पारलौकिक-विचार-प्रधान धर्मशास्त्रका संघर्ष कुछ देरतक चला। धर्मशास्त्रोंकी अपेक्षा अर्थशास्त्रोंने क़ानूनोंमें अधिक सुधार किया था। उदाहरणके तौरपर धर्मशास्त्रोंमें अपराधोंके लिए जो दण्ड दिया जाता था उसमें अर्थशास्त्रने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया। जिस अवयवके द्वारा अपराध किया गया हो उस अवयवके छेदनका विधान धर्मशास्त्रमें है। अर्थशास्त्रने इसके सम्बन्धमें विकल्प उपस्थित किया। अर्थशास्त्रका कथन है कि द्रव्य-दण्ड देनेसे अपराधी व्यक्ति अवयव-छेदनकी आपत्तिसे छुटकारा पा सकता है (अध्याय ८७)। प्राचीन धर्मसूत्रोंमें मनुष्य-वधके लिए भी सिर्फ़ धनस्वरूप दण्ड देना पड़ता था; अर्थशास्त्रमें मनुष्य-वधके लिए दण्डके रूपमें अपराधीका वध विहित है (अध्याय ८८)। कहा गया है कि नारदस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृतिमें अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र अधिक बलवान् है। इसका अर्थ यह है कि याज्ञवल्क्यस्मृतिके कालसे अर्थशास्त्र पिछड़ गया, गौण बना। उस समयतक उसका महत्त्व नष्ट हुआ; फलतः वह लुप्तप्राय हो गया। कौटिलीय अर्थशास्त्रके उपलब्ध होनेसे अर्थशास्त्रके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण आधार प्राप्त हुआ है। यदि इस ग्रंथको सम्राट् अशोकके पूर्व प्रत्यक्ष अमात्य कौटिल्यकृत माना जाय तो यह सिद्ध है कि इस विषयपर इतना ज्ञान-संपन्न अतएव प्रभावी ग्रन्थ उस कालमें संसारमें कहीं भी नहीं मिलता।

हमने अबतक वैदिकोंकी कुटुम्बसंस्था तथा समाजसंस्थाके अध्ययनके ग्रन्थरूप साधनोंका संक्षेपमें निर्देश किया। इन ग्रंथोंके आधारपर जिस निर्णयपर हम पहुँच सकते हैं उसका विचार अब प्रस्तुत करेंगे।

विवाह, कुटुम्बसंस्था तथा उत्तराधिकार

ऋग्वेदकी कुटुम्बसंस्था पितृप्रधान है। इस संस्थामें पिता तथा पुत्रको माता या कन्याकी अपेक्षा अधिक अधिकार प्राप्त हैं। परन्तु सामान्य रूपसे इस कुटुम्ब-संस्थामें पिता तथा माताकी प्रतिष्ठा समान मानी गई थी। 'पितरौ' जैसे द्विवचनका प्रयोग माता तथा पिता दोनोंका वाचक है। इससे दोनोंकी समान प्रतिष्ठा सूचित होती है। ऋग्वेदमें जिस स्थानपर 'पिता' तथा 'माता' शब्दोंसे द्युलोक और पृथ्वीका निर्देश हुआ है वहाँ इन दोनोंकी समान महिमा ही वर्णित है। वे दोनों (ऋग्वेदसंहिता १।१६०) विश्वका कल्याण, सत्यका धारण तथा भूतजातका रक्षण करते हैं। इस तरहकी प्रशंसा ऋग्वेदमें की जाती थी। वहाँ कहा गया है कि उन दोनोंका पुत्र विश्वके भारको वहन करनेमें समर्थ बुद्धिशाली तथा पवित्र शक्तिसे संयुक्त है और अपनी मायासे वह भुवनोंको पावन करता है। उनका यह पुत्र वास्तवमें सूर्य है। यह रूपकात्मक भाषा कुटुम्बसंस्थाके सम्बन्धों तथा आकांक्षाओंको सूचित करती है। देवोंका तथा समूचे विश्वका संसार चलानेवाले द्युलोक और पृथ्वीका यह युगल वेदोंके अनुसार सब मानवी युगलोंका आदर्श है। वैदिक संस्कृतिका जीवनसम्बन्धी दर्शन ही यह है कि विश्वरूप दिव्य शक्ति मानवी व्यव-हारोंका मार्गदर्शन करती है। सूर्या-सूक्तोंमें सूर्या तथा चन्द्रमाका विवाह वर्णित है। सूर्याका अर्थ है किरण-लक्ष्मी (याने किरणोंकी आभा या शोभा)। उससे चन्द्रका विवाह संपन्न हुआ। चन्द्रमा सूर्यके जामाता हैं। सूर्यकी प्रभासे चन्द्रका शाश्वत विवाह हुआ है। यही खगोलशास्त्रका सिद्धान्त है। आर्योंके विवाहसंस्कारमें इसी सूर्या-सूक्तका पठन करना पड़ता है।

पुत्रके अभावमें पुत्रीका अधिकार पुत्रवत् माना जाता था। उसको पुत्रिका कहते थे। उससे उत्पन्न पुत्रको उसके पिताकी संपत्तिका उत्तराधिकार प्राप्त होता था। इसीलिए उस कालमें उस लड़की–जिसके कोई भाई नहीं–के साथ विवाह करनेमें लोग हिचकते थे; क्योंकि उत्पन्न पुत्र उसके पिताका पुत्र माना जाता था (ऋग्वेद संहिता १।१२४।७; निरुक्त ३।५)। ऋग्वेदके कालमें माना जाता था कि संतानसे अमर-त्वकी प्राप्ति होती है (ऋग्वेदसंहिता ५।४।१०)। पुत्र-संतानको अधिक लाभदायी

माना जाता था। पुत्र घरमें ही रहते हैं और सुरक्षामें समर्थ होते हैं। अतएव पुत्रोंकी आकांक्षा की जाती थी (ऋग्वेदसंहिता २।२१।२)।

गृहसंस्थामें पत्नीके रूपमें स्त्रीकी प्रतिष्ठाको प्रधानता दी जाती थी। खास-कर क्षत्रिय-कुलमें उत्पन्न नारियोंको युद्धमें सारथ्य करनेका भी अधिकार प्राप्त था। मुद्गलके साथ उसकी स्त्री मुद्गलानी युद्धमें सारथ्य करनेके लिए चली गई थी, (ऋग्वेद संहिता १०।१०२)। ऋग्वेद-कालमें पति-पत्नीका जो नाता तथा कुटुम्ब-संस्थाके जो पारस्परिक सम्बन्ध सम्मत थे वही नाता तथा वे ही कौटुम्बिक सम्बन्ध आजतक भारतीयोंमें आदर्श माने गये हैं। विवाहित स्त्रीपर पतिका एक तरहसे स्वामित्व अवश्य था और है भी; परन्तु वह गृहकी स्वामिनी है यह कल्पना वैदिक कालसे आजतक सर्वसम्मत है। पत्नी ही वास्तवमें गृह या घर है यह भावना ऋग्वेद, ३।५३।४, में व्यक्त की गई है। विवाहके समय आशीर्वादके मंत्रोंमें कहा गया है, "सास, ससुर, देवर, ननद आदिकी तुम सम्राज्ञी बनो," (ऋग्वेद संहिता १०।८५।४६)। ऋग्वेदकालीन गृहसंस्थामें स्त्रीको स्त्री-पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो सकता था। उस समय लोगोंकी यह धारणा थी कि विवाहके उपरान्त जब स्त्री घरमें प्रवेश करती है तब उसके कटाक्षोंसे ही घरका उत्कर्ष हो सकता है। यज्ञमें उसकी महत्ता पतिके समान ही थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (२।२९।३) में कहा गया है कि पति तथा पत्नी दोनों समान रूपसे धनके स्वामी हैं। राष्ट्रमें "पुरन्धिर्योषा' निर्माण हो" यही राजाको अश्वमेधमें दिया जानेवाला आशीर्वाद है। 'पुरन्धि'का अर्थ है गृहसंस्थाके भारको वहन करनेवाली स्त्री।

ऋग्वेदके समय एकपत्नीकत्वको ही प्रशस्त माना जाता था। इसलिए पाणि-ग्रहणके मन्त्रों तथा विवाह-सूक्तोंमें पत्नी अथवा भार्याका उल्लेख एकवचनमें ही पाया जाता है। पाणिग्रहणके मन्त्रमें कहा गया है, "गार्हपत्यके लिए देवोंने तुम्हें प्रदान किया," (ऋग्वेद संहिता १०।८५।३६)। गार्हपत्यका अर्थ है गृहसंस्थाका नेतृत्व अथवा गृहपालकत्व। गृह्यसूत्रोंके सप्तपदी नामक मन्त्रमें कहा गया है कि पत्नी सखी बनती है। इससे यह तो निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि पति-पत्नी-की मित्रता तथा समानताका नाता वैदिकोंका वैवाहिक आदर्श था।

यों तो बहुपत्नीकत्व भी ऋग्वेदकालीन समाजमें मान्य था (ऋग्वेदसंहिता १।१६२।११, ७।१।१; ७।२६।३; १०।४३।१); परन्तु संभव है कि वह धनिकों तथा कारीगरोंकी जातियोंमें विशेष रूपसे प्रचलित रहा हो। भारतीय समाजमें

बहुपत्नीकत्व ऋग्वेदकालसे लेकर आजतक रूढ है। इसका प्रमुख कारण है प्रजाकी या सन्तानकी अधिक मात्रामें आकांक्षा। युद्धके लिए क्षत्रियोंको वीरोंकी आवश्यकता प्रतीत होती थी, तो काम तथा व्यवसायके लिए किसानों तथा कारीगरोंको अनेकों साथियोंकी। भारतवर्षमें उस समय उपनिवेशोंके लिए भरसक क्षेत्र था और उसके लिए प्रजाका जितना विस्तार हो उतना आवश्यक ही था। प्राचीन कालमें कई छोटे छोटे राज्य विद्यमान थे। उनकी आपसमें लड़ाइयाँ हुआ करती थीं। फलतः राजवंशोंपर निर्वंश या निःसन्तान होनेकी आपत्ति हमेशा आया करती थी। अतएव बहुप्रजाकी कामना नित्य जागृत रहती थी। यह भी बहुपत्नीकत्वकी प्रथाका एक प्रमुख कारण है।

यह दिखाई देता है कि आर्य अपनी प्रतिष्ठाकी परिधिके बाहर भी विवाह करते थे। ऋग्वेदमें कई बार दानके रूपमें पाई जानेवाली दासीका उल्लेख आता है। ऋग्वेदमें 'दासी'का अर्थ गुलाम स्त्री नहीं है; क्योंकि कई स्थानोंपर 'दास' शब्दका उपयोग निम्न कोटिके वर्गके अर्थमें किया गया है। अतएव 'दासी'का प्रमुख अर्थ होता है 'दासवर्गकी स्त्री'। 'दास' शब्दको 'गुलाम'के अर्थका वाचक माननेके लिए प्रबल प्रमाण ऋग्वेदमें नहीं मिलते। ऋग्वेदमें 'दास'का अर्थ है 'श्रमजीवी' अथवा 'गरीबीमें रहनेवाले व्यक्ति' और 'आर्य'का अर्थ है 'सुस्थित मानव'। पहलेपहल वैदिक आर्योंसे कलह करनेवाले समकक्ष व्यक्तियोंका उल्लेख 'दास'के रूपमें होता था। संभव है कि वैदिकोंने जब अवैदिकोंपर अपनी प्रभुता या श्रेष्ठता स्थापित की तब 'दास' शब्दका 'समाजके निम्न कोटिके व्यक्ति' वाला अर्थ स्वीकृत हुआ हो। केवल इतना ही अनुमान संभव है; इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता।

यह मालूम होता है कि ऋग्वेदके जमानेमें कन्यादानकी अपेक्षा उभय पक्षोंमें स्वयंवरकी पद्धति अधिक प्रचलित रही होगी। 'भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्' (ऋग्वेद १०।२७।१२) में कहा गया है कि वधू अपने मित्र या सहचरको स्वयं पसन्द करती है। विवाह-पूर्व प्रेमीके लिए 'जार' शब्द प्रयुक्त होता था। 'जार'का अनैतिक अर्थ ऋग्वेदमें नहीं पाया जाता; वहाँ उसका अर्थ केवल 'प्रणयी' है। ऋग्वेदके विवाह-सूक्त (१०।८५) से विवाह-योग्य होनेके बाद स्त्रीपुरुषोंके विवाहकी प्रथा सूचित होती है। वेदोंमें बाल-विवाहका उल्लेख कहीं भी नहीं मिलता। हाँ, यह सही है कि ऋग्वेद (१।११।७) में वृद्धावस्थामें किए गए 'घोषा'के विवाहका एकमात्र उल्लेख है। 'वर' शब्दसे

कन्याकी सगाईका प्रस्ताव करनेवाले वरके स्नेहीका भी निर्देश उस समय किया जाता था। वास्तवमें ऋग्वेदका 'वर' शब्द केवल 'पति'का वाचक नहीं है। मालूम होता है कि वह अर्थ उसे बादमें प्राप्त हुआ होगा। ज्येष्ठत्वके क्रमके अनुसार कन्याओं तथा पुत्रोंके विवाह संपन्न होते थे। कतिपय अविवाहित नारियोंके जीवनभर पिताके गृहमें रहनेके कुछ उदाहरण भी ऋग्वेद (२।१७।७) में उपस्थित हैं। परिस्थितिके अनुसार वरपक्ष या वधूपक्षसे दहेज लेनेकी पद्धति उस समय विद्यमान थी (१।१०९।२)।

पति-पत्नीके यौन सम्बन्धोंका निष्ठा-पूर्ण रहना परमावश्यक है। यह भावना उस सुदूर कालसे ही रूढ है। द्यूतकी निन्दा करते हुए कहा गया है कि द्यूतके व्यसनमें फँसे हुए व्यक्तिकी स्त्रीको पराये स्पर्श करते हैं (ऋग्वेद १०।३४।४)। गुप्त रूपसे गर्भस्राव करानेवाली स्त्रियोंका दृष्टान्त भी दिया गया है (ऋग्वेद २।२९।१)। पथभ्रष्ट होकर भ्रातृहीन युवतियोंके वेश्याएँ बननेका भी वर्णन विद्यमान है (ऋग्वेद १।१२।४७; ४।५।५)। वेश्यावृत्तिको अपनानेवाली तथा स्वैर संभोग करनेवाली स्त्रीका उल्लेख 'साधारणी'के रूपमें किया गया है (ऋग्वेद १।१६७।४)। एक स्थानपर बड़ी ही गंभीर चेतावनी दी गई है कि दुर्वृत्त नारियोंने अपने लिए रौरव नरकका निर्माण कर लिया है।

वेदोंके पहले या पूर्ववर्ती कालमें जो समाज विद्यमान था उसमें विवाह-संस्थाका स्वरूप क्या था इस सम्बन्धमें ऋग्वेद तथा अन्य वेदोंसे कोई विशेष अनुमान नहीं किया जा सकता। स्मृतियों तथा पुराणोंमें पाये जानेवाले ज्ञानके आधारपर उस समयके वैदिक समाजकी विवाह-संस्थाके इतिहास एवं परिवर्तनोंका अनुमान करना संभव है। प्रायः समाजके सब समूहोंमें एक ही तरहकी विवाह-संस्था प्रचलित नहीं हुआ करती; उसमें अनेकों प्रकार पाये जाते हैं। उनमेंसे कुछ संस्थाओंको अतिप्राचीन कालके अवशेषोंके रूपमें पहचाना जा सकता है।

जिस समय दम्पतिके व्यक्तिगत सम्बन्धकी स्थापना नहीं हुई थी, उस समयकी स्थिति महाभारत (आदिपर्व अध्याय १२२) में 'गो-धर्म'के रूपमें वर्णित है। इसको 'यूथविवाह' कहा जा सकता है। वहाँ कहा गया है कि जिस तरह चौपायोंके समूहोंमें यौनसम्बन्धके विषयमें बिना स्त्री-पुरुषके भेदके कोई अलग नाता रहा करता है उसी तरहकी मानवोंकी विवाह-संस्था उत्तर कुरुमें विद्यमान थी। इस तरहकी संस्थाके अस्तित्वका प्रमाण वैदिक कालमें नहीं मिलता। रुद्रके अपनी भगिनीसे तथा प्रजापति अथवा मनुके अपनी पुत्रीसे विवाह

करनेकी कथा वेदोंमें पाई जाती है। कौषीतकि ब्राह्मण (६।१) का कथन है कि प्रजापतिसे अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा तथा उषाका जन्म हुआ। फलतः ये भाई-बहन हुए। भाइयोंके मनमें उषाके प्रति अभिलाषाका उदय हुआ। उससे रुद्रकी उत्पत्ति हुई। परन्तु यह कथा वेदकालीन सामाजिक जीवनकी परिचायक नहीं है। इससे सिर्फ इतना ही निश्चित किया जा सकता है कि उस समय वेद-पूर्व-कालके सपिण्ड विवाहकी स्मृति शेष थी। पुराणोंमें इस तरहकी सपिण्ड-सम्बन्धोंकी परिचायक कुछ कथाएँ विद्यमान हैं। ऋग्वेदमें वर्णित यम-यमी संवाद सहोदरोंके वैवाहिक सम्बन्धोंकी याद दिलाता है और नये प्रतिबन्धको सूचित करता है। यम और यमी जुड़वाँ भाई-बहन हैं। यमी अपने सहोदर भ्रातासे विवाह-बद्ध होनेकी याचना करती है और यम उसको अनुचित मानकर उसका अस्वीकार करता है। यह सूक्त सहोदर सन्तानोंके विवाहको निषिद्ध सूचित करता है। मिस्र तथा ईरानकी संस्कृतियोंमें सहोदरोंके विवाह संपन्न होते थे। इस पद्धतिको ऋग्वेद-कालके वैदिकोंने निषिद्ध माना, यह इस सूक्तसे निश्चित होता है।

ऋग्वेदकालमें सपिण्ड-विवाहकी सीमाका निर्माण किया गया। सामान्य रूपसे तीसरी पीढ़ीमें कुटुम्ब अलग होते हैं। अतएव पहली दो पीढ़ियाँ याने सगे, सौतेले तथा चचेरे सम्बन्धोंको छोड़कर किए गए युवक-युवतियोंके विवाह ही सम्मत होने लगे। चचेरे सम्बन्धोंमें भी सगे भाइयोंकी सन्तान ही विवाहके लिए निषिद्ध मानी गई थी। फुफेरी या ममेरी बहन और फुफेरे या ममेरे भाईके विवाह ऋग्वेद-कालमें मान्य थे। ऋग्वेदी देशस्थ तथा कन्हाडा ब्राह्मणों और कर्नाटकादि दक्षिणके प्रान्तोंके ब्राह्मणोंमें इस तरहके निकटवर्ती सबन्धोंमें विवाह करनेकी प्रथा आज भी विद्यमान है। इसका मूल ऋग्वेदीय खिलोंके एक मन्त्रमें तथा शतपथ ब्राह्मणमें मिलता है। खिलके उस मन्त्रका अर्थ निम्नानुसार दिया जा सकता है:-- "हे इन्द्र, स्तुत (जिनकी स्तुति की गई हो) मार्गोंसे इस यज्ञमें आओ, हमारा यह भाग ले लो। मातुल (मामा) की कन्या या फुफेरी बहनकी तरह यह भाग तुम्हारा है। तृप्तिका निर्माण करनेवाली वपाका हवन किया गया है।" शतपथ ब्राह्मणके सम्बन्धित वाक्यका अर्थ यों है: समान कार्योंमें ही विकास होता है। अतएव समान पुरुषसे ही भोग्य तथा भोक्ताका जन्म होता है। इसलिए एक ही जातिके (युवक) यह समझकर क्रीडा करते

१ आयाहीन्द्र पथिभिरीळतेभिर्यज्ञमिमं नो भागधेयं जुषस्व । तृप्तां जहुर्मातुलस्येव योषा भागस्ते पैतृष्वसेयी वपामिव ॥ (ऋग्वेद खिल).

हैं कि चौथी या तीसरी पीढ़ीमें हमारा समागम होगा।" इसीके आधार-पर डॉ. के. ल. दसरीजीका यह अनुमान है कि प्रारम्भमें 'सपिण्ड' शब्दका अर्थ रहा होगा 'एक ही स्वयंपाक याने रसोईमें भोजन करने-वाले व्यक्ति।' पिण्डका अर्थ है अन्नका गोला। जब तक कुटुम्बोंमें अलगोझा नहीं होता तब तक सबकी रसोई एक ही जगह होती है। सामान्य रूपसे सगे और सौतेले भाई एक ही घरमें रहते हैं। चचेरे भाइयोंके सयाने हो जानेपर विभाजन या अलगाव हो जाता है। एक घरमें रहनेवालोंका अपरिपक्व अवस्था या वयमें यौन सम्बन्ध हो जाना निःसन्देह अनुचित है और इसीलिए सपिण्ड-विवाहको पहले पहल निषिद्ध माना गया होगा। डॉ. दसरीजीका यह अनुमान स्वीकारार्ह है। दूसरा कारण यह मालूम होता है कि यौन सम्बन्धोंके विषयमें किसी मर्यादाके अभावमें कोमल वयकी युवतियोंके विषयमें संभोगका जो अधिकार वृद्ध व्यक्ति-योंको प्राप्त था उससे वञ्चित होनेके लिए वे प्रस्तुत न रहे होंगे और इससे विवाह-योग्य युवकों तथा वृद्धोंमें वैर निर्माण होता होगा। इस आपत्तिका परिहार करनेके लिए समाजके समझदार (जानकार) अधिकारियोंने 'गो-धर्म'को निषिद्ध माना होगा। इस विषयका अधिक युक्तियुक्त विवेचन मनोविज्ञानके प्रणेता डॉ. फ्राइडके निबन्धमें देखना चाहिए। इसी सपिण्डताका अर्थ सूत्रों तथा स्मृतियोंके कालमें पारिभाषिक बना। गौतमादि सूत्रकारों तथा स्मृतिकारोंने सपिण्डताका सम्बन्ध पिताकी ओरसे सात तथा माताकी ओरसे सात पीढ़ियोंतक जोड़ लिया है। स्मृतिकारोंने पिण्डका अर्थ 'शरीर' मान लिया। कुछ स्मृतिकारोंके अनुसार सपिण्ड-विवाहकी निषिद्धताका वास्तविक कारण है माता-पिताओंके अवयवों या धातुओंकी वह अनुवृत्ति जो पाँच, सात या कहीं कहीं दस पीढ़ियोंतक रहती है। सपिण्डताकी मर्यादाके विषयमें स्मृतिकारोंमें बड़ा मतभेद है। 'पैठीनसी'ने माताकी ओरसे तीन तथा पिताकी ओरसे पाँच पुरुषोंतककी सपिण्डताको वर्ज्य माननेको कहा। 'चतुर्विंशतिमत' नामके धर्म-निबन्धमें माताकी ओरसे दो तथा पिताकी ओरसे तीन पुरुषोंतककी सपिण्डताको त्याज्य माना गया है। 'षट्त्रिं-शन्मत' नामका और एक धर्म-निबन्ध है जिसमें दो पुरुषोंतककी सपिण्डताको विवाहमें निषिद्ध समझा गया है। तात्पर्य, 'सपिण्ड' शब्दके अर्थके सम्बन्धमें

१ समान एव कर्मन् व्याक्रियते। तस्मादु समानादेव पुरुषादत्ता चाद्यश्च जायेते। इदं हि चतुर्थे पुरुषे तृतीये संगच्छावह इति विदेवं दीव्यमानः जात्या आसत एतस्मादु तत्। – शतपथ ब्राह्मण १।८।३।६

स्मृतिकार कभी सहमत न हुए। विभिन्न परम्पराओंमें सपिण्डताकी भिन्न भिन्न मर्यादाएँ स्वीकृत थीं। इसके आधारपर डॉ॰ दत्तरीजीकी व्युत्पत्ति अधिक अर्थपूर्ण मालूम होती है।

सगोत्र तथा सप्रवर विवाहोंकी निषिद्धता वेदोंमें नहीं पाई जाती। मनुस्मृतिके एक पाठके अनुसार यह अनुमान करना सम्भव है कि मनुस्मृतिमें सगोत्र विवाह निषिद्ध नहीं माना जाता था। सम्भव है कि 'असपिंडा च या पितुः'के बदले 'असगोत्रा च या पितुः' पाठ सगोत्र विवाहकी निषिद्धताके साथ सामञ्जस्य स्थापित करनेके लिए बादमें प्रक्षिप्त किया गया हो।

मन्वादि स्मृतियोंमें विवाहके आठ प्रकार वर्णित हैं। वसिष्ठ-स्मृतिमें केवल छः दिए गए हैं। विवाह-प्रकारोंके भिन्न भिन्न स्मृतिकारोंने जो नाम दिये हैं उनमें असमानता है। वसिष्ठ तथा हारीतने क्षात्र तथा मानुष जैसे दो भिन्न नाम उपस्थित किए हैं। क्षात्र विवाहसे वसिष्ठका अभिप्राय शायद राक्षस विवाहसे होगा। परन्तु हारीतने राक्षस विवाहके कथनके बाद क्षात्र विवाहका अलग विधान किया है। ये आठों विवाह-प्रकार वैदिक अथवा वेद-पूर्व-कालसे ही भारतीय समाजके विभिन्न समूहोंमें रूढ हुए होंगे। इसीलिए सूत्रकालसे इनकी गणना की गई है। मनुद्वारा प्रतिपादित आठ प्रकार निम्नानुसार हैं:—ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच। इनमेंसे मनुने अन्तिम दोको छोड़कर पहले छः का ब्राह्मणोंके लिए, अन्तिम चारोंका क्षत्रियोंके लिए और राक्षसको छोड़कर अन्तिम तीनोंका वैश्यों तथा शूद्रोंके लिए विधान किया है। महाभारतमें आर्ष विवाहको निषिद्ध माना गया है; क्योंकि वहाँ उसे कन्या-विक्रयका ही एक प्रकार माना गया है। आसुरविवाह भी कन्याके विक्रयका ही एक रूप है। इन विवाहोंके सम्बन्धमें मनुद्वारा विहित वर्णविभागानुसारी तारतम्य सब स्मृतियोंको मान्य नहीं है। इसके उदाहरणमें नारदका वह मत उपस्थित किया जा सकता है जिसके अनुसार पैशाच तथा आसुरविवाह सबके लिए समान रूपसे निषिद्ध हैं। खासकर पैशाचविवाहको वहाँ पूर्णतया निंद्य माना गया है। बौधायनके अनुसार पहले चार विवाह ही ब्राह्मणोंके योग्य हैं। विद्यमान हिन्दू समाजमें सामान्य रूपसे प्राजापत्य, ब्राह्म तथा गान्धर्व ये तीन विवाह प्रशस्त माने गए हैं। प्राजापत्यमें धर्म, अर्थ तथा

---

१ असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥
—मनुस्मृति ३।५.

काम तीनोंके समान अधिकारकी कल्पना है। इस विवाहमें दम्पतिके लिए परस्पर निष्ठाका त्याग न करते हुए समान अधिकारोंके आधारपर धर्माचरण करनेका विधान है। बहुत संभव है कि एक पत्नीत्वकी कल्पनाका विकास भी प्राजापत्य-विवाहसे ही हुआ हो। ब्राह्मविवाहका विशेष रूप है कन्यादान। गान्धर्वविवाह वास्तवमें प्रेम-विवाह ही है। ये तीनों आजकल हिन्दू समाजमें उत्तम माने गए हैं। अन्य प्रकार रूढ हैं अवश्य; परन्तु उन्हें प्रशस्त नहीं माना जाता। विवाह-संस्थाके इतिहासकी दृष्टिसे उपर्युक्त आठों प्रकार बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। गान्धर्व तथा प्राजापत्यको छोड़कर शेष सभी विवाह पुरुष-प्रधान समाज-संस्थाकी ओर निर्देश करते हैं। ब्राह्मविवाहमें कन्यादानके कारण स्त्रीपर धनकी तरह स्वामित्व सूचित है। यह अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं कि ब्राह्मविवाहको मान्यता देनेवाले समाजमें प्राचीन कालमें स्त्रियों अथवा कन्याओंके विक्रयकी रूढि रही होगी। नियोगकी पद्धति स्त्रीकी पराधीनता एवं पितृ-प्रधान संस्थाकी परिचायक है।

नियोगकी पद्धति वेद-पूर्व कालसे प्रचलित है। जिस समय विवाहसे प्राप्त कन्यापर समूचे कुलका अधिकार स्थापित होता था उस समय नियोग-पद्धतिका जन्म हुआ। नियोगका अर्थ है आज्ञा; गुरुकी या कुलके अधिपतिकी आज्ञा। जिस लड़केके लिए कन्याको ब्याह करके कुलमें लाया गया वह अगर पुत्र-हीन अवस्थामें चल बसता था तो कुलके बड़े व्यक्ति उसकी विधवासे उसके 'देववर' अर्थात् पतिके भाई (ऋग्वेद १०।४०।२), अन्य सजातीय पुरुष, उच्चवर्णीय पुरुष या पुरोहितकी सहायतासे संततिका निर्माण कर लेते थे। इस सम्बन्धमें वेदों, पुराणों तथा महाभारतमें अनेकों आधार और उदाहरण मिलते हैं। आपस्तम्ब धर्मसूत्रमें नियोगका समर्थन करते हुए लिखा है, "कुलायैव हि कन्या दीयते' (२।२७।३) याने 'कुलको ही कन्यादान किया जाता है।' बृहस्पति स्मृतिका कथन है कि कलियुगके पहले कन्यादान व्यक्तिके रूपमें केवल वरको नहीं अपितु कुलको किया जाता था। सारांश, प्राचीन कालमें विवाहित वधूको समूचे कुलकी संपत्ति माना गया होगा और उसपर कुलके प्रमुखका ही अधिकार पहले लागू होता होगा। बादमें यह प्रथा नष्ट हुई और सिर्फ नियोगकी पद्धति बाकी रही। यह पद्धति भी कुछ कालके बाद लगभग मनुस्मृतिके दूसरे संस्करणके समय निषिद्ध मानी गई होगी। उत्तर भारतके कुछ प्रान्तों तथा जिलोंमें अंग्रेजी शासनके कालतक यह प्रथा प्रचलित थी। 'विवाहरत्नाकर'में इस प्रथाकी विद्यमानताका पता लगता है।

दैव विवाहका अर्थ है यज्ञमें दक्षिणाके रूपमें ऋत्विजको कन्याका दान । आर्ष-विवाहका अर्थ है वरसे गो-मिथुन याने गाय बैलका जोड़ा लेकर उसे कन्या प्रदान करना । आसुर-विवाहमें कन्याकी ज्ञाति वरसे द्रव्य लेती है । वास्तवमें यह विवाह और कुछ नहीं, कन्याका विक्रय ही है । राक्षसविवाहमें कन्याका उसके जन्मदाता कुलसे बलात् हरण किया जाता है । पैशाचविवाहमें सुप्त, मदिरापानसे मत्त अथवा बेसुध लड़कीसे बलात् गुप्त संभोगको कारण माना गया है । तात्पर्य, प्राजापत्य तथा गान्धर्वको छोड़कर शेष सब विवाह-प्रकार पितृ-प्रधान समाज-संस्थाके परिचायक हैं ।

प्राचीन कालके वैदिक तथा अवैदिक भारतीयोंमें स्त्रीप्रधान अथवा मातृ-प्रधान समाजसंस्था भी विद्यमान थी । महाभारतके नाग-वंशसे वैदिकोंके विवाह-सम्बन्ध स्थापित होते थे । नागोंकी संस्था मातृ-प्रधान थी । वासुकिकी बहनसे विवाह होनेके उपरान्त जरत्कारु नामके ब्राह्मणको वासुकिके घरमें आकर रहना पड़ा । उलुपी नामक नागकन्यासे अर्जुनका विवाह हुआ था और उससे उसे इरावान् नामके वीर-पुत्रकी प्राप्ति हुई थी । यह इरावान् अपनी माताके पास ही रहा । गरुडका जन्म भी मातृ-प्रधान संस्थामें हुआ था । वैदिक आर्योंके कुछ समूहोंमें या वर्गोंमें मातृ-प्रधानता विद्यमान थी । इसके कुछ चिह्न भी प्राप्त होते हैं । परन्तु ऋग्वेदके कालमें ही पितृ-प्रधान अवस्थाका पूर्णतया निर्माण होनेके कारण मातृ-प्रधानता कुछ प्राचीन किन्तु अत्यन्त अल्प समूहों या वर्गोंमें शेष रही होगी, इस तर्कके लिए भी कुछ अवसर तो अवश्य मिलता है । ऋग्वेदकी ' आदित्य ' संज्ञा मातृ-प्रधान अवस्थाकी ओर संकेत करती है । अदिति कुछ बड़े देवोंकी माता है । वरुण, मित्र, सविता, पूषन आदिके लिए ऋग्वेदमें ' आदित्य ' विशेषणका उपयोग किया गया है । ऋग्वेदकी नारियोंका स्तर स्मृतियोंकी नारियोंके स्तरकी तुलनामें बहुत ही उच्च कोटिका है । इसके आधारपर मातृप्रधान कुटुम्ब-संस्थाको माननेवाले नाग आदि लोगोंसे जो विवाह-सम्बन्ध वैदिकोंने जोड़ लिए उन्हें भली भाँति समझा जा सकता है । ऋग्वेदकी एक ऋचाका अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि न्यायसभामें अपने धनका दाय साधिकार प्राप्त करनेवाली नारी दाक्षिणात्य रहा करती है । (निरुक्त ३।५) । यह दिखाई देता है कि यास्कके मतमें ऋग्वेद इस दाक्षिणात्य संस्थाकी स्त्रीकी ओर निर्देश करता है । दक्षिण देशकी द्राविड संस्कृतियोंमें आज भी मातृप्रधान संस्था विद्यमान है ।

संभव है कि घरमें स्त्रीका ऋग्वेदमें निर्दिष्ट ' सम्राज्ञी ' पद और यजुर्वेदके अश्वमेधमें राजाको आशीर्वाद देते हुए स्त्रीको प्रदत्त ' पुरन्ध्रि 'पद ये दोनों ऋग्वेदके

पूर्ववर्ती कालकी मातृ-प्रधानताके अवशेष हों । आपस्तम्ब धर्मसूत्र तथा जैमिनिकी पूर्वमीमांसा-(६।१।१०।१६) में स्त्रीको धन तथा यज्ञ दोनोंका अधिकार मिला है ।

मातृपूजा अथवा देवीपूजाको हिन्दुओंके कुल-धर्मोंमें बड़ा महत्त्व प्राप्त है । मातृपूजाकी संस्था प्राचीन कालमें चीनसे लेकर योरोपतक फैली हुई थी । भारत-वर्षमें भी वह प्राचीन कालसे प्रचलित है । मोहेंजोदारो तथा हराप्पाकी सिन्धु-संस्कृतिमें मातृ-पूजाके प्रतीक याने देवीकी मूर्तियाँ पाई गई हैं । यदि वह वैदिकोंकी संस्कृति नहीं है तो यह कहा जा सकता है कि वेदोंके कालमें ही वैदिकोंने मातृपूजाको अवैदिकोंसे ले लिया था । ईसाई धर्ममें भी मातृपूजा मेरीकी पूजाके रूपमें दृढमूल हुई है । कुटुम्बसंस्थामें स्त्रीकी जो प्रधानता थी वही इस पूजामें प्रतिबिम्बित है । असंतुष्ट और कलहप्रिय स्वभावके भाइयों तथा पिता-पुत्रोंको सामञ्जस्यके साथ एक घरमें इकट्ठा करनेका महत्त्वपूर्ण कार्य स्त्री माताके रूपमें करती रहती है । मत्सर, वैर और पिताके विरुद्ध निर्मित विद्रोहका शासन माता ही करती है । सन्तोषी व्यक्तियोंका और व्यर्थ न घूमते हुए एक ही जगह पीढ़ियोंतक रहनेवाले कुटुम्बोंका अगर संसारमें अस्तित्व है तो उसका मूल कारण है मातृपूजा । अथर्व-वेदके भूमि-सूक्तमें मातृ देवताका प्रतिबिम्ब है । ऋग्वेदमें नदियोंको 'मातृतमा' कहा गया है । मातृमहिमाके ही कारण पितृ-प्रधान वैदिक गृहसंस्था विनाशके गर्तमें गिरनेसे बची । माता तथा पिता दोनोंकी समान प्रतिष्ठा ही वैदिक गृहसंस्थाकी आधारशिला है ।

संपत्ति ही गृहोंका तथा समाजका मूल अधिष्ठान है । ऋग्वेदके समय वैदिक समाजमें व्यक्तिगत संपत्तिकी संस्था प्रधान बनी थी । स्थावर संपत्तिमें भूमि ही मुख्य है । वैदिक कालमें भूमिके विभाजनके लिए प्रमाण नहीं मिलता । विश्वजित्, सर्वमेध अथवा पुरुषमेधके सर्वस्वदानके विवरणमें भूमिदानको निषिद्ध माना गया है । इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस समय भूपतिको भी भूदानका अधि-कार प्राप्त नहीं था । विश्वकर्मा भौवन नामके राजाने सर्वमेध यज्ञमें कश्यप ऋषिको भूमिदान करना चाहा । तब भूमि उससे कहती है, "कोई भी मर्त्य (याने मानव) मेरा दान नहीं कर सकता । तुम मूर्ख हो । कश्यपको दान करनेकी तुम्हारी प्रतिज्ञा मिथ्या है । अगर तुमने मेरा दान किया तो मैं पानीमें डूब जाऊँगी," (ऐतरेयब्राह्मण ३६।७; शतपथब्राह्मण १३।७।१।१५) । पूर्वमीमांसामें जैमिनि भी इसी निर्णयपर पहुँचे हैं । गौतम, आपस्तम्ब, मनु आदि प्राचीन स्मृति-ग्रंथोंमें भी दायभागका विवेचन करते हुए भूमिके बँटवारे या

क्षेत्रके विभागका प्रतिपादन नहीं किया गया, केवल पशुरूप संपत्तिके विभागका कथन है। क्षेत्र-विभागका निर्देश परवर्ती कालके स्मृति-ग्रंथोंमें मिलता है। भूमिके विभागके बदले उपजका याने फलका विभाजन पहले किया जाता था। भूमिपर विभाजित अथवा अविभाजित कुटुम्बोंका सामूहिक स्वामित्व अनगिनत पीढ़ियोंतक चलता था। प्राचीन कालमें ऐसे अनेकों गाँव रहते थे जो एक एक कुलके बसाये हुए थे। इसलिए भूमिपर गाँवका सामुदायिक स्वामित्व रहता था। स्मृतिग्रंथोंके कालमें इस परम्परामें परिवर्तन उपस्थित हुआ। 'सीमाविवाद' मनुस्मृतिका एक स्वतंत्र प्रकरण है। मनुस्मृतिमें समय समय पर परिवर्तित धर्मोंका समावेश हुआ है। अतएव उसमें 'सीमाविवाद' जैसा प्रकरण पाया जाता है। भूमिपर गाँवके सामुदायिक स्वामित्वकी उक्त प्रथा पंजाबमें अंग्रेजी शासनके कालतक प्रचलित थी। प्राचीन कालके सामाजिक स्वामित्वके सिद्धान्तका यह एक अवशेष है।

दायविभागमें स्त्रीको याने कन्याको पितासे हिस्सा प्राप्त हो या न हो, इस विषयमें वैदिक कालसे ही मतभेद हैं। इस सम्बन्धमें यास्कने अनेकों भिन्न मत उपस्थित किए हैं। कतिपय व्यक्ति उस समय दुहिताको याने पुत्रीको (स्त्रीको). दाय देनेके पक्षमें थे और इसके लिए वे ऋग्वेदका (३।३१।१) प्रमाण भी देते थे। इस सम्बन्धमें स्वायम्भुव मनुके एक श्लोकको निरुक्तमें उद्धृत किया गया है, 'अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः। मिथुनानां विसर्गादौ मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्॥' (निरुक्त ३।४)। यह श्लोक वर्तमान मनुस्मृतिमें नहीं मिलता। उपर्युक्त श्लोकमें स्वायम्भुव मनुने मिथुनोंके निर्माणके प्रारम्भमें यह कहा कि धर्मके अनुसार पुत्रोंका दायविभाग समान रूपसे होता है। यास्कका कथन है कि यहाँ पुत्र शब्दसे पुत्र तथा पुत्री दोनोंकी ओर संकेत है। स्वायंभुव मनुने सामूहिक विवाह-पद्धतिका विसर्जन करके मिथुनोंके विसर्ग याने व्यक्तिगत विवाह-पद्धतिको जन्म दिया और पुत्र तथा पुत्री दोनोंको समान समझकर उन्हें दायका अधिकार प्रदान किया। इसके बाद तुरन्त ही कहा गया है कि स्त्रीको दायका अधिकार नहीं है। इस मतकी पुष्टिमें 'अदायादा स्त्री' यह तैत्तिरीय संहिताका वाक्य उद्धृत किया गया है। स्त्रीको दायाद न माननेका यह कारण बतलाया गया है कि उसका दान, विक्रय तथा त्याग करना सम्भव है। पुरुषके सम्बन्धमें ये तीनों असंभव हैं। इसके विरोधमें यह मत उपस्थित किया गया है कि शुनःशेपके उदाहरणसे सिद्ध है कि पुरुषका भी विक्रय सम्भव है। तात्पर्य, यह

---

१ अविभाज्यं सगोत्राणामासहस्रकुलादपि।
याज्यं क्षेत्रं च पत्रं च कृतान्नमुदकं स्त्रियः॥ उशना, मिताक्षरा २।११९.

दिखाई देता है कि स्त्रियोंकी दाय-प्राप्तिका अधिकार वैदिक कालमें मतभेदका विषय बना था।

वैदिकोंकी कुटुम्ब-संस्था तथा उससे संबद्ध अर्थ-व्यवस्थाका अबतक संक्षेपमें परामर्श किया गया। वास्तवमें वैदिकोंकी कुटुम्ब-संस्थाके विवाहके इतिहास तथा दायसम्बन्धी विचारका विस्तृत विवेचन आवश्यक है। इस सम्बन्धमें उपस्थित प्रमाणोंकी सामग्री भी विपुल है। यहाँ सिर्फ उच्च ध्येय या आदर्शरूप परम्परा, तत्त्वों तथा विचारोंका विकास दिखाना ही प्रतिपादनका मुख्य उद्देश्य है; हीन तथा उच्च परम्पराओंका सर्वाङ्गीण इतिहास बतलाना नहीं। इस दृष्टिसे इस विषयका सम्पूर्ण विवेचन करनेके लिए यहाँ पर्याप्त अवकाश भी नहीं है।

कुटुम्ब-संस्थाके बाद अब समाज-संस्थाकी ओर निहारना तर्ककी दृष्टिसे अनिवार्य है। कुटुम्ब-संस्थाका विस्तार ही वास्तवमें समाजसंस्था है। पुत्र-विस्तार ही समाज-संस्थाका बीज है। विवाह-संस्थाका प्रधान उद्देश्य है प्रजाका निर्माण एवं संवर्धन करना। पुत्रके कारण नरकसे (याने विनाशसे) उद्धार होता है। पुत्र ही वास्तवमें आत्मा है। उसीसे वित्त तथा विद्याकी परम्परा अटूट या अविच्छिन्न रहा करती है। धर्मशास्त्रमें पुत्रके कई प्रकारोंका उल्लेख है।

वेदोंमें कहा गया है कि वसिष्ठ तथा विश्वामित्रके सौ पुत्र थे। प्रजापति समाजका उगम-स्थान है। प्रजापति-संस्था ही वैदिक समाज-संस्थाका मूल है। प्रजापति या तो अपने बीजसे या अपने मनके प्रभावसे प्रजाकी प्राप्ति कर लेते थे। अनौरस सन्तान मानसिक संकल्पसे अपनी बन जाती है। इसीको पुत्र-विधि कहते हैं। औरस, क्षेत्रज, दत्तक, क्रीत, कानीन, सहोढ, अपविद्ध, पुत्रिका-पुत्र, स्वयंदत्त, पौनर्भव, गूढज, कृत्रिम और पारशव इन तेरह प्रकारके पुत्रोंका उल्लेख गौतमादि स्मृतिकारोंने किया है। इनमेंसे औरस, क्षेत्रज, पुत्रिका-पुत्र तथा दत्तकका उल्लेख ऋग्वेदमें विद्यमान है। दत्तकादि पुत्र-प्रकारोंके विषयमें प्रासङ्गिक निर्देश अन्य वेदों तथा ब्राह्मणग्रंथोंमें पाये जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मणकी एक कथामें विश्वामित्रद्वारा शुनःशेपका पुत्रके रूपमें स्वीकार किया गया है। ज्येष्ठ पुत्र किसे मान लें इस सम्बन्धमें निर्णय करनेका अधिकार ऐतरेय ब्राह्मणके समय पिताको प्राप्त था। 'मधुच्छन्द' आदि औरस पुत्रोंके रहते हुए भी विश्वामित्रने स्वयंदत्त 'शुनःशेप'को ही ज्येष्ठ पुत्र मान लिया और उसके दोनों कुलोंके पुत्रत्वके अधिकार (द्व्यामुष्यायणत्व)को मान्यता दी। ऐतरेय ब्राह्मणमें यह भी कहा गया है कि आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द और मूतिब ये विश्वामित्रके ज्येष्ठ पुत्र

थे; परन्तु उन्होंने संस्कृतिको न माना (कुशलं न मेनिरे)। अतएव विश्वामित्रने उन पुत्रोंको भी नीच (दस्यु) मान लिया (३३।६)। इससे यह सूचित होता है कि वैदिक कालमें समर्थ व्यक्ति भिन्न भिन्न मानव-गणोंका पुत्रके रूपमें स्वीकार करते थे। मानसिक पुत्रका अर्थ है मनसे निर्मित पुत्र। समाजशास्त्रकी दृष्टिसे यह कल्पना बड़ी ही अर्थपूर्ण है। मानसिक संकल्पसे अनेकों व्यक्तियोंको अपनेमें समाविष्ट करके वैदिक अपने कुलोंका विस्तार करते थे। इस कार्यमें यज्ञ-संस्था बड़ी उपयोगी सिद्ध होती थी। ऐतरेय ब्राह्मणमें कहा गया है कि प्रजापतिने यज्ञका पहले निर्माण किया और बादमें दो वर्णोंको—ब्रह्म तथा क्षत्र-को जन्म दिया (३४।१)। इसका अर्थ यह है कि वैदिकोंने यज्ञसंस्थाके द्वारा कुटुम्बसंस्था तथा समाज-संस्थाका विस्तार किया। यज्ञकी प्रधान क्रियाएँ दो हैं— नवीन प्रजाका स्वीकार और प्रजाका निर्माण। यज्ञ कई दिनों, कतिपय महीनों तथा कई वर्षोंतक (कभी कभी सहस्र संवत्सरोंतक) चलते रहते थे। सामाजिक जीवनको सुचारु तथा सुव्यवस्थित रूपसे चलाना ही यज्ञका स्वरूप था। वास्तवमें इस विषयमें अधिक संशोधन करनेकी आवश्यकता है।

वैदिकोंद्वारा निर्मित समाज-संस्थाकी उत्पत्ति और विकासकी समस्यासे भारतीय समाज-संस्थाकी उत्पत्ति तथा विकासका बड़ा ही गहरा सम्बन्ध है। वास्तवमें वैदिक समाज-संस्था तथा भारतीय समाज-संस्था दोनोंकी समस्या एक ही है। यह एक महत्त्वपूर्ण और सबसे जटिल प्रश्न है। भारतीय लोक-संस्थाके भविष्यसे इसका सम्बन्ध है। अतएव इसका अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है।

इतिहासके क्रमके अनुसार ही वैदिक लोक-संस्थाको वर्णभेद तथा जातिभेदके दो रूप प्राप्त हुए। इन रूपोंमें वैदिक लोक-संस्था या समाज-संस्थाका विकास भारतवर्षमें ही हुआ। पहले पहल आर्य तथा दस्युका भेद दिखाई देता है। 'दस्यु' तथा 'दास' दोनों शब्द पहले पर्यायवाची थे। ऋग्वेदमें आर्य और दस्यु अथवा दासमें भेद करनेकी कल्पनाको बड़ा महत्त्व प्राप्त था। उसमें वर्णभेदकी कल्पना बिलकुल नहीं दिखाई देती। शूद्र वर्णका उल्लेख ऋग्वेदमें सिर्फ एक ही बार आया है और वह भी उस पुरुषसूक्तमें जो सर्वसम्मतिसे ऋग्वेदका सबसे अन्तिम रचित अंश माना गया है। वर्णभेदकी दृष्टिसे पहले दो वर्णोंकी ही कल्पना विद्यमान थी। अगस्त्यके सम्बन्धमें कहा गया है कि उस ऋषिने प्रजा, अपत्य तथा बल की अभिलाषा रखते हुए दो वर्णोंका पोषण किया (ऋग्वेद १।१७९।६)। आर्य

तथा दास यही इन दो वर्णोंका स्वरूप है। कुछ लोग इनका अर्थ ब्राह्मण और क्षत्रिय भी बतलाते हैं; परन्तु ब्राह्मण तथा क्षत्रियका भेद वैदिक आर्योंमें प्रारम्भमें न रहा होगा; क्योंकि उनके देवताओंका जो रूप है उसमें ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्वकी सम्पूर्ण एकता ही लक्षित होती है। अग्नि, इन्द्र, ब्रह्मणस्पति, वरुण, मित्र, अर्यमा आदि देवता युद्ध करते हैं और साथ साथ सूक्तकर्ता भी हैं। उनके लिए 'ब्रह्म' जैसे विशेषणका उपयोग किया गया है जो उनके ब्राह्मणत्वका सूचक है। ब्राह्मण और क्षत्रियके भेदका जन्म बहुत बादमें हुआ। संभव है कि वर्ण-कल्पनाके आधारपर बादमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा विश जैसे तीन भाग उत्पन्न हुए हों। पुरुषसूक्तको यदि हम छोड़ दें, तो वर्णभेद तथा चातुर्वर्ण्यकी कल्पना ऋग्वेदमें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलती। ब्रह्म, क्षत्र तथा विशकी तीन संज्ञाएँ ऋग्वेदमें तीन वर्गोंके लिए प्रयुक्त हुई हैं अवश्य; परन्तु उसे कहीं भी 'वर्ण'की संज्ञा नहीं दी गई। अतएव मानना चाहिए कि उपर्युक्त ऋचामें 'वर्णों'का अर्थ है आर्य तथा दास ये दो वर्ण। यह स्वाभाविक है कि वर्णभेदकी कल्पना पहले आर्य तथा दासके भेदको लेकर ही निर्माण हुई हो। 'वर्ण' शब्द प्रथम 'रंग'के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है; इसलिए दासोंके (आर्योंसे) भिन्न रंग या वर्णके कारण ही वर्णभेदकी कल्पनाका उदय हुआ होगा। ऋग्वेदके 'दास वर्ण'में दासके लिए 'वर्ण'पद प्रयुक्त हुआ है। यह तो सही है कि वैदिकोंमें वंशभेदका अभिनिवेश पहले निर्माण नहीं हुआ था। दासोंके साथ रक्तका सम्बन्ध स्थापित करनेमें वे संकोच नहीं करते थे। दासियोंसे याने दास-वंशकी स्त्रियोंसे उत्पन्न प्रजाको वे अपने समूहोंमें आसानीसे सम्मिलित कर लेते थे। कवष-ऐलूष दासीपुत्र थे। सूक्तोंके रचयिता बननेके बाद तुरन्त ही उन्हें पुरोहितका पद अथवा ब्राह्मणत्व मिला। ऐतरेय ब्राह्मणकी कथाके अनुसार विश्वामित्रके सौ पुत्रोंमें आंध्र, पुलिन्द, मूतिब, शबर, पुण्ड्र आदि दस्युओंका समावेश हुआ था। वास्तवमें ये शब्द निःसन्देह अवैदिक अथवा अनार्य गणोंके वाचक हैं। ऐतरेय ब्राह्मणके कालमें इस तरहके सौ गण (समूह) विश्वामित्रके पुत्रोंके रूपमें पहचाने जाते थे। आंध्र, शबर आदि शब्द गणोंके या समूहोंके अथवा ज्ञातियोंके वाचक हैं। उन्होंने कल्याणकारी मार्गको नहीं अपनाया और वहाँ (उस ब्राह्मणमें) कहा गया है कि इसीलिए वे विश्वामित्रके शापके भाजन हुए और दस्यु बने। इस कथासे सूचित होता है कि आर्योंके समूहोंमें दासोंका समावेश उस समय आसानीसे हो सकता था। अथवा यह अनुमान भी संभव है कि दास तथा आर्य ये भेद वर्गभेदका रूप लेकर ही निर्माण हुए थे।

कुशल कर्म करनेवाले याने संस्कृतिको न माननेवाले व्यक्तियोंको 'दास' अथवा 'दस्यु' की संज्ञा दी जाती थी। संस्कृतिको पूर्णतया अपनाकर उसमें घुल मिलकर एक न होनेवाले भिन्न समूहोंके व्यक्ति अलग हो जाते थे। ऋग्वेदके कालमें वैदिकोंका विभाजन प्रथम तीन वर्गोंमें हुआ। ये तीन वर्ग हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा विश्। विश्का अर्थ है पौरोहित्य न करनेवाली और राज्यके शासनको साक्षात् न चलानेवाली प्रजा। 'विश्' शब्द ऋग्वेदमें कहीं भी 'वैश्यवर्ण'के अर्थमें प्रयुक्त नहीं हुआ। ऋग्वेदमें जिन व्यवसायोंका उत्कर्ष हुआ था वे थे पौरोहित्य, युद्धकला, राज्यशासन, व्यापार, कृषि, शिल्प तथा परिचर्या। धातुकाम, इमारत आदिकी रचाई याने भवन-निर्माण, बुनाई, शराब गलाना, पशुओंका पालन तथा संवर्धन, बढ़ईका काम, कुम्हारकाम, वैद्यक, मृगया आदि कलाएँ तथा शिल्प ऋग्वेदमें विद्यमान हैं। ये काम जातिके भेदोंके अनुसार विभाजित नहीं थे। विवस्वान् मनु, कश्यप, अंगिरस् भारद्वाज, कण्व, विश्वामित्र, देवापि, कपि आदि क्षत्रिय याने शासनकी बागडोर हाथमें रखनेवाले व्यक्ति थे और साथ साथ पुरोहित भी। देवताओंके स्वरूपसे भी यही दिखाई देता है कि ऋग्वेदके समय ब्रह्मत्व तथा क्षत्रियत्व दोनोंका एक ही कुलमें या एक ही व्यक्तिमें रहना पहले संभव था। अग्नि, इन्द्र, सविता, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति आदिको 'ब्रह्मा' कहा गया है और साथ साथ युद्धोंमें उनका शौर्य भी वर्णित है। रुद्र तथा अश्विदेव वैद्य भी हैं और क्षत्रिय भी। रुद्र और पूषन् एक ओर क्षत्रिय हैं तो दूसरी ओर पशुपाल भी। दिखाई देता है कि देवोंमें विभिन्न वर्णोंके कर्म एकत्रित किये गए हैं। सच है, भक्त तथा भगवान् (देव) में बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव तो होता ही है।

ऋषियोंके गोत्र गण-संस्थाके ही रूप हैं। ये गण-संस्थाएँ ही बादमें एक अथवा अनेक वर्णोंके रूपमें परिणत हुईं। क्षत्रिय ब्राह्मण बने और ब्राह्मण क्षत्रिय। एक ही ऋषि गणसे त्रैवर्ण्य तथा चातुर्वर्ण्य दोनोंका आविर्भाव हुआ। महाभारतके कालमें भी इस तरहका परिवर्तन पंजाबमें हो रहा था। कर्ण शल्यसे उसके देशकी निन्दा करते हुए कहते हैं कि 'बाह्वीक देशमें ब्राह्मण ही क्षत्रिय, वैश्य शूद्र तथा नापित बनते हैं और फिर ये ही ब्राह्मण हो जाते हैं,' (महाभारत ८।४५।६-८)। श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणोंके इतिहाससे सिद्ध होता है कि वर्ण-विभाग तीन पद्धतियोंसे हुआ है। (१) एक ही गणके भीतरी विकास (अन्तर्विकास)से अनेक वर्णोंका अथवा चातुर्वर्ण्यका निर्माण हुआ।

(२) वंशाभिमानकी भावनाके सम्पूर्ण अभावके कारण अन्यों या वाह्योंका अन्तर्भाव किया गया और विवाह-सम्बन्धोंसे वर्णभेदोंकी उत्पत्ति हुई। (३) अनेक वंशों तथा वाह्योंको उनके भिन्न स्वरूपको कायम रखते हुए अपनी समाज-संस्थासे संबद्ध कर लिया और इसीसे वर्णभेदों तथा जातिभेदोंकी उत्पत्ति हुई। वैदिकों तथा जैनों और बौद्धोंके साहित्यमें इन तीनों पद्धतियोंके विषयमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें अनेकों प्रमाण पाये जाते हैं। मनुस्मृतिका एक सुन्दर श्लोक इन विभिन्न पद्धतियोंको सूचित करता है:—

तपोबीजप्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥

(मनुस्मृति १०।४२)

अर्थात्, "वे सब युगोंमें यहाँ मनुष्योंमें जन्म लेकर 'तप' अथवा 'बीज'के प्रभावसे उत्कर्ष या अपकर्षको प्राप्त कर लेते हैं।" शूद्र ब्राह्मण हो जाते हैं और ब्राह्मण शूद्र। क्षत्रियों तथा वैश्योंके सम्बन्धमें भी इसी नियमको समझना चाहिए (मनुस्मृति १०।६५)। किसी एक कालमें कर्मोंका अगर व्यत्यय या विपर्यय हुआ तो उसके अनुसार वर्ण भी बदलता था (याज्ञवल्क्य स्मृति, १।९६)।

गण-संस्था ही प्राचीन भारतीयोंकी समाज-संस्थाका पहला रूप है। इस तरहकी असंख्य गण-संस्थाएँ वर्ण-व्यवस्थामें परिवर्तित हुईं और प्रथम वैदिक समाज-संस्थाका जन्म हुआ। अनेक वंशोंके गणोंको धीरे धीरे वर्णभेदका रूप प्राप्त हुआ। प्राचीन भारतीयोंकी गण-संस्थामें राजाका अधिकार तथा प्रजाका अधिकार दोनोंके गुण न्यूनाधिक मात्रामें मिश्रित थे। गण-प्रमुखको प्रजापति, गणपति, ज्ञातपति अथवा ब्रह्मणस्पति जैसी संज्ञाएँ प्राप्त थीं। प्रजापति सामान्य रूपसे ब्रह्मा रहते थे याने गणका अधिपति पुरोहित भी था और शासक भी। संक्षेपमें पुरोहित तथा शासकमें कोई भेद नहीं था। प्रजापति यह कोई एक व्यक्ति नहीं था। वास्तवमें 'प्रजापति' यह प्राचीन भारतीयोंके उच्चतम प्रशासकका अभिधान था। दक्ष, कश्यप, मनु, वसिष्ठ, अगस्त्य आदि प्रजापति हुए थे। यज्ञ अथवा मन्त्रद्वारा संस्कार करके वे चातुर्वर्ण्यके विभागका निर्माण करते थे। प्रजापतिके मुखादि अवयवोंसे चार वर्णोंके निर्माणकी कल्पनाका उदय पहले पुरुषसूक्तमें हुआ। यही कल्पना अन्य वेदोंमें कुछ थोड़े बहुत अन्तरके साथ आई है। एक ही प्रजापतिसे चार वर्णोंके निर्माणकी यह कल्पना वंशभेदकी सूचक नहीं है। उसमें

केवल कार्यभेद ही रूपकके तौरपर सूचित है। वेदोंमें कई स्थानोंपर यह कहा गया है कि यज्ञ अथवा मन्त्रके प्रभावसे प्रजापतिने चार वेदोंका निर्माण किया (वाजसनेयी संहिता १५।२८-३०; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१२।९।२; शतपथ ब्राह्मण (२।१।४।१३)। पुराणोंमें कई बार कहा गया है कि वेदद्रष्टा ऋषियोंके वंशोंमें चातुर्वर्ण्य उत्पन्न हुआ। पुराणोंका यह कथन इसके आधारपर सुसंगत मालूम होता है। शतपथ ब्राह्मण (१४।२।२३-२७) का यह कहना इससे अधिक स्पष्ट होता है कि ब्रह्म पहले विद्यमान था और उसीसे क्रमानुसार शूद्रोंतक अधिक हितकारी वर्णोंकी उत्पत्ति हुई। महाभारतके शान्तिपर्व (१८८।१०; १९८।८) में विस्तारके साथ यह प्रतिपादित किया गया है कि एक ही ब्रह्मरूप वर्णसे कर्मभेद तथा गुणभेदके अनुसार चार वर्ण निर्माण हुए।

महाभारतमें तथा पुराणोंमें इस सम्बन्धमें अनेकों उदाहरण मिलते हैं। अंगिरस्, अंबरीष तथा यौवनाश्व क्षत्रिय थे। उनके कुलमें ब्राह्मण उत्पन्न हुए। प्रवरोंमें उनकी गणना है। (विष्णुपुराण अंश ४ अध्याय ३)। क्षत्रवृद्ध नामके क्षत्रियसे सुहोत्र, गृत्समद आदि ब्राह्मण-वंश उत्पन्न हुए (विष्णुपुराण अंश ४ अध्याय ३)। गृत्समदसे शुनक निर्माण हुए, शुनकसे शौनक उत्पन्न हुआ और यह शौनक चार वर्णोंका गण बना (विष्णुपुराण अंश ४ अध्याय ८)। आंगिरस और भार्गवके वंशोंके गणने भी चातुर्वर्ण्यका रूप धारण किया (हरिवंश अध्याय ३२।३९,४०)। गर्ग, राभ, हारित, मुद्गल, कपि तथा कण्व ये गण क्षत्रिय थे; फिर भी वे ब्राह्मण बने (भागवत ९।२०।२१)। वायुपुराणमें भी कहा गया है कि कर्मवैचित्र्यके कारण शौनकगण चार वर्णोंका गण बना (३०।४)। भागवतमें कहा गया है कि ऋषभदेवके शत पुत्रोंमेंसे नब्बे क्षत्रिय बने और दस ब्राह्मण।

त्रैवर्णिकोंके आचारोंका पालन न करनेवाली घुमक्कड़ तथा लड़ाकू जातियोंको याने व्रात्योंको व्रात्यस्तोमसे पावन करके उन्हें त्रैवर्णिकोंमें समाविष्ट करनेकी विधि ताण्ड्य ब्राह्मण- (१७।२-४) में विहित है। अथर्ववेदमें व्रात्योंके विषयमें एक काण्ड लिखा गया है। उसमें लिखा है कि यदि किसी राजाके घरमें कोई विद्वान् व्रात्य अतिथिके रूपमें उपस्थित हो, तो वह राजा अपने आपको धन्य अवश्य समझे क्योंकि उससे (उसके आगमनसे) क्षत्र तथा राष्ट्रकी हानिका परिहार होता है; ब्रह्म तथा क्षत्र व्रात्यसे ही उत्पन्न होते हैं (अथर्ववेद १५।१०)।

गण-संस्थाके परिवर्तनके बाद ही भारतके सब प्रान्तोंमें चातुर्वर्ण्यकी स्थापना हुई। वंशकी दृष्टिसे यह कहना तनिक भी संभव नहीं कि सब प्रान्तोंके ब्राह्मण या

क्षत्रिय अथवा अन्य वर्ण एकरूप थे। तेलंगी ब्राह्मण तथा काश्मीरी ब्राह्मणमें संस्कृतिकी समता अवश्य है; परन्तु वंशकी समता बिलकुल नहीं है। प्राचीन कालके भारतवर्षमें छोटे छोटे सैकड़ों राष्ट्र भी गण-संस्थाके ही रूप थे। वृष्णि, अंधक, लिच्छवि, मल्ल, मालव आदि गणराज्योंका उल्लेख महाभारत, त्रिपिटक तथा शिलालेखोंमें पाया जाता है। कौटिलीय अर्थशास्त्रमें भी गणराज्योंका उल्लेख है। ये गणराज्य स्वयंशासित थे। इनमें लोकसंमत अथवा लोगोंद्वारा चुने गए (निर्वाचित) राजा निश्चित अवधितक या निरवधि राज्य किया करते थे। कौटिल्यके कथनानुसार राजाको चाहिए कि वह इन राज्योंको जीतकर उन्हें अपने वशमें कर ले। इन गणोंके विकाससे ही राष्ट्र बनते थे; उनमें चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्थाका निर्माण होता था। कुछ गण अन्य गणोंमें समा जाते थे, तो कुछ विजित होनेके कारण या प्रज्ञाहीनतासे अथवा स्थलान्तरसे अल्पसंख्य और गौण बनकर विशिष्ट समूहों या जातियोंके रूपमें वर्णव्यवस्थामें समाविष्ट हो जाते थे। यवन, मागध, वैदेहक, पारशव, निषाद, अंबष्ठ, आभीर, आयोगव, माहिष्य, पुलिंद, शबर आदि मिश्र जातियोंके नाम सिर्फ विशिष्ट प्रदेशोंसे संबद्ध मानव-गणों या समूहोंके हैं। चातुर्वर्ण्यमेंसे किसी एक निश्चित समूहमें इन जातियोंका समावेश करना सम्भव न हो सका। अतएव काल्पनिक संकरका निर्माण करके उन्हें संकर जातिकी संज्ञा दी गई। जिनके व्यवसायों तथा संस्कारोंका वैदिक त्रैवर्णिकोंमें आसानीसे समावेश हो सका उनका स्वाभाविक रूपसे विशिष्ट उच्च कोटिके वर्णोंमें प्रवेश हुआ। केवल त्रैवर्णिकोंके लिए उपयुक्त व्यवसायोंके बलपर त्रैवर्णिकोंमें समाविष्ट होनेकी यह क्रिया स्मृतिकालमें रुक गई। यही कारण है कि विशिष्ट संस्कारोंकी परम्परामें न पड़नेवाले, परन्तु त्रैवर्णिकोंके व्यवसाय करनेवाले व्यक्तियोंको स्मृतिकारोंने संकर अथवा शूद्रका नाम दे दिया। संकर जातियोंकी कल्पना वास्तवमें संकरपर आधारित नहीं। चण्डाल जाति इसका सबसे स्पष्ट तथा ज्वलन्त उदाहरण है। स्मृतिकारोंकी परिभाषाके अनुसार ब्राह्मणीमें शूद्र पुरुषसे उत्पन्न व्यक्ति चण्डाल कहा जाता है। सच तो यह है कि बाह्य अथवा बहिष्कृत समूहको चातुर्वर्ण्यके तत्त्वसे जोड़नेके लिए इस तरहकी काल्पनिक परिभाषा की गई। यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संकर जातियोंके इस तरहके काल्पनिक लक्षण स्मृतिकारोंने क्यों निर्माण किए? इसका उत्तर स्मृतिकारोंकी उस श्रद्धामें मिलता है, जिसके अनुसार वे समझते थे कि ईश्वरने पहले चार ही वर्णोंका निर्माण किया और बादमें अखिल

मानव-जातिको उत्पन्न किया। चार वर्णोंकी निश्चित मर्यादामें न समानेवाली विविध व्यापारी जातियों और गणसंस्थाओंकी उत्पत्ति ईश्वरने स्वतंत्र रूपसे की, इसका वर्णन कहीं भी नहीं था। अतएव उन्हें चातुर्वर्ण्यसे ही संकरद्वारा उत्पन्न मानकर प्राचीन स्मृतिकारोंने स्मार्त धर्मशास्त्रकी स्थापनाके लिए एक काल्पनिक समाधान उपस्थित किया। इस विषयमें एक और कारण भी पेश किया जा सकता है। वाजसनेयी संहितामें (अध्याय ३०) विभिन्न रूपोंमें आजीविका करनेवाले पचाससे भी अधिक सामाजिक समूहोंका उल्लेख है। इनमेंसे अधिकांश आजीविकाएँ या वृत्तिभेद स्मृतिकारोंद्वारा विहित संकर जातियोंपर लागू हो जाते हैं; परन्तु वर्णाश्रम-धर्मकी व्यवस्था और खासकर न्याय-व्यवहारके संचलनकी सुलभताके लिए समाजकी सैकड़ों जातियों अथवा व्यवसाय-भेदसे उत्पन्न समूहोंके लिए भी धर्मशास्त्रकारोंने चार वर्णोंकी परिभाषाका उपयोग किया। पद, प्रतिष्ठा, अधिकार तथा विशिष्ट अधिकारोंकी, तारतम्यपर आधारित, बाक़ायदा तथा व्यावहारिक मर्यादाको अक्षुण्ण रखनेके लिए चातुर्वर्ण्यके विभाजनको धर्मशास्त्रकारों तथा अर्थशास्त्रकारोंने अत्यन्त उपयुक्त समझा। किसी भी प्रकारके गौण या अप्रधान अवांतर भेदोंसे विरहित अतएव शुद्ध चातुर्वर्ण्य-संस्था किसी समय विद्यमान रही होगी, यह तो नहीं दिखाई देता। चातुर्वर्ण्य वास्तवमें सैकड़ों व्यवसाय करनेवाले समूहोंका एक ऐसा वर्गीकरण है जो न्याय-व्यवहारके लिए किया गया था। स्मृतियोंके कालमें संकर जातिकी नवीन कल्पनाका उदय हुआ। ब्राह्मण-कालतक संकर वर्ण अथवा संकर जातिकी कल्पना उदित नहीं हुई थी।

वर्ण-संस्था तथा जाति-संस्थाका सम्बन्ध

मानवजाति देवोंसे चातुर्वर्ण्यके रूपमें ही प्रथम निर्माण हुई। इस कल्पनाके कारण कर्मसादृश्य या स्वभाव-साम्यके आधारपर चातुर्वर्ण्यकी परिधिके बाहरके (भारतमें या भारतके बाहर विद्यमान) राष्ट्र, गण या समूह मनुस्मृति, महाभारत तथा पुराणोंमें क्षत्रिय जातिके रूपमें निर्दिष्ट हैं। अन्तर केवल इतना ही बतलाया गया है कि ये जातियाँ यद्यपि क्षत्रिय थीं तब भी क्रियालोपके कारण ब्राह्मणोंके साथ सम्बन्ध न रखनेकी वजहसे उन्हें वृषलत्व प्राप्त हुआ। वृषलत्वका अर्थ है शूद्रत्व अथवा म्लेच्छत्व (मनुस्मृति १०।४३; महाभारत-अनुशासन पर्व ३२।२३, ३५।१८; विष्णु पुराण ४।४।४८)। मनुस्मृतिमें उनकी गणना निम्नानुसार की गई है:— पौण्ड्रक, चौण्ड्र, द्रविड, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पल्हव, चीन,

किरात, दरद और खशको 'दस्यु' की संज्ञा दी गई है। महाभारतमें इससे अधिक नाम दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं- शक, यवन, काम्बोज, द्रविड, कलिंग, कुलिंद, उशीनर, कोलि (धीवर जाति), सर्प, माहिषक, मेकल, लाट, पौण्ड्र, कारवशिर, शौण्डिक, दरद, दार्व, चौर, शबर, बर्बर, किरात, चीन, गान्धार, तुषार, कंक, पल्हव, आंध्र, मद्रक, पुलिंद, और रमठ (महाभारत शान्तिपर्व ६५।१३,१४; अनुशासन पर्व ३३।२२.२३;३५।१७.१८)। इन्द्रने मान्धाताको यों उपदेश दिया, "तुम्हारे राज्यके इन दस्युओंको वैदिक धर्मकी दीक्षा दो; उनसे यज्ञ करवा लो" (शान्तिपर्व ६५।१८-२२)। इससे विदित होता है कि वर्ण-व्यवस्थाका तथा त्रैवर्णिकोंमें बाह्योंको सम्मिलित कर उन्हें वैदिक धर्मकी दीक्षा देनेका यह कार्य महाभारतके कालतक चल रहा था। परन्तु उसी समय वर्णभेदको जातिभेदका रूप प्राप्त होने लगा जिससे वह कार्य धीरे धीरे कम होता गया और अन्तमें पूर्णरूपसे रुक गया।

चातुर्वर्ण्यकी जातिभेदके रूपमें जो परिणति हुई उसका सूत्रपात यजुर्वेद तथा ब्राह्मणग्रंथोंके समयमें ही हुआ था। (१) ब्राह्मण तथा क्षत्रिय वर्णोंमें कई बार कलह हुआ और इससे चातुर्वर्ण्यको वंशभेदका रूप प्राप्त होने लगा। (२) शूद्र वर्ण तथा अन्य त्रैवर्णिकोंमें जो सांस्कृतिक अन्तर था वह बहुत देर तक कायम रहा। इसने भी जातिभेदको तीव्ररूप प्रदान करनेमें सहायता दी। (३) वर्णपरिवर्तनकी क्रियाके शिथिल पड़ने तथा अन्तमें रुक जानेसे जातिभेदकी नींव डाली गई। परिवर्तनकी क्रियाके अवरोधका एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक कारण भी है। यह है ग्राम-संस्थाके पोषक ग्रामोद्योगोंकी वंश-परम्परासे चली आनेवाली स्थिरता। सिन्धु संस्कृतिके विध्वंसके उपरान्त भारतवर्षमें नगर-संस्कृतिको प्रधानता किसी भी समय न मिली। ग्राम या देहातसे सम्बद्ध अर्थशास्त्रका निरन्तर बने रहना जातिभेदकी उत्पत्तिमें सहायक बना।

वेद तथा यज्ञके विषयमें शूद्रका अधिकार तैत्तिरीय संहिताके समयमें ही अस्वीकार कर दिया गया था। ऐतरेय ब्राह्मणमें शूद्रको 'यथाकामप्रेष्य' तथा 'यथाकामवध्य' मान लिया गया। 'यथाकाम प्रेष्य' याने उससे किसी भी तरहकी और जो चाहिए वह सेवा लेनेका त्रैवर्णिकको प्रदत्त अधिकार और। 'यथाकाम वध्य' त्रैवर्णिकके उस अधिकारकी ओर संकेत करता है जिससे वह शूद्रको यथेष्ट ताड़न कर सकता था। हाँ, यह तो नहीं कहा जा सकता कि इस स्थितिको सर्वत्र मान्यता प्राप्त थी। छान्दोग्य उपनिषदमें दो विभाग किये गए हैं—पुण्ययोनि और पाप-

योनि। पुण्य-योनिमें त्रैवर्णिकोंका और पाप-योनिमें शूद्र, चाण्डाल आदिका निर्देश किया गया है।

धर्मसूत्रों तथा प्राचीन स्मृतियोंकी रचनाके समय जातिभेदको पूर्ण महत्त्व प्राप्त हुआ था। उस समय जातिभेदके विचारने बीजक्षेत्रके विचारका रूप धारण किया था। यहाँ यह ध्यानमें रखना आवश्यक है कि यह बीज-क्षेत्र-विचार या जातिभेद-विचार चार वर्णोंके भिन्न रंगोंपर आधारित नहीं था। चातुर्वर्ण्य-विचारमें वर्णका 'रंग'वाला अर्थ क्वचित् ही मिलता है। महाभारतमें एक स्थानपर (शान्तिपर्व १८८।५) कहा गया है कि ब्राह्मणोंका वर्ण याने रंग श्वेत (सफेद), क्षत्रियोंका लाल, वैश्योंका पीला, और शूद्रोंका काला है। परन्तु धर्मसूत्रों तथा प्राचीन स्मृतियोंमें वर्णभेदके इस तरहके अर्थका स्वीकार करके वर्णाश्रम-धर्मोंका प्रतिपादन नहीं किया गया। हाँ, इतना तो सच है कि प्राचीन कालमें कुछ प्रान्तोंमें त्वचाके इस तरहके रंगको साधारण तौरपर वर्णभेदके निदर्शक चिह्नके रूपमें महत्त्व दिया गया हो। इसके आधारपर इतिहासके कुछ अन्वेषकोंका अनुमान है कि भारतके बाहरके विभिन्न देशोंसे शायद इनमेंसे तीन रंगोंकी जातियाँ आई हों और तीन वर्णोंका पहले निर्माण हुआ हो। यह अनुमान बड़े ही दुर्बल प्रमाणोंपर आधारित है। समूचे वैदिक तथा धर्मशास्त्रसम्बन्धी साहित्यका यदि हम सम्यक् मन्थन करें तो चातुर्वर्ण्यको वृत्ति-मूल या आचारभेद-मूल सिद्ध करनेके लिए ही सैकड़ों प्रमाण मिल जाएँगे। अतएव रंग-भेदपर आधारित चातुर्वर्ण्यकी यह कल्पना यथार्थमें अत्यन्त दुर्बल अथवा निराधार है।

सूत्रों तथा स्मृतियोंके कालमें वर्णोंके बीच परस्पर विवाहसम्बन्धी अनेकों निर्बन्धोंका निर्माण हुआ। संभव है इन निर्बन्धोंका सूत्रपात यजुर्वेदके या ब्राह्मण-ग्रंथोंके कालमें ही हुआ हो। इसके लिए अंशतः कुछ प्रमाण भी पाये जाते हैं। स्मृतियोंमें उच्च वर्णके पुरुषको हीन वर्णकी स्त्रीसे विवाह करनेकी सम्मति प्राप्त थी। इस विवाहको अनुलोम-विवाहकी संज्ञा दी जाती है। परन्तु प्रतिलोम-विवाह-को निषिद्ध माना गया है और उसके लिए दुर्धर दण्डका भी विधान है। प्रतिलोम-विवाहके निषेधका प्रारम्भ बहुत ही पहले हुआ होगा; क्योंकि पुराणोंमें देवयानीके विवाहको छोड़कर प्रतिलोम-विवाहका दूसरा उदाहरण नहीं मिलता। अनुलोम विवाहका प्रतिषेध बड़ा ही अर्वाचीन है। सम्राट् हर्षवर्धनके (ई. स. ६००-७००) कालतक असवर्ण विवाहोंके अनेक ऐतिहासिक उदाहरण पाये जाते हैं। जाति-भेदका आजके जैसा दृढ़ प्रभाव एक हजार बरस पहले नहीं था। यह भी ध्यानमें

रखना चाहिए कि स्मृतिशास्त्रमें एक ही वर्णकी अनेक जातियोंका निर्देश नहीं है। ब्राह्मणोंके बीच विद्यमान पंचगौड़, पंचद्रविड आदि भेद वास्तवमें ज्ञातिभेद हैं; जातिभेद नहीं।

जातिभेदके प्रधान लक्षण अनेक हैं। उनमें बड़ा ही महत्त्वपूर्ण लक्षण है जाति और जातिके बीचके भोजनपर प्रतिबन्ध। इस सम्बन्धमें स्मृतियोंद्वारा विहित निर्बन्ध बहुत ही कम हैं। याज्ञवल्क्य स्मृतिमें (१।१६६) भोज्यान्न शूद्रोंकी सूची दी गई है—"दास, गोपाल, कुलमित्र, दायाद, तथा नापित भोज्यान्न हैं। इसी तरह जो शूद्र (नम्रताके साथ) आत्म-निवेदन करता है वह भी भोज्यान्न (याने जिसके हाथकी रसोई खाई जा सकती है वह) है। इससे यह तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि प्राचीन स्मृतियोंके समय त्रैवर्णिकोंमें भोजन-व्यवहारके विषयमें प्रतिबन्ध नहीं थे। आपस्तम्ब धर्मसूत्रमें कहा गया है कि त्रैवर्णिक शूद्रोंको रसोइयेके रूपमें रख सकता है। हाँ, यह सही है कि स्मृतिकालमें अन्त्यजोंकी अस्पृश्यता बड़े ही कठोर रूपमें विद्यमान थी।

व्याकरणमहाभाष्यके रचयिताके अनुसार शूद्रोंके दो भेद हैं—निरवसित और अनिरवसित। अनिरवसित शूद्र वे हैं जिनके भोजनमें प्रयुक्त पात्रों या बरतनोंका उपयोग त्रैवर्णिक उन्हें धो डालनेके बाद कर सकते हैं और निरवसित शूद्र वे हैं जिनके भोजनमें प्रयुक्त बरतनोंको फेंक ही देना पड़ता है। अस्पृश्य जातियाँ निरवसित शूद्र हैं।

शूद्र तथा दासमें भेद और भारतीय समाज-रचनामें दास-संस्थाका गौणत्व

आर्थिक दृष्टिसे देखें तो शूद्र प्राचीन भारतीय समाजसंस्थाकी बुनियाद है। शूद्रका अर्थ गुलाम नहीं। यूनान, रोम तथा भूमध्यसमुद्रके पासकी अति प्राचीन संस्कृतियाँ गुलामोंके अर्थोत्पादक श्रमोंपर आधारित थीं। गुलामोंको किसी भी तरहकी स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। उनको अपने शरीरपर भी अधिकार नहीं था।

---

१ 'ज्ञाति' और 'जाति' इन शब्दोंके अर्थमें भेद है। इसे समझना आवश्यक है। प्राचीन कालमें यातायातके साधन अत्यल्प थे। इसके कारण विवाह और पौरोहित्यके सम्बन्ध सुदूर देशों या स्थानोंमें नहीं होते थे; क्योंकि दूरस्थ कुलोंकी जानकारी प्राप्त करना बड़ा मुश्किल था। अतएव निकटवर्ती प्रदेशोंमें ही विवाह-सम्बन्ध कर लेना उचित माना जाता था। इस तरहका ज्ञात अतएव सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए योग्य क्षेत्र ही 'ज्ञाति' है।

गुलामोंके क्रय-विक्रयके बाजार या हाट लगते थे। उनके शरीर तथा श्रमोंपर मालिकोंके वर्गका सम्पूर्ण अधिकार था। अफलातून तथा अरस्तूद्वारा प्रतिपादित राज्यशास्त्रमें गुलामोंकी संस्थाको समाज-रचनाकी आधारशिला माना है। इस तरहकी दास-संस्था प्राचीन भारतीयोंकी समाज-रचनाकी आधारशिला नहीं थी। शूद्रका अभिप्राय इस तरहके गुलामसे कदापि नहीं था। शूद्र अपनी देह, अपने श्रमों, अर्थोत्पादक आयुधों तथा भूम्यादि संपत्तिके स्वामी थे। त्रैवर्णिकों और खासकर ब्राह्मणोंकी सेवा करना उनके लिए अनिवार्य नहीं था। द्विजसेवा (याने ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्योंकी सेवा) शूद्रके लिए एक पुण्य मार्गके रूपमें विहित है; परन्तु शूद्रोंकी आजीविकाके कई ऐसे स्वतंत्र व्यवसाय थे जो त्रैवर्णिकोंके तनिक भी अधीन नहीं थे। शूद्र ही प्रधानरूपसे पशुपालन, धातुकाम, बुनाई, बढ़ईका-काम, लुहार-काम, कुम्हार-काम चर्मकार-काम, रसोई आदि हीन तथा उच्च व्यवसायोंको अपनाते थे। तात्पर्य, शूद्रका अर्थ ‘ गुलाम ’ नहीं है। स्मृतिग्रंथोंमें कहीं कहीं ‘ शूद्र ’ तथा ‘ दास ’ शब्दोंका पर्यायवाची शब्दोंके रूपमें उपयोग हुआ है अवश्य; परन्तु वहाँ सन्दर्भके आधारपर अर्थ स्वीकार करना पड़ता है। वहाँ ‘ दास ’ शब्द ‘ गुलाम ’का वाचक नहीं है। धर्मसूत्रों तथा स्मृतियोंमें शूद्रोंमें और प्रतिलोम संकरसे उत्पन्न जातियोंमें दासोंका भी अन्तर्भाव किया गया है। परन्तु समूची शूद्र जातियों या प्रतिलोम संकर जातियोंको दास नहीं माना जा सकता। ऋग्वेदसे लेकर आधुनिक काल तकके किसी भी कालखण्डमें भारतीय समाज-संस्था गुलामी या दासताके अर्थशास्त्रपर आधारित नहीं पाई जाती। इसका अर्थ यह नहीं है कि दासता या गुलामीकी प्रथाका अस्तित्व किसी भी समय नहीं था; हमारा कहना सिर्फ इतना ही है कि भारतवर्षमें अर्थशास्त्र दासतापर अधिष्ठित कभी नहीं था। दासों या गुलामोंको रखनेकी प्रथा भारतीय समाजमें श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणों-के कालमें प्रचलित अवश्य थी; परन्तु सामाजिक जीवनका वह अनिवार्य अंश नहीं था, आर्थिक जीवनका सार नहीं था; आर्थिक उत्पादनकी पद्धतिकी वह आधारशिला नहीं थी। हाँ, धनिकों, कुलीन वंशों तथा राजा-महाराजाओंके वैभवका वह एक अंश जरूर था। यह सच है कि द्विज-शुश्रूषाको शूद्रोंका एक धर्म माना गया था। भगवद्गीताकी एक पंक्तिसे यह धारणा होती है वह सब शूद्रोंका धर्म था; परन्तु ध्यानमें रखना चाहिए कि भगवद्गीता वर्णाश्रम-धर्मोंका ब्योरेवार प्रतिपादन करनेवाला ग्रंथ नहीं है। क्या धर्मसूत्र,

क्या स्मृतियाँ, क्या पुराण, क्या महाभारत किसीमें भी कहीं भी सिर्फ़ शुश्रूषाको या दास्यको शूद्रका धर्म नहीं कहा गया है। और एक चीज यह भी है कि शुश्रूषा धर्मके रूपमें विहित है; वैधानिक (या बाक़ायदा) बन्धनके रूपमें नहीं। मनुस्मृतिके (८।४१३।१६) शूद्र-दास्य सम्बन्धी वचन भ्रान्त धारणाका निर्माण करते हैं; परन्तु मनुस्मृतिकी सम्पूर्ण समीक्षा उस धारणाको दूर करती है। शूद्रोंकी अपेक्षा भी हीन मानी गई प्रतिलोम जातियोंके लिए स्वतंत्र, अर्थोत्पादक व्यवसायोंका विधान मनुस्मृतिमें किया गया है (मनुस्मृति १०।४७।५२)। सच्छूद्र-(अच्छे शूद्र) के लिए आपद्धर्मके रूपमें कारुक कर्मों तथा विविध शिल्पोंका प्रतिपादन किया गया है। किसी समय मनुस्मृतिको यूनानी संस्कृतिने प्रभावित किया। उसके फलस्वरूप शूद्रोंके दास्यको महत्त्व प्रदान करनेवाला अंश उसमें आ गया। गौतम, आपस्तम्ब आदिके धर्मसूत्रों, स्मृतियों तथा महाभारतमें शूद्रोंकी दासताको इतना महत्त्व प्राप्त नहीं है। आपस्तम्ब धर्मसूत्रका कथन है कि यदि अपने लिए या अपनी भार्या अथवा पुत्रके लिए कोई आर्थिक कठिनाई महसूस हो, तो कोई हर्ज नहीं; परन्तु दासों तथा मजदूरोंका वेतन पहले देना चाहिए (२।६।११)। इससे सिद्ध होता है कि यह दास्य अरस्तूद्वारा वर्णित समाज-संस्थाके दास्यसे सर्वथा भिन्न है। दासोंको आर्य याने स्वतंत्र बनानेकी प्रथा ऋग्वेदमें (६।२२।१०) भी वर्णित है। वहाँ कहा गया है कि इन्द्रने द्रव्यकी सहायतासे दासोंको आर्य बनाया और नहुष नामके आर्येतर मानवोंके शस्त्रोंको समर्थ बना दिया। तात्पर्य, भारतीय समाजमें आर्येतर व्यक्तियों तथा दासोंको भी संपत्तिके अर्जन एवं संचयका अधिकार प्राप्त था। परिचर्याको भी केवल शूद्रधर्म नहीं कहा गया। गौतम धर्मसूत्रका (१०।६५) कथन है कि प्रत्येक निम्न कोटिके वर्णको उच्च कोटिके वर्णकी परिचर्या करनी चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि शूद्रका परिचर्या-धर्म उसकी गुलामी या दासताका दर्शक नहीं है। किसी भी प्रकारका दास मूल्य देकर आर्य बन सकता था और दासको धन-संचयका अधिकार प्राप्त था। यह बात कौटिलीय अर्थशास्त्रमें (३।१३-) स्पष्ट रूपसे कही गई है। वहाँ दासद्रव्यका उत्तराधिकार तथा विभाजन भी प्रतिपादित है। महाभारतका (१२।२९३।१-२) कथन है कि वाणिज्य, पशुपालन, शिल्पोपजीवित्वकी परम्परागत वृत्तिके अभावमें शूद्रको शुश्रूषापर निर्भर रहना चाहिए। वहाँ शूद्रके लिए संन्यासको छोड़कर तीनों आश्रमोंका विधान किया गया है, (शान्तिपर्व ६३।१३)। गुलामके लिए तीन आश्रमोंका विधान असम्भव है; वह न

ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थके आश्रमोंका पालन कर सकता है न दासके रूपमें वानप्रस्थका स्वीकार। वास्तवमें 'दास्य' शब्दका 'गुलामी' वाला अर्थ बहुत ही कम होता है; सामान्य रूपसे वह शुश्रूषाका या जातिका निर्देश करता है। सारांश, दास-संस्था किसी भी समय भारतीय समाज-संस्थाकी नींव नहीं थी।

स्वतंत्र आर्थिक जीवनका निर्वाह करनेवाला शूद्र वर्ण ही प्राचीन भारतीयोंके अर्थशास्त्रका मूल अङ्ग था। शूद्रका सामाजिक स्तर सबसे निम्न कोटिका था। उसपर ऋणका अंश अन्योंकी तुलनामें अधिक लागू होता था। इससे श्रमजीवी जीवनकी माहिमा बढ़ने नहीं पाई। जो वर्ग सुसंस्कृत थे, जिनकी बुद्धिका भरसक विकास हुआ था वे साधारणतया औद्योगिक कलाओंसे दूर ही रहे। इस बातका भारतीयोंके बौद्धिक तथा आर्थिक विकासपर विपरीत एवं अनिष्ट परिणाम हुआ।

शूद्र-संस्था दास-संस्था नहीं थी। यह अच्छा ही हुआ; नहीं तो प्राचीन भारतीय संस्कृति विनाशके गह्वरमें चली जाती। इतिहास इस बातका साक्षी है कि जो जो अति प्राचीन संस्कृतियाँ मृत्युके गालमें चली गईं उसकी नींव दास-संस्था थी। असीरिया, बाबीलोन, मिसर, यूनान तथा रोमकी प्राचीन समाज-संस्थाएँ गुलामी या दासताके अर्थशास्त्रपर आधारित थीं। इस अर्थशास्त्रने कुछ कालतक उनको सर्वाङ्गीण वैभव तथा उत्कर्षकी चरम सीमापर पहुँचाया; परन्तु बादमें उन्हें मृत्युकी गहरी खाईमें गिरना पड़ा। जो वैभव समाजके विशिष्ट मानवोंकी मानवताके अपहारसे निर्माण होता है वह अन्ततोगत्वा क्षयी एवं विनाशकारी सिद्ध होता है। यों तो सभी वैभव क्षयिष्णु होते हैं; परन्तु मानवताका अपलाप करनेवाला वैभव अन्तमें अपनी आत्माका भी हनन कर बैठता है। वैभवकी अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठ है। वास्तवमें आत्मा ही सबकी जड़ है। आत्माका अर्थ है मानव। जीवनके सर्वस्वकी उत्पत्ति वहींसे होती है। गुलामी या दासताकी संस्था आत्माके मूल्यको अपमानित करती है; उसी मूल्यका विसर्जन करती है; अतएव अपने आपको विनाशकी ओर अग्रसर करती है। भारतीय संस्कृतिका आसन दीर्घ कालतक स्थिर रहा; इसका असली कारण यह है कि वह कभी दास-संस्थापर आधारित न रही।

मिसर, असीरिया आदि प्राचीनतम संस्कृतियोंमें समाजसंस्था गुलामोंके श्रमोंपर अधिष्ठित थी। इसलिए वरिष्ठ वर्गोंने अपनी महत्ताके स्मारक बनवानेमें तथा अपने विलासके अन्यान्य साधनोंके उत्पादनमें गुलामोंसे तनतोड़ मेहनत करवाई। जीवनकी प्रधान तथा मूलभूत प्रवृत्तियोंके उत्पादनका मूल्य घट गया। फल यह हुआ कि उनमें अकाल और शत्रुओंके आक्रमणोंके आघातोंमें स्थिर रहनेकी

शक्ति न रही। अतएव उन समाज-संस्थाओंका अस्त हुआ। प्राचीन भारतमें शूद्र स्वतंत्र थे। इसलिए वरिष्ठोंके स्मारकोंकी रचनामें तथा उनकी अमन-चैनके साधनोंको जुटानेमें शूद्रोंके श्रम बहुत कम अनुपातमें खर्च होते थे; जीवनकी सुरक्षाके लिए आवश्यक क्रियाओंको ही उचित रूपसे प्रधानता मिलती थी। यही कारण है कि अकालके तथा परायोंके आक्रमणोंके आघातोंके बावजूद भी भारतीय समाज-संस्था तथा संस्कृति मृत्युग्रस्त नहीं हुई। आर्थिक क्रिया जीवनकी मुख्य आधारभूत क्रिया है। समाजव्यवस्थाके नियमोंसे उसका स्वरूप सिद्ध होता है। भारतीय समाज-संस्था कालके आघातोंसे दुर्बल हुई अवश्य; परन्तु नष्ट न हो पाई।

समाजकी जाति-भेदजन्य दुर्बलता

भारतीय समाज-संस्थामें जिस दुर्बलताके दुःखकारी दर्शन होते हैं उसका कारण है जातिसंस्था। इस संस्थाके दृढमूल हो जानेके ऐतिहासिक कारण अनेक हैं। उसका एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि भारतवर्षमें राज्य-संस्था किसी भी समय प्रबल एवं प्रभावशाली न हो पाई। राजनीतिक दृष्टिसे भारतीय समाज-संस्था कभी संगठित हुई ही नहीं; क्योंकि राजनीतिक विग्रहको यहाँ समाजव्यापी स्वरूप कभी प्राप्त न हुआ। इसलिए समाज अपनी राजनीतिक एकताको न बढ़ा सका। राजाओंके वंश आपसमें कलह करते रहे; युद्ध भी करते रहे; परन्तु इनकी शत्रुताका सार्वजनिक जीवनपर अधिक प्रभाव न पड़ सका। जाति तथा ग्रामसंस्थाएँ अपने सामाजिक व्यवहारमें राजदण्ड या राज्य-व्यवस्थाका प्रश्रय अधिक मात्रामें नहीं करती थीं। राजवंशोंमें तथा राजाओंमें अनेकों परिवर्तन भले ही हुए हों; उपर्युक्त संस्थाओंके व्यवहार सामान्य रूपसे उन परिवर्तनोंसे निर्बाध ही रहा करते थे। जातियोंके स्वीय व्यवसाय तथा उद्योग वंश-परम्परासे चले आते थे; उनमें विक्षेप या उत्पादके कारण कभी उत्पन्न नहीं होते थे। इसके कारण जातियाँ अल्प-सन्तोषी एवं चिन्ताओंसे परे रहा करती थीं। परिणाम यह हुआ कि बिना राजसत्ताके आश्रयके योगक्षेम सुखपूर्वक चलता था। अन्य राष्ट्रोंमें राजसत्ता जीवनसे अधिक गहरा सम्बन्ध स्थापित कर चुकी थी जिससे सेनाके पड़ावोंके व्यवहारोंकी तरह राष्ट्रके अङ्गभूत वर्गोंके सब व्यवहार आपसमें गुँथे हुए, हिले-मिले एवं एकरूप बने थे। अतएव जातिभेद उत्पन्न न हुआ; सब व्यक्तियों तथा संस्थाओंके जीवनपर राजनीतिक संगठनकी समरूप छवि अङ्कित हुई। परन्तु भारतीय संस्कृतिमें इसके ठीक विपरीत बात हुई; राष्ट्र अथवा

समाजको चारों ओरसे घेरनेवाले राजनीतिक संगठनका जन्म न हो सका। अन्य संस्कृतियोंका हरेक नागरिक विपत्तिके समय सैनिक बनता था। भारतीय संस्कृतिमें छोटेसे क्षत्रिय-वर्गको छोड़कर अन्य बहुसंख्य जातियों तथा वर्गोंमें इस प्रकारकी वीर-भावनाका उदय ही न हुआ। यहाँ क्षत्रियत्व सबका धर्म नहीं माना गया; अतएव जातिभेद दृढमूल बना। इसका परिणाम यह हुआ कि निजी या व्यक्तिगत जीवनमें सह-विवाह तथा सह-भोजनसे उत्पन्न होनेवाली सर्वव्यापी मित्रताकी वृद्धि कभी हुई ही नहीं; नागरिक बंधुताका नाता कभी दृढ न हो पाया। स्वाभाविक रूपसे जाति-संस्था स्थिर हुई, उसने अपनी जड़ें जमालीं। इस देशमें राज्य-संस्था अत्यन्त प्राचीन कालमें ही उत्पन्न हुई; परन्तु उसने कभी जोर न पकड़ा, किसी भी समय उसका प्रभावशाली विकास न हो पाया। जातिभेद तथा तज्जन्य समाजकी दुर्बलता इसीका दुःखकारी परिपाक है।

राज्यसंस्था और ब्राह्मण

राज्य-संस्थाका प्रारम्भ वैदिकोंमें वेदमूलकालमें ही हुआ था। क्योंकि ऋग्वेदमें वरुण या इन्द्र सम्राट् या राजाके रूपमें वर्णित हैं। राज्याभिषेकके आशीर्वादके मन्त्र ऋग्वेदमें (१०।१७३, १७४) विद्यमान हैं। इन मन्त्रोंके और राजसूय आदि-संस्थाके आधारपर यह अनुमान किया जा सकता है कि उस समय राज्याभिषेक प्रजाकी अनुमतिसे होता था। राष्ट्रका रक्षण वहाँ राजाके मुख्य कार्यके रूपमें विहित है और कहा गया है कि 'प्रजा तुम्हारा वरण करे या तुम्हें चुन ले'। पहले पहल छोटे छोटे राज्य निर्माण हुए। अनेक राज्योंके संघका निर्माण करके या अनेक राजाओंको अपने अधीन बनाकर एक विस्तृत तथा एकछत्र साम्राज्यकी स्थापनाके प्रयत्नोंका सूत्रपात यजुर्वेद-कालमें हुआ। अश्वमेध यज्ञके हेतु अपने राज्यका पर्याप्त विस्तार करके विद्वान् पुरोहितोंके बलपर साम्राज्यको स्थापित करनेका प्रयत्न यजुर्वेदमें प्रथम आरम्भ हुआ। ऐतरेय ब्राह्मणके ऐन्द्र महाभिषेकके (३८।६) वर्णनमें अखिल भूलोकपर विजय प्राप्त करके अश्वमेध यज्ञ करनेवाले राजाओंकी एक तालिका उपस्थित है। उन राजाओंके नाम निम्नानुसार हैं:—पारिक्षित जनमेजय, शार्यात मानव, शतानीक सात्राजित, आम्बाष्ठ्य, औग्रसैन्य, विश्वकर्मा, भौवन, सुदास पैजवन, मरुत्त, आवीक्षित, अङ्ग, भरत दौष्यन्ति, दुर्मुख, पाञ्चाल तथा अत्यराति जानन्तपति। इनमें भरतको सर्वोपरि कहा गया है। इस तालिकाके साथ साथ इन राजाओंके प्रधान पुरोहितोंके नाम भी दिये गए हैं।

वैदिक राज्यशास्त्रका एक अनुभवजन्य सिद्धान्त- जो कि ऐतरेय ब्राह्मणमें तथा श्रुति-स्मृति-पुराणोंके इतिहासमें बार बार आया है-यह है कि ब्राह्मणों तथा राजा-

ओंके सहयोगके बिना राज्य-संस्था स्थिर नहीं रह सकती । भारतवर्षमें हजारों वर्षोंसे ब्राह्मणोंकी प्रभुता कायम रही है और इसके आधारपर मानना पड़ता है कि भारतके अधिकांश राजनीतिक इतिहासपर यही सिद्धान्त लागू होता है।

ब्राह्मणोंकी प्रभुता तथा राजसत्ताका कलह अति प्राचीन कालमें बहुत बार हुआ। इस सम्बन्धमें तीन महत्त्वपूर्ण तथा सुचारु उदाहरण उपस्थित हैं। पहला उदाहरण राजा वेन और वर्णाश्रम-संस्थाके प्रबल पुरस्कर्ता होनेके साथ साथ यज्ञ-धर्मको माननेवाले ब्राह्मणोंके विरोधकी कथा है। इसमें राजा वेन भौतिकवादी तथा नास्तिक राजाके रूपमें वर्णित है। दूसरा उदाहरण राजा नहुषका है। नहुषने ब्राह्मणोंसे बलपूर्वक शूद्रोंका काम लेना चाहा, उन्हें अपनी शिबिकाको कंधोंसे वहन करनेके लिए बाध्य किया। अगस्त्य ऋषिके शापसे उसका पतन हुआ। तीसरा उदाहरण भार्गवकुल तथा हैहयकुलके विरोधको उपस्थित करता है। अथर्ववेदमें हैहयोंके स्थानपर 'वैतहव्य'का उपयोग किया गया है। भृगुकुलके गोधनका अपहरण और तदर्थ हुआ ऋषि जमदग्निका वध ही इस कलहाग्निके प्रज्वलित होनेका मूल कारण है। अन्तमें भृगुकुलकी विजय हुई। भारतीय राज्यशास्त्रमें प्राचीन कालसे ही ब्राह्मण भूमि-करसे मुक्त हैं। भूमि-करसे मुक्तताकी यह सुविधा ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता तथा विशेष अधिकारोंका ज्वलन्त प्रमाण है। इस सुविधासे उन्हें वञ्चित रखनेका प्रयत्न वैतहव्य या हैहय राजाओंने किया। भृगुकुल अति प्राचीन ब्राह्मण-कुलोंमेंसे एक श्रेष्ठ कुल था। ब्राह्मणोंकी महत्ताको सुरक्षित रखनेके लिए इस कुलने शस्त्र धारण किया और वैतहव्य या हैहय कुल तथा उसके पक्षमें विद्यमान सब क्षत्रियोंका निकंदन किया। परशुराम भृगुकालके मुख्य नेता थे।

भारतवर्षकी अधिकांश बड़ी बड़ी प्राचीन राजसत्ताओंने ब्राह्मणोंकी सामाजिक श्रेष्ठताको स्वीकार किया, उसे मान्यता दी। अतएव भारतीय राज्यशास्त्रमें वर्णाश्रम-धर्मके परिपालनको राज्यका मुख्य उद्देश्य माना गया। भारतीय राज्यशास्त्रमें राजाको समाज-रचनाकी मूल पद्धतिमें और प्रधान मानी गई कुल, ज्ञाति, गण, देश आदिकी परम्परामें परिवर्तन करनेका अधिकार कभी प्राप्त न हुआ। फल यह हुआ कि राज्य-संस्था भारतीय समाज-संस्थाका मध्यवर्ती, बलवान् तथा प्राणभूत केन्द्र कभी न बनी। अर्थशास्त्र नामसे प्रसिद्ध राज्यशास्त्रोंने अपनी ओरसे राज्य-संस्थाको बलवान् बनानेका प्रयत्न किया; परन्तु परम्पराका रक्षण करनेवाले पुरोहित-वर्गने राज्यशासनको प्रधान माननेवाले मनीषियों, चिन्तकों तथा

राज्यकर्ताओंका उसपर प्रभाव नहीं पड़ने दिया। अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्रको ही अधिक बलवान् माननेवाला सिद्धान्त ही स्थिर हुआ, उसीने अपना आसन जमाया। ब्राह्मण पुरोहितोंने परम्पराका रक्षण तथा वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेवाले राजाओंको ही बल देकर अपने स्थानको राजदण्डकी अप्रत्यक्ष सहायतासे समय समयपर दृढ किया; पारलौकिक विचार-पद्धतिकी परिधिसे राजा कभी अपनेको मुक्त न कर लें इस विचारसे यह स्वीकार किया कि वह विष्णु, इन्द्र तथा वरुण आदि सर्व देवोंकी विभूति है।

बुद्धिप्रधान ऐहिक विचार-धाराका स्वीकार करनेवाले राज्यशास्त्रके प्राचीन ज्ञाताओंने बुद्धिवादको अपनाकर राज्यशास्त्रकी मीमांसा की। वह निम्नानुसार है। राज्यसंस्था तथा राजदण्ड अथवा राजाके अभावमें प्रजा ही आत्मबलसे स्वयंशासित समाज-संस्थाओंको चलानेका काम करती थी। जब वैषम्यकी भावना, द्वेष तथा लोभने उसमें प्रवेश किया और फलस्वरूप उनमें अव्यवस्थाका निर्माण होने लगा तब उन्होंने आपसमें विचार-विनिमय करके या कायदोंका निर्माण करके सामूहिक रूपसे समाज-संस्थाओंको चलाना प्रारम्भ किया। जब इससे भी काम न चल सका तब प्रजा पितामह याने प्रजापतिके शरणमें पहुँची और प्रजापतिने राज्यशास्त्रका निर्माण किया। ऐसा इतिहास महाभारतमें (शान्तिपर्व ५९) बतलाया गया है। पितामहने प्रजाकी प्रार्थनाके अनुसार प्रजापर राज्य करनेका आदेश मनुको दिया। मनुने पहले राज्य करना अस्वीकार किया और कारण बतलाया कि असत्यका आचरण करनेवाले अनेक व्यक्तियोंसे राज्यकर्ताका सम्बन्ध आता है और उसे अनेकों पापोंका या दुष्कर्मोंका भागी बनना पड़ता है। प्रजाने कहा, "तुम्हें पाप स्पर्श न करेगा; क्योंकि राजाके द्वारा रक्षित धर्मनिष्ठ प्रजाके पुण्यका चतुर्थ अंश तुम्हें प्राप्त होगा," (शान्तिपर्व, ६७)।

यह राज्यशास्त्रके बौद्धिक समर्थनका उदाहरण है। राज्यशास्त्रके इन बुद्धिवादी तज्ज्ञोंका प्रभाव भारतीय राजनीतिक इतिहासपर अधिक न पड़ सका। भारतीय राज्यकर्ताओंने प्राचीन कालमें पारलौकिक विचार-पद्धतिको अपनानेवाले ब्राह्मणोंके ही मार्गदर्शनका स्वीकार किया था। ब्राह्मणोंकी इस महत्ताको बौद्ध तथा जैन राज्यकर्ताओंने भी कम नहीं किया; उसपर आपत्ति नहीं की। वास्तवमें बौद्ध धर्मका उदय यज्ञ-प्रधान वैदिक धर्मका विरोध करनेके लिए ही हुआ; परन्तु उसने ब्राह्मणोंका विरोध कभी नहीं किया। जैन तथा बौद्ध

धर्म-ग्रंथोंमें भी ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंकी श्रेष्ठताको मान्यता दी गई है। आरण्यकों तथा उपनिषदोंके आधारपर यह सिद्ध होता है कि बौद्ध-धर्मके उदयके पहले ही ब्राह्मणोंने नैतिक सद्‌गुणोंको महत्त्व देना प्रारम्भ किया था। राजदण्डको हाथमें न लेनेकी परम्परा ब्राह्मणोंके ही द्वारा पहले निर्माण हुई थी। ब्राह्मण वास्तवमें जातिसे ब्राह्मण नहीं है, ब्रह्मनिष्ठ साधु ही सच्चे अर्थोंमें ब्राह्मण है; "स ब्राह्मणः" (३।५।१,८,१०) यह वाक्य बृहदारण्यकोपनिषदमें याज्ञवल्क्यद्वारा कई बार कहा गया है।

जैनों तथा बौद्धोंकी तुलनामें ब्राह्मणोंकी विशेषता

जैन तथा बौद्ध ग्रंथोंमें जाति-ब्राह्मणकी निन्दा की गई है सही; परन्तु सच्चे अर्थोंमें ब्राह्मण कैसा होना चाहिए इसका वर्णन बड़ी प्रशंसाके साथ किया गया है। अशोकके अनुशासनोंमें (शिलालेखोंमें) ब्राह्मणों तथा बौद्ध भिक्षुओंका उल्लेख समान आदरके साथ किया गया है। बौद्धों तथा जैनोंने व्यवहारमें चातुर्वर्ण्यको मान्यता दी। उनका विरोध प्रधानतया वैदिक धर्म तथा यज्ञ-संस्थासे है; ब्राह्मणोंसे नहीं। जैन धर्मके संस्थापक महावीरकी जन्मजात श्रेष्ठताके प्रतिपादनमें कहा गया है कि वे प्रथम ब्राह्मणीके गर्भमें थे और बादमें उन्होंने क्षत्राणीके गर्भमें प्रवेश किया। जब भारतवर्षमें और भारतवर्षके बाहर बौद्ध धर्म फैल रहा था तब ब्राह्मण निष्प्रभ अवश्य हुए थे; परन्तु भारतीय समाजमें उनका जो स्थान था उससे वे च्युत नहीं हुए।

बौद्ध तथा जैन धर्मोपदेशक भारतीय गृह-संस्थासे अलिप्त ही रहे। उन्होंने सामाजिक ऐहिक व्यवहारोंको पारलौकिक भावनाओंसे व्याप्त कर्म-काण्डके साथ नहीं जोड़ा। इसके विपरीत ब्राह्मण जन्मसे लेकर मृत्युतकके गृह-संस्थाके महत्त्वपूर्ण प्रसङ्गोंमें उपस्थित रहे; उन्होंने प्रपञ्चको धार्मिक भावनाओंके संयोगसे मङ्गल एवं गंभीर बनाया; उसके सुखको अधिक मधुर और दुखको अधिक सुसह्य किया। ब्राह्मणोंने प्रपञ्च तथा परमार्थके युगलको भग्न नहीं होने दिया; जन्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, गर्भाधान आदि व्यक्तिगत प्रसङ्गोंमें तथा राज्यारोहण, यात्रा, उत्सव आदि सार्वजनिक समारोहोंमें पौरोहित्य करके समाजमें अपने स्थानको कायम

---

१ (मज्झिमनिकाय, अस्सलायण सुत्त, वासेठ सूत्त, उत्तराध्ययन सूत्र, धम्मपद) 'दीघनिकाय'के प्रथम खण्डमें ब्राह्मणोंकी निन्दा करनेवाले अनेको वाक्य मिलते हैं।

रखा। बौद्धधर्मकी प्रबल लहरके दुर्बल एवं अन्तमें विलीन होनेके उपरान्त ब्राह्मण ठीक उसी रूपमें प्रकट हुए जिस रूपमें वे पहले विद्यमान थे। पुराने कर्मकाण्डकी जगह उन्होंने नये कर्मकाण्डकी स्थापना की, वैदिक धर्मके स्थानपर पौराणिक धर्मको सुस्थिर किया। वैदिकोंसे भिन्न मानव-समूहोंकी धार्मिक परम्पराओंको मान्यता प्रदान करके उन्हें आत्मसात् किया। हाँ, यह बात सही है कि न उन्होंने इन परम्पराओंको विशेष रूपसे विशुद्ध बनाया; न उनमें कोई खास सुधार उपस्थित करनेका कष्ट उठाया। ब्राह्मण स्वयं ही समाजकी शिथिलता और दुर्बलताका प्रतीक बना।

ब्राह्मण-वर्गने परम्पराको कायम रखनेमें उसके कतिपय उच्चतम सामाजिक आदर्शोंको भी सुरक्षित रखा है अवश्य; परन्तु ये आदर्श केवल कल्पनाके संसारमें ही रहे। पुराणोंमें लिखा था कि कृतयुगमें एक ही शुद्ध हंसवर्ण उपस्थित था और उस समय अहिंसा, समता तथा बन्धु-प्रेम तीनोंने अपने विशुद्ध रूपोंमें जीवनमें प्रवेश किया था। इसको ब्राह्मण-वर्गने सुरक्षित रखा सही; परन्तु प्रत्यक्ष आचरणमें उसने संकीर्णताको अपनाया; बाह्य नियमोंको अवास्तव एवं अतिरिक्त महत्ता प्रदान की; अपनेमें तथा समाजमें जातिके क्षुद्र अभिमान या अहंकारको बढ़ने दिया। भोज्याभोज्य, स्पृश्यास्पृश्य आदि बाह्य आचारोंके आडम्बर खड़े करके अन्तरङ्गकी शुद्धता तथा सामाजिक एकता या एकरूपताको गौण स्थान दिया। अतएव भारतीय समाजमें सार्वजनिक बंधुत्वकी भावना दृढमूल न हो पाई। भविष्यमें ब्राह्मणोंको यह समझना होगा कि बाह्य आचारोंकी अपेक्षा साधुताका आदर्श ही मार्गदर्शक होगा।

वैदिक संस्कृतिसे ही भारतीय नीतिशास्त्र, कुटुम्ब-संस्था तथा समाज-संस्थाका विकास कैसे हुआ इसका इस अध्यायमें संक्षिप्त विवेचन किया गया। आगामी अध्यायमें हम वैदिक संस्कृतिकी सहायतासे विकसित इतिहास-पुराणोंकी संस्कृतिकी समीक्षा प्रस्तुत करेंगे।

४ — इतिहास-पुराणों तथा रामायणकी संस्कृति

पुराणोंके धर्मकी व्यापकता

स्मार्त धर्मशास्त्रमें त्रैवर्णिकोंको प्रधानता और शूद्रोंको हीन-स्थान प्राप्त है। इतिहास-पुराणोंके धर्मने सब वर्णोंको, वास्तवमें सब मानवोंको परमार्थकी दृष्टिसे समता प्रदान की। श्रौत तथा स्मार्त धर्म-ग्रंथोंके अधिकारी वास्तवमें त्रैवर्णिक ही हैं; परन्तु इसके विपरीत सब वर्णोंको, सच पूछिए तो सभी मानवोंको, समान रूपसे पावन करनेका बीड़ा इतिहास-पुराणोंने उठाया है। इतिहास-पुराणोंने त्रैवर्णिकोंकी संकीर्ण प्रवृत्तिको लाँघनेमें सफलता पाई है। पुराणोंमें कहा गया है कि स्त्रियों, शूद्रों तथा पतितों अथवा द्विजबन्धुओंको कृतार्थ करनेके लिए महर्षि व्यासने महाभारत लिखा और पुराणोंका विस्तार किया। पद्मपुराणका वचन है 'एष साधारणः पन्थाः साक्षात् कैवल्यसिद्धिदः।' इसमें पुराणोंको 'साधारणः पन्थाः' याने सबका मार्ग कहा गया है। इसीलिए पद्मपुराणका (खण्ड २ अध्याय ५।१०) कथन है कि पुल्कस, श्वपच और अन्य म्लेच्छ जातियाँ अगर हरि-सेवक हैं तो वे अवश्य वन्दनीय हैं, महान् हैं। इसी पुराणमें अन्य स्थानपर कहा गया है कि वर्णबाह्य मनुष्य यदि वैष्णव है तो वह भी भुवनत्रयको (त्रिभुवनको) पावन करता है (३।३१।१०६)। श्रीमद्भागवतके (७।६।१०) कथनानुसार भगवद्भक्त चण्डाल भी विप्रकी तुलनामें श्रेष्ठ है। सच तो यह है कि 'जो हरिको भजै सो हरिका होइ' यही पुराणोंका माना हुआ सिद्धान्त है। शिव तथा विष्णु पुराणोंके प्रमुख देवता हैं। ये देवता ऐसे हैं जो भेदभावको तनिक भी स्थान न देते हुए सबको पावन करते हैं। इतिहास-पुराणोंने मनोरञ्जक कथाओंद्वारा बच्चोंसे लेकर बूढ़ों-तकको, समाजके सब वर्गोंको सद्वृत्ति, धार्मिक श्रद्धा तथा नीतिकी समुचित शिक्षा दी। कथाओं, कीर्तनों, व्रतों, उपवासों, देवताओंके उत्सवों, त्योहारों आदिके विविध रूपोंद्वारा पुराणोंने आम जनतामें धार्मिकताका निर्माण किया। वर्तमान तथा गत दो हज़ार वर्षोंका हिन्दू-धर्मका इतिहास पुराणोंपर आधारित है। इतिहास-पुराणोंने भक्ति-मार्गकी स्थापना की; उन्हींके कारण भक्ति-मार्गका उदय हुआ। भक्ति धार्मिक भावनाका सर्वोच्च रूप है। अतएव यदि हम इतिहास-पुराणोंको विद्यमान हिन्दू-धर्मका धार्मिक अधिष्ठान कहें तो इसमें अत्युक्ति बिलकुल नहीं होगी।

हिन्दुओंकी कलाओं तथा ललित साहित्यके अस्तित्वका श्रेय भी मुख्य रूपसे महाभारत, रामायण तथा पुराणोंको प्राप्त है। महाभारत तथा रामायण हिन्दुओंके आद्य महाकाव्य है । इन्हींसे कालिदास, भवभूति, भारवि, श्रीहर्ष आदि संस्कृत कवियोंके विभिन्न नाटकों एवं काव्योंका जन्म हुआ । पुराणोंमें वाङ्मय या साहित्यकी दृष्टिसे रमणीय आख्यान विपुल हैं। इतिहास-पुराणोंने भारतीय मानवकी सहृदयता तथा रसिकताको परिपुष्ट किया है।

इतिहास-पुराणोंकी प्राचीनता

इतिहास-पुराणोंकी धर्म-संस्थाका सम्बन्ध वेदोंके पूर्ववर्ती कालकी अवैदिक संस्कृतिके समयतक चला जाता है। वेदोंके कालमें वैदिकोंने उस संस्कृतिको अपनाकर उसे आत्मसात् करनेका निश्चय किया । यह कहना संभव है कि इतिहास-पुराणोंका आरम्भ अथर्ववेदके कालसे हुआ। अथर्ववेदमें कहा गया है कि ऋग्वेद, सामवेद, पुराणोंके साथ यजुर्वेद तथा छन्द ब्रह्मदेवसे उत्पन्न हुए (११।७।२४)। शतपथ ब्राह्मणके (११।५।७।९) ब्रह्म-यज्ञमें इतिहास तथा पुराणोंके पठनका फल बतलाया गया है और कहा गया है कि अश्वमेधमें (१३।४।३।१३) पुराण तथा वेदका पठन किया जाय। छान्दोग्योपनिषदमें (७।१।२) भी सनत्कुमारको नारद जब अपनी अधीत विद्याओंका निवेदन करते हैं तब उनमें इतिहास तथा पुराण दोनोंका अन्तर्भाव करते हैं । इस तरह वैदिक वाङ्मयमें पुराणोंका और इतिहासका अनेक स्थानोंपर उल्लेख है; परन्तु वह एकवचनमें है। सिर्फ़ आश्वलायन गृह्यसूत्रोंके (४।६) 'माङ्गल्यानीतिहासपुराणानि' में बहुवचनमें उल्लेख प्राप्त होता है। आपस्तम्ब धर्मसूत्रोंमें भी पुराणोंके वचनोंका निर्देश 'पुराणे' अथवा 'भविष्यत्पुराणे' जैसे एकवचनसे ही हुआ है; न कि 'पुराणेषु' जैसे बहुवचनसे (१।१६। १३–१५; १।२९।७; २।२३।३–५; २।२४।५–६)। ये वचन कथाओंके सन्दर्भमें नहीं आते; इनका सम्बन्ध धर्मशास्त्रविषयक विधिनिषेधोंसे तथा परलोकगतिसे है। इससे निश्चय ही यह सिद्ध होता है कि आपस्तम्ब धर्मसूत्रके समय पुराणोंमें प्राचीन कथाओंके अतिरिक्त अन्य धर्मशास्त्रसे सम्बद्ध विषय भी प्रतिपादित था। मनुस्मृति (३।२३२), विष्णुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति (३।१८९), ऋग्विधान (२१) आदि प्राचीन स्मृति ग्रंथोंमें तथा वेद-सम्बन्धी साहित्यमें पुराणोंका निर्देश बहुवचनमें किया गया है। महाभारतका (१८।६।९५) कथन है कि अष्टादश पुराणोंके श्रवणकी और महाभारतके श्रवणकी फलश्रुति एक ही है। वनपर्वमें (१८७।५८;

१९१।१६) इसी तरह मत्स्यपुराण तथा वायुपुराणका उल्लेख है। रामायणके बालकाण्डमें भी 'पुराणेषु' जैसा बहुवचनमें उल्लेख हुआ है। शिलालेखोंसे यह निश्चित हुआ है कि महाभारतकी एकलक्षात्मक संहिता ईसाकी चौथी शताब्दी-तक तैयार हो चुकी थी। इसलिए अब निस्सन्देह कहा जा सकता है कि ईसाकी चौथी शताब्दीमें अनेकों पुराण विद्यमान थे। आश्वलायन गृह्यसूत्रका समय बुद्ध-पूर्ववर्ती है। उसमें बहुवचनमें पाये जानेवाले निर्देशके कारण उस समय अनेक पुराणोंकी रचना हुई थी, इस विधानमें सन्देह करनेके लिए कोई स्थान नहीं रहता। हाँ, इतना अवश्य ध्यानमें रखना होगा कि वैदिक कालसे लेकर ईसाकी उन्नीसवीं शताब्दीके प्रारम्भ-कालतक पुराण-साहित्यमें अनेकों परिवर्तन होते आये और उसमें वृद्धि भी होती गई। इससे पुराणोंकी अतिप्राचीनताके साथ साथ अति-आधुनिकता भी सिद्ध होती है। सुत्तनिपातमें भी पुराणोंका बहुवचनमें उल्लेख किया गया है।

पुराणोंके विकास-कालका क्रम

पुराणोंको कुल मिलाकर पाँच प्रमुख काल-खण्डोंमें सुसंगत रूपसे विभाजित किया जा सकता है। वैदिक कालमें जिस समय यज्ञ-संस्थाद्वारा विकास हो रहा था उस समय 'पुराण'के रूपमें राजवंशोंकी कथाओंका तथा राजाओं, ऋषियों और देवों आदिके चरित्रोंका संग्रह किया गया। इस संग्रहको 'आदिपुराण' कहने लगे। इसके कर्ता ब्रह्मा माने गए थे। ब्रह्म नामके ऋत्विजवर्गके द्वारा यह संग्रह किया गया था। अतएव प्रशंसाकी दृष्टिसे ब्रह्मा पितामहको ही आदि-पुराणका रचयिता कहा गया होगा (वामनपुराण १।२०)। आदि-पुराणका 'आदिपुराणेषु' जैसा बहुवचनमें निर्देश हरिवंशमें (भविष्यपर्व. अध्याय १) किया गया है। वहाँ कहा गया है कि द्वैपायन व्यासने महाभारतमें वर्णित कौरवों तथा पाण्डवोंकी कथाके बाहरके आख्यानों एवं उपाख्यानोंको आदि-पुराणमें संग्रहीत किया। ऋत्विजों और खासकर यज्ञमें पुराणका वाचन करनेवाले सूत, मागध आदि शूद्रोंने वैदिक कालमें पुराणोंकी रचना की।

पुराणोंकी रचनाका एक काल (द्वितीय काल) वह भी है जब महाभारतके रचयिता ऋषिमहोदयने महाभारत या उसके एक अङ्गके रूपमें अथवा स्वतंत्र रूपमें आदि-पुराणोंका संस्कार करके उनकी रचना की। अथवा कौरवों और पाण्ड-वोंके महासमरके उपरान्त पाण्डव-वंशने यहाँ राज्य किया और उनके राजत्व-कालमें व्यासादि ऋषियोंने पुराणोंका सुचारु संग्रह करके उनकी रचना की। मैक्डोनलके

मतसे पुराण पहले पहल महाभारतकी एक लाख श्लोकोंसे संयुक्त संहिताके रूपमें अवतीर्ण हुए और बादमें गुप्त-वंशके राजाओंके समय (ई. स. ३५०–६००) उन्हें स्वतंत्र पुराणोंका रूप प्राप्त हुआ। परन्तु यह मत अधिक तर्कसंगत नहीं मालूम होता; क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद तथा शतपथ ब्राह्मणमें इतिहास और पुराणोंका पृथक् उल्लेख है। आश्वलायन गृह्यसूत्रका 'इतिहासपुराणानि' जैसा बहुवचनमें किया गया निर्देश इस कल्पनाकी पुष्टि नहीं करता। इसी तरह वनपर्वका मत्स्य एवं वायु पुराणोंका उल्लेख भी मैक्डोनल साहबके अनुमानका विरोधी है। और एक बात यह भी है कि अनुशासन पर्वके चार अध्याय (१४३–१४६) ब्रह्मपुराणसे (२२३–२६) लिए गए हैं और इस बातका वहाँ स्पष्ट निर्देश भी किया है (१४३।१८)।

पुराण-रचनाके तृतीय काल-खण्डमें अष्टादश या अठारह पुराणोंके रूपमें विस्तार हुआ। यह संस्कार गुप्त-कालके पहले ही संपन्न हुआ। इस कालमें मत्स्य, वायु तथा ब्रह्माण्ड पुराणोंने पाण्डवोंके बादके कलियुगके राजाओंके आन्ध्रोंके समयतकके (ई. स. १५० के लगभग) वंश-वृत्तका भविष्यपुराणसे स्वीकार किया। मत्स्यपुराणका कथन है कि 'आन्ध्र राजा यज्ञश्रीके राज्यारोहणका आज नववाँ या दसवाँ वर्ष चल रहा है।' इस कथनसे उपर्युक्त अनुमान सिद्ध होता है।

सूत, मागध, बन्दी (चारण) आदि शूद्र जातियोंने मूलरूपमें पुराणोंकी रचना की और पुराण-कथाओंका अनेकों पीढ़ियोंसे संग्रह करके उनका अध्ययन तथा वृद्धि की। इस सम्बन्धमें प्रमाण पाए जाते हैं। सारांश, साधारणतया हम इसी निर्णयपर पहुँचते हैं कि पौराणिक वाङ्मय या साहित्यकी वृद्धि और विकासमें ब्राह्मण, पुरोहित, त्रैवर्णिक तथा शूद्रवर्णकी सब साहित्यकार श्रेणियोंने मिलकर अच्छा सहयोग दिया है। गुप्त-कालमें ब्राह्मणोंने पुराणोंका पुनःसंस्कार और साथ साथ उप-पुराणोंका विस्तार किया।

पुराणोंकी रचनाका चतुर्थ काल-खण्ड गुप्त-कालसे लेकर सम्राट् हर्षवर्धनके समयतक आ जाता है। वर्तमान पुराणोंका जो साधारण या सामान्य रूप दिखाई देता है वह उन्हें इस कालमें प्राप्त हुआ। इसी कालमें भविष्य-पुराणके भावी कालके राजाओंके वंशोंके वृत्त तथा वृत्त पुराणोंमें पुनः समाविष्ट किये गए। इस काल-खण्डके अन्तिम अंशमें विष्णुभागवतकी रचना हुई।

पुराणोंकी रचनाका पाँचवाँ काल-खण्ड हिन्दूराजाओंके राजत्व-कालका अन्तिम अंश है। यह काल करीब करीब ईसाकी नववींसे लेकर बारहवीं शताब्दीके अन्त-

तकका माना जा सकता है। इस कालमें मूल अष्टादश (अठारह) पुराणोंमें वृद्धि हुई और उप-पुराण निर्माण हुए। हिन्दू राजाओंकी अवनति मुसलमानोंके आक्रमणोंके बाद आरम्भ हुई। अवनतिके उस कालमें भी पुराणोंमें—अल्प अनुपातमें क्यों न हो—वृद्धि हो रही थी। बाइबलके आदाम तथा अब्राहाम सम्बन्धी अंशका अनुवाद भविष्यपुराणोंमें आया है। इस अंशकी रचना बम्बई द्वीपके अंग्रेजोंके आतङ्कमें चले जानेके बाद हुई। इस कालखण्डमें पुराण-साहित्यमें जो मिश्रण हुआ वह बड़ा अस्त व्यस्त था। यही कारण है कि धर्मके इतिहास तथा भारतीयोंके अति प्राचीन इतिहासकी दृष्टिसे पुराणोंका महत्त्व आज नष्टप्राय है। यह वही काल है जिसमें अज्ञानी, पेट-पूजक तथा मूर्ख भिक्षुक-वृत्तिके ब्राह्मणोंने पुराणोंके शुद्ध स्वरूपको पूर्णतया विकृत करके बड़ा अनर्थ कर डाला।

आधुनिक दृष्टिकोणसे पुराणोंका अन्वेषणात्मक तथा ब्योरेवार अध्ययन करनेवाले पण्डितोंकी संख्या बहुत ही कम है। इस सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण संशोधनके कारण प्रो. विल्सन, राजेन्द्रलाल मित्र, डॉ. भाण्डारकर, रंगाचार्य, शामशास्त्री, पार्जिटर, स्वर्गीय त्र्यंबक गुरुनाथ काले और डॉ. के. ल. दप्तरीके नाम विशेष रूपसे उल्लेखनीय हैं। पुराणोंकी इस मीमांसामें हमारे दो लक्ष्य हैं। एक हम यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि पुराणोंका उद्गम वैदिक संस्कृतिकी सहायतासे हुआ और दूसरे हमें यह दिखाना है कि पुराणोंने भारतीय संस्कृतिको भव्य तथा कलात्मक वैभव प्रदान किया।

पुराणोंकी वैदिक पार्श्वभूमि

पुराणोंका उदय वेदोंसे हुआ। इसके कारण अनेक हैं। पहला कारण निम्नानुसार है—ब्राह्मण-ग्रंथोंमें अवतार-कथाओंकी मूल वस्तु विद्यमान है, उर्वशी, पुरूरवा आदिके वार्तालापों जैसे कथाके सूचक अंश उपस्थित हैं, शुनःशेपकी कथाकी तरह गद्य तथा पद्यसे मिश्रित कथाएँ सम्मिलित हैं और सृष्टिकी उत्पत्ति तथा संहारका कथन करनेवाले अर्थवाद भी प्रतिपादित हैं। इन्हींके आधारपर पुराणोंके अवतारों, राजवंशों राजचरित्रोंसे तथा सृष्टि-विचारसे सम्बद्ध अंश निर्माण हुए। दूसरा कारण इससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पुराणोंमें ही स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि पुराणोंके आख्यानोंकी रचना उन्हें यज्ञ-संस्थाका एक महत्त्वपूर्ण अंश मानकर की गई है। पुराणोंमें और महाभारतमें प्रस्तावनाके रूपमें वर्णन करते हुए लिखा गया है कि द्वादशवार्षिक सत्रोंमें सूतोंने शौनकोंसे पुराण-कथाएँ कहीं; उनके लिए व्रतों तथा अन्य धर्म-विचारों का विस्तार किया। प्रधान रूपसे सत्रों तथा यज्ञोंके

प्रसङ्ग ही पुराण-कथाओंके निर्माणके प्रमुख और माने हुए अवसर थे और इसको केवल पुराणकी प्रशंसाके हेतु की गई कल्पना माननेका वास्तवमें कोई कारण नहीं; क्योंकि इस सम्बन्धमें वेदों और श्रौतसूत्रोंमें अनेकों प्रमाण पाए जाते हैं । शतपथ ब्राह्मणके (१३।४।३) अश्वमेध यज्ञमें पारिप्लव (बार बार) आख्यान कहनेकी विधि वर्णित है। इससे पुराणोंकी उत्पत्ति यज्ञके मंडपमें यज्ञके अङ्गके रूपमें कैसे हुई, यह ठीक समझमें आ सकता है। अश्वमेधमें अश्वको छोड़ देनेके बाद दिग्विजय करके उसके लौट आनेतक एक बरसका काल बीतता है । इस अवधिमें यजमानको ये आख्यान सुनाये जाते हैं । अश्वको छोड़नेके बाद ऋत्विज वेदीके चारों ओर बैठते हैं, सुनहले वर्कसे जड़ित आसनपर ब्रह्मा तथा उद्गाता बैठते हैं; सोनेकी आसन्दीपर यजमान और सुनहले मंचपर अध्वर्यु बैठते हैं और इस तरह सबके अपने अपने स्थानोंपर आसीन होनेके उपरान्त अध्वर्यु होताको 'प्रेष' याने आज्ञा देते हैं, "भूतानि आचक्ष्व। भूतेषु इमं यजमानं अध्यूह।" (अर्थ 'इतिहास कहो, इतिहासमें इस यजमानकी रुचि उत्पन्न करो'।) इस इतिहासको ही पारिप्लवसे (पुनः पुनः) कही जानेवाली कथा कहते हैं। वीणापर श्लोकात्मक चरित्र गानेवाले व्यक्तियोंको होता पहले दिनकी कथाका विषय बतलाते हैं और उनसे यजमानके सत्कर्म करनेवाले प्राचीन राजाओंका गुणगान करनेके लिए कहते हैं। इस तरह जब ये चरित्र गाये जाते हैं तब यजमान अतीतके उन राजाओंके साथ सलोकताका अनुभव करते हैं। शामको जब हवनकी क्रिया चलती रहती है तब वीणापर गानेवाले क्षत्रिय कवि उत्तरमन्द्रा स्वरमें युद्ध या समर-विजयका वर्णन करनेवाले तीन स्वरचित गीत गाते हैं। वर्षमें प्रतिदिन यही कार्यक्रम चलता रहता है। राजा यम वैवस्वत, राजा वरुण आदित्य, राजा सोम वैष्णव, राजा अर्बुद काद्रवेय, राजा कुबेर वैश्रवण, राजा असित धान, राजा मात्स्य सामंद, राजा तार्क्ष्य वैपश्यत, राजा धर्म इन्द्र ये दस राजा दस दिनोंके लिए निर्दिष्ट हैं। पहले ही क्रमका निर्वाह पुनः पुनः करना पड़ता है और इस तरह दस दिनोंका यह चक्र सालभर चलाना पड़ता है। प्रतिदिन अध्वर्यु होताद्वारा वीणावादकोंसे राजाओंकी कथाओंका गान करवा लेता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, अंगिरोवेद, सर्पविद्या, देवजनविद्या, मायावेद, इतिहास, पुराण तथा सामवेदके कुछ अंश यहाँ गाए जाते हैं। इन सबके लिए यहाँ 'वेद' उपपद प्रयुक्त हुआ है। पुराण और इतिहासको भी वेद कहा गया है। पारिप्लवके अर्थको स्पष्ट करते हुए शतपथ ब्राह्मणमें उसकी

विस्तृत व्याख्या की गई है। पारिप्लवमें सब राज्यों, सब प्रकारकी प्रजाओं, सर्व वेदों, देवों तथा प्राणियोंका (भूतों) वर्णन करना पड़ता है । तात्पर्य यह कि पुराणोंका व्यापक विषय इसमें आ जाता है। कथाओं या आख्यानोंके गायक सूत, मागध, बन्दी आदि व्यक्ति इस प्रसङ्गके लिए पहलेसे ही प्रस्तुत रहते होंगे। अश्वमेध जैसा महान् उत्सव कभी कभी ही किसी पराक्रमी एवं शक्ति-युक्तिसमन्वित राजाके द्वारा संपन्न होता था । फलतः इस महोत्सवकी तैयारियाँ राष्ट्रके सब कर्तृत्ववान् व्यक्ति बड़े पैमानेपर करते होंगे। विद्याओं तथा कलाओंको प्रोत्साहन देनेवाला असीम दान-कर्म इसी समय किया जाता था । साम्राज्यकी स्थापनाके ऐसे महत्त्वपूर्ण अवसरपर समूचे राष्ट्रकी प्रतिभा तथा बुद्धि, स्फूर्ति और सामर्थ्यके साथ अपनी दमक दिखाती थी । महाकाव्योंकी समुचित एवं सम्पूर्ण सामग्री इसी अवसरपर इकठ्ठा की जाती थी । काव्य, नृत्य तथा नाट्यको भी इसी यज्ञमें स्थान मिलता था। चित्रकलाका जन्म भी इसीसे हुआ। अश्वमेधमें विविध पशुओं तथा पक्षियोंके चित्र खींचे जाते थे; क्योंकि अश्वमेधमें सैकड़ों तरहके पशु तथा पक्षी समर्पित होते हैं । उनको साक्षात् पाना सम्भव नहीं होता था; अतएव उन्हें चित्रोंके रूपमें यज्ञमें रखा जाता था (हिरण्यकेशी श्रौतसूत्र, अश्वमेध)। अश्वमेधकी परम्परा ऋग्वेदसे आरम्भ होती है। ऋग्वेदमें मेध्य अश्वपर लिखित सूक्त विद्यमान है। अतएव यह अनुमान करनेमें कोई बाधा नहीं कि ऋग्वेदके कालसे ही पुराणोंकी रचनाका सूत्रपात हुआ।

ऋग्वेदके राजाओं तथा ऋषियोंके वंश और चरित्र पुराणोंमें वर्णित हैं। परन्तु पुराणोंके आराध्य देवताओं और वैदिक देवताओंमें अन्तर है। ऋग्वेदमें इन्द्र तथा अग्नि प्रधान हैं; तो ब्राह्मण-ग्रंथोंमें अथवा यजुर्वेदमें प्रजापतिको प्रधानता प्राप्त हुई है। पुराणोंमें विष्णु तथा शिव (शङ्कर) सब देवोंमें महान् बने हैं। देवताओंकी आराधनाकी वैदिक पद्धतिमें और पौराणिक पद्धतिमें भी समता नहीं दिखाई देती। वास्तवमें ये दोनों पद्धतियाँ बिलकुल भिन्न हैं। 'पूजा' यह शब्द भी मूल धातुके साथ वेदोंमें कहीं भी नहीं मिलता। आर्षेय ब्राह्मण-ग्रंथों तथा परवर्ती कालके उपनिषदोंमें ही यह शब्द पहले पहल पाया जाता है। परन्तु पहले पहल पुराणोंकी मूर्तिपूजाका और विष्णु-शिवका उद्भव वेदोंसे हुआ है । यज्ञ-संस्थाका ही रूपान्तर देवालयोंकी संस्थामें हुआ । वैदिक भाषा तथा वेदकालीन प्राकृतसे ही पुराणोंकी भाषा विकसित हुई है। उसी तरह वैदिक यज्ञधर्मने अपना चोला बदल डाला और पौराणिक धर्मका जन्म हुआ। पुराणोंके अनुष्टुप् छन्द

तथा अन्य वृत्त भी वैदिक छन्दोंके ही रूप हैं। अतएव परिणाम यही निकलता है कि पुराणोंकी संस्कृति वैदिक संस्कृतिका ही वह रूप है जो वेदोंके समसामयिक अन्य संस्कृतियोंके साहचर्यसे निर्मित एवं विकसित हुआ है। पौराणिक संस्कृतिमें वैदिक तथा अवैदिक दोनों धार्मिक परम्पराओंका मेल हुआ है। मेल या समन्वयका यह कार्य याज्ञिकोंद्वारा ही संपन्न हुआ। उन्हीं लोगोंने यज्ञ-संस्थामें सब प्रकारके राजाओं, देवताओं, सब प्रकारकी प्रजाओं आदिका चरित्र वर्णन करनेवाली गाथाओं तथा कथाओंके रचयिताओंका समावेश किया। उनमें अवैदिक परम्पराका गुणगान करनेवालोंने याज्ञिकों या वैदिकोंके मनपर अपने धार्मिक आचारों तथा देवता-ओंका प्रभाव अङ्कित किया, जिससे वैदिकोंने अवैदिक परम्पराओंका अनुकरण करके वैदिक धर्मको पौराणिक धर्ममें परिवर्तित किया और दोनों परम्पराओंको मान्यता देकर बिना सांस्कृतिक संघर्षके दोनों संस्कृतियोंका मनोहर मेल कराया। यही कारण है कि पाँच हजार वर्ष पुराना संस्कृतिकी परिणतिका क्रम आजतक अविच्छिन्न रूपसे चलता रहा।

वैदिकोंने अवैदिक परम्पराका निःसंकोच भावसे स्वीकार किया। इसके लिए अश्वमेधके प्रकरणमें (शतपथ ब्राह्मण १३।४।३) प्रमाण प्राप्त है। पारिप्लवाख्यानके समय या सब वेदोंके पठनके समय अश्वमेधके यज्ञ-भवनमें सब प्रकारकी प्रजाएँ सम्मिलित होती थीं। विद्वान्, वेदोंसे पूर्णतया अनभिज्ञ, युवक, युवतियाँ, वृद्ध, नागजातिके व्यक्ति, मदारी या ऐन्द्रजालिक, जंगलके आखेटक, साहूकार, धीवर, केवट, बहेलिए आदिका भी सम्मेलन यज्ञसभामें संपन्न होता था। इनके मनो-रञ्जनके लिए कथाओं, गीतों तथा नृत्योंके कार्यक्रम रहते थे। अतएव वैदिक संस्कृतिसे ही उस पौराणिक संस्कृतिका जन्म हुआ जो सब लोगोंके लिए समान और भेद-भावोंसे रहित है। यहाँ 'पुराण'से हमारा अभिप्राय महाभारत और रामायणसे भी है।

शैव तथा वैष्णव धर्मों और पुराणोंका वेदोंसे सम्बन्ध

नारायणीय धर्म और रुद्र शिवकी आराधना दोनोंका सम्बन्ध वेदोंमें पाया जाता है और मूर्ति-पूजा वेदोंसे ही चली आई अथवा वेदोंने अवैदिकोंसे उसको स्वीकार किया, ये दो बातें यदि प्रामाणिक सिद्ध हो जाती हैं तो पौराणिक धर्मके वेदकृत संवर्धनको माननेमें किसीको कोई आपत्ति नहीं हो सकती। वेदोंमें मूर्ति-पूजाका अस्तित्व अग्निचयनसे ही सिद्ध होता है। वेदोंद्वारा मूर्ति-पूजाकी स्वीकृतिका कारण है ईश्वरका 'पुरुष' रूप जो वेदोंके द्वारा ही निर्धारित हुआ है। प्रस्तुत

पुस्तकके दूसरे अध्यायमें पुरुष-तत्त्वका विवेचन करते हुए हमने यह बतलाया था कि ईश्वरके 'पुरुष'- रूपकी इस कल्पनाका उदय पहले पुरुषसूक्तसे हुआ। यजुर्वेदकी सब संहिताओं तथा उसके सब ब्राह्मण-ग्रंथोंमें अग्निचयनका प्रतिपादन है। अग्निचयनमें एकशत रुद्रीय होम भी विद्यमान है। अग्निचयन ही रुद्र-शिवकी पूजा एवं अभिषेकका मूल स्रोत है। अग्निचयन हजारों ईंटोंकी बनी हुई वह वेदी है जिसे विश्वरूप अग्निके रूपमें देखा जाता है। यह वेदी विविध रूपोंमें विहित है। श्येन या गरुड पक्षीके आकारकी वेदी सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इस वेदीमें कमल-पत्रपर सोनेकी थाली रखकर उसपर हिरण्मय पुरुषकी स्थापना करनी पड़ती है। हिरण्मय पुरुषका अर्थ है सोनेकी मानवाकार मूर्ति। ब्रह्मा, विष्णु महेश इन तीनों देवताओंके परवर्ती रूपके महत्त्वपूर्ण लक्षण इसी अग्निचयनमें मिलते हैं। कमल-पत्र कमलासन ब्रह्मदेवकी ओर संकेत करता है। ऋग्वेदके हिरण्यगर्भ सूक्तसे हिरण्मय पुरुषकी स्थापना होती है। हिरण्यगर्भ वह हैम अण्ड है जो सृष्टिके प्रारम्भमें निर्माण हुआ था। ईंटोंका चयन गरुडके आकारका भी होता है जिससे विष्णुके वाहनका स्मरण होता है। गरुडपर आसीन भगवान् विष्णुकी कल्पना इसीसे विकसित हुई। शतपथ ब्राह्मणके अग्निरहस्यमें (मण्डलब्राह्मण) कहा गया है कि हिरण्मय पुरुष ही आदित्यमें स्थित पुरुष-तत्त्व है। सूर्यको विष्णुका परम स्थान माननेवाली कल्पना भी वेदोंमें (ऋग्वेद १।२२।२०) विद्यमान है, इसलिए हिरण्मय पुरुष ही विष्णु है, ऐसा विचार बादमें उदय हुआ। छान्दोग्योपनिषद- (८।१२।३) का कथन है कि पुरुष ही पुरुषोत्तम है। इसी उपनिषदमें (३।१६।१) देवकीपुत्र कृष्णसे घोर आंगिरस ऋषिने कहा है कि पुरुष (मनुष्य) ही यज्ञ है और इस उपासनासे कृष्ण वासनाके बन्धनसे मुक्त हुआ। नारायण ऋषि पुरुष-सूक्तके द्रष्टा हैं। इस तरह वैदिक वाङ्मयमें देवकीपुत्र कृष्ण तथा नारायण ऋषिका पुरुषकी उपासनासे सम्बन्ध स्थापित होता है। अग्निचयन वास्तवमें प्रधान-तया पुरुषोपासना ही है, इसे हमने दूसरे अध्यायमें पहले ही प्रमाणित किया है। अतएव यह अनुमान करनेमें कोई आपत्ति नहीं कि भागवत धर्मकी पुरुषोत्तमकी उपासनाका उदय अग्निचयनकी उपासनासे ही हुआ। नारायणीय धर्मकी उत्पत्तिके विचारके अवसरपर इस सम्बन्धमें अधिक विमर्श किया जाएगा।

अग्निचयनसे रुद्र या शिवका सबसे निकटवर्ती सम्बन्ध है। अग्निचयनकी वेदिका-पर अग्नि न जलाते हुए होमद्रव्यका होम शतरुद्रीय मन्त्रोंसे करना पड़ता है। जिस इष्टका या ईंटपर इस द्रव्यको रखना पड़ता है वह पत्थरोंसे बनी हुई इष्टका हुआ

करती है। ब्राह्मण-ग्रंथोंने शतरुद्रीय होमके विधानमें जिस अर्थवादका कथन किया है उसका प्रमुख विचार है अग्निको ही रुद्र मानना। माना गया है कि अग्नि-चयनकी अग्नि ही पुरुष है। यह पुरुष और रुद्र वास्तवमें भिन्न नहीं हैं। अभेदकी इस भावनासे ही यह होम करना पड़ता है। शतरुद्रीय मन्त्रमें रुद्रके लिए 'सहस्राक्ष' विशेषणका उपयोग हुआ है। मैत्रायणीय संहितामें (२।६।१) शतरुद्रीयके प्रारम्भमें गायत्री छन्दमें लिखित, अधिक मन्त्र दिये गए हैं जो तैत्तिरीय तथा वाजसनेयी संहिताओंमें विद्यमान नहीं हैं। उनमें 'पुरुष' संज्ञासे रुद्रकी प्रार्थना की गई है। अनुष्टुप् छन्दमें लिखे गए दूसरे मन्त्रमें महादेव, शिव तथा सहस्राक्ष जैसे विशेषणोंसे उसका आवाहन किया गया है। शतरुद्रीयके अन्तमें महादेव रुद्रको भगवान्के रूपमें संबोधित करके प्रार्थना की गई है, "देवी, वृषभ, गण, पार्षद आदिके साथ साथ विसर्जित हो जाओ।" मैत्रायणीय संहितामें अग्निचयनके प्रकरणमें ही शतरुद्रीयका पाठ है। 'सहस्राक्ष' विशेषणसे यह सूचित होता है कि मैत्रायणीय संहिताके मतमें रुद्र ही पुरुष-सूक्तके वर्ण्य पुरुष-देवता हैं। मैत्रायणी संहिताकी इस कल्पनाको शांखायन ब्राह्मणसे पुष्टि मिलती है। वहाँ रुद्रकी उत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि 'सहस्राक्षः सहस्रपात्' जैसे महान् देवताका उत्थान हुआ। बादमें यह भी कहा गया कि उत्पन्न होते ही उसने नामकरणके लिए प्रजापतिसे, अपने पितासे प्रार्थना की। नामकरणमें भव, शर्व, पशुपति, उग्रदेव, महादेव, रुद्र, ईशान तथा अशनि ये आठ नाम माँग लिए गए। वहाँका कथन है कि इन नामों या अभिधानोंसे जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, आदित्य, चंद्रमा, अन्न और इन्द्रका ही क्रमशः कथन किया गया है। शतपथ ब्राह्मणमें अग्निचयनके प्रकरणमें कुछ अन्तरके साथ यही कथा आई है। उसमें 'कुमार' रुद्रका नववाँ नाम आया है और बादमें कहा गया है कि ये सब अग्निके ही रूप हैं। अगर यह अनुमान करें कि पुराणमें शिवकी 'अष्टविध तनु'के स्वरूपोंका प्रतिपादन इस कथाके आधारपर हुआ है, तो उसमें कोई भी बाधा उपस्थित नहीं होती। पुराणोंमें इसी 'कुमार'का वर्णन रुद्र-पुत्र तथा देवोंके सेनानी कार्तिकेयके रूपमें किया गया है।

सोम, वृषभ तथा सर्पका रुद्रसे जो सम्बन्ध है वह पुराणोंमें वर्णित है। अग्निचयनका सोमयागसे विद्यमान सम्बन्ध श्रौतसूत्रोंद्वारा प्रतिपादित हुआ है। वहाँ द्वितीय सोमयागसे अग्निचयन करनेका विधान है। तैत्तिरीय संहिता तथा श्रौतसूत्रोंके अग्निचयनमें वृषभ याने इष्टकाके निर्माणकी विधि वर्णित है।

अग्निचयनमें सर्प-देवताओंके लिए सर्पविषयक मन्त्रोंसे किया जानेवाला एक होम भी सुरक्षित है। इस तरह सोम, वृषभ तथा सर्पका सोमयागसे सम्बन्ध कैसे स्थापित हुआ, इसकी कल्पना की जा सकती है। रुद्राभिषेकका बीज भी अग्निचयनमें मिलता है। उसमें 'वसोर्धारा' नामसे एक विधि प्रसिद्ध है। इसमें घृतकी उस धाराका वर्णन है जिसे 'वाजश्च मे' आदि मन्त्र-समूहकी सहायतासे अग्निचयनकी वेदीपर मन्त्र-समूहके पठनकी समाप्तिके समयतक लगातार छोड़ना पड़ता है। इस तरह पौराणिक शैव-धर्मके महत्त्वपूर्ण अङ्गों या अंशोंका अग्निचयनसे सम्बन्ध स्थापित होता है। यह मानना संभव है कि शिवलिङ्गकी कल्पना भी अग्निचयनके कुछ प्रकारोंसे मिलती-जुलती है। नाचिकेतचयनका आकार एक बड़े शिवलिङ्ग जैसा ही होता था। तैत्तिरीय संहितामें वर्णित चक्रचिति जैसे कुछ आकार शिवलिङ्गकी याद दिलाते हैं।

श्रौतसूत्रोंके समयके पहले ही वैदिकोंने शिवलिङ्गकी पूजाका श्रीगणेश किया था; इसके लिए भी प्रमाण मिलता है। बौधायन गृह्यसूत्र तथा आपस्तम्ब गृह्यसूत्रकी रचनाके पूर्व तैत्तिरीय आरण्यकके अन्तिम अंशकी रचना हो चुकी थी; इसे महानारायणोपनिषद कहा जाता है। महानारायणोपनिषदमें भिन्न भिन्न प्रकारोंसे दस बार शिवलिङ्गका उल्लेख किया गया है। ऊर्ध्वलिङ्ग, हिरण्यलिङ्ग, सुवर्णलिङ्ग, दिव्यलिङ्ग, भवलिङ्ग, शर्वलिङ्ग, ज्वललिङ्ग, आत्मलिङ्ग, परमात्मलिङ्ग तथा शिवलिङ्गकी वन्दना करते हुए वहाँ कहा गया है कि "मैं सर्व लिङ्गकी स्थापना करता हूँ।" मैत्रायणीय संहिता तथा नारायणोपनिषदके परामर्शसे यही निष्कर्ष निकलता है कि शिवकी मूर्ति तथा शिवलिङ्ग दोनोंकी अर्चना वेद-कालमें ही आरम्भ हुई। इस तरह पुराणोंके शैव-धर्मके विकसित रूपका मूल वेदोंमें प्राप्त होता है। अब हम यह दिखानेकी चेष्टा करेंगे कि वैष्णव धर्मका मूलस्रोत भी वेद ही है।

वैष्णवधर्म नारायणीय धर्मके रूपमें प्रथम उत्पन्न हुआ। नारायण ऋषि पुरुषसूक्तके रचयिता हैं। ईश्वरका केवल 'पुरुष' के रूपमें उल्लेख पहले पहल नारायण ऋषिने किया। सब धर्मोंके इतिहासमें पुरुष-तत्त्वकी कल्पना सबसे अधिक क्रान्तिकारी है। मानवने अपनी आत्माके रूपमें ईश्वरको देखा और पहचाना, इस बातका महत्त्व मानसिक विकासकी दृष्टिसे निस्सन्देह सर्वोपरि है। नारायण ऋषिने पहले देखा कि ईश्वर 'पुरुष' है। हमने पिछले पृष्ठोंमें बतलाया है कि वेदोंमें 'पुरुष' का अर्थ 'मनुष्य' होता है। वास्तवमें यही आत्मविद्याका प्रारम्भ है। 'पुरुष' तथा 'आत्मा' दोनों कल्पना-

ओंका विस्तारके साथ विमर्श पहले ही किया गया है। उस सन्दर्भमें नारायण-द्वारा प्रणीत दर्शनके सारको समझनेका यदि प्रयत्न करें तो उपर्युक्त निष्कर्षका महत्त्व आसानीसे समझमें आयेगा। मानव जब ईश्वरको आत्माके रूपमें या मनुष्यके स्वरूपमें देखता है तभी भक्तिका उदय सम्भव है। भक्ति सब धर्मोंका सर्वोपरि रहस्य है।

शतपथ ब्राह्मणमें (१२।३।४।१-११) कहा गया है कि पुरुष नारायणको प्रजापतिने यज्ञका उपदेश दिया और उसमें आत्मोपासनाका कथन किया। सब लोग, सब देवता, सर्व वेद, तथा सर्व प्राणी आदिकी आत्मामें स्थापना करें और आत्माको उनमें स्थापें, यही वहाँ कथित आत्मोपासनाका स्वरूप है। नारायणदृष्ट पुरुषसूक्त भी पुरुषको विश्वात्मक होते हुए भी विश्वातीत बतलाता है। नारायणने उस पुरुष मेधका प्रतिपादन तथा अनुष्ठान किया जिसमें सर्वस्वको अर्पण करना आवश्यक होता है। शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१।१) का यही कथन है। यह पुरुषमेध मनुष्यको बलि देनेकी विधि नहीं; सर्वात्मभावको प्राप्त कर लेनेकी विधि है। इसमें दक्षिणाके रूपमें सर्वस्व अर्पित करना पड़ता है और अन्तमें आत्माके स्थानपर अग्निकी स्थापना करके वानप्रस्थका स्वीकार करना पड़ता है। यह पुरुषमेध नारायणद्वारा प्रतिपादित तथा अनुष्ठित हुआ। वहाँ इसके लिए 'पंचरात्र यज्ञक्रतु' यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वहाँ इस यज्ञका फल भी यह बतलाया गया है कि नारायण सर्वभूतातीत होकर सर्वात्मक बने। 'पंचरात्र' एक बड़ा ही ध्यान देने योग्य विशेषण है। इससे पंचरात्रके-जो कि भागवत धर्मकी प्रसिद्ध संज्ञा है- नामकरणका समाधान होता है और एक ऐतिहासिक समस्या सुलझ जाती है। भागवत धर्मकी इस संज्ञाका मूल शतपथ ब्राह्मणमें प्रतिपादित प्रथम नारायणीय धर्ममें प्राप्त होता है। पुरुषमेध ही प्रथम नारायण-धर्म है। वेदोंमें एकाह, द्व्यह, दशरात्र, द्वादशरात्र आदि यज्ञोंकी संज्ञाएँ उनकी अवधिके अनुसार प्रतिपादित हुई हैं। उसी तरह पुरुषमेधके लिए 'पंचरात्र' विशेषणका उपयोग किया गया है। शतपथ ब्राह्मणमें पुरुषमेध पाँच दिनोंतक चलनेवाली ब्योरेवार प्रयोग-विधिके रूपमें वर्णित है। सर्व भूतोंमें भगवान्के पावन अस्तित्वका अनुभव करनेवाली भावनाकी अभिव्यक्ति इस यज्ञमें कई प्रकारोंसे की गई है। इस विधिमें सब समूहों या जातियोंके चारों वर्णोंके लोगोंको पुरुषमेधकी यज्ञ-सभामें इकट्ठा करने तथा पुरुषसूक्तसे उनका स्तवन करनेके लिए कहा गया है। इसके आधारपर कोई भी व्यक्ति आसानीसे समझ सकता है कि भागवत धर्ममें सबके चरणोंपर शीश रखनेकी जो प्रथा है उसका जन्म इसीसे हुआ है।

पुरुषमेधमें पशुयज्ञकी तरह मानवोंकी बलि नहीं दी जाती। इस सम्बन्धमें शतपथ ब्राह्मणका निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है। एक समय यज्ञके मण्डपमें स्तवनके लिए ईश्वरके रूपमें लाये गए मानवोंको यज्ञ-पशु समझ कोई उनकी बलि देनेपर उतारू हुए; तब अग्निसे अशरीरिणी वाक् प्रकट हुई और उसने कहा, "वध मत करो। मानवने अगर मानवको मारना आरम्भ किया तो वह मानवको निगलना भी शुरू करेगा।"

आत्मार्पणकी कल्पना सोमयागमें भी विद्यमान है। उसमें दक्षिणा देते हुए यों कहना पड़ता है, "मैं अपने प्राणोंके बदले यह दक्षिणा दे रहा हूँ।" इससे यज्ञ-संस्था ही भागवत-धर्मके आत्मार्पणका मूल सिद्ध होती है।

कृष्णयजुर्वेदकी वैखानस-शाखाने नारायणीय भागवत-धर्मकी वृद्धिमें सहयोग दिया। वैखानस-शाखाका श्रौतसूत्र तथा (गृह्यसूत्रात्मक) स्मार्तसूत्र दोनों आज उपलब्ध हैं। वैखानस श्रौतसूत्रमें श्रौतकर्मके आरम्भ और अन्तमें नारायणके स्मरणका तथा नारायणको अर्पण करनेका विधान है। वैखानस गृह्यसूत्रमें पहले संस्कारोंकी महिमाका वर्णन करते हुए संस्कारोंसे पावन व्यक्तियोंकी उच्च, उच्चतर तथा उच्चतम श्रेणियोंकी परम्पराको बतलाया गया। उसमें 'नारायण-परायण निर्द्वन्द्व मुनि'को सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि माना गया है। स्नानकी विधिमें नारायण आदिका उपस्थान करनेका आदेश दिया गया है। तर्पणमें नारायणका निर्देश है। आहिताग्नि संन्यासीके दहनकी विधि कहनेके उपरान्त नारायण-बलिका प्रयोग विहित है; उसमें नारायण-बलिकी विधिको विष्णुके मन्दिरके पास करनेका विधान है और केशव आदि बारह नामोंसे तर्पण करनेके लिए कहा गया है। वैखानस-शाखाके ब्राह्मणोंके वैष्णव मन्दिर मद्रास-राज्यमें विद्यमान हैं। मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा तथा पूजाकल्पके विषयमें वैखानस-शाखाके अनुगामियोंके आगम-ग्रंथ भी प्रसिद्ध हैं।

मैत्रायणीय संहिताके शतरुद्रीयमें सम्मिलित तथा नारायण उपनिषदके गायत्री छन्दमें लिखित, प्रार्थनाके अनेक मन्त्रोंके आधारपर सिद्ध होता है कि संहिता-कालके अन्तमें तथा उपनिषदोंके समय शैव-भागवत तथा वैष्णव-भागवत दोनोंके देवताओंकी रचनाका सूत्रपात हुआ था। उनमें प्रेरणाकी प्राप्तिके लिए महादेव रुद्र, कार्तिकेय स्कंद, हस्तिमुख दन्ती, चतुर्मुख ब्रह्मा, नारायण विष्णु, भास्कर भानु, सोमराज चन्द्र, वैश्वानर वह्नि, महाजप ध्यान तथा वैनतेय सृष्टि इनकी क्रमशः प्रार्थना की गई है। नारायण उपनिषदमें भी प्रार्थनाके ये ही मन्त्र उपस्थित हैं; उनमें कहीं

पाठभेदमें वृद्धि की गई है तो कहीं कुछ मन्त्रोंको हटाया गया है। उनमें जिन तीन और देवताओंका समावेश है वे हैं नंदी, गरुड तथा नारसिंह दुर्गि। दन्तीको वक्रतुण्ड कहा गया है; स्कंदके बदले षण्मुख कहा गया है और ब्रह्माके लिए 'वेदात्मा' विशेषण दिया गया है। मैत्रायणी संहितामें विष्णुको केशव और यहाँ उसे वासुदेव कहा गया है। दुर्गिके लिए 'कन्यकुमारी' तथा 'कात्यायन' ये पुल्लिङ्ग विशेषण प्राप्त हुए हैं। मैत्रायणीय संहितामें भी 'गौरि' शब्द ह्रस्व इकारान्त है और 'गिरिसुत' उसका पुल्लिङ्ग-विशेषण है। क्या हम इन्हें वैदिकोंके पाठदोष मान लें या यह समझें कि वैदिक कालके पुराणोंमें 'दुर्गि' और 'गौरि' पुरुषवाचक नाम थे और बादमें वेदोंके उत्तरवर्ती पुराणोंमें वे 'स्त्रीवाचक' बने ? इन समस्याओंका समाधान करनेके लिए कुछ प्रमाण पुराणोंमें ही मिलेंगे।

पुराणोंके प्रथम पाँच अवतारोंके बीज या उनकी मूल-कथाएँ वैदिक वाङ्मयमें ही मिलती हैं। जलप्लावनके समय समुद्रमें मनुकी नौकाके मत्स्यद्वारा वहन एवं रक्षणकी कथा शतपथ ब्राह्मणमें (१।८।१) मिलती है। यही मत्स्यावतारका मूल है। कूर्मावतारका बीज तैत्तिरीय संहिता तथा तैत्तिरीय आरण्यकमें पाया जाता है। प्रजापतिके शरीरका रस कूर्मरूप धारण करके जलमें संचार कर रहा था। प्रजापतिने उससे कहा, "मेरी त्वचा तथा मांससे तुम्हारा जन्म हुआ है;" तब उसने कहा, "ऐसा नहीं है।" यह कूर्म बादमें कहने लगा, "मैं तुमसे पहले ही विद्यमान हूँ।" यह कूर्म ही 'सहस्रशीर्षा पुरुष' के रूपमें प्रकट हुआ। तब प्रजापतिने उससे कहा, "तुम मेरे पूर्ववर्ती हो। इसीलिए इस समूचे विश्वका निर्माण करो।" उसने अपनी अञ्जलिसे प्रत्येक दिशामें जल फेंका और उससे आदित्य आदि सृष्टिको उत्पन्न किया (तैत्तिरीय आरण्यक १।२३।१–६)। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें वह कथा है जो वराहावतारका मूलस्रोत है। प्रारम्भमें यह सब सलिल-मय था। उस सलिलकी सहायतामें प्रजापतिने सृष्टिके निर्माणके लिए बहुत परिश्रम किया। उसमें उन्हें एक कमल-पत्र दिखाई दिया। उन्होंने सोचा कि कमल-पत्रकी उत्पत्ति किसी मूल-रूप आधारको पाकर ही हुई होगी और वराहका रूप धारण करके वे उसके मूलमें, पानीकी तहमें जा पहुँचे। वहाँ उन्हें पृथ्वी मिली। उसके कुछ अंशको लेकर वे ऊपर आये और उन्होंने उस आर्द्र अंशको कमल-पत्रपर बिखेर दिया। उससे यह पृथ्वी बनी। उसपर पवन बही और वह आर्द्र अंश सूख गया। बालुकाके मिश्रणसे उसे दृढ बनाया (तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।३)। नृसिंहा-

वतारकी मूल कथा तो वेदोंमें नहीं मिलती; परन्तु उससे सम्बद्ध व्यक्तियोंके नाम अवश्य पाये जाते हैं। कयाधूके पुत्र प्रह्लाद (तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।१०।७) और राक्षस-दूत हिरण्याक्षके (तैत्तिरीय आरण्यक ४।३३) उल्लेख मिलते हैं। वामनावतारका बीज शतपथ ब्राह्मणमें (१।२।५५) है। उसमें कहा गया है कि देवोंको समूची पृथ्वीको पानेकी इच्छा थी। विष्णु उस समय 'वामन' याने छोटे थे। विष्णुका अर्थ है यज्ञ। उसकी सहायतासे अर्चना तथा परिश्रम करके देवोंने समूची पृथ्वीको प्राप्त कर लिया। उस श्रमसे विष्णुको ग्लानि आ गई। विष्णुका अर्थ है अग्नि। वह वनस्पतियोंकी जड़ोंके नीचे प्रविष्ट हुआ; देवोंने खननसे उसे पा लिया।

राम, कृष्ण, बुद्ध तथा कल्कि अवतारोंकी कथाओंके बीज वेदोंमें नहीं मिलते। ऊपर कहा ही गया है कि वासुदेव, केशव तथा नारसिंह इन नामोंके उल्लेख मैत्रायणीय संहिता तथा नारायणोपनिषदमें पाये जाते हैं। अथर्ववेदमें परशुरामके अवतारको परम्परासे सूचित करनेवाला बीज मिलता है। "भृगुकी हिंसाके कारण सृंजय वैतहव्य राजा परास्त हुए। उन निन्यानबे राजाओंको भूमिने उछालकर फेंक दिया। ब्राह्मणप्रजाकी हिंसा करनेके कारण उनकी वह पराजय हुई जो वास्तवमें असम्भव थी," (अथर्ववेद ५।१६।१,११)। यह उल्लेख अप्रत्यक्ष रूपसे परशुरामावतारका सूचक है। वहाँ यह भी बतलाया गया है कि ब्राह्मणोंके गो-धनका अपहरण अनुचित है; इस तरहका अपहरण करनेवालोंका विध्वंस होता है और उनका राष्ट्र भी विनाशके गर्तमें गिरता है। वहाँ यह संकेत भी किया गया है कि ब्राह्मणसे शुल्क अर्थात् राज्यस्व लेनेसे नरककी प्राप्ति होती है (५।१६।२)। वास्तवमें यह सूक्त ब्राह्मण तथा क्षत्रिय राजाओंके प्राचीन कालके धर्म-युद्धकी ओर निर्देश करता है।

वैदिक-अवैदिक अर्थात् याज्ञिक और यज्ञविरोधी परम्पराओंका संघर्ष तथा समन्वय

इतिहास-पुराणों और वेदोंके सम्बन्धका अबतक दिग्दर्शन किया। पौराणिक धर्मकी एक विशेषता यह है कि उसके मुकाबलेमें यज्ञ-संस्था एकदम पिछड़ गई। भागवत-धर्ममें वेदविहित यज्ञोंको दोषपूर्ण बतलाया गया है, उनकी निन्दा की गई है। इसके आधारपर इतिहासके कई पण्डित यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं कि पौराणिक संस्कृति तथा वेदोंकी संस्कृतिमें विरोध है और पौराणिक धर्म वास्तवमें अवैदिकोंके वेदपूर्व कालसे चलते आये धर्मकी वह नवीन व्यवस्था है जिसे वैदिकोंने बड़े समन्वयपूर्वक तैयार किया। इस उपपत्तिको सिन्ध प्रान्तमें उत्खननमें

पाये गए तीन हजार वर्षोंके पूर्ववर्ती सांस्कृतिक अवशेषोंसे पुष्टि मिलती है। (१) यह अनुमान किया जाता है कि उस उन्नत संस्कृतिके लोगोंमें योगविद्या तथा लिङ्ग-रूप शिवकी पूजा तो अवश्य विद्यमान थी; परन्तु उनमें वेदोंकी याज्ञिक याने यज्ञपर आधारित संस्कृति नहीं थी। इस अनुमानके लिए पर्याप्त सामग्री इस उत्खननमें पाई गई है। ध्यानस्थ शिवकी मूर्ति तथा पूजनीय शिश्न-समान लिङ्ग वहाँ उपलब्ध हुए हैं। (२) रुद्र यज्ञके विध्वंस-कर्ता हैं। उन्होंने प्रजापति दक्षके यज्ञका विध्वंस किया। अग्निचयनमें रुद्रसम्बन्धी कार्यके समाप्त होनेपर प्रोक्षण करके सब शुद्ध किया जाता है और त्र्यम्बकेष्टिमें रुद्रको बाहर सुदूर देशोंमें उत्तर दिशाकी ओर पहुँचाकर शुद्धिकी विधि की जाती है। इस तरहके प्रमाणोंके आधारपर इतिहासके कुछ मर्मज्ञ यह सिद्ध करनेकी चेष्टा करते हैं कि रुद्र अवैदिक अनार्योंके देवता थे और उनका वैदिकोंने स्वीकार किया।

रुद्र मूल रूपमें अवैदिकोंके ही देवता हैं, इसे सिद्ध करना बड़ा कठिन है। इस सम्बन्धमें अधिकसे अधिक यह कहना ठीक होगा कि रुद्र वैदिकोंकी पशुपालनकी असभ्य अवस्थाके समयसे चले आये देवता रहे होंगे। यह भी कहना सम्भव है कि वे रुद्र और अवैदिक लिङ्ग-देवता इनका समन्वय वैदिकोंने किया। ऋग्वेदके रुद्र-सूक्तोंमें रुद्र मरुतोंके पिताके रूपमें वर्णित हैं। मरुत् इन्द्रके नित्य सहयोगी देवता हैं। वहाँ मरुतोंको भी 'रुद्र' अथवा 'रुद्रीय' संज्ञा दी गई है। वरुण, अग्नि तथा सविताकी तरह रुद्रके लिए भी 'असुर' जैसा अति प्राचीन देवताओंका विशेषण प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद ५।४२।११)। उसे 'ईशान' तथा 'शिव' कहा गया है (ऋग्वेद १०।९२।९)। वेदोंके परवर्ती कालमें रुद्रको ही 'शिव' जैसा विशिष्ट अभिधान प्राप्त हुआ। वैदिक वाङ्मयमें भी अग्निको छोड़कर अन्य देवोंके लिए इस नामका विशेषणके रूपमें उपयोग नहीं किया गया है। रुद्रके बाणको सब वेदोंमें घातक कहा गया है। वैसे तो इन्द्रके बाणका वर्णन भी वेदोंमें उपस्थित है; परन्तु वह बाण सिर्फ शत्रुओंका ही नाश करता है। रुद्रका बाण किसका विध्वंस करेगा इस सम्बन्धमें निश्चयके साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए ऋग्वेदमें (१।११४।७,८) उनकी प्रार्थना यों की गई है, "हमारी, संतान, हमारे माता-पिता, सेवक-गण, पशु तथा अश्व आदिका और हमारा नाश मत करो।" उक्त प्रार्थनामें यह भी कहा गया है, "पूजको, पूजकोंकी सन्तानों तथा गौओंके लिए तुम्हारा बाण घातक सिद्ध न हो।" 'उग्र' और 'भीम' रुद्रके विशेषण हैं। उनके क्रोधका उल्लेख बार बार आता है। अथर्ववेदकी

(११।२।२९) प्रार्थना है, " विद्युद्रूप अस्त्रसे भक्तका वध मत करो । उस अस्त्रको दूसरी जगह गिरने दो । " शतपथ ब्राह्मणका (९।१।१।१) कथन है कि देव भी इनके धनुष्य और बाणोंसे डरते हैं; उनसे अपने नाशकी उन्हें आशङ्का है। परन्तु प्रार्थनासे वे (सबका) कल्याण करते हैं। वे वैद्योंके राजा हैं। उनके सम्बन्धमें यह भी कहा गया है कि वे यज्ञकी सहायतासे सब मनुष्यों तथा पशु-ओंकी व्याधियोंका नाश करते हैं। रुद्र भीषण हैं; अतएव उन्हें दूर पहुँचाने-की कल्पना त्र्यम्बकेष्टिमें सम्मिलित की गई है । यज्ञके स्तोत्र तथा हवि उन्हें प्रिय हैं (ऋग्वेद २।३३।५) । तीव्र व्याधिको उत्पन्न करनेवाले तथा सहसा शस्त्रोंकी भीषण वर्षा करनेवाले देवताके रूपमें उनका वर्णन हुआ है अवश्य; परन्तु साथ साथ यह भी कहा गया है कि वे पापहर्ता हैं; उनके हाथ सुख-दाता हैं; वे समृद्धिके दानी तथा रोगोंका निवारण करनेवाली दवाओंके दाता है ।

दक्ष-यज्ञके विध्वंसकी पौराणिक कथा सामान्य यज्ञविरोधकी सूचक नहीं मानी जा सकती। यह कथा वास्तवमें प्रजापति दक्ष तथा रुद्रगणके आपसके विरोधकी परिचायक है। रुद्रगणने अवैदिकों तथा आर्येतर व्यक्तियोंसे बहुत ही हेलमेल बढ़ाया । वह उनसे घुल-मिलकर एक बना । परन्तु दक्ष प्रजापतिके गणको अपने विशुद्ध आर्य वैदिक गण होनेपर बड़ा अभिमान था। अतएव यह अनुमान सुसंगत होगा कि दक्षप्रजापति-गणके इसी अभिमानके कारण वह संघर्ष हुआ। कदाचित् यह भी सम्भव है कि यह कथा रुद्र गणमें मिले हुए अवैदिक देवतासे सम्बद्ध हो। जिस तरह नारायणीय वैष्णव धर्मने हूण, शक, यवन, किरात, चण्डाल आदि मानवोंको पावन किया उसी तरह रुद्र-पूजक धर्मने नारायणीय धर्मसे बरसों पहले ही मानवोंमें भेद न करते हुए मानवजातिको वैदिक और वेद-मूल कालमें शुद्ध किया। इसीसे वैदिकेतर व्यक्तियोंकी लिङ्गपूजा तथा शिव-पूजाका मिलन संपन्न हुआ। रुद्र-शिव शूद्र तथा अतिशूद्र समझे जानेवाले लोगोंके भी देवता बने। रुद्र-शिवकी यह प्रवृत्ति वेद-मूल कालमें ही निर्माण हुई होगी। अरण्य-निवासी तथा पार्वतीय समूहोंको पशुपतिके भक्त-गणोंने पशु-पालन करते हुए ही अपनानेका प्रयत्न किया। इसीलिए प्रजापति दक्षकी कन्यासे रुद्र-गणके अधिपतिका जो विवाह स्वयंवरमें संपन्न हुआ वह प्रजापति दक्षको सम्मत न हुआ; इसीसे यह विरोध यज्ञके विध्वंस तथा दक्षके संहारकी मर्यादातक पहुँचा। ऋग्वेदमें (१।३३।५-१०) रुद्र सुन्दर, नित्य युवक, अवयवोंकी दृढ मांस-पेशियों तथा मनोहर ठोड़ीसे संयुक्त, तेजस्वी तथा रक्त और गौर

वर्णके रूपमें वर्णित हैं। रुद्रके शरीरकी कान्ति तथा अवयवोंको सोनेकी तरह दीप्तिमान् कहा गया है। उनकी दीप्ति सूर्य तथा हिरण्यकी तरह शोभायमान है (ऋग्वेद १।४३।५)। वे मेधपति हैं (१।४३।४)। 'सुशिप्र' तथा 'बभ्रु' ये इन्द्रके विशेषण रुद्रके लिए भी प्रयुक्त हुए हैं। न ऋग्वेदके रुद्रका यह रूप न उनके ये विशेषण उनके अनार्योंके देवता होनेके अनुमानकी पुष्टि करते हैं। सनकी, भीषण, पशुओंके पालनकर्ता, रोगोंके निर्माता तथा अपहर्ता आदि देवताओंके ऐसे लक्षण हैं जो आर्य एवं अनार्य दोनोंको मान्य हो सकते हैं। रुद्र संभवतः वैदिकोंकी सबसे असभ्य अवस्थामें विद्यमान प्राचीन देवता हैं। यजुर्वेदकी संहिताओंके समय यह सबको मान्य हो चुका था कि वे क्या आर्य क्या अनार्य सबोंके देवता थे। इसीलिए उन्हें 'चर्मधारी' तथा 'विविध तनुओंसे संयुक्त' कहा गया है। 'अरण्योंके अधिपति,' 'स्तेनोंके पति,' 'तस्करोंके पति' आदि विशेषण उनके अनार्योंमें मान्य देवत्वकी ओर निर्देश करते हैं। 'नमो विरूपेभ्यः विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः' (तैत्तिरीय संहिता ४।५।४।१) जैसी वंदनासे यह अनुमान किया जा सकता है कि अनार्योंके विविध देवता उन्हींके विविध रूप हैं। 'कपर्दी' (याने जटाधारी) तथा 'व्युप्तकेश (याने जिसकी श्मश्रु की गई है वह) असभ्य तथा सभ्य अवस्थाओंके देवताओंकी ओर संकेत करते हैं। तात्पर्य वेदोंके पूर्ववर्ती कालसे चले आये रुद्रदेव वैदिक कालमें ही वैदिक तथा अवैदिक दोनोंके देवता बन चुके थे। अतएव वैदिकों द्वारा अनार्योंके देवताके स्वीकार किए जानेकी कल्पनाकी अपेक्षा यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि वैदिक तथा अवैदिक देवताओंके मिलनसे शिव महादेवका उदय हुआ। वैदिकोंने वेद-कालमें अनार्योंसे लिङ्गपूजाका स्वीकार किया होगा। आर्य तथा अनार्य दोनोंमें शिव समान रूपसे आदरके पात्र थे। शिवदेवताके उक्त अनार्य अंशके कारण ही यज्ञमें उनके विसर्जनके उपरान्त शुद्धिकी विधि की जाती होगी।

यज्ञ-संस्थाकी महिमाको पहले याज्ञिकोंने ही कम किया। याज्ञिकोंने यज्ञाङ्गके रूपमें मानसिक कर्मको महत्त्व प्रदान करना प्रारम्भ किया। उन्होंने इस तत्त्वका प्रतिपादन किया कि उपासनाके साथ बाह्य कर्म करनेसे वह 'वीर्यवत्तर' याने अधिक वीर्यवान् बनता है (छान्दोग्योपनिषद १।१।१०)। ब्राह्मणग्रंथों तथा आरण्यकोंमें यह सिद्धान्त प्रतिपादित है कि अश्वमेध, अग्निचयन, महाव्रत आदि महाक्रतुओंके प्रत्यक्ष अनुष्ठानकी कोई आवश्यकता नहीं; केवल मानसिक उपासनाके रूपमें उनका अनुष्ठान करनेसे भी उतना ही फल प्राप्त हो सकता

है। क्या ब्रह्मसूत्रोंके रचयिता, क्या भाष्यकार दोनोंने इस सिद्धान्तका समर्थन किया है। ऐतरेय तथा शांखायन आरण्यकके अन्तमें कावषेय ऋषिका कथन है, " हमें वेदोंके अध्ययनकी तथा यज्ञकी कोई आवश्यकता नहीं है। " शतपथ ब्राह्मणके अग्निरहस्यमें (१०।५।४।१६) कहा गया है कि जिस स्थानपर कामनाएँ या इच्छाएँ पूर्ण होती हैं उस स्थानपर आरूढ होना उपासनासे ही सम्भव है; वहाँ न दक्षिणा पहुँच पाती है, न ज्ञानहीन तपस्वी। मुण्डकोपनिषदका भी कथन है, " यज्ञरूप नौकाएँ (प्लव) अस्थिर (अदृढ) हैं। "

इस तरह यह सिद्ध करना सम्भव है कि पौराणिक, बौद्ध तथा जैन धर्मोंकी यज्ञविरोधक प्रवृत्ति वेदोंमें भी प्रतिबिम्बित हुई। बाह्य क्रिया-कलापोंसे निवृत्त होकर मानसिक एवं उदात्त धार्मिक भावनाकी ओर उन्मुख होना यही विचारोंके विकासका प्रमुख चिह्न है। साधारण तथा अप्रगल्भ मानव इस विचार-विकासके 'गुरु भार' को वहन नहीं कर पाते; अतएव याज्ञिक कर्मकाण्डके बदले नवीन अर्चा-कल्पों या पूजा-प्रकारोंका निर्माण करनेपर पौराणिक, बौद्ध तथा जैन बाध्य हुए। उन्होंने यज्ञ-मण्डपसे भी अधिक सुन्दर तथा कलापूर्ण मन्दिर-संस्थाको जन्म दिया; वेदोंके मन्त्रोंके स्थानपर गद्यपद्यात्मक स्तोत्रों तथा प्रार्थनाओंकी रचना की। पुरोहितों तथा ऋत्विजोंका स्थान धर्मोपदेशकों, पुजारियों, कथाकारों, गायकों तथा वादकोंके वर्गोंने ले लिया। यज्ञके समारोहोंकी जगह उत्सवों तथा तीर्थयात्राओं जैसे कार्यक्रमोंका आविर्भाव हुआ। बाह्य कर्मकाण्डके रूपका–अलग ढंगसे क्यों न हो–स्वीकार करना ही पड़ा। जिस तरह यज्ञरूप नौकाएँ अदृढ तथा संसाररूपी सागरके उस पार ले जानेमें असमर्थ हुईं उसी तरह और उतनी ही मात्रामें मूर्तिपूजा भी उस कामके लिए असफल सिद्ध हुई।

पुराणोंका इतिहास-कथन

इतिहास-पुराणोंने विश्वके इतिहासकी कल्पनाको जन्म दिया। विश्वमें तथा मानव-समाजमें एक ही काल-तत्त्व अनुस्यूत है, इसका ज्ञान इतिहास-पुराणोंने कराया। काल-तत्त्व भी ब्रह्म-तत्त्वका ही एक रूप है। उत्पत्ति, स्थिति तथा लय-की तीनों अवस्थाओंका पूर्णतया समावेश करनेवाले तत्त्वके रूपमें ही ब्रह्मका वर्णन उपनिषदोंमें किया गया है। समूचा अस्तित्व या समूची सत्ता कालपर आधारित है। इतिहास-पुराण इस विचारके ज्वलन्त प्रमाण हैं। महाभारतके प्रथम अनुक्रमणिका-पर्वमें कालतत्त्वका वर्णन है। उसमें संजय धृतराष्ट्रसे कहते हैं, " अस्तित्व-अनस्तित्व, सुख-दुःख सब कालपर आधारित है। शुभ और अशुभ

भी कालकृत आविष्कार हैं। कालके ही कारण प्रजाओंका ह्रास तथा विस्तार होता है। भूत-भविष्य-वर्तमान तीनों कालनिर्मित हैं। इस सत्यको समझकर अपनी बुद्धिको नष्ट मत होने दो (महाभारत १।१।१८७-१९०)।

विश्वेतिहासका वर्णन वास्तवमें पुराणोंका एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य है। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें (ब्रह्माण्ड पुराण १३२।१।१।३७) पुराणकी परिभाषा निम्नानुसार की गई है: "पुराणोंके प्रमुख लक्षण पाँच हैं-सृष्टि, प्रलय, वंश, मन्वन्तर तथा वंशोंके चरित्र।" यह परिभाषा अब सर्वमान्य हो चुकी है। इनके सिवा अन्य कई विषयोंका पुराणोंमें विवेचन किया गया है। हरेक पुराणका कोई अलग, विशिष्ट विषय भी है।

पुराण-ग्रंथोंमें पुराणोंके रचयिताओंने दो भेद मान लिए हैं और वे हैं, महापुराण तथा उपपुराण। महापुराणोंकी सूचीके सम्बन्धमें प्रायः ऐकमत्य है; परन्तु उपपुराणोंके विषयमें यह हाल नहीं है। कुल पुराण अठारह माने गए हैं। उनके नाम निम्नानुसार हैं:- ब्राह्म, पाद्म, विष्णु, शिव अथवा वायु, भागवत (देवी भागवत अथवा वैष्णव भागवत), भविष्य, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त, लिङ्ग, वाराह, स्कंद, वामन, कूर्म, मात्स्य, गरुड और ब्रह्माण्ड। देवी भागवत तथा मात्स्य पुराणोंमें वैष्णव भागवतके स्थानपर देवी भागवतको महापुराणोंके अन्तर्गत रखा गया है। गरुड पुराणमें वायु तथा शिवको दो अलग पुराण मानकर वामनको हटाया गया है। कूर्म पुराणमें महापुराणोंकी संख्या उन्नीस बतलाई गई है। उपपुराणोंकी तालिकामें समानता बिलकुल नहीं है। एक स्थानपर वर्गीकरण किया है जो निम्नानुसार है: शिवसम्बन्धी, विष्णुसम्बन्धी तथा अन्य देवताओंसे सम्बद्ध। इस वर्गीकरणमें दस शिवसम्बन्धी और चार विष्णुसम्बन्धी पुराण तथा दो ब्रह्मदेवसे, एक अग्निसे और एक सूर्यसे सम्बद्ध पुराण बतलाये गए हैं। पुराणोंके श्लोकोंकी कुल संख्या चार लाख बतलाई गई है।

सृष्टिके प्रारम्भसे ही इतिहासका कथन करनेकी पुराणोंकी पद्धति है। प्रायः सभी पुराणोंमें प्रारम्भमें स्वायंभुव मनुकी उत्पत्तिके कथनके उपरान्त उसके वंशके पुरुषोंके कर्तृत्वका तथा वंश-वृक्षका प्रतिपादन किया जाता है। इसके बाद राज्य-संस्थाकी उत्पत्तिके वर्णनके लिए पृथु-वैन्यका चरित्र रखा जाता है। अनेक मन्वन्तरोंके वृत्तान्तके बाद वैवस्वत मनुसे लेकर महाभारतके युद्धोंतकके वंशों तथा महापुरुषोंका वर्णन किया जाता है। इसमें भूगोल, देवसुरोंके युद्धों, सात

द्वीपों तथा सात सागरोंके वर्णनका समावेश होता है। महापुराणोंमें सामान्य रूपसे इस तरहके साधारण विषयका प्रतिपादन पाया जाता है। सिवा इसके देवताओंकी महिमा अथवा उनके चरित्र, व्रत, व्रतसम्बन्धी कथाएँ, स्मार्त धर्मशास्त्र, तीर्थ-स्थानोंके वर्णन आदि विषय भी हरेक पुराणमें उपस्थित होते हैं।

पुराणोंका इतिहासमें अद्भुत वर्णनों, अतिशयोक्तियों या अत्युक्तियों तथा कल्पनाओंके विलासका अंश प्रधान है। अतएव उनमें सच्चे इतिहासका अंश पूर्ण रूपसे आच्छादित होता है। इनमें इतिहासका अंश कितना है और शुद्ध कल्पनाका अंश कितना है इसका विवेक करना प्रायः असम्भव हो उठता है। भूगोलके वर्णनकी तरह इतिहासका वर्णन भी यहाँ काल्पनिक ही होता है। भूगोलके पौराणिक वर्णनमें सत्यके अत्यल्प अंशपर कल्पनाका गगनचुम्बी प्रासाद खड़ा हुआ नजर आता है। पौराणिक इतिहासका भी यही हाल है। जम्बुद्वीपमें समाविष्ट भारतवर्षका वर्णन सत्य है; परन्तु मेरुपर्वत, दधिसमुद्र आदि कल्पनाएँ अद्भुत हैं। इन अद्भुत कल्पनाओंमें भी वास्तविक अर्थके, सत्यके अन्वेषणका सराहनीय प्रयत्न स्वर्गीय वि. का. राजवाडे जैसे मनीषियोंने किया है और उनके उस प्रयत्नको पूर्णतया निष्फल भी नहीं कहा जा सकता।

ऋग्वेदमें उस समयके सूक्त पाये जाते हैं जब देव तथा असुर दोनों एक थे। ब्राह्मण-ग्रंथों तथा पुराणोंमें देवों तथा असुरोंके भ्रातृत्वके सम्बन्धका कथन है। यह काल प्रजापति-संस्थाका है; क्योंकि ब्राह्मण-ग्रंथोंमें असुरोंको प्रजापतिके ज्येष्ठ पुत्र तथा देवोंको कनिष्ठ पुत्र कहा गया है। देवों तथा असुरोंके एकत्र निवासके इस समयकी समाप्तिके बाद यजुर्वेदका काल आता है। देवों तथा असुरोंके विच्छेदके उपरान्त जो संस्कृति निर्मित हुई वह असीरिया तथा मिसर देशोंमें पाई जाती है। यजुर्वेदकी संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों तथा पुराणोंमें देवों तथा असुरोंका युद्ध वर्णित है। इस युद्धमें पहले असुरोंकी विजय होती है। प्रल्हाद, बलि आदि असुरोंके समूचे विश्वपर फैले हुए सामान्य देवोंके साम्राज्योंके पहले निर्माण हुए। ऋग्वेदमें एक जगह वर्णन है कि एक समय अग्निका लोप हुआ; वे कहीं जा छिपे। देवोंने खूब तलाश की और अन्तमें उन्हें अग्नि मिल गए। अग्निके लोपका यह समय ही वास्तवमें देवोंकी पराजय तथा असुरोंकी विजयका काल है। प्रजापति-संस्थाके सुयोग्य संगठन तथा यज्ञ-संस्थाकी स्थापनाके कारण देव याने वैदिक ऋषियोंके पूर्वज असुरोंके साम्राज्योंसे अलग होकर अपने स्वतंत्र राज्योंकी स्थापना करनेमें समर्थ हुए। पुराणोंमें कहा गया है कि ब्रह्मदेवकी शरणमें पहुँचकर देवोंको जब विष्णुका

सहयोग मिला तब वे पुनः विजयी बने। इस कथनसे उपर्युक्त स्वराज्य-स्थापनाका अनुमान किया जा सकता है।

पुराणोंकी रुद्र-शिवकी कथाएँ एक विशिष्ट इतिहासकी ओर संकेत करती हैं। यह इतिहास रुद्र-गणोंसे सम्बद्ध है। रुद्र-गण इन्द्रकी अपेक्षा अधिक प्राचीन हैं। इन्द्रके सहयोगी सैनिक गण थे मरुत् नामके देवता। रुद्र इन मरुतोंके पिता हैं। रुद्र स्वयं गण-पति हैं और गणपति उनके पुत्र भी हैं। वेदोंके अनुसार रुद्रोंकी संख्या ग्यारह है। पुराणोंमें रुद्रके सौ अवतार माने गए हैं। उनमें एक अवतार है मतंग और कालीको मातंग-कुमारी कहा गया है। मतंग वास्तवमें वर्तमान मांग जाति है। रुद्र-गणमें सब प्रकारकी सामाजिक अवस्थाओंसे गुजरनेवाली अतिप्राचीन कालकी जातियोंका समावेश हुआ था। वैदिक जन असभ्य अवस्थामें थे तब रुद्र उनके देवता थे। रुद्र पशुपति हैं; याने उनकी पशुपालक संस्कृतिके समयकी वन्य अवस्थाके देवता हैं। देवगणों तथा मनुष्यगणोंमें नामोंकी एकताके उदाहरण प्राचीन इतिहासमें पाये जाते हैं। उदाहरणके लिए 'शिव' नाम लीजिए। ऋग्वेदमें 'शिव' उस जातिका नाम है जो दाशराज्ञ युद्धमें सम्मिलित हुई थी। ब्रह्मा यदि देवताका नाम है तो साथ साथ ब्राह्मणोंका भी। इसी तरह रुद्रदेवको माननेवाले रुद्र-गण अपने सम्पर्कमें आये हुए अवैदिक गणोंको भी आसानीसे सम्मिलित कर लेते थे। वैदिकोंमें कुछ गण इस प्रवृत्तिके विरोधी थे। इस सम्बन्धमें दक्ष प्रजापतिका गण रुद्र-गणोंका सख्त विरोधी था। यह विरोध ही भीषण युद्धमें परिणत हुआ। पुराणोंमें कथित शिव-कथामें दक्ष प्रजापति और शिवके इस संघर्षको बड़ा ही महत्त्व प्राप्त है। पुराणोंके अनुसार क्रमसे उमाके दो जन्म हुए। पहले वह दक्ष-दुहिता थी और बादमें हिमालय-कन्या बनी। पहले जन्ममें वह 'गौरी' याने गोरे रंगकी थी और दूसरे जन्ममें 'काली' याने काले रंगकी बनी। गौराङ्ग शंकरने गौरीसे विवाह किया। दक्ष-यज्ञमें अपमानित होनेके कारण गौरीने आत्महत्या की और हिमालयके घरमे जन्म लिया। यही पार्वती काली है। शंकरके जीवनमें संपन्न ये दो विवाह वास्तवमें वैदिकोंकी अवस्थामें जो दो स्थित्यन्तर हुए उनका इतिहास है। काली या कृष्णवर्ण जातिमें रुद्र-गणके घुल-मिल जानेका अर्थ है कालीसे रुद्रका विवाह हो जाना। काली जातिमें मातृप्रधान संस्था विद्यमान थी। रुद्रपर कालीद्वारा क्रोधसे किये गए नृत्यका जो वर्णन उपलब्ध है वह मातृप्रधान संस्थाका प्रतीक है। क्या आर्य, क्या अनार्य

सबको एकरूप बनानेवाले देवता शिव हैं। अतएव शिव-पूजक जातियाँ अत्यन्त बर्बर अवस्थाओंमें पाई जाती हैं। शैव-धर्मके रूपमें आर्योंने भेदाभेदके विचारको तिलाञ्जलि देते हुए समूचे संसारको एक धर्मसंस्थाकी छत्रछायामें ले आनेका महान् प्रयत्न किया। इस प्रयत्नमें या तो आर्येतरोंसे (याने अनार्यों) शिवके कुछ रूपोंका स्वीकार किया गया या आर्येतर 'शिव'में वैदिक 'रुद्र'का विसर्जन किया गया।

अगस्त्य, परशुराम तथा रामकी कथाओं द्वारा पुराणोंने वैदिक भारतीयोंके दक्षिण दिशामें रचित इतिहासकी ओर संकेत किया है। अगस्त्यका समुद्र-प्राशन वास्तवमें सिंहलद्वीप, ब्रह्मदेश, मलाया, इंडोचायना, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपोंमें भारतीय संस्कृतिके प्रसारका प्रथम प्रयत्न है। विन्ध्य पर्वतकी अगस्त्य ऋषिकी शरणमें आ जानेकी कथा विन्ध्यके आसपास तथा नर्मदाके दक्षिणमें किये गए उपनिवेशोंके इतिहासको सूचित करती है। गुजरात, कोंकण, कारवार तथा मलबारमें और पूर्वदिशाके मद्रासतकके किनारेपर किये गए उपनिवेशोंके प्रयत्न ही परशुरामके अवतारका प्रधान कार्य है। रामके अवतारमें अयोध्यासे मलबारतक और मालवासे गोदावरीतकके अगस्त्यद्वारा रचित उपनिवेशोंपर किये गए आक्रमणोंके निवारणका कार्य संपन्न हुआ। उसके लिए सीलोनतक शत्रुओंकी गतिको पूर्णतया रोकना आवश्यक हो उठा; अनेकों अवैदिक जातियों, समूहों तथा राष्ट्रोंके साथ मित्रताकी स्थापना करनी पड़ी। कृष्णावतार मथुरासे सौराष्ट्रतकके उपनिवेशोंके वृत्तान्तका परिचायक है। अर्जुन तथा बलरामकी तीर्थयात्राएँ भारतके पूर्व तथा पश्चिम समुद्रसे सम्बद्ध उपनिवेशोंके समुद्रके किनारेके मार्गकी ओर निर्देश करती हैं।

भारतीयोंके अतिप्राचीन कालके भौगोलिक पर्यटन तथा उपनिवेशोंके निर्माणको सूचित करनेवाली कथाओंका संग्रह पुराणोंम पर्याप्त मात्रामें पाया जाता है। उनमें भौगोलिक स्थानों, प्रदेशों, राष्ट्रों तथा मानव-समूहोंके (लोक-समुदायों) जो नाम पाये जाते हैं उनका आज उपलब्ध एवं ज्ञात नामोंसे मेल उपस्थित करना टेढ़ी खीर है। पुराणोंका कथन है कि सगरने भारतवर्षके बाहर पश्चिम तथा मध्य एशियाके निवासी शक, यवन, पारद, बर्बर, पल्लव आदि मानव-समूहोंको जीत लिया और उन्हें केश-भूषण आदि चिह्नोंको बदलनेपर बाध्य किया। महाभारत, मनुस्मृति तथा अन्य पुराणोंका कथन है कि चीनसे यूनानतक फैले हुए अतिप्राचीन राष्ट्रोंमें ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंका पहले अस्तित्व था; परन्तु कुछ समयके बीतनेके बाद ब्राह्मणोंके सम्पर्कके नष्ट हो जानेसे क्षत्रियत्वका भी लोप हुआ और

ये राष्ट्र दस्यु अथवा वृषल बने। अब यह कथन केवल कल्पनाकी उपज है या इसमें सत्य भी है इस सम्बन्धमें निश्चित निर्णय करनेके लिए आज कोई साधन उपलब्ध नहीं है। ययातिने असुरोंके राजा वृषपर्वाकी कन्यासे विवाह किया था। असुरोंके ये राजा भारतके अन्तर्गत प्रदेशोंमें या भारतके बाहरके प्रदेशोंमें राज्य करते थे इस विषयमें आज कोई जानकारी नहीं दी जा सकती।

शिव-चरित्र जैसी सामाजिक संक्रमणके इतिहासकी ओर संकेत करनेवाली अनेकों कथाएँ पुराणोंमें पाई जाती हैं। जबतक पुराणों और उपपुराणोंका तुलनात्मक तथा पाठभेदोंके संशोधनके साथ सम्पूर्ण संग्रह उपस्थित नहीं किया जाता तबतक इन कथाओंके तारतम्य-पूर्ण पौर्वापर्य, रूपान्तर, संक्षेप-विस्तार, प्रक्षिप्त अंश, वृद्धि आदिके विषयमें अधिक विचार करना असम्भव है। पुराणोंके सब पाठोंका एकत्र संग्रह करके पार्जिटर महोदयने भारतीय युद्धोत्तर वंश-वृक्षका अध्ययन उपस्थित किया है। इससे पौराणिक संशोधनकी पर्याप्त उन्नति हुई है। पार्जिटरकृत विवेचनसे पौराणिक संशोधन या अनुसंधानकी पद्धतिका स्वरूप किस तरहका होना चाहिए, यह भली भाँति समझा जा सकता है। इस तरहके संशोधित प्रकाशनके उपरान्त इतिहासके प्रसिद्ध अन्वेषक स्वर्गीय राजवाडे जैसा अनुमान-चातुर्य तथा कल्पना-कौशल निस्सन्देह अधिक उपयोगी सिद्ध होगा।

स्वर्गीय राजवाड़े द्वारा निर्मित इतिहास तथा भूगोल

स्वर्गीय राजवाडेके अनुमानोंका सार निम्नानुसार हैः— महाभारतके भीष्मपर्वमें (अध्याय ११) शाक द्वीपके मग, मशक, मानस तथा मंदक इन चार वर्णोंके अस्तित्वका उल्लेख है। मग शाक द्वीपीय ब्राह्मण, मशक क्षत्रिय, मानस वैश्य और मंदक शूद्र थे। प्राचीन असीरियाके निवासियोंके इतिहासमें मंदोंका उल्लेख चार बार आता है। मंद असलमें सीथियन् याने शकस्थानीय (Skythian) अथवा शक हैं। मंद शाक द्वीपके शूद्र थे। ये मीदोंसे (Medas) भिन्न हैं। मंदोंने ईसाके पूर्व ७०० से ५५० तक असुर-देशपर याने असीरियापर राज्य किया। असुरोंके लेखोंके मंद ही इतिहास-पुराणोंके शाक-शूद्र मंदक हैं। शाक द्वीपका भीष्मकालीन चातुर्वर्ण्य हडन् असुरके समयतक नष्ट हो चुका था और ईसाके पूर्व ७०० के लगभग मंद केवल एक शाकवंशीय कुलके रूपमें प्रसिद्ध था। भविष्य पुराणकी (ब्राह्मपर्व अध्याय १३९) कथाके अनुसार सूर्यकी प्रतिमाकी स्थापनाके लिए भगवान् श्रीकृष्णके पुत्र साम्ब शाक द्वीपसे मग ब्राह्मणोंको लिवा लाये थे। उनके चातुर्वर्ण्यके नष्ट हो जानेसे वे अभोज्य बने और भोजक कहलाने लगे। अनुष्ठान-

हीन व्यक्ति भोज्य नहीं रहते, भोजक बनते हैं। साइरस (Cyrus) कंबाइसिसके (Cambyses) पुत्र याने कम्बोज थे। साइरस शब्द कुरुस्के (Kurus) अपभ्रंशसे बना है। पुराणोंके कथनानुसार कम्बोज भी वृषलत्वको प्राप्त हुए; वे मूलतः कुरुकुलके ही अन्तर्गत थे।

साइरस इलाम प्रान्तमें राज्य करते थे। इलाम प्रान्त इलिपि देशमें था। यही इलावृत्त है। असीरिया तथा बाबीलोनियाके पूर्वमें कास्पियन (काश्यपीय) समुद्रतक फैला हुआ प्रदेश इलिपि कहलाता था। पुराणोंमें इला वृत्तको जम्बु-द्वीपमें रखा गया है। 'इलावृत्त' शब्दका 'त्त' 'प्प'में परिवर्तित हुआ और इलाइप्प-इलिप्पिके क्रमसे 'इलिपि' शब्दकी उत्पत्ति हुई। मीढ (Medas) इलावृत्तके निवासी थे। अजमीढ, पुरुमीढ आदि राजा मूल रूपमें इलावृत्त वर्षके थे और वहाँसे वे भारतवर्षमें आये होंगे।

इलिप्पि देशको जीतनेके तीन वर्ष बाद याने ईसाके पूर्व ५४६ में, साइरस अपनेको पर्शुओंके राजा कहलाने लगा। पारसीक, पर्शु तथा पल्हव एक ही हैं। ऋग्वेदमें (८।६।४६) पर्शुओंके राजा तिरिन्दरका उल्लेख है। उसीको शांखा-यन श्रौतसूत्रमें पारशव्य कहा गया है। पर्शु लोग इलिप्पि देशमें मीढोंके दक्षिणमें ईसाके पूर्व ४००० वर्षोंसे रहा करते थे।

पार्थियन पारद हैं। पारद गान्धार देशके पड़ोसमें रहते थे।

बर्बर-बब्बल-बाबल आदि 'बर्बर' शब्दके ही रूपान्तर हैं। बाबीलोनियाको त्रिपिटकमें बावेरु कहा है। एक जातक-कथाका नाम भी बावेरु-जातक है। बर्बर बाबीलोनियाके निवासी हैं।

काश्मीरके उत्तरमें एक ही स्थान या बिंदुसे पर्वतोंकी छः श्रेणियाँ निकलती हैं। इनके नाम हैं हिमालय, काराकोरम, कुवेनलुन, हियेनशान, हिन्दुकुश, और सुलेमान। इनमें जो केन्द्र-बिन्दु है उसे पुराणोंके रचयिता मेरुपर्वत कहते हैं। यह पर्वत भू-पद्मकी कर्णिका-जैसा है। पुराणोंके हेमकूट, निषध, नील, श्वेत तथा शृंगी पर्वत अनुक्रमसे आजके हिन्दुकुश, सुलेमान, काराकोरम, कुवेनलुन तथा थियेनशान हैं। जिस द्वीपमें ये छः पर्वत हैं वही जम्बुद्वीप है। आजका 'जम्मू' यह नाम पुराने 'जम्बु'का अवशेष है। पुराणोंके अनुसार जम्बुद्वीपमें नौ विभाग हैं जिनके नाम यों हैं– भारतवर्ष, किंपुरुषवर्ष, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, हिरण्मयवर्ष, उत्तरकुरुवर्ष, इलावृत्तवर्ष, भद्राश्व तथा गन्धमादन। इनमेंसे पहले तीन मेरुके दक्षि-णमें और दूसरे तीन मेरुके उत्तरमें स्थित हैं। इन छः विभागोंके मध्यमें पश्चिमकी

ओर इलावृत्तवर्ष, पूर्वकी ओर भद्राश्ववर्ष और मध्यमें गन्धमादन है। इनमें भद्राश्व वह है जिसमें मानससरोवर विद्यमान है। अफ़गानिस्तान तथा ईरान जिसमें समाविष्ट होते हैं वह इलावृत्त और मेरुके उत्तरमें जो स्थित है वह उत्तरकुरुवर्ष है। गन्धमादनमें प्राचीन कालमें देव रहा करते थे।

तुर्कस्तान तथा यूनानको मिलाकर प्लक्षद्वीप स्थित था। यूनानियोंके अति प्राचीन इतिहासमें जो पैलेसगी (Palasgie) नाम आता है वह इसी 'प्लक्ष' का विगड़ा हुआ रूप है। प्लक्ष क्षारोद समुद्रसे सम्बद्ध है। यह क्षारोद ही वर्तमान समयमें भूमध्य-समुद्र कहलाता है। प्लक्ष द्वीपमें चार वर्ष हैं आर्यक, कुरव, विविंश तथा भाविन्।

वर्तमान काला समुद्र ही प्राचीन कालका इक्षु-समुद्र था और इसके तथा कास्पियन समुद्रके बीचका प्रदेश ही शाल्मलीद्वीप था। कास्पियन समुद्र वास्तवमें सुरा-समुद्र था।

सुरा-समुद्र याने कास्पियन समुद्र और अरल समुद्र याने घृत-समुद्र इनके बीचका प्रदेश कुशद्वीप कहलाता था। कुशद्वीप हिन्दूकुशके उत्तरमें था। असीरिया तथा बाबीलोनियाके निवासी कुशद्वीपीय लोगोंको कोसीन् (Kosseans) कहते थे। ईसाके पूर्व १७८२ के लगभग इलाम प्रान्तके पर्वतोंमेंसे कोसीनोंका आगमन हुआ और उन्होंने बाबीलोनियापर अधिकार प्राप्त करके वहाँ अपने राज्यकी स्थापना की। कनिष्क तथा कडफाइसिस कुश (कुशान) याने कोसीन् (कोसियन्) थे।

घृत-समुद्रके पश्चिममें क्रौंचद्वीप था। जिस प्रदेशमें वर्तमान समरकंद तथा बुखारा शहर बसे हुए हैं वह प्रदेश ही वास्तवमें क्रौंचद्वीप कहलाता था।

क्रौञ्चद्वीपके पूर्वमें उत्तर-समुद्र तथा अलताई पर्वतकी दिशामें शाकद्वीप अवस्थित था।

वर्तमान चीनकी उत्तर दिशामें जो प्रदेश है वही पुष्करद्वीप था। कुवेनलुन पर्वतने इस पुष्कर-द्वीपको दो भागोंमें बाँटा है।

प्रदेशवाचक तथा लोकवाचक नामोंके सादृश्यके आधारपर स्वर्गीय राजवाड़ेने उपर्युक्त अनुमान उपस्थित किए हैं। उनके इन अनुमानोंमें न्यूनाधिक दोष भी दिखाई देते हैं; परन्तु इसके लिए उन्हें दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि इस विषयमें अधिकांश अनुमान कल्पनाके बलपर ही किए जाते हैं और वही वर्तमान दशामें सम्भव है। माननीय राजवाड़ेने बकासुर तथा मयासुरके साथ-

साथ जरासंध, शिशुपाल तथा कंसको भी असुरोंमें सम्मिलित कर लिया है। वास्तवमें वे भारतीय क्षत्रिय थे। देवों तथा मानवोंके सम्बन्धमें राजवाडेका मत है कि देव मेरुके इर्द-गिर्द रहते थे और उनके पड़ोसमें मानव, उनके अनुचर रहते थे। भारतवर्षमें आनेके बाद इन मानवोंको 'आर्य' यह अभिधान प्राप्त हुआ। भारतवर्षके नौ विभागोंमें एक विभाग इन्द्रद्वीप भी है। योरोपीय भाषामें भारतवर्षका वाचक शब्द है इंदिया (India) जो इसी इन्द्रद्वीपका अपभ्रंश है। भारतवर्षका पश्चिमोत्तर विभाग इन्द्रद्वीप कहलाता था और इसीमें आगे चलकर इन्द्रप्रस्थ या शक्रप्रस्थ शहरको बसाया गया।

कर्नल विल्फर्ड तथा रामचन्द्र दीक्षितारका पौराणिक भूगोल

कर्नल विलफर्ड महोदयने 'एशियाटिक रिसर्चेस्'के ग्यारहवें खण्डमें पौराणिक भूगोलकी उपपत्ति बतलाई गई है। उसका सार यों दिया जा सकता है:- पुराणोंमें विद्यमान रम्यक या रमणक वर्ष वास्तवमें रोमक याने इटलीका नाम है। क्रौञ्चद्वीपका सम्बन्ध बाल्टिक समुद्रके पासके प्रदेशसे है। जिस प्रदेशको स्कंदने बसाया वही स्कंदनाभि याने स्कैन्दिनेविया (स्वीडन, नार्वे आदि) है। केतुमाल वास्तवमें वह प्रदेश है जिसमें योरोप, आफ्रिकाके उत्तर किनारेका और एशियामाइनरका अन्तर्भाव होता है। पुष्करद्वीप ही वर्तमान आइसलेंड है। पुष्कर द्वीपके सम्बन्धमें यह वर्णन है कि वहाँ रात छः महीनोंकी और दिवस भी छः महीनोंका होता था। यह वर्णन वर्तमान आइसलेंडपर आसानीसे लागू होता है; क्योंकि वह प्रदेश उत्तर-ध्रुवके पास है। श्वेतद्वीप ही इंग्लैंड है। जर्मनीके पासके समुद्रका नाम शायद क्षीर-समुद्र रहा होगा; क्योंकि योरोपकी पुरानी भाषामें वह 'खिरिया'के नामसे प्रसिद्ध था। क्रीटद्वीप और उसके चारों ओरके भूमध्य समुद्रको घृतद्वीप तथा घृतसमुद्र कहा करते थे। सैकसर याने शकसूनु शाकद्वीपसे पश्चिमकी ओर चले गए और उन्होंने योरोपको अपना निवास-स्थान बनाया। इक्षु-समुद्रको युक्साईन सी (Euxine Sea) अथवा काला समुद्र कहनेमें विलफर्ड महोदय राजवाडेसे सहमत हैं। शाकद्वीपके प्रदेशके सम्बन्धमें भी पाश्चात्य लेखकोंका मत राजवाडेके मतसे मिलता-जुलता है।

रामचन्द्र दीक्षितारने मद्रास विश्वविद्यालयकी ओरसे अपना वायुपुराणपर लिखित निबन्ध प्रकाशित (सन् १९३३) किया है। उसमें उन्होंने प्रतिपादित किया है कि ऋषि अगस्त्य भारतीय संस्कृतिको हिन्द महासागरके सुमात्रा, जावा, बालि आदि द्वीपोंमें ले गए। वायुपुराणके छः अनुद्वीपोंके नामोंका हिन्द महासागरमें

स्थित मलाया, सुमात्रा, इंडोचायना आदिके आसपासके वर्तमान प्रसिद्ध प्रदेशके साथ सम्बन्ध बतलाकर उन्होंने इसे सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। इतना तो सच है कि इन द्वीपोंमें आज भी अगस्त्यकी पूजा प्रचलित है।

पुराणोंमें विकृतिका प्रवेश और उसके परिणाम

पुराणोंसे भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तथ्योंको निकालनेके पुराण-समीक्षा विशारदोंके उक्त प्रयत्नोंका निर्विवाद प्रमाणोंके आधारपर समर्थन करना सम्भव नहीं है। इसका कारण यह है कि उत्तरदायित्वके ज्ञानसे सर्वथा वञ्चित व्यक्तियोंने पुराणोंमें परिवर्तन तथा प्रक्षेप करनेका कार्य बहुत ही बड़े पैमानेपर किया है। पुराणोंकी समुचित रक्षाके अभावमें उनके महत्त्वपूर्ण अंश आज लुप्त हो गये हैं। प्राचीन कालकी काल-गणनाकी मौलिक पद्धतिमें परिवर्तन करके उसके स्थानपर एक ऐसी काल-गणनाकी पद्धतिका अन्तर्भाव किया गया है जो सर्वथा असम्भव है और जिसे मानवके जीवनपर कदापि लागू नहीं किया जा सकता। सरल इतिहास तथा चरित्रोंको अद्भुत कथाओं तथा असम्भव कल्पनाओंसे रञ्जित करके उनके यथार्थ स्वरूपको नष्ट किया गया है। यह सच है कि इस निर्बाध अत्युक्ति या अतिशयोक्तिके मूलमें उद्देश्य था लोगोंके मनमें अतीतके सम्बन्धमें असीम आदरकी भावनाको जागृत करना। पुराणोंका मूल उद्देश्य था अतीतके वृत्तान्तका निवेदन करना। उसके स्थानपर नवीन उद्देश्य यह बना कि अद्‌भुत कथाओंको और विस्मयको जन्म देनेवाले विश्व-वर्णनोंद्वारा धार्मिक श्रद्धाको दृढमूल बनाना। इससे पुराणोंका स्वरूप इतिहासिक न रहा, वह धर्मग्रंथात्मक बना। फलतः मौर्य, चन्द्रगुप्त अथवा बुद्धके पूर्वनिर्मित भारतका इतिहास पूर्णतया नामशेष हो गया। भारतीयोंके बुद्धपूर्व सामाजिक इतिहासकी ठीक वही दशा हुई जो किसी वैभव-संपन्न राष्ट्रकी भूचालके कारण पृथ्वीके उदरमें या समुद्रके गर्भमें चले जानेसे होती है। श्रुतियों और स्मृतियोंके सिवा बुद्ध-पूर्व भारतीयोंकी विरासतका कोई भी अंश आज उसके इतिहासिक स्वरूपमें उपलब्ध नहीं है। काल-कल्पना वास्तवमें इतिहासका प्राण है। उसीमें असत्यने बरबस प्रवेश कर लिया और सत्य पूर्ण रूपसे धोया गया। युग-मन्वन्तरोंकी मूल पद्धति सीधी और सरल थी। वेदोंमें भी मानवकी आयु सौ वर्षकी मानी गई है। परन्तु 'दशरथने साठ हजार वर्षोंतक राज्य चलाया', 'विश्वामित्रने दस हजार वर्षोंतक तप किया' आदि असम्भव विधानोंकी झड़ी लगाकर पुराणोंके इन परिवर्तनकारोंने काल-गणनाकी मूल पद्धतिको एकदम

विकृत रूप दे दिया। यह सही है कि मिस्र तथा असीरियाके प्राचीन राष्ट्र अपनी अपनी संस्कृतिके साथ संसारसे नष्ट हो गये हैं; परन्तु उनके शिलालेख तथा इष्टकालेख भारतीयोंकी अपेक्षा भी अधिक प्राचीन कालकी घटनाओंका वृत्त बतलाते हैं। यह भी सच है कि भारतीयोंका इतिहास उनकी अपेक्षा अधिक सुदूर अतीतमें पहुँचनेका अधिकारी है; परन्तु उसे सिद्ध करनेके लिए आवश्यक काल-निर्णायक प्रमाण आज उपलब्ध नहीं हैं। कालके अनुसंधानका यह लोप भारतीयोंकी इतिहासिक चेतनाका महत्त्वपूर्ण अतएव विषादकारी वैगुण्य है। यह स्मृतिभ्रंशका प्रबल प्रमाण है। सत्यकी संवेदना राष्ट्रोंकी संस्कृतियोंके सुष्ठु तथा उज्ज्वल भवितव्यकी धात्री है। स्मृतिभ्रंश वह वस्तु है जो इस संवेदनाको शिथिल एवं दुर्बल बनाती है।

पुराणोंकी युग-गणनाका नवीन अर्थ

भारतीयोंके अतीतका इतिहासिक अध्ययन गत सदीमें ही शुरू हुआ। इस लाभदायी घटनाके कारण आज भारतीयोंके प्राचीन इतिहासके विविध साधन उपलब्ध हो रहे हैं। पाश्चात्य तथा भारतीय मनीषियोंके द्वारा इतिहासिक दृष्टिकोणको अपनाकर किए जानेवाले पुराणोंके अध्ययनका महत्त्वपूर्ण फल आज मिल रहा है और वह है युग-गणनाके निश्चित नवीन अर्थका उदय। प्रो. रंगाचार्य, रुद्रपट्टण शामशास्त्री, त्र्यंबक गुरुनाथ काले तथा डॉ. के. ल. दप्तरी जैसे महापण्डितोंने पुराणोंकी असम्भाव युग-कल्पना तथा कल्पान्तर-कल्पनाकी तहमें विद्यमान मानुष काल-पद्धतिका सुव्यवस्थित और सुचारु अन्वेषण किया। डॉ. दप्तरी तथा अन्य तीन अन्वेषकोंकी विचार-पद्धति सामान्य रूपसे एक ही रही है। प्रो. रंगाचार्य महोदय तथा रुद्रपट्टण शामशास्त्रीजीकी खोजोंका संकलन करके स्वर्गीय कालेने उसमें अपने अन्वेषणके परिणामको जोड़ दिया और स्वर्गीय डॉ. दप्तरीने इन तीनोंके भावार्थको समझकर उसमें प्रगति तथा अपने निष्कर्षोंको जोड़कर उसकी वृद्धि की। उनके कथनका सार निम्नानुसार है:—

पुराणोंके अर्वाचीन संस्कर्ताओंने लघु मानव-वर्षोंको ही देवोंके दीर्घ वर्ष माना है। कलियुगके ४३२००, द्वापरयुगके ८६४००, त्रेतायुगके १२९६००० और कृतयुगके १७२८००० वर्षोंको मिलाकर महायुगके ४३२०००० वर्ष हो जाते हैं। इस गणनाके अनुसार गणित करनेपर सिद्ध होता है कि दाशरथि रामके समयतक जीवित जामदग्न्य राम याने जमदग्निपुत्र परशुराम दो कोटि सोलह लक्ष वर्षोंतक जीवित रहे। महाभारतमें इसकी अपेक्षा लघु संख्यावाले युगोंका प्रति-

पादन हुआ है। उसमें कृतयुगके वर्ष ४०००, त्रेताके ३०००, द्वापरके २००० और कलिके १००० वर्ष माने गए हैं। इसमें संध्या एवं संध्यांशोंको मिलाकर महायुगकी अवधि कुल १२००० वर्षोंकी हो जाती है। इसके अनुसार जामदग्न्य रामका ५००० वर्षोंतक जीवित रहना प्रमाणित होता है। इसके कारण जीवनकी कालमर्यादाओंके अनुसार महाभारत तथा पुराणोंकी इतिहासिक घटनाओंका क्रम निश्चित नहीं किया जा सकता। यहाँ यह कहना आवश्यक है कि प्रथम निर्दिष्ट दीर्घतर दैवयुगकी गणना महाभारतमें नहीं पाई जाती। चन्द्रगुप्तके दरबारके प्रसिद्ध वकील मेगास्थनीस भी इस दीर्घतर गणनासे परिचित नहीं थे। महाभारतकी उपर्युक्त युग-गणना भी भारतके अनेकों निर्देशोंका समाधान करनेमें उपयोगी सिद्ध नहीं होती। अतएव इससे छोटे युगोंके अस्तित्वके प्रमाणोंका अन्वेषण करना समीचीन ही है। पाण्डवोंने अपने वनवासमें अनेकों तीर्थोंको भेंट दी है। उस समय ऋषि लोमश उनके साथ थे। यह तो स्पष्ट ही है कि वनवासकी अवधि बारह वर्षोंकी थी। इन तीर्थोंमेंसे किसी एक तीर्थपर जब पाण्डव रहे तब लोमश ऋषिने युधिष्ठिरसे कहा, 'यह त्रेता तथा द्वापरका संधि-काल है' (वनपर्व १२१।१६)। दूसरे तीर्थके निवासमें भी वे यही कहते हैं (१२५। १४)। आगे चलकर इसी वनवासमें भीमका हनुमान्से साक्षात् होता है। उस समय कहा गया है कि 'एतत्कलियुगं नाम अचिराद्यत्प्रवर्तते' (१४९।३७)। इसका अर्थ यह होता है कि वनवासकी बारह वर्षोंकी अवधिमें एक समय त्रेता और द्वापरका और दूसरे समय द्वापर और कलिका सन्धि-काल था। यह भी कहा गया है कि भारतीय युद्धके उपरान्त जिस दिन श्रीकृष्ण स्वर्ग सिधारे (निजधाम पहुँचे) उसी दिन कलियुगका प्रारम्भ हुआ। श्रीकृष्णके स्वर्गवास या कहिए अन्तर्धान होनेकी यह घटना भारतीय युद्धके छब्बीस बरस बाद हुई। परन्तु जब भारतीय युद्ध चल रहा था तब बलराम श्रीकृष्णसे 'प्राप्तं कलियुगं विद्धि' कहते हुए नजर आते हैं (शल्यपर्व ६०।२५)। इन उल्लेखोंके आधारपर पाण्डवोंके समयमें ही कलियुगकी तीन बार आवृत्ति सिद्ध होती है। यह कहा जा सकता है कि ये सब कलि एक ही हैं; परन्तु वनवासमें त्रेता और द्वापरके सन्धि-कालका विधान है और द्वापरकी अवधि कमसे कम दो हजार वर्षोंकी तो है ही। तब इस अवस्थामें वनवासमें द्वापरकी समाप्ति और कलिके आगमनको कैसे समझा जा सकता है? अतएव लघु युगगणनाकी स्वीकृति अनिवार्य है। 'युग' शब्द कभी 'वर्ष' के अर्थमें भी आता है। सहस्र वर्षोंके कलियुगके अन्तका वर्णन करते हुए वन-

पर्वमें कहा गया है कि 'युगसहस्रान्ते' (१८८।६५) याने 'वर्षसहस्रान्ते' (सहस्र वर्षोंके अन्तमें) अनावृष्टि बहुत बरसोंतक रहा करती है।

ऋग्वेदके समयसे लेकर दैवयुग (ऋग्वेद १०।७२।२) और मानुषयुग (ऋग्वेद ५।५२।४) का निर्देश प्राप्त है। एक जगह कहा गया है कि मामतेय दीर्घतमा दसवें युगमें वृद्ध हुए (१।१५८।६)। यह मानुष युग रहा होगा। वेदाङ्ग-ज्योतिषके पूर्व चार वर्षोंका युग प्रचलित था। उसके अनुसार उपर्युक्त वचनका अर्थ होता है कि शीघ्र ही याने चालीसवें वर्षमें (दस युगोंमें) दीर्घतमा वृद्ध दिखाई देने लगे। सूर्य-मान (गणना करनेकी पद्धति) तथा चन्द्र-मानका मेल उपस्थित करनेके लिए युग पाँच वर्षोंका माना जाता था। बौधायन, गर्ग तथा वेदाङ्ग-ज्योतिषमें 'पंचसंवत्सरमय' याने पाँच वर्षोंके युगका उल्लेख है। वेदाङ्ग-ज्योतिषका काल ईसाके पूर्व ११८१ के लगभग माना गया है। इन तीनोंने दक्षिणायन तथा उत्तरायणकी स्थितिका समान ही वर्णन किया है। 'पंचाब्दयुग'का उल्लेख ब्रह्मसिद्धान्त (११।२) में भी आ चुका है। वेदाङ्ग-ज्योतिषके पहले वैदिक वाङ्मयमें युग चार वर्षोंका माना गया था। उसे चतुर्युग कहा जाता था (वायुपुराण ७०।४५)। इन चार वर्षोंको क्रमसे चार संज्ञाएँ प्राप्त थीं—कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। डॉ. दसरीके मतसे चार वर्षोंके युगके अन्तमें अश्वमेध यज्ञ किया जाता था। उसमें इक्कीस यूप रखे जाते थे। पहले तीन वर्षोंमेंसे हरेक वर्ष तीन सौ साठ दिनोंका और अन्तिम वर्ष अधिक दीर्घ याने तीन सौ इकासी दिनोंका मानना पड़ता था। इसके कारण हरेक चौथा वर्ष इकीस दिनोंसे बड़ा बनता था। अश्वमेधके इकीस यूप इन इक्कीस दिनोंके ही प्रतीक माने गये थे। पण्डित रुद्रपट्टण शामशास्त्रीने अपनी 'गवामयनं' नामकी पुस्तकमें चतुर्वर्षात्मक युगपद्धतिका स्वीकार करके गवामयनकी कल्पनाको स्पष्ट किया है। वेदाङ्गोंके कालमें यह दिखाई दिया कि अठारह सौ चालीस वर्षोंमें पन्द्रह दिवसोंकी भूल हो जाती है। अतएव चार वर्षोंकी युग-पद्धतिका त्याग करके पाँच वर्षोंकी युग-पद्धतिका अंगीकार किया गया। भगवान् व्यासके समय चार वर्षोंके युग प्रचलित थे और प्रत्येक युगको कृत आदि नाम प्राप्त थे। उसकी सारणी यों दी जा सकती है:—

४ वर्ष = १ युग अथवा चतुर्युग

७२ युग याने चतुर्युग = १ मन्वन्तर = २८८ वर्ष

१४ मन्वन्तर = १ कल्प = ४०३२ वर्ष.

आज जिसे कल्यारम्भ समझा जाता है वही यथार्थ रूपमें कल्पारम्भ था। कालविषयक कल्पनाओंकी प्रमाद-परम्पराके कारण कल्पारम्भ, लेखनसादृश्यके बलपर कल्यारम्भमें अपभ्रष्ट हुआ।

ताण्ड्य ब्राह्मणके कालमें या यजुर्वेदके समय एक सहस्र वर्षोंका महाकल्प माना जाता था। महाकल्पके युग दो सौ पचास हैं। सहस्र वर्षोंके अन्तमें बारह बरसोंका सत्र किया जाता था। सहस्र वर्षोंके प्रत्येक महाकल्पको 'सहस्रसंवत्सर-सत्र' की संज्ञा (ताण्ड्य ब्राह्मण २५।१८) दी जाती थी। यह विश्वके स्रष्टाओंका सत्र होता था। वेदोंके कालमें प्रत्येक सहस्र वर्षोंकी अवधिके बाद नवीन काल गणना की जाती थी। इसीलिए यजुर्वेदमें (वाजसनेयी संहिता १५।६५) अग्निको सहस्रकी प्रतिभा या साहस्र कहा गया है:– "सहस्रस्य प्रमाऽसि। सहस्रस्य प्रतिमाऽसि। सहस्रस्योन्माऽसि। साहस्रोऽसि। सहस्राय त्वा"। याने "हे अग्नि, तुम सहस्रके प्रमाण हो, सहस्रके प्रतिनिधि हो, सहस्रकी गणना करनेवाले हो। तुम सहस्रके हो, सहस्रके लिए मैं तुम्हारी स्थापना करता हूँ।" कहा गया है कि यह 'सहस्रसंवत्सरसत्र' ययाति (बृहद्देवता ६।२०; महाभारत आदिपर्व ७५।४६), इक्ष्वाकु कुल-पुत्र निमि (विष्णुपुराण ४।४।५) और नैमिषारण्यमें शौनकादि ऋषियों (भागवत १।१।४) द्वारा किया गया। सहस्र संवत्सरके कल्पको आरम्भ करनेकी, उसकी गणना करनेकी तथा उसे अमलमें लानेकी विधि ही वास्तवमें सत्र है।

सांप्रत युगों, मन्वन्तरों तथा कल्पोंकी गणना करनेकी जो पद्धति पुराणोंमें प्रसिद्ध है वह पूरे अर्थमें दैवयुगपद्धति है। उसे और प्राचीनतर मानुष युग-पद्धतिको एक ही समझनेसे जो अव्यवस्था हुई उसके कारण पौराणिक इतिहासकी काल-व्यवस्थाको अच्छी तरह समझना असम्भव-सा हुआ। विष्णुपुराण, भागवत, आदि आधुनिक पुराणोंने मानुष युग-गणनाका परित्याग किया। महाभारत, वायु तथा मत्स्य आदि प्राचीन पुराणोंकी समीक्षा करनेपर उसमें मानुष-गणनाका ही अंश अधिक पाया जाता है। उसके प्रक्षिप्त अंशों तथा उसकी अत्यधिक वृद्धिको दूर करके इतिहासिक कालक्रममें सामञ्जस्य उपस्थित किया जा सकता है।

स्वर्गीय व्य. गु. काले तथा डॉ. दसरीने अपनी अपनी गवेषणा-पूर्ण पुस्तकोंमें मौर्यपूर्व कालका सुचारु अन्वेषण करके पुराणोंके स्वायंभुव मनुसे लेकर मौर्यकालतकके इतिहासको काल-गणना तथा घटनाओंकी दृष्टिसे सुसंगत रूपमें उप-

स्थित करनेका गौरवपूर्ण कार्य किया है। इस सम्बन्धमें सुधार तथा अधिक संशोधन करके प्रगति निश्चय ही की जा सकती है परन्तु पौराणिक अत्युक्तिको दूर किए बिना यह सुतराम् सम्भव नहीं होगा।

ललित कलाओंको महाभारत, भागवत, रामायण तथा अन्य पुराणों द्वारा प्रेरणा मिली

भारतीय कलाके इतिहासमें महाभारत, रामायण तथा पुराणोंको प्रथम स्थान प्राप्त है। इसी साहित्यने भारतवर्षको, उसकी धर्म-संस्था एवं धर्म-भावनाको कलात्मक रूप प्रदान किया। एक समय बौद्ध-धर्मका भारतवर्षपर जो प्रबल प्रभाव अङ्कित हुआ था उसका निरास इन ग्रंथोंकी सामर्थ्यसे ही हुआ। इसी साहित्यने सांसारिक मानवके लिए इस भवचक्रमें ही पारमार्थिक भावनाओंकी समृद्धिका निर्माण किया। भारतवर्षकी नदियों, पर्वतों, वनों तथा मानवोंके विविध उपनिवेशोंकी आसेतु-हिमाचल महिमा एवं पवित्रताको बढ़ानेका गौरवपूर्ण कार्य भी इसी साहित्यने किया। भारतकी स्थापत्य-कला, मूर्तिकला, नृत्य, वाद्य, नाट्य तथा काव्यकी प्रगतिके लिए आवश्यक कथाओं और कर्मकाण्डकी महिमाके वर्णनों, स्तोत्रों तथा विधि-निषेधोंकी सामग्री भी इन्हीं ग्रंथोंने उपस्थित की; वास्तवमें ये भारतीयोंके धर्म-ग्रंथ बने। भागवत पुराणने कृष्ण-भक्तिके मार्गको प्रशस्त तथा परिपुष्ट किया और ललित साहित्यके लिए जो कल्पनाएँ नितान्त आवश्यक हैं उनकी अनमोल संपत्ति प्रदान की। महाभारतने भागवतकी तरह कार्य किया। भारतवर्षको भगवद्गीताके जैसा महान् और शाश्वत धार्मिक दर्शन देनेमें उसकी सर्वोपरि विशेषता है।

महाभारत तथा भागवतकी टक्करका महाकाव्य रामायण है। क्या महाभारत, क्या भागवत दोनोंकी अपेक्षा रामायण अधिक सुसंगत, अधिक एकरूप तथा अधिक व्यवस्थित या सुगठित कलाकृति है। रामायण वास्तवमें अश्वघोष, कालिदास, भारवि, भर्तृहरि, माघ आदि कवियोंकी कलाकृतियोंका प्रथम आदर्श या पूर्ववर्ती नमूना है। उसका जो रूप आज उपलब्ध है वह सात काण्डों तथा चौबीस हजार श्लोकोंसे बना है। अन्वेषकोंका कथन है कि दूसरेसे छठवें काण्डतकके पाँच काण्डोंकी कथा ही वाल्मीकिकी मूल रामायण है। इसमें प्रक्षिप्त अंश हैं; परन्तु उन्हें अगर छोड़ दें तो यह एक ही व्यक्तिकी लिखी हुई कृति है। इसकी कथा इतिहासिक परम्परा तथा अद्भुत कल्पनाओंके मेलसे बनी है। इसके प्रधान वर्ण्य व्यक्तियोंका सम्बन्ध वैदिक वाङ्मयमें पाया जाता है। पहले तथा सातवें काण्डमें रामको विष्णुके अवतारके उच्च पदसे विभूषित किया

गया है। इसीसे राम हिन्दुओंके देवता बने। इसीको लेकर अनेकों संस्कृत नाटकों तथा काव्योंका प्रादुर्भाव हुआ। यहाँके देशों अथवा प्रान्तोंकी अनेक भाषाओंमें इसके संक्षिप्त तथा विस्तृत अनुवाद हुए हैं। संस्कृतमें भी अध्यात्मरामायण जैसे अनेकों रामायणग्रन्थोंका निर्माण इसीके कारण हुआ। देशी भाषाओंमें रामायणका सर्वोत्कृष्ट अवतार है गोस्वामी तुलसीदासकृत (सन १५३२-१६२३) रामायण अथवा रामचरितमानस। यह ग्रंथ वास्तवमें दस करोड़ हिन्दी-भाषी जनताका वेद बना गया है।

वर्तमान कालमें रामायणके बाद जो काव्य उपलब्ध हैं उनमें सबसे प्राचीन काव्य है अश्वघोषका बुद्धचरित। रामायणके कालको ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दीके बाद कोई भी नहीं खींच सकता। अतएव इतिहासिक दृष्टिकोणसे रामायणको आदिकाव्य कहा जा सकता है। अश्वघोषका बुद्धचरित ईसाकी दूसरी शताब्दीके अन्तमें निर्माण हुआ। इसके बाद कविकुलगुरु कालिदासका आगमन होता है। कालिदासकी कृतियोंसे उनके यूनानी ज्योतिषसे परिचित होनेका पता चलता है। इसलिए उनका काल ईसाकी चौथी शताब्दीके पहले नहीं माना जा सकता। उनके 'रघुवंश' तथा 'कुमारसंभव' दोनों महाकाव्य रामायण तथा पुराणोंके मन्थनके परिणाम हैं। हाँ, इतना तो सच है कि क्या 'रघुवंश,' क्या 'कुमारसंभव' दोनों उनकी छाया मात्र नहीं हैं; उनमें कालिदासकी विशेषता तथा नित्य नूतनता निश्चय ही विद्यमान है। शिव तथा पार्वतीसे देवोंके सेनापतिका जो जन्म हुआ; वही 'कुमारसंभव'में वर्णित है। 'कुमार' शब्दके अर्थपूर्ण चयनसे नव यौवनकी साक्षात् मूर्ति बने हुए देवोंके सेनानीकी कल्पना मनपर अङ्कित होती है। भगवान् शंकरके असीम संयमको चित्रित करनेके लिए उसमें मदन-दाहकी कथाको पिरोया गया है और पार्वतीके अनुपम अनुरागको अङ्कित करनेके लिए दिखाया गया है कि वह दूसरा जन्म लेकर भी उसी वरका याने भगवान् शङ्करका ही वरण करती है। इस काव्यके वर्णनका ढंग नायिका पार्वतीकी तरह ही सुन्दर है। विषय-प्रतिपादनमें कालिदासकी मौलिकता तथा शैली और विचारोंमें उनके जैसी कमनीयताके दर्शन संस्कृत कवितामें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलते। कालिदासके विषयमें 'अनामिका सार्थवती बभूव' वाली उक्ति सचमुच चरितार्थ है। कालिदासके बाद भारविका (सन् ५७५) स्थान है। 'किरातार्जुनीय' इनकी एकमात्र प्रसिद्ध कृति है। इस काव्यकी भाषा अधिक क्लिष्ट परन्तु ओज-

स्विनी एवं गंभीर है। अर्जुन, भीमसेन, धर्मराज युधिष्ठिर और द्रौपदीके चरित्रोंको पत्थरकी लकीरसे खींचनेका कविका कौशल निस्सन्देह सराहनीय है। भगवान् और भक्तके युद्धकी कल्पना ही विरोध-पूर्ण अतएव बड़ी आकर्षक बनी है। अर्जुनने अस्त्र-प्राप्तिके लिए तीव्र तपस्या करके सफलता पाई। एक वीरके द्वारा की गई बलकी महान् साधना ही इस काव्यकी आधारशिला है। समूचे विश्वको अपने व्यक्तित्वमें लीन करनेवाले भगवान् यहाँ भक्तकी कसौटी उससे लड़कर ही प्राप्त कर लेते हैं। इस कल्पनामें बड़ी उदात्तता एवं विशालता समायी हुई है। शब्दोंकी कसरतके सूत्रपातसे ही संस्कृत काव्यकी अवनति हुई। इस अवनतिका प्रथम श्रीगणेश इस काव्यके पन्द्रहवें सर्गमें दिखाई देता है। इस सर्गके एक श्लोकमें सिवा 'न'कारके दूसरा अक्षर ही नहीं है और अन्तमें केवल अपवादके रूपमें 'त्' व्यञ्जन आया है। इस काव्यके उपरान्त कृत्रिम काव्योंकी बाढ़-सी आ गई। वस्तुविषयक कल्पनाओं और मानसिक भावनाओंको उस समय गौण स्थान प्राप्त हुआ और भाषाके चातुर्यकी तथा शब्दोंकी दिमाग़ी कसरतकी ही धूम मच गई। अतएव इसके बादके काव्य-प्रकारोंमें एक ही गुण अधिक अनुपातमें मिलता है और वह है पण्डितोंकी हृदयंगमता या हृदयहारिता। 'भट्टिकाव्य,' 'शिशुपालवध,' 'नलोदय,' 'राघवपाण्डवीय' आदि काव्य संस्कृत भाषामें प्रवीण, सूक्ष्मबुद्धि पण्डितोंको सिर धुननेपर बाध्य करते हैं। इन सब कवियोंमें सबसे महान् दार्शनिक कवि 'श्रीहर्ष' हुए जिन्होंने महाभारतकी नल-दमयन्तीकी प्रसिद्ध आख्यायिकाके आधारपर अपने महाकाव्य 'नैषधचरित' की सृष्टि की। इस काव्यको लिखकर वे पाण्डित्य-पूर्ण काव्यके सबसे उत्तुङ्ग शिखरपर आरूढ हुए। इनका 'नैषध' यथार्थमें 'विद्वदौषध' है। इनकी भाषा प्रौढ़, मँजी हुई और वैचित्र्य-पूर्ण है। सैकड़ों श्लोकोंके अनेकों अर्थ होते हैं; कई श्लोकोंके तो पाँच अर्थ होते हैं (देखो पंचनली)। इन सब पाण्डित्य-पूर्ण काव्योंका साहित्यिक मूल्य यह है कि इनके विचारोंकी प्रगल्भता मनको अधिक विशाल, अधिक ऊँचा बनाती है। बीच बीचमें भाव-पूर्ण गीतोंके चेतोहर अंश भी पाए जाते हैं। 'राघवपाण्डवीय' में श्लेषालङ्कारपर बहुत ही जोर दिया गया है जिससे एक ही श्लोकसे रामायण तथा महाभारत दोनोंकी कथाओंसे सम्बद्ध अर्थ निकलते हैं।

ऋग्वेदमें जिस तरह मण्डूक-सूक्त अथवा अक्ष-सूक्त-जैसे छोटे-छोटे काव्य सम्मिलित हैं उसी तरह मध्ययुगीन संस्कृत काव्यके कालमें 'मेघदूत,' 'ऋतु-

संहार,' 'शतक-त्रय,' 'चौरपंचाशिका,' 'घटखर्पर' 'अमरुकशतक' आदि अनेक छोटे छोटे भावमुखर काव्य निर्माण हुए। इनमें कालिदासकृत 'मेघदूत' तथा भर्तृहरिकृत 'शतक-त्रय' का स्थान अटल है। भाव-भरे काव्य और नाटकके बीचकी उज्ज्वल कड़ी या उपर्युक्त दोनोंके प्रभावसे युक्त 'गीत-गोविन्द'-जैसा काव्य एक विशेष प्रकार है। कुछ लोगोंके मतमें वह प्राकृत काव्योंका प्रभाव है। पदोंका लालित्य, गेयताका वैचित्र्य और स्वरोंका मधुर मेल तीनोंकी सहायतासे 'गीत-गोविन्द'में भक्ति-पूर्ण शृङ्गार रसको चरम सीमापर पहुँचाया गया है। संस्कृत काव्यमें 'गीत-गोविन्द' एक ऐसा पद्य काव्य है जिसने वृत्तोंके संकीर्ण बन्धनोंको लाँघनेमें, गद्यको ही गेयता प्राप्त करानेमें सम्पूर्ण सफलता पाई है।

पौराणिक परम्पराओंपर आधारित उपर्युक्त काव्य ही मध्ययुगीन, प्राकृतोद्भव देशी भाषाओंके सामर्थ्यके असली स्रोत हैं। देशी भाषाओंने संस्कृत कवियोंकी क्लिष्ट, शुष्क, पाण्डित्यपूर्ण अतएव बोझिल भाषा एवं शैलीसे उत्पन्न दोषोंका परिहार किया है और इसमें उन्होंने प्रधान रूपसे महाभारत, रामायण तथा पुराणोंका ही अनुकरण किया है। देशी प्रान्तीय भाषाओंका जन्म महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पाली आदि प्राकृत तथा अन्य द्राविड भाषाओंसे हुआ है। प्राकृत भाषाओंका साहित्य पहले पुराणोंके रूपमें ही विद्यमान था। वास्तवमें वह सूत, मागध, वैदेह, शैलूष आदि शूद्रों द्वारा निर्मित था। उसमेंसे कुछ संस्कृतमें अनूदित हुआ और कुछ कालके प्रवाहमें नष्ट हुआ। सिर्फ़ जैन तथा बौद्ध संप्रदायके अनुयायियोंने अपने अपने प्राकृत, धार्मिक वाङ्मयकी समुचित सुरक्षा की। 'गौडवहो' जैसा लौकिक साहित्य भी अतीव अल्प अनुपातमें और केवल अपवादके रूपमें ही बाकी रहा। शूद्रों द्वारा निर्मित पुराणोंको विषयके साम्यके कारण ब्राह्मणोंने स्वरचित पुराणोंमें आसानीसे पचा लिया। प्राकृतके काव्य या नाटक अथवा इसी तरहका लौकिक साहित्य पण्डित कविवरोंकी संस्कृतमें लिखित कृतियोंके सामने हतप्रभ होकर नष्ट हुआ। शूद्रोंके साहित्यमें सांसारिक जीवनकी रचनात्मक तथा प्रवृत्ति-पंथको अपनाकर चलनेवाली भावनाओं और मूल्योंकी प्रधानता थी; क्योंकि शूद्रोंके अधिकांश व्यवसाय भी प्रधानतया अर्थोत्पादक थे। क्या छात्र-वर्ग, क्या ब्राह्मण-वर्ग, क्या जैन साधुओं तथा बौद्ध भिक्षुओंका वर्ग या तो अर्थोत्पादक समूहों अथवा जातियोंसे एकरूप नहीं थे या राजनीतिक अथवा धार्मिक सत्ताकी प्रबलतासे उत्पन्न उच्चत्वके वृथा अहंकारके कारण अर्थोत्पादक वर्गोंसे कोसों दूर थे। इन वर्गोंने शूद्र-जातियोंके प्रवृत्ति-पर विचारोंके पोषक साहित्यको बढ़ावा कभी नहीं

दिया; उसे प्रयत्नसे परदेकी ओटमें रखा और समाज-संस्थामें शूद्रोंकी प्रतिष्ठाको कभी बढ़ने नहीं दिया। अतएव गुप्त-कालका पूर्ववर्ती तथा महाभारतके युद्धका परवर्ती साहित्य आज उपलब्ध नहीं है।

भारतीय नाट्यकलाका उदय तथा विकास

भारतीय नाट्यकलाका उदय एवं विकास वास्तवमें एक बड़ी समस्या है। ईसाकी दूसरी शताब्दीके पूर्वका एक भी नाटक आज उपलब्ध नहीं है। कहा जाता है कि भासके नाटक मलबारमें पाये गए हैं और कुछ व्यक्तियोंके अनुमानके अनुसार इन नाटकोंका काल ईसाके पूर्वका है। परन्तु इन नाटकोंमें प्रयुक्त प्राकृत भाषाके स्वरूपके आधारपर इन्हें अश्वघोष तथा कालिदासके समयके मध्यमें ही रखना समीचीन मालूम होता है। 'सारिपुत्रप्रकरण' नामका अश्वघोषकृत नाटक मध्य एशियामें तुर्फानमें पाया गया है। इस नाटकको लगभग ईसाकी दूसरी शताब्दीके प्रारम्भमें रखा जा सकता है। ईसाकी तीसरी शताब्दीमें चीनी भाषामें अनूदित 'अवदानशतक' नामके ग्रंथमें सोभावतीके राजाके सामने दाक्षिणात्य नटोंके द्वारा अभिनीत किसी बौद्ध-नाटकके प्रयोगका उल्लेख है। इससे पता चलता है कि ईसाकी दूसरी शताब्दीमें ही संस्कृत नाटक एक सुस्थिर संस्था बनी हुई थी।

नाट्यसंस्था तो इसके भी पहले बहुत प्राचीन कालमें निर्माण हुई होगी। इस संस्थाका मूल ऋग्वेदमें ही पाया जाता है। ऋग्वेदके संवाद-सूक्त वास्तवमें उस समयके सीधे-साधे नाटक ही हैं। इन्द्र, अग्नि, यम, बृहस्पति, अदिति, विश्वकर्मन्, हिरण्यगर्भ, परमेष्ठी, त्वष्टा, विष्णु, आदि देवता सूक्तोंके रचयिता हैं। ये सूक्त भी संवाद-सूक्तोंके अंश रहे होंगे। यज्ञों तथा अन्य प्रसङ्गोंमें इन्द्र, अग्नि, यम, त्वष्टा, बृहस्पति आदिके रूप धारण करके इन्हीं सूक्तोंको गाया जाता होगा। कुछ सूक्तोंके दो द्रष्टा माने गए हैं—एक देवता और दूसरे ऋषि। उदाहरणके तौरपर चौथे मण्डलके कुछ सूक्त इन्द्र और वामदेव दोनोंके माने गए हैं। इससे यह अनुमान आसानीसे किया जा सकता है कि वामदेव इस सूक्तके निर्माता हैं और इन्द्रके मुखसे इन्द्रके अनुरूप कल्पनाको व्यक्त किया गया है। एक सूक्तमें सोम-पानसे उत्पन्न मदके आवेशमें इन्द्र अपनी महिमाका वर्णन करते हुए दिखाई देते हैं। यह सूक्त वास्तवमें नाटककी पद्यमय तथा अभिनय-पूर्ण भाषाका सुन्दर नमूना है। ऐतरेय ब्राह्मणके तेतीसवें अध्यायकी शुनःशेपकी कथा नाटकके पूर्वरूपकी दृष्टिसे मनोहर अतएव उल्लेखनीय

मानी जाएगी। राजा हरिश्चन्द्र, नारद, वरुण, हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहित, मानवरूपधारी इन्द्र, पुत्रका विक्रय करनेवाले पिता अजीगर्त, बलिदानके लिए चुने गए उनके पुत्र शुनःशेप तथा उनके सम्मुख उपस्थित होनेवाले अन्यान्य देवता आदिके द्वारा उच्चारित वाक्य रंगमंचपर रंग भरनेमें निस्सन्देह सफल होंगे। उनमें विविध क्रियाओंका भरसक अन्तर्भाव हैं। विविधतासे युक्त क्रियाएँ (actions) यूनानी नाटकोंकी एक विशेषता मानी जाती है। आलोचकोंके मतमें भारतीय नाटकोंमें इनकी कमी है। शुनःशेपके आख्यानमें यह कमी या अभाव बिलकुल महसूस नहीं होती। सच तो यह है कि इस आख्यानमें करुणा तथा रोमाञ्चकारिता कूट कूट कर भरी हुई है। परन्तु भारतके विद्यमान नाटकों और वैदिक अंशोंमें बहुत ही बड़ा व्यवधान है। इन दो छोरोंके बीच सम्बन्धकी रेखा खींचनेवाला कोई भी प्रमाण आज उपलब्ध नहीं है।

कुछ भाषासम्बन्धी तथा कुछ अन्य प्रमाणोंके आधारपर इस सम्बन्धकी स्थापना करना सम्भव है। क्या नट, क्या नाटक दोनों शब्द असलमें प्राकृत हैं। 'नृत्' नामके संस्कृत धातुसे प्राकृत 'नट्' धातु निकला। नृत्य या नर्तनमें आवश्यक हाव-भाव एवं अभिनय ही नाटकोंका मूलस्रोत है। ईसाके पूर्व चौथी शताब्दीमें पाणिनिने नटों तथा नाट्यसूत्रोंका उल्लेख किया है जिससे नटोंके मार्गदर्शनके लिए नाटकके तन्त्रका प्रतिपादन करनेवाले उस समयके सूत्र-ग्रंथका अनुमान आसानीसे किया जा सकता है। ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दीमें विरचित भरतकृत नाट्यशास्त्रमें सामान्य रूपसे इन नटसूत्रोंके प्रतिपादनका उपयोग किया गया होगा। नाटकोंमें गान, वाद्य, नृत्य तथा पद्यका मनोहर मेल भरतके पहले ही हो चुका था और प्राकृत उपभाषाएँ भी नाटकके पात्रों द्वारा प्रयुक्त होती थीं। बादके सब नाटक भरतके निबन्धके अनुसार ही लिखे गए हैं।

कुछ पण्डितोंका कथन है कि भारतीय नाट्यकलाका उद्भव यूनानी नाटकोंसे हुआ। सिकन्दरकी सेनाके साथ भारतमें कई यूनानी कलाकारोंका आगमन हुआ था और उसके बाद भारतकी सीमाओंपर कई यूनानी राज्य विद्यमान थे; उन्हींका अनुकरण भारतीयोंने किया होगा। भारतीय नाटकपर यूनानी नाटकोंकी छापके अङ्कित हो जानेका एक मात्र उदाहरण है यहाँका मृच्छकटिक नाटक। संस्कृतमें परदेका वाचक शब्द है यवनिका। यह भी नाटकके तथाकथित यूनानी मूलस्रोतके अनुमानमें सहायक हुआ। परन्तु भारतीय नाटकोंकी साधारण शैली तथा पद्धति यूनानी नाटकोंसे सर्वथा भिन्न है। अतएव भारतीय नाट्यशास्त्र

तथा यूनानी नाट्यशास्त्रके बीचका कार्य-कारण-सम्बन्ध तर्कसंगत नहीं मालूम होता। यदि भारतीय नाटक यूनानी नाटकोंका सचमुच अनुकरण करता तो भारतीय नाटकोंमें यूनानी नाटकोंके गुण अवश्य आ जाते। भारतीय नाटकोंका चरित्र-चित्रण उत्कट तथा सजीव व्यक्तित्वकी विशेषतासे वञ्चित होता है। उनके पात्र वास्तवमें मानव-स्वभावके सामान्य नमूने या 'टाइप' होते हैं। हाड़-माँससे बने हुए सजीव व्यक्ति उनमें शायद ही रहते हैं। कथा-वस्तुका विकास या परिपोष भी शाप-जैसे बाह्य कारणोंपर निर्भर रहा करता है। वस्तुका विकास सुसंगत रूपसे नहीं हो पाता। अनेकों अलग अलग प्रवेश प्रासङ्गिक रूपसे जोड़े गए दृश्योंका ही आभास दिया करते हैं। यूनानी अभिनय तथा भारतीय अभिनयमें साम्य बहुत ही कम है।

वैदिक यज्ञसंस्थामें कहीं लौकिक घटनाओंका साभिनय अनुकरण करना पड़ता है और कहीं कहीं सामाजिक घटनाओंको अभिनयके साथ लाक्षणिक ढंगसे सूचित करनेकी पद्धति है। यज्ञमें अन्य अभिनयोंके लिए भी पर्याप्त स्थान है। अनेक ऋत्विजोंके लिए विविध कार्य नियत किए जाते हैं। उनमें गद्य, पद्य तथा गानका समावेश किया जाता है। यज्ञसंस्थाका यह समूचा कार्यकलाप नाट्य-कलाके उदयसे अप्रत्यक्ष रूपमें सम्बद्ध है। यज्ञमें ब्राह्मण शूद्रोंसे सोम खरीदते हैं और बादमें उसे डंडेकी सहायतासे निकाल देते हैं। यह नाट्यात्मक अनुकरण लोक-व्यवहारसे लिया गया है। महाव्रत यज्ञमें नृत्य, वाद्य तथा पद्यको महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। उसमें नृत्यके लिए नटियों और नटोंको बुलाया जाता था। ये शूद्र ही रहते थे। धर्मशास्त्रमें अन्य धार्मिक अवसरोंपर भी गान, वाद्य तथा नृत्यका उपयोग विहित है। यह धर्मशास्त्र पौराणिक है। यात्राके अवसरोंपर नाटकोंके जो निर्देश हुए हैं उनसे अनुमान निकलता है कि देवताओंके उत्सवोंके अवसरोंपर किए जानेवाले नृत्यों तथा संगीतके समारोहोंसे नाट्यका विकास हुआ। (१) सूत्रधार और नटीके बीचका प्रारम्भिक वार्तालाप, (२) भिन्न भाषाओंका मिश्रण, (३) गद्य तथा पद्यका मेल, (४) रंगमंचकी सरलता और (५) विदूषकका अस्तित्व ऐसी विशेषताएँ हैं जो नाटकोंकी पूर्ववर्तिनी अवस्थाकी ओर संकेत करते हैं। यज्ञमें या धार्मिक उत्सवोंके अवसरोंपर पौराणिक कथाओंको अभिनयके साथ गाया जाता था। इसीसे क्रमके अनुसार नाटकोंका धीरे धीरे विकास हुआ। इस अनुमानके पोषक अनेकों प्रमाण मिलते हैं।

कालके आघातसे बचे हुए संस्कृत नाटकोंकी संख्या कुल बारह है। ये सब नमूने ईसाकी दूसरी शताब्दीसे लेकर आठवीं शताब्दीतकके हैं। इनमें सर्वश्रेष्ठ नाटककार हैं कालिदास जिनका काल ईसाकी चौथी शताब्दीके पूर्व नहीं माना जा सकता। कालिदासके भी पहले भास एक बड़े नाटककार हुए थे। इनका सादर उल्लेख कालिदास (मालविकाग्निमित्र), बाण ('हर्षचरित' सन् ६२०), राजशेखर ('सूक्तिमुक्तावली सन् १०००), वाक्पतिराज ('गौडवहो' सन् ७५०) तथा अभिनवगुप्तने ('ध्वन्यालोक' सन् १०००) किया है। राजशेखरका कथन है कि भासके 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटकको उसके गुणोंकी परीक्षा करनेके लिए अग्निमें डाल दिया, परन्तु वह जला नहीं सुरक्षित रह गया। प्रायः इसीलिए 'गोड़वहो'में भासको 'ज्वलन्मित्र'की उपाधि दी गई है। यह भी संभव है कि इस शब्दके, 'ज्वलन्मित्र'के आधारपर ही शायद राजशेखरने यह प्रशंसात्मक श्लेष किया हो।

सन् १९१२ में त्रिवेंद्रमसे तेरह नाटक प्रसिद्ध हुए हैं जिन्हें भास-विरचित माना गया है। इसके पहले भासका सिर्फ़ नाम ही विद्वानोंको मालूम था। 'स्वप्नवासव दत्ता'के बदले उसमें ' स्वप्न नाटक'की संज्ञासे विभूषित एक नाटक विद्यमान है। इस नाटकको एक पोथीमें 'स्वप्नवासवदत्त' कहा गया है। इस नाटकका एक श्लोक अभिनव गुप्तद्वारा उद्धृत हुआ है; परन्तु वह उपलब्ध नाटकमें नहीं मिलता। संस्कृत नाटकोंके प्रारम्भमें प्रायः नाटककारके नामका निर्देश किया जाता है; परन्तु यहाँ इस तरहका निर्देश नहीं है। इन सब नाटकोंकी शैली एवं भाषा समान है। जगह जगह भासके लिखे हुए श्लोकोंके रूपमें उद्धृत चौदह श्लोक नाटकोंके उपर्युक्त संग्रहमें नहीं पाये जाते। इन नाटकोंके जो वाक्य भासकृत नाटकोंके रूपमें प्रसिद्ध किये गए हैं वे अन्यत्र कहीं भी उदाहरणोंके रूपमें उद्धृत नहीं मिलते। इन नाटकोंमें प्रयुक्त प्राकृतके स्वरूपके आधारपर यह अनुमान करना संभव है कि अश्वघोष तथा कालिदासके बीचके समयमें इनकी रचना हुई हो।

महाकाव्यों तथा भाव-मधुर काव्योंके रचयिताओंमें गुणोंकी दृष्टिसे निस्सन्देह कालिदास ही सर्व प्रथम हैं। नाटककारके नाते भी उनका स्थान उच्चतम है। उनके नाटक तीन हैं- 'शाकुन्तल,' 'विक्रमोर्वशीय' और ' मालविकाग्निमित्र '। इनमेंसे पहले दो साहसयुक्त प्रेमकथाओंकी दृष्टिसे उत्कृष्ट हैं। इनमें अति प्राचीन कालके सुविख्यात राजाओंके प्रेमपराक्रमका सुन्दर चित्र खींचा गया है। शौर्य एवं दिव्यत्वका यहाँ मनोहर मेल हुआ है। इन नाटकोंकी कथाएँ दैनिक-जीव

नकी कठोर वास्तविकतासे कोसों दूर चली गई हैं। कविके कालमें राजमह-लोंके अन्तःपुरमें निरन्तर वर्तमान प्रेम-व्यापार ही ‘ मालविकाग्निमित्र ’ का वर्ण्य विषय है । ‘शाकुन्तल’में रंगमंचके लिए आवश्यक चेष्टाएँ कम हैं; अत-एव रंगमंचपर खेले जानेके दृष्टिकोणसे ‘ शाकुन्तल’ में प्रभावोत्पादकता कम है। परन्तु उसका समृद्ध कल्पना-विलास, सूक्ष्म एवं सुकोमल भावनाओंका हृदयंगम आविष्कार, प्रकृति तथा प्राकृतिक प्रवृत्तियोंके सम्बन्धमें संचित सहानुभूति आदि अनमोल गुणोंके कारण यह नाटक संसारके नाटककारोंके लिए वन्दनीय हो गया है। भारतीय साहित्यमें सामान्य रूपसे उचित सीमाओंका सन्निवेश तथा संयत आविष्कार दोनों गुण दुर्लभ हैं। ये दोनों गुण कालिदासमें ही बड़ी उत्कट-तासे प्रतीत होते हैं। योरोपके श्रेष्ठ कवि तथा आलोचक गेटे भी ‘ शाकुन्तल ’के इन गुणोंके कायल हुए। ‘ विक्रमोर्वशीय ’ की प्रेम-कहानी ऋग्वेदसे चली आई है। इसमें भी ‘ शाकुन्तल ’की ही तरह प्रथम मिलन, बादमें वियोग और अन्तमें पुनर्मिलन का चित्र है। उपर्युक्त दो नाटकोंकी तुलनामें ‘ मालविकाग्नि-मित्र ’ निम्न कोटिका नाटक है; परन्तु उसके भी काव्यगुण सराहनीय हैं। भारतीय राजाओंके राजमहलोंके जीवनपर आधारित होनेके कारण यह नाटक उस कालकी सामाजिक परिस्थितिपर अच्छा प्रकाश डालता है। इस नाटकमें विदिशा नगरीके राजा अग्निमित्रकी–जो ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दीमें विद्यमान थे–प्रेमकथा वर्णित है। मालविका रानी धारिणीकी सेविका है। नाट-कके अन्तमें उसके यथार्थमें राजपुत्री होनेका रहस्य खुलता है, राजाके प्रेमपंथके काँटे दूर हो जाते हैं और उससे मालविकाका विवाह संपन्न होता है। इस तरह यह एक सुखान्त नाटक है।

भारतीयोंके प्राचीन नाट्य-साहित्यमें ‘मृच्छकटिक’के जैसा आधुनिक रुचिके अनुकूल नाटक संस्कृतमें दूसरा नहीं है। परन्तु इसकी रचना भारतीय नाट्य-शास्त्रकी विहित मर्यादाको लाँघकर की गई है। मर्यादाके अनुसार गणिकाको नाटककी नायिकाका स्थान नहीं दिया जा सकता; परन्तु इस नाटककी नायिका एक गणिका है। नाटकके नायक चारुदत्त ब्राह्मण व्यापारी या वणिक् हैं। दान-शीलताके अतिरेकसे वे निर्धन होते हैं, बादमें वे वसन्तसेनाकी, एक धनिक गणिकाकी प्रीतिके भाजन बनते हैं और अन्तमें उससे उनका विवाह संपन्न होता है। यह नाटक विनोद-प्रचुर और विविध दृश्योंसे समृद्ध है। नाटकके प्रणेता कवि शूद्रकका काल निश्चित नहीं किया जा सकता। यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे कालिदासके बहुत पहले विद्यमान थे।

कनोजके सम्राट हर्षवर्धनने (सन् ६०६-६४८) दो नाटक लिखे हैं-'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका'। 'रत्नावली'पर 'मालविकाग्निमित्र'का प्रभाव दिखाई देता है। 'रत्नावली'में वत्सदेशके राजा उदयन और सेविका सागरिकाकी प्रेमकथा है। सागरिका वास्तवमें सिंहलद्वीपकी राजकन्या है। नौकाके डूबनेकी आपत्तिसे बचकर वह उदयनके राजमहलकी सेविका बनती है। इस नाटकका चरित्र-चित्रण बड़े अच्छे ढंगसे किया गया है। मनोहर काव्य-पंक्तियाँ—जो कि केवल अनुकरणात्मक नहीं हैं-इसमें अनेकों मिलती हैं। 'प्रियदर्शिका' की कथा भी ठीक इसी तरहकी है। 'नागानन्द' सम्राट् हर्षवर्धनका तीसरा नाटक है। इसकी कथा गुणाढ्यकी 'बृहत्कथा'से ली गई है। इस नाटकपर बौद्ध-धर्मकी गहरी छाप अङ्कित हुई है।

कालिदासके बादके सुविख्यात कवि भवभूति हैं। ये विदर्भके निवासी थे। कनोजके राजा यशोधर्मन्के दरबारमें इनकी आयुका कुछ अंश व्यतीत हुआ था। इनके लिखे हुए तीन नाटक आज उपलब्ध हैं – 'मालती माधव,' 'उत्तररामचरित' और 'महावीरचरित'। भवभूति गंभीर प्रकृतिके व्यक्ति थे। अतएव इनके नाटकोंमें विदूषकका अभाव है। मृदु तथा सौम्य भावनाओंकी अपेक्षा भव्य एवं उदात्त भावनाओंके आविष्कारकी ओर ही इनकी प्रवृत्ति अधिक है। उज्जयिनीका एक दृश्य 'मालतीमाधव'की पार्श्वभूमि है। माधव साधारण मानवोंमेंसे एक है, विद्यार्थीकी दशामें विद्यमान युवक है। उसे मालतीसे, एक मन्त्रीकी कन्यासे अनुराग होता है। दोनों परस्पर-अनुरक्त हैं। राजाकी इच्छा थी कि इस मंत्रीकी-पुत्रीका—जो कि उसे अप्रिय थी—विवाह उसकी अपनी सम्मतिसे हो। अन्तमें दयावान् कामन्दकीकी सहायतासे इस प्रेमी युगलका मिलन होता है। 'महावीरचरित' तथा 'उत्तररामचरित' में क्रमसे दाशरथि रामके चरित्रका पूर्वार्ध तथा उत्तरार्ध वर्णित है। नाटकरूप काव्यकी दृष्टिसे ये दोनों नाटक बड़े महत्त्वपूर्ण हैं; परन्तु आवश्यक नाटकीय क्रियाओंके अभावके कारण ये दोनों रंगमंचपर सफल नहीं हो सकते। हाँ, यह तो मानना ही होगा कि संस्कृत कवियोंमें करुणाके यथार्थ स्वरूपको सफलतासे अभिव्यक्त करनेमें भवभूतिके मापदण्डपर अन्य सब कवि वामन ही उतरते हैं।

'मुद्राराक्षस' प्रेम-कथाको दूरसे भी स्पर्श न करनेवाली; परन्तु नाटककी दृष्टिसे पूर्ण यशस्वी एवं आकर्षक रचना है। इसके कर्ता कवि विशाखदत्त हैं। यद्यपि इनका काल निश्चित नहीं किया जा सकता; फिर भी इन्हें ईसाकी आठवीं शताब्दीके बाद

नहीं रखा जा सकता। इस नाटकमें यथार्थ राजनीतिक जीवनको बड़े ही प्रभावशाली ढंगसे अभिव्यक्त किया गया है। यह नाटक मनके आकर्षणको प्रारम्भसे अन्ततक कायम रखता है। इसमें चन्द्रगुप्तके प्रधान मंत्री आर्य चाणक्य चन्द्रगुप्तके हितके लिए राक्षसको-पदभ्रष्ट राजा नंदके प्रधान मंत्रीको-अपने वशमें करनेका महान् और सफल प्रयत्न करते हैं। यही इस नाटककी कथाका निचोड़ है।

'वेणीसंहार' भी लोकप्रिय नाटकोंमें एक महत्त्वपूर्ण नाटक है। यह महाभारतकी प्रधान कथापर आधारित है। नाटकके नामसे सूचित होता है कि दुःशासन तथा दुर्योधनके वधके उपरान्त भीमने द्रौपदीकी वेणीको अपने रक्तरञ्जित हाथोंसे बाँधा था। ईसाकी आठवी शताब्दीके आचार्य वामनने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्र'में इस नाटकका आधार लिया है।

कनोजके राजा महेन्द्रपाल (सन् ९००) तथा उनके उत्तराधिकारी राजा महीपालके समयमें राजशेखर नामके कवि हुए थे। इनके चार नाटक प्रसिद्ध हैं 'बालरामायण,' 'बालभारत,' 'विद्धशालभञ्जिका' और 'कर्पूरमञ्जरी'। इनका संस्कृत, प्राकृत तथा उस समय बोली जानेवाली अन्यान्य भाषाओंपर अधिकार वास्तवमें विस्मयकारी था। इन्होंने विविध वृत्तोंका बड़ी आसानीसे उपयोग किया है; अप्रसिद्ध तथा विविध प्रदेशोंके विशिष्ट शब्दोंको भी कौशलसे प्रयुक्त किया है। लोकोक्तियोंका उपयोग करनेमें ये अपना सानी नहीं रखते। 'विद्धशालभञ्जिका' की नायिका लड़केके वेषमें उपस्थित होती है। इसलिए नाटकमें हास्य-रसके लिए पर्याप्त अवसर मिला है। 'मृच्छकटिक'को छोड़कर इतना मनोहर तथा सुन्दर हास्य-रस संस्कृत साहित्यमें अन्यत्र नहीं मिलता। 'मृच्छकटिक'की अपेक्षा इसमें हास्यरसके अनुकूल स्थान भी अधिक हैं। 'कर्पूरमञ्जरी' पूर्णतया प्राकृत भाषामें लिखित रचना है। संस्कृत तथा प्राकृत भाषामें शुद्ध तथा सरल वृत्त-रचना राजशेखरकी अपनी विशेषता है; परन्तु इनकी रचनाओंमें उच्च कोटिकी रुचि तथा मौलिकताका अभाव है।

कृष्णमिश्रका लिखा हुआ 'प्रबोधचंद्रोदय' बड़ा ही वैशिष्ट्यपूर्ण नाटक है। नाटकमय काव्यकी दृष्टिसे इसका महत्त्व है; लेकिन रंगमंचपर यह प्रभावी नहीं हो सकता। परन्तु दर्शन तथा उच्च कोटिके धार्मिक विचारोंके काव्यमय आविष्कारमें इस नाटकने जो विलोभनीय यश पाया है उसे अस्वीकार कदापि नहीं किया जा सकता। इसके पात्र वास्तवमें भावरूप कल्पनाएँ तथा प्रतीकात्मक रूपक हैं। इसका कथोपकथन हास्यरस-पूर्ण है। विष्णु-भक्तिकी महिमाकी स्थापना

करना इस नाटककारका प्रधान लक्ष्य है। आध्यात्मिक भावनाओंको रूपकोंकी सहायतासे मूर्तिमान् करके उनके परस्पर-सम्बन्धकी अभिव्यक्ति इस नाटकमें बड़े सुन्दर ढंगसे की गई है।

महत्त्वपूर्ण नाट्य-साहित्यका यह संक्षिप्त परिचय हुआ। यह नियम है कि कलात्मक प्रेरणाका एक बार जब निर्माण होता है तब वही शताब्दियोंतक नित्य नवीन रूपोंको धारण करके विकासकी ओर अग्रसर होती है। हाँ, यह तो नहीं कहा जा सकता कि यह नियम अविच्छिन्न रूपसे चलता ही रहेगा; वह किसी समय खण्डित भी होता है। गत आठ सौ वर्षोंमें अंग्रेजोंके राज्यकी स्थापना होनेके पूर्ववर्ती कालमें भारतीयोंने नाट्य-साहित्य तथा कलामें अल्प भी प्रगति नहीं की। देशी भाषाओंके विकासका यह काल है। इन भाषाओंने परमार्थ-सम्बन्धी वाङ्मयका निर्माण किया अवश्य; परन्तु अंग्रेजोंके राज्यकी स्थापनाके समय तक विद्या तथा ललित साहित्यके विषयमें ये भाषाएँ पूर्णतया अकिञ्चन ही रहीं। संस्कृत भाषाके विद्या-वैभवसे इन्हें प्रेरणा न मिल सकी। गत सहस्र वर्षोंमें, शंकराचार्यके परवर्ती कालमें भारतीयोंकी मानसिक संस्कृति शिथिलत हो गई। अब भारतके निवासी संसारकी सब संस्कृतियोंकी मानसिक प्रेरणाओंका अनुभव कर रहे हैं। उसीसे नवीन, विशाल तथा शक्ति-संपन्न प्रेरणाओंका आविर्भाव होगा और देशी भाषाएँ संपन्न एवं समर्थ हो जायँगी। हमें विश्वास है कि प्राचीन इतिहास-पुराणों द्वारा निर्मित ललित कलाओंकी पैतृक संपत्ति इन प्रेरणाओंको अधिक प्रोत्साहित करनेमें सहयोग देगी।

भागवत धर्मकी तात्त्विक समालोचना

भागवत धर्म इतिहास-पुराणोंका धार्मिक गाभा है; भक्ति उसका रहस्य है और नीति उसका सार है। उसके तात्त्विक मीमांसाके उपरान्त ही आगामी विषयकी थाह लेना समीचीन है; क्योंकि भागवत धर्म इतिहास-पुराणोंकी संस्कृतिका प्राण है। मानवद्वारा निर्मित विश्व परमतत्त्वके अन्तिम आविर्भावका क्षेत्र है। मानवका रूप धारण करके ही ईश्वरका पूर्णावतार संपन्न होता है; वह इन्द्रादिसे, स्वर्गलोकके देवोंसे श्रेष्ठ है। धार्मिक विचार-पद्धति जब उपर्युक्त अवस्थातक पहुँची तब भागवत धर्मका उदय हुआ। वैदिक कालमें ही भागवत धर्मका निर्माण हुआ है। वह वैदिक धर्मका ही विकास है। नारायण ऋषिने भागवत धर्मकी स्थापना की। शुक्ल यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणमें नारायणको नर याने

मनुष्य कहा गया है। सर्वात्मभावकी प्राप्तिके लिए उसने आत्मयज्ञ किया; आत्मामें प्राणिजातका हवन किया; आत्माका प्राणिजातमें हवन किया और इस तरह सर्वात्मभावको प्राप्त कर लिया। ऋग्वेदका पुरुषसूक्त नारायण ऋषिका प्रथम तत्त्वदर्शन है। इस सम्बन्धमें इतिहासिक विचार इस अध्यायके प्रारम्भमें ही किया गया है। अब भागवत धर्मकी तात्त्विक समालोचनाको प्रस्तुत करके हम इस अध्यायको समाप्त करेंगे।

भागवत धर्मका आन्दोलन वैदिक कालसे ही शुरू हुआ। वह किसी एक विशिष्ट देशतक सीमित न था। पैलेस्टाइनमें ईसा मसीहका जो अवतार हुआ वह भागवत धर्मके आन्दोलनका ही अंश है। बौद्ध धर्म भी भागवत धर्मका ही एक रूप है। ईसा मसीह अपनी जातिके पापके प्रायश्चितके लिए आत्मसमर्पण करते हैं; गौतम बुद्ध स्वर्गस्थ देवोंको अपनी शरणमें आनेपर बाध्य करते हैं। बुद्धका कहना है, " मुझे स्वीकार है कि लोगोंके दुःखोंके सब दुर्लंघ्य पहाड़ मुझपर गिर पड़ें; परन्तु चाहता तो यह हूँ कि लोग सब दुःखोंसे मुक्त हों। " भागवत धर्मकी समुद्र-मंथनकी कथामें शिवकी अगाध महिमा वर्णित है। समुद्र-मंथनसे उत्पन्न अमृत अमरोंको प्राप्त हुआ। भगवान् शिवने विश्वके रक्षणके हेतु विश्वका संहार करनेवाले हालाहल विषका स्वयं प्राशन किया। भगवान्का कण्ठ ही उस विषका आश्रय है और वह उसे छोड़ना कभी पसन्द नहीं करता। भागवत धर्ममें कृष्ण-भक्ति अन्तिम निष्ठाके रूपमें विहित है। गोपाल कृष्ण गौओं तथा गोपालोंको चारों ओरसे घेरनेवाले दावानलको पी लेते हैं। जनताके दुःखमें दुःखी, जनताकी सब यातनाओं, सब विपदाओंको सहर्ष अपने सिरपर लेकर उसे दुःखमुक्त करनेके ' साभिमान अभिलाषी ' और स्वयं स्वीकृत विपत्तियोंके पारावारमें निमग्न भगवान् तथा भक्तकी आराधना तथा पूजा ही भागवत धर्मका अङ्ग है।

गत दो सौ वर्षोंके मानवी इतिहासकी समीक्षासे मालूम होता है कि प्राचीन कालमें धर्म मानवी संस्कृतिकी एक प्रवर्तक तथा संगठक शक्तिके रूपमें विद्यमान रहा है। वर्तमान समयके नवीन बुद्धिवादके युगमें ही उसे गौण स्थान प्राप्त हो रहा है। वास्तवमें मानवके स्वभावकी, उसकी प्रकृतिके रचनाकी विवेचना करके ही धर्मके मूलका अन्वेषण करना चाहिए। मानवके स्वभावकी रचनाके सम्बन्धमें दो समाधान उपस्थित किये जा सकते हैं; एक द्वैत-वादी और दूसरा अद्वैतवादी। द्वैतवादके अनुसार मानवके दो पहलू हैं–ऐहिक तथा

पारलौकिक; भौतिक तथा दिव्य। इन्द्रियोंकी वासनाएँ, विषयोंके उपभोगके प्रति आकर्षण, देह तथा इन्द्रियोंके दुःखोंके परिहारके लिए चलनेवाला अविराम प्रयत्न, अर्थ तथा कामकी प्रधानता और कौटुम्बिक, जातीय तथा सामाजिक संकीर्णताजन्य अहंकार आदि प्रवृत्तियाँ मानवकी ऐहिकता तथा भौतिकताकी परिचायक हैं। क्या द्वेष, क्या मत्सर, क्या अपने और परायेका भेद, क्या वैरीपर अन्याय करनेकी या उसका प्रतिशोध लेनेकी अनिवार्य अभिलाषा, क्या धनसंग्रह करके स्वार्थ-साधनामें निरत रहनेकी स्वाभाविक निर्बाध प्रवृत्ति ये सब उसकी भौतिक वंश-परम्पराकी पैतृक सम्पत्ति हैं। जड़ भौतिक सृष्टिमें सजीवताका अंकुर निर्माण हुआ; उससे पशुका निर्माण हुआ और पशुसे मानव बना। यही मानवका वंश-वृक्ष है। कौटुम्बिक स्वार्थ, जातीय अहंकार, राष्ट्रीय गर्व और अभिमान इन मानसिक प्रवृत्तियोंका मूलस्रोत मानवके पाशविक पूर्वजोंतक पहुँचता है। भौतिकता तथा पाशविक प्रवृत्ति दोनों अज्ञानकी उपज है। अज्ञानसे कलह, हिंसा तथा पराये धनके अपहरणकी प्रवृत्तिका जन्म होता है। इसका पर्यवसान दुःख, अवनति तथा मृत्युमें होता है; इसीको पाप कहते हैं। यह भी सच है कि मानवमें दिव्य तथा पारलौकिक प्रवृत्ति भी स्वाभाविक रूपसे विद्यमान है। विश्वव्यापी परम सत्यके प्रति एक खिंचाव, एक प्रबल आकर्षण ही मानवकी दिव्यताका पहलू है। इसे धार्मिक भावना कहना संभव है। ईश्वरके विषयमें अटल श्रद्धा वास्तवमें परम सत्यका स्वाभाविक भावना-रूप आविष्कार है। संसारकी सब धर्म-संस्थाएँ विश्व तथा समूचे जीवनका सम्पूर्ण अर्थ स्पष्ट करनेमें प्रयत्नशील हैं। मानवमें अस्पष्ट या स्पष्ट रूपमें विद्यमान सत्यकी जिज्ञासा, आकांक्षा तथा उसे प्राप्त करनेकी 'व्याकुल एषणा' ही मानव-जातिके इतिहासमें धर्म-भावनाका मूलस्रोत है। मानवकी दिव्यताका दूसरा पहलू है उसकी विशुद्ध नैतिक अभिलाषा। मानव प्राणिमात्रके प्रति सहानुभूतिसे ओतप्रोत है; निसर्ग उसे सुन्दर प्रतीत होता है। किसीकी भी अकाल-मृत्यु उसके लिए विषादकारी है। नारी-जातिके सम्बन्धमें दाक्षिण्य उसके लिए आदरणीय है। किसी पराये द्वीपके निवासी मानवकी सहस्रों वर्ष पूर्व लिखी गई करुण कहानी उसके चित्तको आज भी द्रवित करती है। किसी भी सुदूर देशका न्यायपूर्ण राज्य-शासन उसकी आँखोंमें प्रशंसाका पात्र है; किसी भी देशके विज्ञानवेत्ताके सम्बन्धमें उसके हृदयमें आदरकी भावना तत्काल ही उमड़ती है। विपत्तिमें पड़े हुए किसी भी जीवको देखकर विपत्तिमें कूद उसे बचानेकी मंगल भावनासे वह प्रेरित होता है। उसकी आज भी दृढ श्रद्धा है कि दूसरोंको तारनेमें तथा न्यायका रक्षण करनेमें

आत्माका बलिदान करनेवाले महान् व्यक्तिओंका यश यावच्चन्द्रदिवाकरौ उज्ज्वल रहेगा। यही मानवकी द्विविध दिव्यता है। उसकी धार्मिक तथा नैतिक वासनाओं और संकीर्ण तथा भौतिक इन्द्रियजन्य वासनाओंका उसमें स्वाभाविक रूपसे मिश्रण हुआ है। इन्द्रियोंकी वासना और इस स्थूल देहकी धारणाके लिए निरन्तर चलनेवाले व्यापारोंका देश-काल ही वास्तवमें मृत्यु-लोक है। सच तो यह है कि दिव्यता तथा पशुताके एकरूप हो जानेसे मानवकी मानवताका जन्म हुआ है। अतएव मनुष्यकी धर्म-संस्थाके इतिहास तथा धार्मिक परम्परामें सकामताका प्रवेश हो पाया है।

उपर्युक्त द्वैतवादी समाधान वैज्ञानिक भौतिकवादके दृष्टिकोणसे सन्तोषजनक सिद्ध नहीं होता। वैज्ञानिक भौतिकवादके अनुसार विकासवादका आश्रय लेकर ही धर्म तथा नीति जैसे उच्च कोटिके मूल्योंका समर्थन किया जा सकता है। विश्वव्यापी सौन्दर्यकी अनुभूति तथा विश्वव्यापी सत्यकी जिज्ञासा ही मानवके जीवनका विकास करनेवाली शक्तियाँ हैं। बुद्धि-गुणके उत्कर्षसे ही मानवमें ये शक्तियाँ प्रकट हो पाई हैं। इन्हीं शक्तियोंने उसकी धार्मिक प्रवृत्तिको जन्म दिया है। इन शक्तियोंकी ही तरह नैतिक भावनाने मानवको स्वाभाविक रूपसे प्रभावित किया है; क्योंकि उसकी जीवन-धारणा ही नीति-तत्त्वपर आधारित है। वात्सल्य एक स्वाभाविक सात्विक प्रवृत्ति है; वह एक नैतिक भावना है। माता तथा पिता इसी प्रवृत्तिसे प्रेरित होकर अपने अपत्यके लिए अनेक कष्टोंको सहते हैं; आपत्तियोंके आघातोंको झेलते हैं। इस प्रवृत्तिका मूलस्रोत स्त्री-पुरुषोंकी कामवासनामें ही विद्यमान है। तृषितको जल तथा बुभुक्षितको अन्न देनेकी ओर उन्मुख करनेवाली अनुकम्पा प्यास तथा भूखके स्वानुभवोंसे जन्म लेती है। अपनी वेदनाओंकी अनुभूतिसे ही दूसरोंकी वेदनाओंके सम्बन्धमें सहानुभूतिका निर्माण होता है। जीवित रहनेके लिए निरन्तर किया जानेवाला संग्राम सृष्टिके यथार्थ ज्ञानसे अधिक सफल होता है। इसी अनुभूतिसे सत्यकी स्वाधीन महत्तामें श्रद्धाका उदय होता है। दिशाओं तथा तारकोंके ज्ञानसे संयुक्त वायुकी गतिसे पूर्ण परिचित खेवनहार ही जहाजको कुशलतासे समुद्रके पास पहुँचानेमें समर्थ होता है। सुयोग्य गवाहोंको पाकर ही राज्यकर्ता अपराधोंपर नियन्त्रण रखनेमें सफल हो सकते हैं। सत्य भाषणसे ही व्यवहार अधिक सरलतासे और सुचारु भावसे चलते हैं। अतएव सत्यकी महत्ता स्वाभाविक रूपसे मनपर अपना अधिकार जमाती है। परम सत्यकी जिज्ञासा रखना मनुष्यके भौतिक जीवनकी आवश्यकताओंके लिए स्वाभाविक ही है। तात्पर्य, व्यवहार ही परमार्थकी जन्मभूमि है। इहलोक

ही परलोककी नींव है। मर्त्यलोकमें ही अमरताका बीज बोया हुआ है; इहलोक ही अमरत्वसे परिपूर्ण है। यही भौतिक अद्वैतवादका सूत्रमय सार है। प्रथम निर्दिष्ट द्वैतवादके दृष्टिकोणसे भागवत धर्मकी समीक्षा करनेमें जटिलता बहुत कम है। अतएव आगेकी विवेचना उसीपर आधारित है। वैज्ञानिक भौतिकवादके सहारे विवेचन करनेके लिए अत्यधिक विस्तार करना आवश्यक होगा। उस विस्तारके लिए यहाँ अवकाश नहीं है।

विश्वव्यापी परम सत्यकी भावनात्मक अनुभूतिसे ईश्वरसम्बन्धी कल्पनाका निर्माण हुआ है। इस भावनात्मक अनुभूतिका कारण मानवकी प्राथमिक आवश्यकताओंमें ही मिलता है। अधिकांश धार्मिक व्यक्ति, पुत्र-प्राप्ति, पर्जन्य-वृष्टि, रोग-निवारण, धन-लाभ, शत्रु-नाश आदि ऐहिक भौतिक कामनाओंकी पूर्ति या भयके निवारणके लिए ही परमात्माकी आराधना करते हैं। वेदोंका यज्ञ-धर्म इसी सकाम आराधनासे व्याप्त है। संसारके, भव-सागरके दुःखों, बन्धनों तथा पापोंसे मुक्त होनेके लिए याने मोक्षकी प्राप्तिके लिए तप, संयम तथा ईश्वरकी आराधनाका विधान करनेवाला धर्म ही धर्मकी चरम अवस्थाका परिचायक है। सकाम भक्तिकी अपेक्षा यही धर्मकी उच्च कोटिकी अवस्था है। ईश्वरकी कृपासे सांसारिक सुखोंकी वृद्धिकी अभिलाषा ईश्वरकी अपेक्षा इहलोककी, संसारकी आवश्यकताओंको ही अधिक महत्त्व प्रदान करती है। इस तरहकी आराधनामें देव साधन और सांसारिक सुख साध्य बनता है। इसका अर्थ होता है परलोककी अपेक्षा इहलोकको ही कल्याणकारी मानना। पाप-मुक्ति या बंध-मुक्ति ही विशुद्ध धार्मिक आदर्श है। इस आदर्शकी तुलनामें भौतिक जीवनकी न्यूनता, सदोषता तथा स्वाभाविक तुच्छता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। अतएव भागवत धर्मके रूपमें ऐसे धर्मका उदय हुआ जो भौतिक वासनाओंकी उपाधियोंसे सर्वथा मुक्त था। वेदोंमें ही इस धर्मके उत्थानका प्राथमिक कार्य हो चुका था। बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय उपनिषदोंका कहना है कि मानवों तथा देवोंके आनन्दकी अपेक्षा निष्पाप तथा वासनाओंके फँदेमें न उलझे हुए श्रोत्रिय याने ज्ञानवान् व्यक्तिकी आत्मस्थितिका आनन्द सौगुना श्रेष्ठ है। उन उपनिषदोंके अनुसार वास्तवमें परमात्माका आनन्द-रूप और श्रोत्रिय याने ज्ञानवान् व्यक्तिका आनन्द दोनों तुल्यबल हैं। इस तरहकी उच्च कोटिकी मानसिक स्थितिमें प्राप्त होनेवाला परमात्मा या परम सत्यका ज्ञान ही धर्मका अन्तिम साध्य है। भागवत धर्म इसी निर्णयपर पहुँचा था। परम

सत्यके प्रति तीव्रतम आकर्षण अथवा अपार प्रेम ही वास्तवमें निष्काम भक्ति है। इसीको अनन्य भक्ति कहते हैं।

संकीर्ण सामाजिक आचार-धर्मको हीन माननेवाला उच्चतम नीति-धर्म भागवत धर्मकी एक विशेषता है। धार्मिक प्रज्ञाका अधिकार केवल समाजके उच्च-वर्गीय प्रतिष्ठित विप्रों तथा क्षत्रियोंको ही प्राप्त नहीं है। भागवत धर्मने अतिप्राचीन कालमें ही इस सत्यको समझा था कि सबको पावन करनेवाले और समाजमें ऊँचे ओहदोंपर विराजमान व्यक्तियोंको भी परमार्थकी समुचित शिक्षा देकर धन्य बनानेवाले साधु समाजकी दृष्टिसे पतित तथा अधम जातियोंमें भी जन्म लेते हैं। महाभारतके धर्मव्याध खटिक होते हुए भी ऋषिको परमार्थका उपदेश देनेवाले गुरु हैं। जाजलि ऋषिकी दूकानमें तराजू तौलनेवाले तुलाधार धर्मके रहस्यको करतलामलकवत् दिखाते हैं। भागवत धर्मका कथन है कि पशु भी मोक्ष-धर्मके अधिकारी बनते हैं। महाराष्ट्रके सन्तोंने इसी उज्ज्वल परम्पराको प्रकाशित किया है।

भागवत-धर्मका शिखर—तुकाराम

सामाजिक इतिहासके दृष्टिकोणसे महाराष्ट्रके भागवत धर्मका सुचारु तथा सुव्यवस्थित अध्ययन न्यायमूर्ति महादेव गोविंद रानडेसे लेकर आधुनिक सन्त डॉ. रामभाऊ रानडे और प्रो. न. र. फाटक तकके विद्वानोंने किया है। यह अध्ययन अभीतक चल रहा है। ज्ञानेश्वर महाराजने इस धर्मकी नींव डाली। उनके उपरान्त अनेकों सन्तोंने इसे पुष्पित और पल्लवित किया और अन्तमें तुकारामने इसे चरम उत्कर्ष-पर पहुँचाया। वास्तवमें तुकाराम भागवत धर्मके सबसे उत्तुङ्ग शिखरपर आरूढ हैं। सन्तशिरोमणि तुकारामकी उक्तियोंकी सहायतासे वेदकालसे प्रवर्तित परम्पराका विहंगावलोकन करके इस अध्यायको हम समाप्त करेंगे; क्योंकि तुकाराम वह सरस सुवर्णमूर्ति है जो भागवत धर्मद्वारा निर्मित अनन्यभक्ति तथा पारमार्थिक समताके अद्‌भुत एवं अनमोल साँचेमें ढली है। भागवत धर्मके सहस्रों वर्षोंके विकासकी सम्पूर्ण परिणति तुकाराममें साकार हुई है।

सन्त तुकाराम कहते हैं, "वर्णाभिमान विसरली याती। एकमेका लोटांगणी जाती॥ तुम्ही चरणसेवा भूतांचें भजन। वर्ण अभिमान सोडवूनि॥" संकीर्ण सामाजिक अहंकार और विशुद्ध धर्ममें विरोध है। अभेद-भाव परमार्थ-बुद्धिका सच्चा स्वरूप है। "जिही म्हणविले हरीचे अंकित। जातीचे ते होत कोणी

तरी। जातीकुळ नाहीं तयासी प्रमाण। अनन्या अनन्य तुका म्हणे ॥" कुल, वंश तथा देशके अनेकों भेद दिव्य, ईश्वरीय प्रेम याने मानवी एकताका अनुभव करनेवाली धार्मिक प्रवृत्तिको दूषित, कलङ्कित करते हैं। कविने उचित ही कहा, "पवित्र तें कुळ, पावन तो देश। जेथें हरीचे दास जन्म घेती॥ वर्ण-अभिमानें कोण झाला पावन। ऐसे द्या सांगोन मजपाशीं॥ अन्त्यजादि योनी तरल्या हरिभजनें। तयांचीं पुराणें भाट झालीं॥" वर्णाश्रमका विधान करनेवाले स्मृतियोंके क़ानूनका संतोंके समय अत्यन्त प्रभाव अवश्य था; परन्तु इस वर्णाश्रम तथा जातिभेद-की तटबंदीको नहीं मानते हुए भक्ति-भावनाका ज्वार निर्बाध रूपसे बहता था। यों तो ब्राह्मणोंकी जाति गुरुका काम करती थी और अन्य जातियोंके व्यक्ति उसके शिष्य बनते थे; परन्तु हरि-भजनके आरम्भ होते ही दोनों जातियाँ समभावसे पर-स्पर-वन्दना करती थीं। यह भागवत संप्रदाय है। 'तयांची पुराणें भाट झालीं'में तुकारामने पुराण कहनेवाले तथाकथित पवित्र पुराणिकोंपर क्या ही कटु व्यङ्ग्य किया है! पवित्र रेशमके वस्त्रमें वेष्टित पुराणोंकी पोथी हरिभक्त चण्डालके चरणोंकी दासी है ऐसा तुकाराम कहना चाहते हैं। "अवघीं भूतें साम्या आलीं। ...... तुका म्हणे जे जे भेटे ते ते वाटे मी असे" जैसी 'मधुमती अवस्था'में पहुँचनेके कारण अब तो "हें सोंवळें (रेशमका वस्त्र) झालें त्रिभुवन। विषम धोऊन। सांडियेलें!" यह हाल हुआ है।

तुकारामके समयतक स्मृतियों तथा पुराणोंकी मर्यादा अविच्छिन्न थी। पारमार्थिक समताका निर्माण करके ही भागवत धर्मने सन्तोषकी साँस ली थी। परन्तु क्या भागवत धर्म, क्या सन्त दोनों सामाजिक व्यवहारोंमें ऊँच-नीचभाव, जातिभेद तथा छुआछूतके बन्धनोंको शिथिल करनेका कार्य कुछ भी न कर सके। दूसरे सन्त अथवा तुकाराम जब कलियुगका वर्णन करनेपर उतारू होते हैं; तब यही कहते हैं कि कलिके उन्मत्त हो जानेसे 'ब्रह्मघोल' याने चारों ओर अंधेरनगरी हो जाएगी, ऊँच-नीच सब जातियाँ एक ही स्थानपर भोजन करने लगेंगी और वर्णाश्रमके भेद नष्ट होंगे। यह कहनेके बावजूद भी तुकाराम उच्च वर्गीयोंके अहङ्कारको दूधके उफानकी तरह बहुत बुरी तरह फटकार सुनाते हैं। उनका कथन है, "बरा कुणबी केलों। नाहींतर दंभें असतों मेलों। भले केलें देवराया॥" अर्थात् मुझे कुणबी बनाया, यह भगवान् तुमने भला किया। नहीं तो दंभके मारे मर जाता।

समाजकी रचना भी अन्याय-पूर्ण हो सकती है, सामाजिक निर्बन्धोंका निर्माण करनेवाले स्मृतियों तथा पुराणों जैसे ग्रंथ भी विशुद्ध धर्मकी दृष्टिसे हीनतर आचा-

रोंका विधान करते हैं; अतएव न्याय तथा नीतिकी सुरक्षाके लिए उनके प्रामाण्यका भी त्याग करना अनिवार्य हो उठता है, इस बातके ज्ञानका उदय न सन्तोंके मनमें हुआ था, न तुकारामके मनमें। उस समय सामाजिक परम्परामें असीम शक्ति थी। अतएव उस परम्पराका तख्ता उलट कर नई परम्पराको कायम करनेकी आवश्यकताका प्रतीत हो जाना तथा उस परिवर्तनके लिए समाजको प्रस्तुत करनेकी सामर्थ्यका संचित हो जाना सुतराम् असंभव था। यह सब होते हुए भी यह सही है कि उस समय परम्पराके विरोधमें एक धुँधली-सी भावना धीरे धीरे प्रकट होने लगी थी। तुकारामका कहना है, "आंधळयाचे काठीं लागले आंधळे। घात एका वेळे। पुढें मागें। न धरावी चाली। करावा विचार।" संकीर्ण परम्परा विशुद्ध भागवत धर्मके प्रसारमें भी बाधक हो रही थी। इसीलिए तुकारामने कहा "अर्थें लोपलीं पुराणें। नाश केला शब्दज्ञानें॥ आम्ही वैकुण्ठवासी। आलो याचि कारणासी। बोलिले जे ऋषि। साच भावें वर्ताया॥" जब निम्न जातियोंके व्यक्ति परमार्थके प्रसारका प्रारम्भ करते थे तब उच्च जातियोंके प्रतिनिधियोंके हृदयपर साँप लोटता था; उनको यह भय हमेशा सताता रहता था कि परमार्थद्वारा शुद्ध एवं प्रबल हो जाते ही निम्न जातियाँ ऊँच-नीच-भावकी महत्ताका स्वीकार न करेंगी, बल्कि उसकी व्यर्थताको समझ उसके विरुद्ध विद्रोह करेंगी। अतएव उच्च वर्गोंके व्यक्ति पुराणोंका आधार लेकर निम्न जातियोंको अपने शब्द-पाण्डित्यकी सहायतासे निरन्तर डाँटते रहते थे। इसके उत्तरमें तुकारामने स्पष्ट कहा कि शब्द-ज्ञानसे पुराणोंके अर्थका लोप हो रहा है। तुकाराम अटल विश्वासके साथ कहते हैं, "मुझे वेदोंके अक्षरोंको रटनेका अधिकार भले ही न हो; परन्तु 'वेदांचा अर्थ तो आम्हासीच ठावा। येरांनीं वाहवा भार माथा।'" तुकारामके उपर्युक्त शब्दोंको पढ़कर यास्ककी याद आती है जिन्होंने अपने 'निरुक्त'में बिना अर्थ-ज्ञानके वेदोंको कण्ठस्थ करनेवालोंको बुरी तरह फटकारा था। यास्कने कहा था।, "स्थाणुरयं भारहारः किलाभूत्, अधीत्य वेदं न जानाति योऽर्थम्।" याने 'वेदोंको पढ़कर भी जो उनका अर्थ नहीं जानता वह केवल भारको वहन करनेवाला स्थाणु याने स्तम्भ है।' शब्द-ज्ञानकी सीमाके आगे जाकर वेदों या शास्त्रोंमें कथित सत्यके सारका सन्त स्वयं अनुभव कर लेते है; उन्हें बहुमतकी कुछ परवाह नहीं थी। "सत्य असत्यासी मन केलें ग्वाही। मानीयेलें नाहीं। बहुमता॥"

अज्ञान तथा पापके कारण भौतिक जीवन दुःखमय बना है। इसी भौतिक जीवनके दुःखोंकी कटु अनुभूति संसारके पापका ज्ञान कराती है और परमार्थकी अभिलाषाको जन्म देती है। दुःख सभी व्यक्तियोंको मुमुक्षु तो नहीं बनाता; परन्तु यह सत्य है कि उसने सन्तोंको बद्धावस्थासे साधककी अवस्थामें पहुँचाया। सुख तथा दुःख दोनोंके धागोंसे बुने गये जीवनमें सुखकी अपेक्षा दुःख ही अत्यधिक अनुपातमें मिलता है। " सुख पाहतां जवा पाडें। दुःख पर्वता एवढे ॥ " जब दुःखोंके पहाड़ सिरपर गिरते हैं तभी कुछ व्यक्ति परमार्थके सम्बन्धमें सावधान होते हैं। तुकारामका भी यही हाल हुआ। " दुष्काळें आटीलें द्रव्य। नेला मान। स्त्री एकी अन्न अन्न करितां मेली ॥ " दुध मुँहा बच्चा चल बसा, व्यवसाय तहस-नहस हुआ, दीवाला पिट गया और बिना अन्नके पत्नी भी स्वर्ग सिधारी। अतएव तुकाराम विरक्त हुए। विपत्तियोंसे साधारण मानव भ्रष्ट होता है, दुष्ट बनता है। यह भी नियम नहीं कि दैन्यसे सुजनता ही जन्म लेती हो। दैन्यसे अंधेर-नगरीका भी निर्माण हो सकता है, अपहरणकी प्रवृत्ति बलवान् बनती है और मानव जंगली जानवरोंकी हेय अवस्थामें पहुँच जाते हैं। परन्तु जीवनके दुःखोंसे सन्तोंका चित्त शुद्ध हुआ। मृत्यु उनमें भयका निर्माण न कर सकी। " जितां मरण आलें। आपपर गेलें। मूल छेदीयेलें। संसाराचें ॥ " संसारकी आपदाओंके आघातोंने सन्तोंकी प्रवृत्तिको जन्म दिया। " तुका म्हणे संत। सोशी जगाचे आघात ॥ "

मृत्युके उपरान्त प्राप्त होनेवाले परलोक, वैकुण्ठ अथवा मोक्षकी अपेक्षा इहलोकमें, इसी जीवनमें प्राप्त होनेवाले परलोक, वैकुण्ठ अथवा मोक्षको ही सन्तोंने परमार्थ मान लिया। " जाला इहलोकीं परलोक। आले सकळीक वैकुण्ठ ॥ " सन्त अपनेको वैकुण्ठके नागरिक मानते थे। विशुद्ध आध्यात्मिक अवस्था ही वास्तवमें परमात्माकी निवास-भूमि है। जब कभी इस विशुद्ध आध्यात्मिक अवस्थासे एकरूप होनेका अनुभव उन्हें प्राप्त होता था, तब उन्हें हमेशा दिखाई देता था कि वही उनका मूलरूप है। भौतिक तथा इन्द्रियगोचर संसारका अस्तित्व केवल एक यात्रीका, एक पथिकका अस्तित्व है; परन्तु विशुद्ध एवं दिव्य ब्राह्मी अवस्था न अन्य देशमें न अन्य कालमें संभव है। वास्तवमें अन्यत्र कहीं भी संभव नहीं। एक पथिक या राहगीर होनेकी यह अनुभूति वास्तवमें इन्द्रियगम्य संसारके अलग अस्तित्वकी, उसके अभावकी, उसकी सदोषता तथा पापमयताकी अनुभूति है। इस सदोष, पापमय, विनाशी तथा यातनामय इन्द्रियगम्य

संसारमें ही विशुद्ध आध्यात्मिक अवस्थाका अनुभव करना आवश्यक है। वैकुण्ठ या परमार्थके प्रवासका अर्थ है स्वप्नसे जागृतिकी अवस्थामें प्रवेश करना। इसी चैतन्यको शक्तिसे संयुक्त तथा परिपूर्ण रूपमें देखना चाहिए। यहीं अन्धकारको नष्ट करके प्रकाशका निर्माण करना आवश्यक है। इन्हीं इन्द्रियोंको ब्रह्मके रूपसे ओतप्रोत करना है, इसी पापसे पङ्किल संसारको विशुद्ध करना अनिवार्य है। अहं-कारसे निर्मित एकदेशीयता तथा भेदभावको तिलाञ्जलि देकर उन कन्दराओंका विध्वंस करना चाहिए जो मानवके जीवनके पन्थमें बाधक और पतनमें सहायक होकर उसे अधःपातकी गहरी खाईमें ढकेलती हैं। "ढवळलें जगदाकार। अंधार तो निरसला॥ शुभ झाल्या दिशा। अवघाची काळ। अशुभ मंगळ। मंगळाचें॥ कोटि चन्द्रलीळा। पूर्णिमेची पूर्ण कळा। तुका म्हणे दृष्टी धावे। परतोनि माघारीं ती नये॥ तेणें सुखें माझें निवालें हें अंग। विठ्ठल हें जग देखियलें॥ आपुलें मरण पाहिलें म्या डोळां। तो झाला सोहळा अनुपम॥ आनंदे दाटलीं तीन्हीं त्रिभुवनें। सर्वात्मकपणें भोग झाला॥ एकदेशी होतो अहंकारें आथिला। त्याच्या त्यागें झाला। सुकाळ हा॥ फिटलें सुतक जन्म-मरणाचें। मी माझ्या संकोचें दूरी झालों॥ सकळ इन्द्रियें झालीं ब्रह्मरूप। ओतलें स्वरूप। माजी तया॥ आतां हें सोंवळें झालें त्रिभुवन। विषम धोऊन सांडियेलें॥ ब्रह्मपुरीं वास करणें अखंड। न देखीजे तोंड। विटाळाचें॥"

आध्यात्मिक चिन्तन तथा ईश्वरकी भक्तिकी रुचिही—जो सब बन्धनोंसे परे है—धार्मिक वासनाका विशुद्ध रूप है। अन्तिम आदर्शरूप मोक्षावस्था और निरुपाधिक ईश्वर-भक्ति दोनोंको भागवत धर्मने समान रूपसे आदर्श माना। मधुर रस, सुष्ठु सुगन्ध, आरोग्य, प्रकृतिका सौन्दर्य, अपत्यका कोमल हास्य आदि वस्तुएँ अपने आपमें इष्ट हैं, हितकारी हैं; इसलिए नहीं कि किसी अन्य वस्तुके वे साधन हैं। उसी तरह ईश्वरका नाम, उसकी आराधना सिर्फ किसी कामनाकी पूर्ति तथा किसी पापके नाशके लिए या भव-सागरके दुःखोंसे मुक्त करनेके लिए आवश्यक नहीं है; वह अमृतकी तरह स्वयमेव मधुर है। जिस तरह चारों ओरसे 'आरामोंसे मण्डित' राज-मन्दिरका मार्ग सुन्दर दिखाई देता है और इच्छा न रखते हुए भी पथिक उसकी ओर आकृष्ट होता है उसी तरह भक्ति-मार्गमें सन्त रममाण होते हैं। परमार्थकी प्राप्तिका मार्ग ही वास्तवमें परमार्थ है। संत-संग केवल इसलिए वरणीय नहीं कि उससे ज्ञानकी प्राप्ति होती है; उसकी अपनी ही मिठास है, मधुरता है।

सिरजनहार चाँदनी इसलिए सुन्दर नहीं कि उसमें वस्तुएँ दिखाई देती हैं; वह स्वयं ही मनोहर रमणी है। शुक्रके तारेके दर्शनकी तरह सन्तोंके दर्शन आनन्दकारी हैं। उस 'सिरजनहार' को न भूलते हुए और सन्तोंके समागमके खण्डित न होते हुए कितने ही गर्भवासोंके दुःख प्राप्त क्यों न हो, कितनी ही दुर्धर दरिद्रताका अनुभव क्यों न करना पड़े; सन्तोंको उसकी परवाह नहीं, वे उसके लिए सदैव प्रस्तुत हैं। "गुण गाईन आवडी। हेची माझी सर्व जोडी। नलगे मुक्ती धनसंपदा। संतसंग देई सदा॥ तुका म्हणे गर्भवासीं। सुखें घालावें आम्हासी॥" मुक्तिकी अपेक्षा भक्तिका आकर्षण अधिक शक्तिशाली है। इसका जो ज्ञान भागवत धर्म तथा सन्तोंको प्राप्त हुआ था वह सचमुच एक मननीय धार्मिक अवस्था है। तुकाराम कहते हैं, "मजवरी घाली घण। परी मी न सोडी हे चरण॥" सांसारिक यातनाओंपर विजय पानेका यह अर्थ कदापि नहीं कि मानव उनसे मुक्त हो; क्योंकि उनसे मुक्त वास्तवमें कोई भी नहीं हो सकता। भगवान्‌की निष्काम भक्तिमें वह धैर्य है जो अग्निकी भीषण वर्षामें उत्साहसे लड़नेवाले वीरको प्राप्त है। मानसिक यातनाओं तथा दुर्बलताओंका निर्माण करनेवाले लोभ, असूया, भोग-वासना, अहंकार, द्वेष, हिंसा आदि दोषोंसे चित्तको मुक्त करनेकी अनूठी शक्ति भगवानकी भक्तिमें विद्यमान है। चित्तको दोषोंसे मुक्त करना भगवद्भक्तिका साधन है और साध्य भी। तुकारामने उचित ही कहा, "वीर विठ्ठलाचे गाढे। कळीकाळ पाया पडे। करती घोष जयजयकार। चळती दोषांचे डोंगर॥" हीन जातिमें जन्म, अकाल-मृत्यु, अकाल-वार्धक्य, व्याधि, दैन्य आदि कलिकालके लक्षण हैं; इसी कलिकालपर विजय पाना सन्त-वृत्तिका आदर्श है। तुकारामने इस विषयमें कहा, "पिटू भक्तीचा डांगोरा। कळिकाळासी दरारा॥" अन्तःकरणकी हिंसक प्रवृत्तियोंका विध्वंस किए बिना इस निष्काम भक्तिकी प्राप्ति सर्वथा असंभव है। अन्तःकरणकी दुर्बलता ही असलमें हिंसक प्रवृत्ति है। तुकारामका "दया क्षमा शांति। बाण अभंग हे हातीं। तुका म्हणे बळी तेची। भूमंडळीं॥" यह कहना उचित ही है। चित्तकी मृदुता ही वह बल है। "चित्त तें निर्मळ जैसे नवनीत। जाणीजे अनन्त तया माजीं॥" इस सान्त विश्वमें अनन्तकी प्राप्ति नितान्त आवश्यक है। यहीं ब्रह्मलोकको प्राप्त करना है। सन्तोंकी यह श्रद्धा थी कि ब्रह्म-प्राप्तिकी अवस्था ही परमार्थकी पूर्णता है। अतएव वह अवस्था निष्काम भक्तिसे भिन्न नहीं है।

तुकारामकी आकांक्षाको निहारिए, " ऐसे भाग्य कधीं लाहतां होईन। अवघे देखे जन ब्रह्ममय। मग तया सुखा अन्त नाहीं पार। आनंदें सागर हेलावती॥"

भागवत धर्म तथा सन्त दोनों भक्तिकी ही तरह सत्यवचन, भूतदया, परोपकार, गुरुजनोंकी सेवा आदि नैतिक आचरणकी महिमाके भी गायक हैं। विश्वके कल्याणके लिए परमात्मा अवतार धारण करते हैं; सन्त भी अपने शरीरको, 'पंचरंग चोले'को उपकारके पवित्र कार्यमें ही लगाते हैं। सच है 'परमारथके कारणें साधुन धरा सरीर।' ईश्वरसे मुँह मोड़कर पुण्डलीकने अपने माता-पिताकी सेवा की। पुण्डलीकके नामोच्चारणसे ही महाराष्ट्रके वारकरी पन्थके भक्त 'हरिकी जय'के नारे लगाते हैं। माता-पिताकी सेवामें निमग्न होकर सब सुख-दुःखोंको भूले हुए पुण्डलीकको हरि वर देते हैं और उसका उद्धार करते हैं। भागवत धर्म कई बार इसे सूचित किये बिना नहीं रहा कि धार्मिक प्रवृत्तिकी अपेक्षा नैतिक प्रवृत्ति ही अधिक प्रशस्त है। तीर्थोंका संचार, नामका संकीर्तन, भजन, उपवास, तप आदिका पूर्ण त्याग करके सिर्फ अनिवार्य नैतिक कर्तव्योंका शुद्ध बुद्धिके साथ पालन करनेवाला अश्रद्ध पाखण्डी भी भागवत धर्मकी दृष्टिमें महान् धार्मिक व्यक्ति सिद्ध होता है। महाभारतमें शान्तिपर्वके मोक्षधर्म नामके अध्यायमें तुलाधारने धर्मके इसी रहस्यका प्रतिपादन करते हुए कहा है कि -- " सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषां च हिते रतः। कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले।" सर्वव्यापी प्रेम ही परम धर्म है। क्या महाभारत, क्या भागवत, क्या अन्य पुराण सबने भागवत धर्मके अति प्राचीन प्रवर्तकों तथा संस्थापकोंमेंसे राजा रन्तिदेवकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा की है। अकालमें अड़तालीस दिनोंके सम्पूर्ण अनशनके बाद भी जो अन्न प्राप्त हुआ उसे उन्होंने क्षुधितोंमें बाँट दिया। अड़तालीसवें दिन दो बुभुक्षितोंको अन्नका दान देनेके उपरान्त लोटेमें सिर्फ पानी बाक़ी रहा। उसी समय एक तृषार्त चण्डाल पानीकी याचनाके लिए आ पहुँचा और उन्होंने वह भी उसे दे डाला! इस कार्यसे उनका मन शान्त तथा प्रसन्न हुआ और वे कह उठेः—

" न कामयेऽहं गतिमीश्वरात्परां अष्टर्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजां अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः॥"
(भागवत ९।२१।१२)

अर्थात् " मैं परमात्मासे परम गति अथवा मोक्षकी कामना नहीं करता, 'आठहु सिद्धि नवौं निधि' की मुझे अभिलाषा नहीं, पुनर्जन्म नष्ट हो या न

हो—उसकी मुझे परवाह नहीं; मेरी इच्छा केवल इतनी ही है कि तनुधारियोंके अन्तःकरणमें प्रवेश पाकर उनके दुःखोंका मैं अनुभव करूँ और उनके सब दुःख दूर हों।" यही परलोकका अमित आकर्षण है; इसीसे संसारकी आसक्तिका नाश होता है, संसारसे ही लिपटा हुआ सीमित मन बंधनसे उन्मुक्त होकर परम तत्त्वके सन्निध पहुँचनेमें समर्थ होता है; सांसारिकतामें, ऐहिकतामें निरुद्ध गतिको रिहाई मिलती है और बादमें "ठाकला तो कांहीं केला उपकार। केलें हें शरीर कष्टवूनी ॥" आचरणसे सन्तकी पदवी प्राप्त होती है। पुण्डलीकमें यही 'सन्त-स्वभाव' प्रकट हुआ। पुण्डलीकके सम्बन्धमें तुकारामका कथन है—"मायबापें केवळ काशी। तेणें नच जावें तीर्थासी। पुण्डलीकें काय केलें। परब्रह्म उभें ठेलें ॥" स्वयं परमात्मा याने साक्षात् परब्रह्म भी विशुद्ध नैतिक निष्ठामें निरत व्यक्तिकी राह देखता रहता है। भागवत धर्मका यह संदेश नैतिक आदर्शको निर्मल रखनेवाले जड़वादीको भी परमार्थका अधिकारी मानता है।

भागवत धर्म तथा सन्त परमार्थको इस जीवनमें याने इहलोकमें ले आए। ईश्वरका अर्थ है विश्वके लिए मूलभूत अन्तिम सत्य। उसकी निष्काम आराधना ही भगवानकी भक्ति है। सर्वव्यापी प्रेमसे प्रेरित होकर प्राप्त कर्तव्योंके पालनमें ही जीवनको कृतार्थ मानना ही यथार्थमें नीति निष्ठा है। इस नीति-निष्ठाको अपने आपमें श्रेष्ठ होनेका गौरव-पूर्ण पद भागवत धर्मने ही प्रदान किया। इस तरहकी दो उच्चतम तथा दिव्य प्रेरणाओंसे समूची संस्कृतिको आप्लावित किया जाना चाहिए। इन प्रेरणाओंपर अन्यान्य हीन वासनाओंके जो संस्कार हुए थे उन्हें नष्ट करके सन्तोंने विशुद्ध रूपमें इनका आविष्कार किया। ये दो प्रेरणाएँ ही मनुष्यके भाग्योदयमें साधक होती हैं।

पौराणिक संस्कृतिका परामर्श यहाँ समाप्त होता है। अब हम बौद्धों तथा जैनोंके धर्मकी मीमांसा करेंगे; क्योंकि वह भी वैदिक संस्कृतिके इतिहासकी ही स्वाभाविक परिणति है।

५ — बौद्धों तथा जैनोंकी धर्म-विजय

बौद्धों तथा जैनोंका वैदिक धर्मके साथ निकट सम्बन्ध

जैन और बौद्ध धर्म ऐसे दो धर्म हैं जो वैदिक यज्ञ-संस्थाको न माननेवाले हैं। यज्ञ-संस्थाकी उपेक्षा करनेवाली प्रवृत्ति वैदिक कालकी भारतीय संस्कृतिमें विद्यमान थी। अग्निहीन व्यक्तियोंका उल्लेख भी ऋग्वेदमें पाया जाता है। इनको देव-विरोधी तथा यज्ञ-विरोधी भी कहा गया है। इस अवैदिक और यज्ञको न माननेवाली प्रवृत्तिने वैदिक विचार-पद्धतिको भी प्रभावित किया। बाह्य कर्म-काण्डके बदले मानसिक कर्मरूप उपासनाको प्रधानता देनेवाली विचार-धारा यजुर्वेदमें प्रकट हुई है। उसमें कहा गया है कि जिस तरह अश्वमेधके बलपर पाप और ब्रह्महत्यासे मुक्त होना संभव है, उसी तरह अश्वमेधकी चिन्तनात्मक उपासनाके बलपर भी इन्हीं दोषोंसे मुक्त होना संभव है (तैत्तिरीय संहिता ५।३।१२)। इस तरहकी शुद्ध मानसिक उपासनाका विधान करनेवाले अनेकों वैदिक उल्लेख प्राप्त हैं। मानसिक उपासनाको सम्पूर्ण महत्ता प्रदान करनेवाली प्रवृत्ति आरण्यकों तथा उपनिषदोंमें बलवान् हुई। ऐतरेय-आरण्यकमें (३।२।६) ऋषि कावषेय पूछते है, "हम यज्ञ किस लिए करें और वेदाध्ययन भी किस लिए करें?" शतपथ ब्राह्मणका कथन है, "जिस स्थानपर कामनाएँ पूर्ण होती हैं वहाँ विद्याकी सहायतासे आरोहण करना संभव है; वहाँ यज्ञ, दक्षिणा तथा अविद्वान् तपस्वी नहीं पहुँच पाते (१०।५।४।१६)।" कर्मकाण्डकी उपेक्षा करनेवाली धार्मिक विचार-धाराको वेदान्तमें महत्ता प्राप्त हुई। शैव तथा वैष्णव धर्मोंने इसी विचार-धाराको प्रवर्तित तथा परिपुष्ट किया।

मानसिक गुणोंको, नैतिक सदाचारको, चित्तकी शुद्धता तथा तत्त्वके चिन्तनको प्रधानता देनेवाली वैचारिक क्रान्तिका श्रीगणेश उपनिषदोंने ही किया। इसी क्रान्तिके कारण बाह्य क्रिया-कलापोंके अनुशासनको गौण माननेवाले तत्त्वका धर्म-संस्थामें समावेश हुआ। पहले पहल कर्मकाण्डको जादूका रूप प्राप्त था। जादूकी क्रियाओंमें किसी भी तरहका न्यूनाधिक्य स्वीकृत नहीं हो सकता। यज्ञ-संस्थामें कर्ममें जो श्रद्धा थी वह वास्तवमें जादूपर विश्वासके समान ही थी। इस तरहकी कर्मकाण्डकी श्रद्धा प्रायः सभी प्राथमिक धर्म-संस्थाओंमें पाई जाती है। तत्त्व-चिन्तन तथा नीति-को प्रधानता देनेवाले धर्म-विचारने इस श्रद्धाको धक्का दिया, उसके आसनको डाँवा-डोल कर दिया।

शैव तथा वैष्णव धर्मोंने बाह्य धार्मिक क्रियाको एक सीधा-सादा, सरल रूप देनेका प्रयत्न किया। धार्मिक क्रियाको लाक्षणिक महत्त्व प्राप्त हुआ। कर्मकी कमीसे उत्पन्न होनेवाले पापका भय तथा कर्मके दोषोंके कारण आनेवाली अदृष्ट आपत्तियोंकी आशङ्का दोनों ईश्वरके स्मरणसे दूर होने लगे। अन्तःकरणकी शुद्धता तथा सद्भावना ही ईश्वरकी कृपाका साधन बनीं। इस तरह भक्ति-प्रधान धार्मिक आन्दोलनका प्रारम्भ हुआ। धर्मके इतिहासकी परिणतिकी यह एक उच्च कोटिकी अवस्था है।

तत्त्व-चिन्तन या वैराग्यको प्रधानता देनेवाला आन्दोलन भी भक्ति-प्रधान धार्मिक आन्दोलनकी ही तरह महत्त्वपूर्ण होता है। धर्मके इतिहासमें यह एक उच्च कोटिकी अवस्था मानी जाती है। इसी महान् आन्दोलनमें बौद्धिक तत्त्व-संशोधन करनेवाले दर्शनके दिग्गज आचार्योंका आविर्भाव हुआ। इसी आन्दोलनमें भारतीय संस्कृति अन्तरङ्गको प्रधानता देनेवाले विश्व-व्यापी, उदार तथा विशाल तत्त्व-विचारोंके स्फुरणसे संयुक्त तथा अलंकृत हुई। वेदान्त, सांख्य, लोकायत आदि विविध दर्शनोंका निर्माण वास्तवमें विश्वव्यापी संस्कृतिका बौद्धिक रूप है। शैव तथा वैष्णव धर्मोंने पतितपावन परमात्माकी भक्तिके नीचे सबको सम्मिलित करनेका जो महान् यत्न किया वह विश्व-संस्कृतिका धार्मिक रूप है। दो मनीषियोंने—बुद्ध तथा महावीरने—बिना ईश्वरका अवलम्ब लिए संयम तथा अहिंसाको ही प्रधानता देनेवाले धर्मका महत्त्वपूर्ण आदेश दिया और यह विश्व-संस्कृतिका नैतिक रूप है।

क्या बौद्ध, क्या जैन दोनों धर्म वैदिक परम्पराके विरुद्ध विद्रोह करनेवाले, परन्तु हिन्दुओंके ही पाखण्ड हैं। यह तो मानी हुई बात है कि विकासके लिए विरोध भी अनिवार्य होता है। बीज वृक्षको जन्म देता है; परन्तु यह भी सत्य है कि सिवा बीजके भग्न हुए अंकुर दृश्यमान नहीं होता। जैन तथा बौद्ध धर्म वैदिक संस्कृतिके गर्भमें बीजके रूपमें निहित विचार-धनके ही विकसित अतएव भव्य रूप हैं। पूर्ववर्ती विचार ही वास्तवमें परवर्ती विरोधी विचारको जन्म देता है। पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्षकी पद्धतिसे ही विचारोंका विकास संपन्न होता है। ज्ञानकी वृद्धिका वास्तवमें यही तत्त्व है कि विरोधसे ही विकास हो। विरोधी विचार-प्रवाहके बिना ज्ञानकी गति अवरुद्ध होती है। विचारोंके प्रक्षोभके आधारपर ही विचार-पद्धतिकी महत्ता स्थापित होती है। जिज्ञासाको प्रदीप्त करनेवाली, नवीन स्फुरणाओंको उत्साहित करनेवाली और अधिकाधिक

अन्वेषणोंको प्रेरित करनेवाली विचार-पद्धति ही बौद्धिक संस्कृतिका प्रधान लक्षण है। इस तरहकी बौद्धिक संस्कृतिके बीज उपनिषदोंकी विचारधारामें बोये गए। इसीसे सांख्य, लोकायत (चार्वाक), वैशेषिक आदि विभिन्न दर्शनोंका जन्म हुआ। बुद्ध तथा महावीरके आविर्भावके कारण बौद्धों तथा जैनोंके पाखण्डोंका निर्माण हुआ।

सांख्यों, बौद्धों तथा जैनोंकी विचार-पद्धतियाँ पारमार्थिक या धार्मिक हैं; परन्तु परमार्थ-प्रदायिनी शक्ति मानवके बाहर और उससे श्रेष्ठ है। धार्मिक विचारोंकी प्रतिक्रिया करनेवाला विरोधी पक्ष इस विचारसरणिने पुरस्कृत किया। ईश्वरकी प्राप्ति या अनुग्रह जैसे पारमार्थिक ध्येयसे पराङ्मुख होकर मानवमें ही विकसित होनेवाले आत्मनिष्ठ परमार्थको इस विचारसरणीने प्रकाशित किया। बुद्धने तो अपनी और एक विशेषताको अभिव्यक्त किया। बाह्य विश्वके सत्य या विश्वके आदिकारणके अन्वेषणकी पारमार्थिक जिज्ञासाको भी परम अर्थकी दृष्टिसे गौण सिद्ध करनेका उन्होंने प्रयत्न किया और उस विचारको परिपुष्ट किया जो मानवके अन्तिम कल्याणके सर्वस्वकी प्रतिष्ठा मानवमें ही करनेका हिमायती है।

परमार्थको आत्मनिष्ठ करनेका कार्य पहले पहल उपनिषदोंने किया। आत्माके दर्शन, श्रवण, मनन तथा निदिध्यासका आदेश प्रधान रूपसे उपनिषदोंने ही दिया (बृहदारण्यकोपनिषद २।४।५)। उपनिषदोंका यही सिद्धान्त है कि वैराग्य, चित्त-शुद्धि तथा समाधिके प्रभावसे संसारके सब दुःख तथा बन्धन नष्ट होते हैं और विशुद्ध ज्ञानमय मोक्षावस्था आत्मामें प्रकट होती है। सांख्यों, बौद्धों तथा जैनोंने भिन्न रूपमें इसी तत्त्वका आविष्कार करके अपने अपने संप्रदायोंका निर्माण किया है। मानवकी आत्मा स्वयं प्रयत्नोंसे ही मुक्त होती है यही इन सब विचार-सरणियोंका सार है। सांख्य-मतके प्रवर्तकोंने वैदिक धर्मकी परम्पराके साथके सम्बन्ध-सूत्रको पूर्णतया नष्ट नहीं किया, परन्तु जैन तथा बौद्ध धर्मोंका जन्म ही इस परम्पराके विच्छेदमें हुआ। अतएव वैदिक परम्परासे सम्बद्ध अन्य बातोंके सम्पर्कसे दूर रहना उनके लिए संभव हुआ।

जैनों तथा बौद्धोंके मूल-स्रोत तथा उदयके सम्बन्धमें एक और उपपत्ति यह है कि ये अवैदिक संप्रदाय वेदोंकी पूर्ववर्तिनी अवैदिक संस्कृतिसे उत्पन्न हुए। उपर्युक्त उपपत्ति स्वीकारमें तीन बड़ी बाधाएँ उपस्थित होती हैं। पहली बाधा

तो यह है कि बुद्ध तथा महावीर दोनों आर्य क्षत्रिय थे; वेद-पूर्व संस्कृतिको आर्योंकी संस्कृति माननेके लिए कोई प्रमाण नहीं पाया जाता। दूसरी बाधा है भाषाकी; क्योंकि बुद्ध तथा महावीर जिन लोक-समूहोंमें या गणोंमें उत्पन्न हुए उनकी भाषा संस्कृत भाषाके कुलकी भाषाओंमेंसे एक है। तीसरी बाधा यह है कि इन लोकगणोंका चातुर्वर्ण्य, वैदिक देवताओं तथा वैदिक ऋषि मान्य थे। बुद्धका कुलनाम गौतम था। इन्द्र, ब्रह्मदेव आदि देवता बुद्धके अनुकूल थे। बौद्ध तथा जैन साहित्यमें आर्य त्रैवर्णिकोंकी संस्थाके सम्बन्धमें आदरकी भावना अभिव्यक्त की गई है। गौतम बुद्ध तथा सम्राट अशोक ब्राह्मणोंके विषयमें समादरकी भावना प्रदर्शित करते हैं। इस आदरको अभिव्यक्त करनेवाले अनेकों वचन उनके साहित्यमें पाये जाते हैं। बुद्ध शक कुलमें उत्पन्न हुए। ऋग्वेदमें कई बार इन्द्रके लिए भी 'शक' विशेषण प्रयुक्त हुआ है। तात्पर्य, वैदिक आर्योंके साथ जैन तथा बौद्ध धर्मोंका जो प्रत्यक्ष तथा निकटवर्ती सम्बन्ध है उसकी पुष्टिमें जितने प्रमाण मिलते हैं उतने वेदपूर्व अवैदिकोंके साथ इनके सम्बन्धको सिद्ध करनेमें नहीं मिलते। चयनकी संस्थाके आधारपर हमने यह पहले ही सिद्ध किया है कि आर्योंने वेदोंके कालमें ही अवैदिकोंकी मूर्तिपूजाका स्वीकार करना आरम्भ किया था।

जैन तथा बौद्ध दोनों वैदिक परम्पराके ऋणी हैं। इस बातको परदेकी ओटमें रखना असम्भव है। मोक्ष-रूप परमार्थ मानवकी अन्तरात्मामें विकसित होता है; वैराग्य, समाधि, संन्यास तथा प्रज्ञा उसके साधन हैं; जन्म-परम्पराके रूपमें संसारका बन्धन कर्मविपाक है-ये तीनों वे मूल-भूत सिद्धान्त हैं जो वेदान्तसे ही जैनों तथा बौद्धोंकी चले गए हैं। वीतराग या निष्काम होना यही उच्चतम पारमार्थिक अवस्था है और क्या देव, क्या ईश्वर, क्या परब्रह्म तीनोंकी अवस्थाएँ इससे श्रेष्ठ नहीं हैं, यह एक अतीव क्रान्तिकारी विचार है और इसे प्रथम अभिव्यक्त करनेका श्रेय तैत्तिरीय (२।८) तथा बृहदारण्यक (४।३।३३) उपनिषदोंको प्राप्त है। इस प्रकरणका अभिधान वहाँ 'आनन्दमीमांसा' है। उसमें उच्च कोटिके आनन्दकी एकसे एक बढ़कर शत गुणोंसे वर्धमान परम्पराएँ दिखाई गई हैं। उपर्युक्त परम्पराकी पहली सीढ़ी 'मानुष आनन्द'की है। यौवन, विद्वत्ता, बल, आशावाद, अगणित धन तथा राज्य इस पहली अवस्थाके अङ्ग हैं। इस अवस्थाकी अपेक्षा मानवीगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितर, देव, कर्मदेव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति तथा ब्रह्म ये आनन्दकी अवस्थाएँ

क्रमसे शतगुणित श्रेष्ठ होती गई हैं। इतना कहकर उस स्थानपर बड़े निश्चयके साथ घोषित किया गया है कि उपर्युक्त सब आनन्द और इसके विपरीत निष्काम तथा निष्पाप श्रोत्रिय या ज्ञानवान् व्यक्तिका आनन्द दोनों समान हैं। वहाँ निष्कामके अर्थमें 'अकामहत' शब्दका उपयोग किया गया है। 'अकामहत'का अर्थ है 'वह जो कामनासे हत नहीं हुआ।' निष्काम, निष्पाप तथा ज्ञानवान् व्यक्तिकी आत्मस्थिति इन्द्रादि देवोंसे भी बढ़कर है। बुद्धावस्था अथवा अर्हतकी स्थिति भी देवोंकी अपेक्षा उत्तम याने उच्च कोटिकी मानी गई है। इसे देखकर अगर यह कहें कि बौद्ध तथा जैन धर्म-ग्रंथोंके उपर्युक्त विचारका आविर्भाव उपनिषदोंकी 'आनन्दमीमांसा'से ही हुआ है, तो वह इतिहासिक दृष्टिकोणसे समीचीन ही सिद्ध होगा।

जैनों तथा बौद्धोंका प्रमुख सिद्धान्त यह है कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य अथवा संन्यास ही मोक्षका मुख्य साधन है। इस सिद्धान्तका प्रथम प्रतिपादन छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदोंमें पाया जाता है। छान्दोग्योपनिषदका कथन है, "जरा, मृत्यु, शोक, पाप तथा पुण्यके स्पर्शसे भी विरहित आत्मा ही ब्रह्मलोक है; नित्य प्रकाशमय तथा उदय और अस्तसे विरहित ब्रह्मलोक ब्रह्मचर्यसे प्राप्त होता है (८।४)। बृहदारण्यकोपनिषदमें 'कामयमान' याने कामनाके बन्धनमें फँसे हुए मानवकी आत्माको प्राप्त होनेवाली संस्कारगतिका प्रतिपादन करके 'अकामयमान' याने कामनाके बन्धनसे उन्मुक्त मानवकी मोक्ष-प्राप्तिका वर्णन किया है। "हृदयका आश्रय लेकर रहनेवाले सब काम या सब अभिलाषाएँ जब नष्ट होती हैं तब मर्त्य मानव अमर बनता है। निष्काम आत्मस्थितिका अनुभव करनेके उपरान्त मानव 'मुनि' हो जाता है। इस स्थितिकी आकांक्षासे ही आदमी परिव्राजक बनता है। इस अवस्थाके ज्ञानसे ही ज्ञानवान् व्यक्ति प्रजाकी कामना नहीं करते; पुत्रैषणा, वित्तैषणा तथा लोकैषणाकी सीमाओंको पार करके भिक्षावृत्तिका अङ्गीकार करते हैं और शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधिकी सहायतासे आत्माके दर्शन प्राप्त कर लेते हैं," (बृहदारण्यक ४।४।२२,२३)। गौतम बुद्धने भी अविद्या तथा तृष्णाको दुःखके कारण बतलाकर अविद्यानाश तथा तृष्णानाशका ही निर्वाणके साधनके रूपमें विधान किया है। इस तरह उपनिषदोंमें बुद्धके विचारोंका मूलस्रोत दिखाई देता है। एषणाका अर्थ है तृष्णा।

जैनोंकी धर्म-साधनामें तपको प्रमुख स्थान प्राप्त है। उनकी धारणा है कि अनशन जैसे कायक्लेशोंसे पापोंका क्षय होता है। तपका तत्त्व भी यज्ञ-धर्ममें

प्रथम दिखाई देता है। सोमयागमें दीक्षित यजमान कायक्लेशात्मक तपका आचरण करते हैं। यज्ञ अथवा सत्रकी समाप्तितक उन्हें स्नान करनेकी अनुज्ञा नहीं मिलती। ग्यारह दिनोंसे लेकर सहस्रों वर्षोंतककी विभिन्न अवधियोंतक चलनेवाले सत्र वेदोंमें विहित हैं। द्वादशवार्षिक सत्रमें सत्रका अनुष्ठान करनेवालोंको बारह वर्षोंतक स्नानका त्याग करना पड़ता है। बिना स्नान किए कई वर्षोंतक रहनेकी जैन मुनियोंकी परम्परा भी वेदोंसे ही उत्पन्न दिखाई देती है। जबतक यज्ञ जारी रहता है, तब तक दीक्षित यजमानके लिए अपने नियमोंका बड़ी सतर्कतासे पालन करना अनिवार्य होता है[1]। सोमयागकी समाप्तिके बाद भी कुछ व्रतोंका पालन जीवनभर करना आवश्यक होता है। तीसरी बार अग्निचयन करनेके उपरान्त स्त्रीके साथ समागम जीवनभर वर्ज्य कहा गया है[2]। बृहदारण्यकोपनिषद्में अनाशक या अशनविहीन तपका ब्रह्मज्ञानके रूपमें उपयोग करनेवाले ब्राह्मणोंका वर्णन किया गया है (४।४।२२)। ऋग्वेदका (१०।१९०।१) कथन है, "विश्वकी उत्पत्ति 'अभीद्ध' याने पूर्ण रूपसे धधके हुए व्रतसे हुई"। ब्राह्मणग्रंथोंमें सृष्टिकी उत्पत्तिका कथन करते हुए बार बार कहा गया है कि प्रजापतिने तप करके सृष्टिको उत्पन्न किया। तैत्तिरीयोपनिषदका (३।१) वचन है 'तपो ब्रह्मेति' याने तप ही ब्रह्म है। उसी उपनिषदकी शिक्षावल्लीमें मानवके नित्य कर्तव्योंका कथन करते हुए ऋत, सत्य, दम, शम, अग्निहोत्र, प्रजाका उत्पादन, स्वाध्यायका प्रवचन आदि कर्तव्योंका विधान किया; इस सम्बन्धमें अनेक ऋषियोंके मतोंका उल्लेख करते हुए पौरुशिष्टि ऋषिके मतका कथन किया गया है। उस ऋषिके मतके अनुसार तप ही मुख्य साधन है। दिखाई देता है कि जैन धर्ममें भी इसी मतको प्रधानतासे मान्यता मिली है।

बौद्ध तथा जैन धर्मोंका वैदिक धर्मसे जो इतिहासिक सम्बन्ध है वह बड़ा ही निकटवर्ती है इस बातको सिद्ध करनेमें सहायक प्रमाण अनेक हैं और उन्हें इससे भी अधिक अनुपातमें उपस्थित करना संभव है। वास्तवमें यह कहना चाहिए कि वैदिक संस्कृतिकी परम्परासे अलग दिखाई देनेवाली ये दो धाराएँ व्यापक अर्थमें एक ही सामाजिक हिन्दू संस्कृतिकी वैचित्र्यपूर्ण परिणति है। केवल अन्तर्गत विरो-

१ तस्यैतद्व्रतम्, नानृतं वदेत्, न मांसमश्नीयात्, न स्त्रियमुपेयात्, नास्य पल्पूलनेन वासः पल्पूलयेयुः, एतद्धि देवा न कुर्वन्ति (तैत्तिरीय संहिता २।५।५।६)।

२ नाग्निं चित्वा रामामुपेयात्, न द्वितीयं चित्वाऽन्यस्य स्त्रियमुपेयात्, न तृतीयं चित्वा कांचनोपेयात् (तैत्तिरीय संहिता ५।६।८,६)।

धके बलपर मूल रूपमें विद्यमान व्यापक एकता असिद्ध नहीं हो सकती । प्रतिद्वंद्वी विचारोंका प्रकर्ष ही संस्कृतिकी अभिवृद्धिका लक्षण है। क्या जैन, क्या बौद्ध दोनों हिन्दू संस्कृतिके ही आविष्कार हैं। संस्कृतिकी मीमांसाकी दृष्टिसे यही निर्णय यथार्थ सिद्ध होता है। इतिहासके आधारपर यह निश्चय ही प्रमाणित होता है कि इन दो धर्मोंने धार्मिक दर्शन, धार्मिक आचार, भाषा, वाङ्मय, कला, राज्यशासन आदि भारतीय संस्कृतिकी विभिन्न शाखाओंमें नवीन विशेषताओंका समावेश किया और सांस्कृतिक विकासको प्रचण्ड प्रेरणा प्रदान की। उनके उपर्युक्त ऋणको सिर आँखोंपर करते हुए भी वैदिक संस्कृतिके साथ उनके इतिहासके सम्बन्धको पूर्णतया मान्यता देना अनिवार्य होता है। अब यथा-क्रम पहले बौद्ध धर्मकी सांस्कृतिक मीमांसा करनेके बाद जैन धर्मकी मीमांसा प्रस्तुत करेंगे। बौद्ध तथा जैन धर्मोंके जो लक्षण समान हैं उन्हें बौद्ध धर्मकी मीमांसामें ही गतार्थ मानना उचित होगा।

बुद्धकी वैचारिक क्रान्तिका रहस्य

बुद्धके जन्मके समय भारतीय संस्कृतिमें विविध विचारोंके आन्दोलन निर्माण हुए थे। जब वैदिक ब्राह्मणों तथा क्षत्रियोंके बीच विचारोंका महान् आन्दोलन निर्माण हुआ तब वेदान्तके विचारोंके साथ ही साथ विविध प्रकारके पाखण्डों तथा ईश्वरमें श्रद्धा न रखनेवाले मतोंका उदय हुआ। त्रिपिटकके बुद्धचरितमें इस वैचारिक आन्दोलनका प्रतिबिम्ब स्पष्टतया दिखाई देता है। जीवनके दर्शन तथा विश्वके रहस्यके विषयमें परस्पर विरोधी तथा मूलगामी विचारोंकी प्रबल तथा प्रभावी धाराएँ उस समय बड़ी हलचलके साथ प्रवहमान थीं। यज्ञ, तप, योग आदि विहित जीवन-पद्धतियोंका अनुकरण करनेवाले विचारक या चिन्तक देशभर पर्यटन करके प्रश्नोत्तरोंकी सहायतासे विचार-विनिमय तथा विवाद करते हुए घूमते थे। क्या आस्तिक, क्या नास्तिक दोनों तरहके चिन्तन-शील व्यक्ति उस समय अपने विचारोंके प्रसारके लिए, वैचारिक संग्राममें विजय पानेके लिए समूचे देशका पर्यटन करते रहते थे। दिखाई देता है कि बुद्धसे लेकर शंकराचार्य तक वैचारिक दिग्विजयके लिए देशव्यापी पर्यटन करनेकी प्रथा भारतवर्षमें प्रशस्त मानी जाती थी। बुद्ध तथा महावीरके चरित्रसे यह निस्सन्देह प्रमाणित होता है कि उनके समयमें आत्मा, ईश्वर तथा परलोककी सत्यताके विषयमें सारे देशमें महान् ऊहापोह चल रहा था। धर्मो-पदेशमें पर्यटन करनेकी यह प्रवृत्ति बुद्धके धर्ममें चरम सीमाको पहुँची। शान्तिमय

विचारोंका दिग्विजय करनेके लिए बुद्धके अनुयायी समुद्रों तथा पर्वतोंको लाँघकर हज़ारों मील यात्रा करते थे। ब्रह्मजालसुत्तमें कहा गया है कि बुद्धको अपने विचारोंके विरोधमें बासठ तत्त्व–संप्रदाय मिले। ब्राह्मणों तथा श्रमणोंके रूपमें उनका वहाँ निर्देश किया गया है। इस कालमें मृत्युके बाद आत्माके अस्तित्वकी तथा कर्तव्य और अकर्तव्यके परिणामोंकी चर्चाको महत्त्व प्राप्त हुई। पूरण कस्सप, मक्खलि गोशाल, अजित केशकम्बली, पकुध कच्चायन, संजय बेलट्ठिपुत्त और निगंठ नातपुत्त ये वेदोंको न माननेवाले आचार्य बुद्धके प्रतिपक्षी थे। नातपुत्त ही जैनधर्मके संस्थापक महावीर हैं। पूरण कस्सप नीतिके मीमांसक थे। उनके मतमें कर्मके परिणामोंको अदृष्ट तथा पापपुण्यात्मक माननेके लिए कोई प्रमाण नहीं है। मक्खलि गोशाल इस मतका था कि कर्मोंके बिना संसार या जन्मपरम्परा प्राप्त होती है। पुनर्जन्मको उनकी मान्यता थी; परन्तु वे कर्मविपाकके सिद्धान्तको नहीं मानते थे। अजित केशकम्बली भौतिकवादी थे; उन्हें न कर्मविपाकका सिद्धान्त मान्य था, न पुनर्जन्मका। उनकी विचार-पद्धतिको 'उच्छेदवाद' यह अभिधान दिया गया है। अकृतवादी पकुध काच्चायनके मतानुसार न कुछ नया निर्माण होता है, और न कुछ नष्ट। भू, जल, तेज, वायु, जीव, सुख तथा दुःख ये सात पदार्थ शाश्वत हैं; उनका मिश्रण ही वास्तवमें विश्व है। अतएव हिंस्य और हिंसकका भेद भ्रान्तिमूलक है; क्योंकि तत्त्वकी दृष्टिसे न कुछ उत्पन्न होता है और न कुछ नष्ट। पकुध काच्चायनने उपर्युक्त विचारका प्रतिपादन किया। संजय बेलट्ठिपुत्र अनिर्णयवादी थे। उनके मतमें परलोक, जीवका कारण, पाप-पुण्य, पुनर्जन्म आदि प्रश्नोंके उत्तर अस्ति तथा नास्ति दोनों पक्षोंमें संभव हैं; दोनोंका पूर्ण निराकरण नहीं होता। अतएव निर्णय नहीं किया जा सकता। इस तरह नीति तथा परमार्थके विषयमें विचारोंके ऊहापोहसे बुद्धकालीन भारतीय वायुमण्डल आध्यात्मिक असन्तोष तथा तत्त्व-जिज्ञासासे उत्तेजित या तप्त हो रहा था।

बुद्धके उदयके समय विचारोंका जो संघर्ष हुआ उसे तीन विभागोंमें विभाजित किया जा सकता है। ये तीन विभाग हैं:- विश्वचिन्तन, आत्मचिन्तन तथा साध्य-साधनोंका चिन्तन। विश्वचिन्तन तथा आत्मचिन्तनके विषयमें बुद्ध इस निर्णयपर पहुँचे थे कि क्या विश्व, क्या आत्मा दोनोंके सम्बन्धमें अन्तिम निर्णयपर पहुँचना असंभव है। अतएव उनके सम्बन्धमें अन्तिम प्रश्न पूछते ही उन्होंने मौनका स्वीकार किया। परन्तु विश्व तथा आत्माके विषयमें विचार करनेका उन्होंने परिहार भी नहीं किया, क्योंकि उन्हें अपना समूचा ध्यान साध्य-

साधनोंके विचारपर केन्द्रित करना था। जीवनके तत्त्वज्ञान या दर्शनपर ही उन्होंने अधिक जोर दिया। विश्व तथा आत्माके सम्बन्धके विचार जीवनके दर्शनसे सम्बद्ध होते हैं; क्योंकि जीवनकी रचनाको भली-भाँति समझनेके लिए विश्व क्या है, आत्मा क्या है आदि समस्याओंका हल करना अनिवार्य हो उठता है। परन्तु उनके सम्बन्धमें अन्तिम निर्णयपर पहुँचना असंभव है, यह समझकर बुद्धने मानवकी अत्यन्त निकटवर्ती समस्याको उचित रूपसे प्रधानता दी और बुद्धि तथा अनुभवके आधारपर जिन सत्योंका अत्यन्त स्पष्ट तथा निर्विवाद प्रतिपादन करना संभव है उन्हींकी जड़को कुशलतासे स्पर्श किया। वे सत्य प्रत्यक्ष जीवनको सीधे स्पर्श करते हैं। अतएव साध्य-साधन तथा कर्म-अकर्मके विचारको बुद्धने प्रधानता दी। अन्तिम सत्य क्या है इसकी अपेक्षा मानवका अन्तिम ध्येय क्या है इस प्रश्नको उन्होंने सुलझाया। उन्होंने यह तय किया कि वस्तु-मीमांसाकी अपेक्षा मूल्य-मीमांसा ही अधिक महत्त्वपूर्ण है। प्रत्यक्ष आचरणके प्रश्नको ही प्रधान समझकर उन्होंने उसे सर्वोपरि स्थान दिया। धर्मचक्रका प्रवर्तन ही उनके अवतारका कार्य निश्चित हुआ।

विश्वकी समस्याओंको बिना सुलझाये मानवके जीवनकी समस्याओंको सुलझानेमें समर्थ बनना आवश्यक है; क्योंकि जीवित एक अल्पकालिक है। विश्वकी समस्याके हल हो जानेतक रुकनेके लिए अवसर ही नहीं है। अतएव बुद्धने जीवनके प्रश्नोंका ही हल करना तय किया। मालुंक्यापुत्त तथा बुद्धके वार्तालापमें (मज्झिम निकाय सुत्त ६३) इस विषयकी चर्चा बड़े सुन्दर ढंगसे की गई है। गौतम बुद्ध श्रावस्तिके श्रेष्ठी अनाथपिण्डकके बागमें याने जेतवनमें निवास कर रहे थे। मालुंक्यापुत्त जब अकेले ही बुद्धके पास बैठे थे तब उनके मनमें विचारका चक्र घूमने लगाः- "बुद्धने महत्त्वपूर्ण दार्शनिक तत्त्वोंको तो अनिर्णीत रखकर एक ओर कर दिया है; उनसे मुँह मोड़ लिया है। विश्व शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त, जीवात्मा शरीररूप ही है या शरीरसे भिन्न, तथागत याने मोक्षके पन्थका पथिक मृत्युके बाद जीवित रहता है या नहीं, आदि प्रश्नोंका बुद्धने स्पष्टतया उत्तर नहीं दिया है। यह मुझे न उचित मालूम होता है, न युक्तियुक्त। अगर मुझे इन प्रश्नोंके सम्बन्धमें सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला; तो मैं बुद्धको छोड़कर चला जाऊँगा।" विश्व अथवा आत्माके सम्बन्धमें शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद दोनों बुद्धकालीन श्रमणों तथा ब्राह्मणोंमें प्रसिद्ध थे। संयुक्त निकायमें बुद्धद्वारा अनिर्णीत सिद्धान्तोंके रूपमें इन मन्तव्योंका निर्देश किया

गया है। अनिर्णीतके लिए 'अव्याकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिसका अर्थ होता है वह (शब्द) जिसका व्याकरण याने विशदीकरण नहीं किया गया है। वच्छगोत्त नामके परिव्राजकने बुद्धसे प्रश्न किया, "आत्मा है या नहीं?" बुद्धने इसका उत्तर मौनसे ही दिया। वच्छगोत्तके चले जानेके बाद आनन्द नामके शिष्यने उसी प्रश्नको फिर उठाया; परन्तु बुद्धने उस सम्बन्धमें कुछ भी निर्णय नहीं दिया। मालुंक्यापुत्त इस सम्बन्धमें बुद्धके बहुत ही पीछे पड़े। उन्होंने भी अपने मनका उपर्युक्त प्रश्न बुद्धके सामने प्रस्तुत किया और कहा, "भगवन्, अगर तुम इस प्रश्नका ठीक उत्तर न दोगे तो मैं तुम्हारे शिक्षा-मार्गका त्याग करके साधारण मानवके मार्गका स्वीकार करूँगा। विश्व शाश्वत है या अशाश्वत, सान्त है या अनन्त, आत्मा देहरूप है या देहसे भिन्न, तथागत मरणके बाद विद्यमान रहते हैं या अविद्यमान। यदि भगवान् तथागत इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं जानते तो वे स्पष्ट कह दें कि 'मुझे इस सम्बन्धमें स्पष्ट ज्ञान नहीं है अथवा इस सम्बन्धमें मेरा कोई दृष्टिकोण नहीं है।' बुद्धने मालुंक्यापुत्तसे उलटे प्रश्न किया, 'क्या मैंने तुमसे कभी यह कहा था कि, आओ मालुंक्यापुत्त, पवित्र मार्गसे मेरे साथ चलो। मैं तुम्हारे लिए इन प्रश्नोंका निर्णय कर दूँगा।' मालुंक्यापुत्तने उत्तर दिया, 'नहीं, भगवान्‌ने ऐसा आश्वासन कभी नहीं दिया।' इसपर बुद्धने कहा, 'तब तुम किसको आँखें दिखा रहे हो? सच तो यह है कि जो मानव इन प्रश्नोंके उत्तर पानेकी राह देखता रहेगा, वह उन्हें पानेके पहले ही मृत्युका ग्रास बन जाएगा। मालुंक्यापुत्त, समझ लो कि कोई आदमी विषैले बाणसे आहत हुआ है और उसके सुहृत तथा सम्बन्धी उसकी मददके लिए शस्त्रक्रियामें कुशल किसी वैद्यको ले आये हैं। अब अगर वह आहत मनुष्य उस शस्त्र-क्रिया-विशारदसे यह स्पष्ट कहता है, कि, मैं अपने शरीरसे इस बाणको तबतक कदापि नहीं निकालने दूँगा, जबतक मुझे यह ज्ञात नहीं होता कि वह आदमी कौन था जिसने मुझे बाण मारा? क्या वह क्षत्रिय था या ब्राह्मण या वैश्य या शूद्र? उसका नाम, गोत्र, ऊँचाई, वर्ण, गाँव सब कुछ मुझे पहले मालूम होना चाहिए। जिस धनुष्यसे उसने बाण मारा वह धनुष्य, वह डोरी, वह तूणीर सब मुझे पहले देखना चाहिए। अब यह तो निश्चित है कि इस समूचे वृत्तान्तको समझनेके पहले ही वह आहत मनुष्य स्वर्ग सिधार जायगा। कहनेका मतलब यह कि पवित्र जीवनका (ब्रह्मचर्यका), जगत्‌के शाश्वत या अशाश्वत, सान्त या अनन्त होनेसे, जीवात्माके देहरूप या देह-भिन्न होनेसे या इनके सम्बन्धमें निश्चित, सत्य दृष्टिकोण

रखनेसे कोई तादृश सम्बन्ध नहीं है। जन्म, जरा, मरण, दुःख, शोक, तिरस्कार, निराशा, विनाश आदि बातें ही संसारका निश्चित स्वरूप है; उपर्युक्त प्रश्नोंके निर्णयमें कुछ भी नहीं रखा है। ब्रह्मचर्य, वैराग्य, निवृत्ति, उपशम, अभिज्ञान, संबोध, प्रसाद तथा निर्वाणसे इन प्रश्नोंका कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐ मालुंक्यापुत्त, मैंने दुःखके कारण तथा दुःखके निरासका ज्ञान दिया; इसीका ब्रह्मचर्यसे, पवित्र जीवनसे सम्बन्ध है।

गौतमबुद्धने वच्छगोत्तसे कहा, 'मैं विश्व तथा आत्माके सम्बन्धमें चलनेवाली तत्त्व-चर्चाकी उपेक्षा ही करता हूँ, क्योंकि वह विचार जटिल समस्याओंका निर्माण करनेवाला एक जंगल है। वह विचारोंका कान्तार या अरण्य है, बहुत बड़े भ्रममें डालनेवाला चिन्नोंका चमत्कार है, बुद्धिका बन्धन है। इन्हीं प्रश्नोंके विचारसे दुःख, संभ्रम, निराशा तथा सन्तापका जन्म होता है; वह अनासक्ति, तृष्णानाश, समाधान, ज्ञान, प्रकाश, निर्वाण आदिकी ओर ले जानेवाला नहीं है। इस धोखेको देखकर मैंने उस दृष्टिको छोड़ दिया (मज्झिम निकाय, वच्छगोत्तसुत्त ७२)।

कोशाम्बीके शिंशपा वनमें भिक्षुओंके सामने अपने मन्तव्यको विशद करते हुए भगवान् बुद्धने अञ्जलिमें शिंशपा वृक्षके पत्तोंको लेकर कहा, "मेरे हाथमें कितने पत्ते है? और इस वनमें कितने पत्ते विद्यमान हैं? स्पष्ट है कि वनमें बहुत हैं, अमित हैं। उसी तरह, भिक्षुओ, मैंने जिसे नहीं कहा वह ज्ञान अत्यधिक है और जो कहा वह बिलकुल थोड़ा है। मैंने वह नहीं कहा जिसका कोई उपयोग नहीं है, जिसका ब्रह्मचर्यसे सम्बन्ध नहीं है, जो अनासक्ति, तृष्णानाश, समाधान, ज्ञान, प्रकाश तथा निर्वाणकी ओर नहीं ले जाता (संयुत्त-निकाय-महावग्गसुत्त ३१)।

दर्शनके इतिहासमें विचार-पद्धतिको एक अत्यन्त निश्चित, प्रत्यक्षसिद्ध, नित्य अनुभवके क्षेत्रमें आनेवाले और निर्विवाद तथ्यपर आधारित करनेके प्रथम प्रयत्नका गौरवपूर्ण अधिकार बुद्धको ही प्राप्त है। निर्विवाद तथा शुद्ध कल्पनासे ही तत्त्वज्ञान या दर्शनका प्रारम्भ करना चाहिए, इस विचारको पाश्चात्य दर्शनके इतिहासमें बड़े ही प्रभावशाली ढंगसे उपस्थित करनेका प्रथम श्रेय दार्शनिक डेकार्टको प्राप्त है। डेकार्ट वास्तवमें पाश्चात्य दर्शनके नवीन युगके प्रणेता हैं। दर्शनके सामान्य प्रतिपादनके लिए केवल विशुद्ध

ज्ञानके मूल तत्त्व या प्रथम तत्त्वके प्रतिपादनके लिए डेकार्टने इस विचारको उपस्थित किया । शुद्ध तत्त्व-जिज्ञासाको तृप्त करना यही उसका अभिप्राय था । पर बुद्धका अभिप्राय था परमार्थको प्राप्त करना । मानवके जीवनकी सफल बनानेकी उन्हें प्रमुख चिन्ता थी; केवल विशुद्ध तत्त्वबोध ही उनका अभिप्राय नहीं था । परन्तु उन्हें यह निश्चय ही मान्य था कि जीवनको कृतार्थ बनानेके लिए शुद्ध तत्त्वज्ञानकी, उच्च कोटिके बुद्धिवादकी नितान्त आवश्यकता है । इसका कारण यह है कि ज्ञानके मार्गपर चलनेवाले उपनिषदोंकी ज्ञाननिष्ठा उन्हें विरासतमें मिली थी; सौभाग्यसे उस ज्ञाननिष्ठाकी पार्श्वभूमि उन्हें प्राप्त हुई थी ।

बुद्धकी विवेचक तथा पैनी दृष्टि निम्ननुसार अभिव्यक्त हुई है । जेतवनमें श्रावस्तीके भिक्षुओंके सामने तृष्णाके संक्षयके तत्त्वका प्रतिपादन करके बुद्धने कहा, ' ऐ भिक्षुओ, इसे समझने तथा देखनेके उपरान्त भी क्या आप यह कहेंगे कि हम अपने गुरुके बड़प्पनके कारण इस तत्त्वका इस तरह प्रतिपादन कर रहे हैं ? क्या यह सत्य नहीं है कि आप जो कुछ कह रहे हैं उसे आपने ठीक समझा है, उसका आपने अनुभव कर लिया है, उसके सम्बन्धमें आप स्वयं निश्चित निर्णयपर पहुँचे हैं ?' भिक्षुओंने उत्तर दिया, ' हाँ, यह ऐसा ही है ' (मज्झिम निकाय, सुत्त ३८, महातण्हासंखयसुत्त) ।

नास्तिकों तथा वैदिकोंपर वैचारिक विजय

विश्व तथा आत्माके विषयमें दार्शनिक विचारोंको अन्तिम अर्थमें पूर्णतया निश्चित नहीं किया जा सकता । अतएव बुद्धने यह निर्णय दिया कि परमार्थ या जीवनके आदर्श या नीतिकी मीमांसाको उनपर निर्भर रखना योग्य नहीं है; प्रत्यक्ष प्रतीतिके आधारपर ही परमार्थकी स्थापना करना उचित है । बुद्धने अपने इस निर्णयके बल नास्तिकोंपर विजय पाई । परलोक, ईश्वर तथा अमर आत्माके तत्त्वोंपर नास्तिक भौतिकवादियोंका बौद्धिक आक्रमण हो रहा था । उन तत्त्वोंका खण्डन करके वे संयम, त्याग, तप, दान, पूजा आदि धार्मिक तथा नैतिक साधनोंकी उपेक्षा करनेका उपदेश दे रहे थे । इससे ऐहिक इन्द्रियोंके उपभोगोंको ही महत्ता प्राप्त होनेकी सम्भावना थी । बुद्धने विशुद्ध चरित्र तथा संयमात्मक जीवनकी आवश्यकताको अङ्कित करनेके लिए मानव-जीवनमें प्रत्यक्ष, प्रतिदिन अनुभवका विषय बनी हुई आपत्तियोंकी परम्पराको तथा नित्य प्रतीत होनेवाले दुःखके विषम महासंग्राम-को ही ज्वलन्त प्रमाण माना और उसीको नीति-मार्गके समर्थनकी आधारशिला बनाया । जीवनकी दुःखमयताके महान् सत्यको उच्च स्वरसे घोषित करके बुद्धने

उसे नास्तिकों तथा अन्य मानवोंके सम्मुख रखा। यह नित्य अनुभवका विषय है कि इन्द्रियोंके सुखोंके पीछे पड़नेवाले मानव अनन्त दुःखोंके भागी बनते हैं। एक सिंहकी-सी गर्जना करके बुद्धने संसारके सामने इस सत्यका, सचाईसारका निवेदन किया। इसका फल यह हुआ कि नास्तिकोंका हेतु सिद्ध न हो सका। गौतम बुद्ध इस बातके स्वयं साक्षी बने कि पर-लोकके लिए संयम तथा त्यागकी आवश्यकता नहीं है; इसी संसारके जीवनको सफल बनानेके सुन्दर साधन होनेके कारण उनकी नितान्त आवश्यकता है; उन्हींके बल इसी संसारमें परमार्थकी अनुभूति यथार्थ रूपमें सम्भव है।

नास्तिकोंकी ही तरह परम्परासे प्राप्त वैदिक धर्मका पालन करनेवाले आस्ति-कोंको भी बुद्धने परास्त किया। इन आस्तिकोंको त्रैविद्य कहा जाता था। दीघनि-कायका तेविज्ज-सुत्त (सुत्त १३) इस विवादका सुन्दर इतिहासिक प्रमाण है।

प्रज्ञा तथा परमार्थके आदर्शोंको सिद्ध करनेवाला विशुद्ध ज्ञान ही गौतम बुद्धकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण था। गूढवाद, त्रिकालज्ञान, चमत्कारोंके निर्माणकी शक्ति, देवताओंका साक्षात्कार आदिकी सहायतासे धार्मिक श्रेष्ठताको प्राप्त करनेकी कल्पना उन्हें स्वीकार न थी। धर्मके इतिहासमें उप-र्युक्त बातें अलौकिक व्यक्तित्वकी पोषक वस्तुओंके रूपमें निश्चित स्थान प्राप्त कर लेती हैं। बुद्धने रहस्यज्ञान, गूढदृष्टि, अद्भुत चमत्कार आदि माने हुए साधनोंके सिवा भी धार्मिक महिमाको प्राप्त किया है। बोधिवृक्षके नीचे उन्हें जो साक्षात्कार हुआ उसमें उन्होंने चार आर्य सत्योंके दर्शन किये। उन्होंने जो महान् उपदेश दिया उसमें आत्मा, ब्रह्म, ईश्वर, परलोक आदिके विषयमें ऊहापोहका उन्होंने बुद्धिपूर्वक परिहार किया। पोट्ठपादके साथ चर्चा करते हुए उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि प्रज्ञा तथा निर्वाणकी साधनामें आत्माकी चर्चा उपयोगी सिद्ध नहीं होती (दीघनिकाय-सुत्त ९)। अहंकारके निरास, चित्तकी शुद्धता तथा विश्व-व्यापी मित्रताकी सहायतासे इसी जन्ममें निर्वाणको प्राप्त कर लेनेका महान् आदेश गौतमबुद्धने ही दिया। इसी आदेशके अनुसार विनय-पिटकके महावग्ग तथा चुल्लवग्गमें आचरणके नियम बतलाये गये हैं। निश्चितता, वस्तुवाद, न्यायबुद्धि, व्यवहारिता, गाम्भीर्य तथा प्रसन्नताके गुणोंसे विकसित स्वभाव-धर्मका निर्माण करना यही बुद्धके धर्मोपदेशका प्रधान उद्देश्य दिखाई देता है। पारलौकिक तत्त्वोंमें दुरभिमानसे युक्त श्रद्धाको बढ़नेका अवसर न देनेमें बुद्धधर्मके जैसा प्रबल अभिनिवेश संसारके किसी भी अन्य धर्ममें

सर्वथा दुर्लभ है। संसारके अन्य धर्मोंकी तुलनामें बुद्धधर्मकी अनुपम मौलिकता, वास्तवमें सर्वोपरि विशेषता, उसके बाह्य कर्मकाण्डके अभावमें है। नैतिक तथा आत्मिक शुद्धताको जन्म देनेवाले आचरणको ही इस धर्मसंस्थाने प्रमुख धर्म माना। योग-सामर्थ्य तथा योगके मार्गको भी बुद्धने गौणस्थान दिया। तात्पर्य इतिहास इस बातका निस्सन्देह साक्षी है कि गौतम बुद्ध संसारके सर्वश्रेष्ठ आदिम धर्म-संस्थापक हैं जिन्होंने संसारमें प्रथम ही पारलौकिक विचार-धारा, यौगिक चमत्कार, मन्त्र-सिद्धि, ईश्वरका साक्षात्कार, बाह्य कर्मकाण्ड आदि बातोंको गौण स्थान दिया। इसका कारण यह है कि उन्होंने मानवके अनुभवके सर्वथा निश्चित सत्योंको गूढवादी तथा पारलौकिक विचारोंकी अव्यवस्था तथा उलझनोंसे मुक्त किया और सत्यके अधिष्ठानपर उच्च कोटिके नैतिक मूल्योंकी स्थापना की।

त्रैविद्य (याने वेदोंमें पारंगत) ब्राह्मण ब्रह्मलोकको प्राप्त कर लेते हैं। तेविज्ज सुत्तमें बुद्धने इस कल्पनापर आक्षेप उठाया है। इन्द्र, सोम, वरुण, ईशान, प्रजापति तथा ब्रह्मा जैसे देवताओंकी प्रार्थना करके उनका साक्षात्कार कर लेनेकी कल्पनापर वहाँ आपत्ति उठाई गई है। बुद्धने वासेठ्ठसे प्रश्न किया, "ब्राह्मणों तथा ऋषियोंको ब्रह्मा सचमुच कहाँ, कैसे और किस तरह दिखाई देते हैं? त्रैविद्य ब्राह्मणोंमें वास्तवमें एक भी ऐसा बड़भागी नहीं हुआ जिसने सचमुच ब्रह्माको देखा हो। चाहे जितनी पीढ़ियों पीछे जाकर देखें, एक भी ऐसा विश्वासपात्र व्यक्ति इन ब्राह्मणोंमें नहीं दिखाई देता जिसने ब्रह्माको अपनी आँखों देखा हो। सूक्तोंके रचयिता तथा गायक उस ब्रह्मसे सायुज्य प्राप्त करनेका मार्ग दिखानेके इच्छुक हैं जिसे किसीने कभी देखा नहीं है। इनका कहना सचमुच पागलपनका है।"

उरुवेलामें बुद्धको धर्मका साक्षात्कार हुआ। वहाँके कश्यप नामक ब्राह्मणने अग्निहोत्रका त्याग करके बुद्धके मार्गका अनुसरण किया। लोगोंको, खासकर मगधके राजा बिम्बिसारको बड़ा विस्मय हुआ। कश्यप जैसे महापुरुष बुद्धके अनुयायी हुए या बुद्ध स्वयं कश्यपके पन्थके पथिक बने, इसे लोग ठीक समझ न सके। कश्यपके उद्देशसे बुद्धद्वारा किया गया प्रश्न तथा कश्यपका उत्तर दोनों श्लोकबद्ध रूपमें महावग्गमें पाए जाते हैं। इन प्रश्नोत्तरोंसे यह निश्चित होता है कि बुद्धके प्रान्तमें ऐसे भी ज्ञानवान् व्यक्ति थे जो बुद्धकी सहायताके बिना भी उनकी विचार-पद्धतितक पहुँच गये थे।

बुद्ध पूछते हैं, ' हे उरुवेलवासिन्, आप अग्नित्याग क्यों कर बैठे ? आपके यज्ञ-त्यागका क्या अर्थ है ? " कश्यपने उत्तरमें कहा, " यज्ञकी सहायतासे भौतिक वस्तुओं तथा इन्द्रियोंके उपभोगोंका लाभ होता है। दिखाई देता है कि ये यज्ञ उपाधिरूप याने प्रतिबन्धरूप हैं। यज्ञ तथा होममें मुझे सन्तोष नहीं मिलता।" बुद्धने फिर पूछा, " देवलोक तथा मनुष्यलोकमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जिससे मनको सचमुच आनन्दका अनुभव हो ? " कश्यपने उत्तर दिया, " मैंने उपाधिहीन शान्त-पदको देखा है। उसका कामनासे तनिक भी संसर्ग नहीं है। वह पद स्वतन्त्र तथा विकार-विहीन है। अतएव मुझे यज्ञ तथा होममें सुख नहीं मिलता।" इसके बाद कश्यपने अपनेको बुद्ध-शिष्य कहा है। यह निर्विकार पद ही निर्वाण है। उपनिषद इसी निर्विकार पदके चिन्तनमें निरत हैं। बुद्धने उस पदके मानसिक स्वरूपको निश्चित रूपसे अलग कर उसे ' निर्वाण'की संज्ञा दी। उसका यथार्थ स्वरूप अन्तिम सत्य यही है; परन्तु बुद्धने इस दृष्टिसे उसकी चर्चाको टाल दिया है। हाँ, उस पदकी प्राप्ति करानेवाले साधन-मार्गकी बुद्धने उत्कृष्ट विवेचना की है। साधन-मार्गकी समीक्षा तथा विशुद्ध रूपमें उसका प्रतिपादन यही उनका प्रमुख अवतार-कार्य है। जहाँसे हमारी पूर्व-परम्पराका जन्म होता है उसके पद-चिह्नके निदर्शक शब्दप्रयोगको उन्होंने साध्य तथा साधन दोनोंके विषयमें कायम रखा। साधनको उन्होंने ' ब्रह्म-विहार'की संज्ञा दी और साध्यके स्वरूपकी ' अमृत ' संज्ञाको ज्यों-का-त्यों रखा। मानव सच्चे अर्थोंमें ब्राह्मण कैसे बनता है इस सम्बन्धमें बुद्धने बार बार मार्गदर्शन किया है। तेविज्ज सुत्तमें वे कहते हैं, ' हे वासेट्ठ, ब्राह्मणोंने ब्राह्मण बननेके स्वधर्मका त्याग किया है और ब्राह्मणत्वकी हानि करनेवाले देवताओंके स्तवनके मार्गका अङ्गीकार किया है।" आगे चलकर वासेट्ठ पुनः प्रश्न करते हैं, "मैंने सुना है कि भगवान्को ब्रह्मसायुज्यका मार्ग ज्ञात है। अतएव ब्राह्मण-वर्गका मार्गदर्शन करके आप उनकी सुरक्षा करें।" भगवान्ने कहा, " अपने अन्तःकरणमें स्थित विश्व-मैत्रीकी भावनासे चारों दिशाओंको नीचे ऊपर, सारी दिशाओंको आप्लावित कर दें। उसी तरह समूचे संसारको करुणासे भर दें। उसी तरह समूचे विश्वको आनन्दसे भी भर दें। यह भावना सदैव व्यापक, असीम, द्रोह-रहित तथा विशुद्ध रहे। ब्रह्मसे एकरूप हो जानेका यही रास्ता है। मरणके उपरान्त स्वयम्भु ब्रह्मकी प्राप्ति इसीसे होती है। इस उत्तरसे वासेट्ठ तथा भारद्वाज दोनोंका समाधान हुआ।

साधन-मार्गके बुद्धकृत अन्वेषणका अर्थ यह नहीं कि वे नवीन साध्यों तथा नवीन साधनोंको प्रकाशमें ले आये। उस समय भारतीय संस्कृतिमें परमार्थके

साध्य-साधनोंकी धूम मची हुई थी; उसीमेंसे बुद्धने साध्य-साधनोंका चयन किया। साध्य-साधनोंके विषयमें अव्यवस्था उस समय चरम सीमाको पहुँची थी। यज्ञ, तप, व्रत आदिके अनगिनत प्रकारों तथा असंख्य संप्रदायोंका उदय हुआ था और धार्मिक अराजकताने पूर्ण रूपसे अपनी जड़ें जमा ली थीं। विचारों तथा आचारोंके विविध संप्रदाय विवेचक बुद्धिको चक्करमें डाल रहे थे। धर्मसाधनोंकी गड़बड़ी, वैचारिक अराजकता तथा नैतिक अगतिकतासे उत्पन्न भ्रान्तिसे भारतीय संस्कृतिको ऊपर उठानेका महान् इतिहासिक कार्य वास्तवमें बुद्धने ही किया है। वैचारिक तथा तत्त्वज्ञानात्मक विग्रहोंसे बुद्धने किस तरह अपने मार्गको निश्चित किया और उन विग्रहोंका उपशम कैसे किया, इसकी विवेचना ऊपर की गई है। धार्मिक तथा नैतिक अंधेर-नगरीके बीच कुशलतासे मध्यम मार्गका दिग्दर्शन करके महानुभाव बुद्धने भारतीय संस्कृतिको आपत्तिसे उबारनेका गौरवपूर्ण कार्य किया है।

बुद्धका मध्यम-मार्ग

एक ओर वैदिक काम्य कर्मोंका काण्ड और दूसरी ओर आत्मक्लेशोंका तपोमार्ग दोनों एकान्तिक पन्थ किस तरह सदोष हैं यह दिखाकर बुद्धने आठ अंगोंसे युक्त मध्यम मार्गका निर्देश किया। जैन धर्ममें काया या देहके क्लेशोंकी तपस्याकी चरम सीमाका उपदेश किया गया है। बुद्धके पूर्ववर्ती कालका आत्यन्तिक प्रखर तपोमार्ग जैन धर्मके रूपमें अबतक टिक रहा है। पञ्चाग्नि-साधन, अनशन, नग्नदीक्षा, भस्मधारण, तीर्थाटन आदि प्रकार भी विद्यमान हिन्दू धर्ममें पाए जाते हैं। ये भी बुद्धके पूर्ववर्ती कालसे चले आ रहे हैं। कामोंके उपभोगोंको प्रधानता देनेवाला वैदिक-मार्ग तथा देहदण्डके उग्र एवं भीषण तपका विधान करनेवाला योग-मार्ग दोनों एकान्तिक पन्थ बन्धनके, प्रज्ञाकी हानि अथवा मानसिक अधःपातके कारण बनते हैं। अतएव सच्चे धर्ममार्गका दिग्दर्शन करना चाहिए—इतना ही नहीं—धर्मका प्रवर्तन करना आवश्यक है यह पूर्णतया निश्चय करके बुद्धने कार्यका प्रारम्भ किया। इसको 'धर्मचक्रप्रवर्तन' नाम दिया गया है।

विशुद्ध नीति तथा चित्तकी शुद्धता ही प्रत्यक्ष सद्धर्म है। सद्धर्मका मूल्य स्वयंसिद्ध है। मानवके इतिहासमें इस सिद्धान्तकी प्रथम स्थापना बुद्धने की। नीतिधर्म ही सच्चे अर्थोंमें सर्वश्रेष्ठ धर्म है; वह धर्म ईश्वरकी आराधना भी नहीं और पारलौकिक क्रियाकाण्ड भी नहीं, यह विचार ही इतना युगान्त-

कारी अतएव विस्मयकारी है कि धर्मके इतिहासमें इसकी बौद्धिक श्रेष्ठताको इतने प्राचीन कालमें पुरस्कृत करनेवाला महान् मानव बीसवीं सदीके प्रखर बुद्धिवादको भी निस्सन्देह अचरजसे दंग रहनेपर बाध्य करेगा। धर्मसम्बन्धी तत्त्वज्ञानमें इस विचारकी विशेषता, मौलिकता तथा महत्ता सचमुच अनुपम है। यह सच है कि बौद्धोंने धर्म-स्थापनाके लिए पारलौकिक विचार-पद्धतिका भी उपयोग किया है; परन्तु बुद्धकी दृष्टिसे उसका स्थान गौण है।

त्रिपिटकका आधार लेकर बुद्धके ही शब्दोंमें बुद्ध-धर्मके रहस्य विशद करना यों संभव है—कार्यकारण-भावको समझनेवाली स्थिर बुद्धि ही वास्तवमें सद्धर्मका अधिष्ठान है। प्रमाद-रहित, आलस्यहीन तथा स्वस्थ चित्त ही प्रज्ञावान् हो सकता है। प्रसन्न मनकी सहायतासे ही अधर्मपर विजय पाना संभव है। धम्मपदका कथन है कि जब बुद्धिमान् मानव अप्रमादरूपी साधनसे प्रमादपर विजय प्राप्त करता है तब वह प्रज्ञावान्, शोकरहित तथा धैर्यवान् बनता है और प्रज्ञारूप प्रासादपर आरूढ होकर शोकसे ग्रस्त अज्ञ जनोंकी ओर वैसे ही देखता रहता है जैसे कोई पर्वतपर स्थित व्यक्ति नीचे कन्दरामें खड़े हुए मानवकी ओर। जागृत मनुष्य भयरहित होता है। पूर्ण रूपसे प्रमादहीन हो जानेके कारण ही इन्द्र देवताओंमें श्रेष्ठ बने। जैसे शीघ्रगामी अश्व दुर्बल हयको आसानीसे पीछे छोड़ देता है उसी तरह जागृत और बुद्धिमान् मानव प्रमादशील तथा निद्रालु जनोंको पीछे हटाकर स्वयं अग्रसर होता है। सिवा प्रसन्न चित्तके प्रज्ञा प्राप्त नहीं होती। राग, द्वेष तथा मोह ही चित्तका मैल है। उसे नष्ट करना ही वास्तवमें चित्तको प्रसन्न बनाना है। प्रज्ञारूप शस्त्रसे ही चित्तरूपी नगरकी सुरक्षा की जा सकती है। सारासार विचार ही सम्यक् संकल्प है, शुभ कर्मोंका निर्णायक साधन है। अतएव सारासार विचारसे जो निश्चित किया गया है वही धर्म इहलोक तथा परलोक दोनोंपर विजय पानेका सुन्दर साधन है। सारासार विचारके बलपर ही 'मध्यमा प्रतिपदा'को याने 'मध्यम मार्ग'को अपनाया जा सकता है। मध्यम मार्ग ही यथार्थमें शुद्ध मार्ग है। इसीको दार्शनिक अरस्तू अपने नीतिशास्त्रमें 'सुवर्णमध्य'की संज्ञा प्रदान करते हैं। इस सुवर्णमध्यके नीतिशास्त्रका प्रथम अन्वेषण बुद्धने ही किया। विशुद्ध प्रज्ञा ही सद्‌गुण है, इसका प्रतिपादन दार्शनिक सुकरातने किया। बुद्धका कथन है कि अविद्यानाश, अभिज्ञा तथा संबोध ही यथार्थमें निर्वाण है। दृष्टि, अभिज्ञा, स्मृति, चक्षु, प्रज्ञा आदि शब्दों द्वारा बुद्धने ज्ञानकी सर्वोपरि महिमाका पुनः पुनः प्रतिपादन किया है। यही सच्चे अर्थोंमें नीतिशास्त्रकी नींव है। प्रत्यक्ष-

सिद्ध तथा अनुभूतिपर आधारित विचारोंकी नींवपर धर्मकी स्थापना करनेकी अभिलाषासे बुद्ध प्रेरित थे। इसीलिए त्रिपिटकमें सर्वत्र सम्यक् संबोधकी प्रशंसा की गई है।

वाराणसीके पास एक तपोवनमें भगवान् बुद्धने अपने पाँच प्रथम शिष्योंको मध्यम-मार्गकी शिक्षा दी (विनियपिटक-महावग्ग-खंधक १)। भगवानने कहा, " भिक्षुओ, परिव्राजकको दोनों छोरोंका परिहार करना चाहिए। एक इन्द्रियोंके उपभोगोंको महत्ता देनेवाला है, वह हीन, प्रमादयुक्त, अनार्य तथा अनर्थसे संयुक्त है और दूसरा आत्मक्लेशकारी, दुःखरूप अनर्थोंका जन्मदाता तथा अनार्य है। इन दोनों छोरोंको छोड़कर, दोनों अतिरेकोंका त्याग करके मध्यम-मार्ग स्वीकार करना चाहिए। उसकी सहायतासे चक्षु, ज्ञान, उपशम, अभिज्ञा, संबोध अथवा निर्वाणकी प्राप्ति होती है। यह मध्यम-मार्ग ही आर्य अष्टांगिक मार्ग है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि ये उसके आठ अङ्ग हैं।"

यह अष्टाङ्गयुक्त मार्ग चार आर्य सत्योंमेंसे चौथा सत्य है। इन चार आर्य सत्योंके रूपमें बुद्धने संसारको अपने महान् सन्देशके समूचे सारका दान किया। इन आर्य सत्योंको गूढवादका तनिक भी स्पर्श नहीं हुआ है। सूर्य, समुद्र तथा आकाशका अस्तित्व बालकोंसे लेकर वृद्धोंतकको प्रतीत होता है; परन्तु विचारवान् व्यक्ति ही मननसे उनके परिमाण, गाम्भीर्य तथा विशालताके 'आशयकी थाह' को पा सकते हैं। बुद्धद्वारा प्रणीत आर्य सत्य भी इसी तरहके हैं। ये आर्य सत्य हैं:- दुःखका सर्वव्यापी अस्तित्व, दुःखके सार्वत्रिक कारण, दुःखके सम्पूर्ण निरासकी सम्भावना तथा दुःखके निरासका मार्ग। उपर्युक्त आर्य सत्योंका बुद्धकृत वर्णन निम्नानुसार है:-

"भिक्षुओ, दुःख यह एक आर्य सत्य है। जन्म, जरा, रोग, मृत्यु, अनिष्टका संयोग, इष्टका वियोग तथा इच्छाका विघात ये वस्तुएँ दुःखमय हैं। पञ्चस्कन्ध जीवित दुःखमय है। दुःखोदय याने दुःखके उदयका कारण दूसरा आर्यसत्य है। तृष्णा, पुनः पुनः निर्माण होनेवाली सुखकी तृष्णा दुःखका कारण है। सामान्य रूपसे तृष्णाके तीन प्रकार हैः- इन्द्रियोंके सुखकी तृष्णा याने कामतृष्णा, इस संसारकी आसक्ति याने भवतृष्णा और ऐहिक अथवा पारलौकिक

वैभवकी आकांक्षा याने विभवतृष्णा। भिक्षुओ, तीसरा आर्यसत्य है दुःख-निरोध। तृष्णाका निःशेष नाश, सम्पूर्ण त्याग, सम्यक् वैराग्य या अनासक्ति ही इसका स्वरूप है। अन्तमें, भिक्षुओ, चौथा सत्य है दुःखनिरोधकी ओर जाने-वाला मार्ग। ऐ भिक्षुओ, इन चार सत्योंके ज्ञान तथा दर्शनसे मेरा चित्त मुक्त हुआ; मुझे ज्ञात हुआ कि म सम्यक् संबोधको प्राप्त कर चुका हूँ।"

बुद्धने अपने धर्मतत्त्वको जीवनके सर्वव्यापी तथा सर्वमान्य अनुभवकी नींव-पर खड़ा किया है। वैदिक धर्मके वेदान्त-तत्त्वका, उसकी वेदान्त-चिकित्साका उन्होंने सादर स्वीकार किया; परन्तु अन्तिम सिद्धान्तके विषयमें मानवकी नित्य तथा स्थूल अनुभूतिका त्याग करके वेदान्तकी दृष्टि अत्यन्त सूक्ष्म तथा गूढ अनुभूति एवं चिकित्सा या विवेचनामें प्रवेश करती है। अतएव वेदान्तके सिद्धान्तोंमेंसे कुछ सिद्धान्तोंका पुनः संस्कार करके बुद्धने उनका प्रतिपादन एक ऐसे रूपमें किया जो साधारण मानवोंकी सामान्य अनुभूतिसे निस्सन्देह मिलता-जुलता है। इस प्रतिपादनमें भी उन्होंने एक निश्चित क्रमबद्धताका पालन किया। साक्षात् तथा सदैव प्राप्त होनेवाली अनुभूतिको आदिम सिद्धान्त मानकर उसका प्रधानतासे प्रतिपादन किया। उन्होंने उचित रूपसे पहले उसी सिद्धान्तका चयन किया जो मानवके आचरणको योग्य दिशामें घुमानेमें, उसे अर्थपूर्ण बनानेमें, उसे एक विशुद्ध रूप प्रदान करनेमें, उसे सार्थ बनानेमें और मानवके आदर्शको पूर्णता प्रदान करनेमें सम्पूर्णतया सहायक सिद्ध होता है। अपने मूलगामी विविध सिद्धान्तोंके क्रममें उन्होंने उसी सिद्धान्तको प्रथम स्थान दिया जिसका मानवके नित्य जीवन-संग्रामसे निकट सम्बन्ध निर्विवाद रूपसे सिद्ध है। सिद्धान्तोंके इस विहित क्रममें दूसरा स्थान कर्मविपाकके सिद्धान्तको याने संसार-कल्पनाको प्राप्त है। शुद्ध, केवल तथा निरुपाधिक अमरताके सिद्धान्तको तीसरा और सृष्टिसम्बन्धी विचारको अन्तिम स्थान दिया गया है। सृष्टिसम्बन्धी विचार पाली धर्म-ग्रंथोंमें बार बार प्रतिपादित हैं। इसी व्याख्यानमें पहले कहा गया है कि बुद्धने सृष्टिविषयक तत्त्वज्ञानकी उपेक्षा की है; परन्तु बुद्धकृत उस उपेक्षाका अर्थ केवल इतना ही है कि उस विचारपर पूर्ण रूपसे निर्भर रहना संभव नहीं है। परन्तु साथ साथ यह भी मानना चाहिए कि कोई भी धर्मविचार या नीतिशास्त्र बिना सृष्टिका विचार किए, बिना विश्वसम्बन्धी तत्त्वज्ञानके और बिना पारलौकिक कल्पनाओंके चुप नहीं रह सकता। पालीमें लिखित धर्म-ग्रंथ निस्सन्देह इस बातकी सत्यताके साक्षी

हैं । संसारका याने जन्म-मरणकी परम्पराका या पुनर्जन्मका विचार क्या बुद्ध, क्या बुद्धके अनुयायी दोनोंके धर्मसम्बन्धी उपदेशोंमें सर्वत्र व्याप्त दिखाई देता है । उनमें कहीं भी दो तत्त्वोंके—संसार तथा निर्वाणके—साहचर्यका भङ्ग नहीं पाया जाता । बुद्ध-धर्ममें प्रतीत्यसमुत्पाद भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितने कि उपर्युक्त चार आर्य-सत्य । इतना ही नहीं; बौद्धोंके धार्मिक साहित्यके आधारपर यह निश्चित करना संभव है कि प्रतीत्यसमुत्पाद ही वास्तवमें बौद्ध विचार-पद्धतिका सारसर्वस्व है । इस सम्बन्धमें अधिक ऊहापोह सन्दर्भके अनुसार आगे चलकर करेंगे । यहाँ प्रधानरूपसे हम इतना ही स्पष्ट कहना चाहते हैं कि बुद्धकी धर्मविषयक विचारपद्धतिका प्रारम्भ गूढ, अतीन्द्रिय तथा पारलौकिक विचारोंसे नहीं होता । जीवनकी ज्वलन्त अनुभूति ही उस विचार-पद्धतिका मूलस्रोत है और इसका प्रधान उद्देश्य है मानवके प्रत्यक्ष, क्रियात्मक जीवनको विशुद्ध एवं चरितार्थ बनाना ।

जीवन स्वाभाविक रूपसे ही दुःखमय है, पीड़ित है यही प्रथम आर्य-सत्य है । उपनिषदों तथा सांख्योंने इस सत्यके दर्शन बुद्धके पूर्व ही किए अवश्य थे; परन्तु उसे प्रथम स्थान देनेका कार्य बुद्धने ही किया । यह पहला सत्य ही इस बातका साक्षी है कि बुद्धका तर्कशास्त्र बड़ा ही प्रखर था; उनकी प्रज्ञा अतीव प्रबल थी । सच बात तो यह है कि तत्त्वज्ञानका प्रारम्भ कहाँसे किया जाय, इसका यह सत्य एक सुन्दर उदाहरण है । प्रत्येक युगमें कुछ विचारवान् व्यक्ति अनन्त कालतक इस आर्य-सत्यकी श्रेष्ठताको मानते रहेंगे । क्योंकि विकास चाहे कितना ही क्यों न हो और सृष्टिपर विजय पाकर मानव चाहे जितने अपार वैभवके महान् युगका निर्माण क्यों न करे; दुःखरूपी भीषण असुर उस युगको ग्रस्त करनेके लिए कहींसे न कहींसे आ ही जाएगा ! विश्वशक्ति अनन्त है और उसके अथाह उदरमें कहीं न कहीं यह असुर अवश्य छिपा रहता है । मानवके अन्तरङ्गमें भी इस विनाशकारी आसुरी शक्तिका निवास है । बाह्य विश्व तथा मानवका अन्तरङ्ग दोनोंमें विनाशक शत्रु अज्ञात रूपसे निवास करते हैं । भूचाल, आँधी-तूफान, अनावृष्टि, संहारक रोगोंके असंख्य कीटाणु आदि बाह्य प्रकृतिके भय असंख्य हैं । जरा, मरण, व्याधि, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, द्वेष तथा अज्ञान जीवनके अनिवार्य अङ्ग हैं । मानसिक तथा भौतिक आवश्यकताओंसे युद्ध, आक्रमण, विध्वंसक संघर्ष, अराजकता, मानवी दास्य आदि घटनाओंका जन्म होता है । इनके भयसे पूर्णतया मुक्त विश्व कल्पनाके संसारमें भी नहीं पाया जाता । विज्ञान कितना ही उन्नत क्यों न हुआ हो, अज्ञानके विस्तार

तथा परिवारमें कमी नजर नहीं आती। अतएव जीवनके स्वभाव-धर्मोंकी समीक्षा करके बुद्धने साध्य-साधनोंकी मीमांसाको प्रस्तुत किया। बुद्ध दुःखवादी तथा निराशावादी अवश्य हैं; परन्तु उनका दुःखवाद सम्पूर्ण निराशावादको अपनाकर नहीं चला है। शान्त तथा दुःखोंसे मुक्त अन्तिम निर्वाणके आदर्शकी प्राप्ति करानेवाला अष्टाङ्ग आर्य-मार्ग आशा, उत्साह, धैर्य, कौशल, शान्ति तथा प्रज्ञाके उत्तरोत्तर विकासकी ओर ले जाता है। शील, समाधि तथा प्रज्ञा ही उस विकासके लक्षण हैं। इनके प्रकट हो जानेके उपरान्त विश्वव्यापी मित्रता, आकाशसे भी अधिक विशाल करुणा, ब्रह्माण्डकी अपेक्षा भी अधिक महान् 'मुदिता' (आनन्द-वृत्ति) तथा सर्वत्र जागृति अथवा अवधान रखनेवाली उपेक्षा (अनासक्ति) ये चार ब्रह्म-विहार अन्तःकरणको परब्रह्मकी चैतन्य शक्तिका क्रीडा-स्थान बनाते हैं। अष्टाङ्ग मार्ग चौथा आर्य-सत्य है और एकान्तिक दुःखनाश-रूप निर्वाण यह तीसरा। अष्टाङ्ग मार्ग इसका साधन है। दुःखके कारणके समूल नष्ट हो जानेके सिवा आत्यन्तिक दुःखनाश संपन्न नहीं होता। दुःखके कारणकी मीमांसा दूसरे आर्य-सत्यमें की गई है। तृष्णा ही दुःखका प्रमुख कारण है; यही दूसरा आर्य-सत्य है। तृष्णाका ही अर्थ है काम। बुद्धद्वारा प्रणीत तृष्णाका यह सिद्धान्त वास्तवमें इतना मूलगामी है कि आधुनिक मनीषी फ्राइड-महोदयद्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण-शास्त्रके समयतक उसकी निर्बाधता कायम है। कार्यकारण-भाव तथा स्वभाव-धर्मोंका विचार करते हुए बुद्धने उपर्युक्त चार आर्य-सत्योंका महान् अन्वेषण किया।

जिस अनुपातमें विश्व तथा जीवनका यथार्थ रूप निश्चित करना संभव है उसी अनुपातमें नीतिशास्त्रके सम्बन्धमें निर्णयपर पहुँचना भी संभव है। अतएव यद्यपि ऊपरी तौरसे दिखाई देता है कि विश्वसम्बन्धी अन्तिम सत्यके निर्णयका बुद्धने परिहार ही किया है, तो भी यह सच है कि उन्होंने स्वीय बुद्धिसे अथवा वैदिक परम्पराका आश्रय लेकर विश्वके सम्बन्धमें कुछ मूलभूत निर्णय कर लिए थे। नैतिक सत्य अथवा मूल्य एक अर्थमें स्वयंसिद्ध रहा करते हैं। जिस तरह बिना इन्द्रिय-विज्ञानके अध्ययनके भी आरोग्यके नियमोंका मूल्य अनुभवके आधारपर निर्धारित किया जा सकता है उसी तरह तत्त्वज्ञानके बिना भी सावधानीसे जीवन बितानेवाले मानवको नीतिके नियम अनुभूतिके आधारपर जँच सकते हैं। अंगूर, आम, कटहल आदि मीठे फलोंमें और दूधमें विद्यमान जीवन-सत्त्वोंके ज्ञानसे आजसे सहस्र वर्ष पहलेका मानव वञ्चित

अवश्य था; परन्तु सात्विक आहारके रूपमें उनकी प्रशस्तता तथा उपादेयताका भान उसे सहस्रों वर्ष पहले ही हुआ है। अनेकों श्रेष्ठ माने हुए जौहरी भी स्फटिक, मोती तथा रत्नोंकी पदार्थ-विज्ञानकी दृष्टिसे शुद्ध घटनाके जानकार नहीं हुआ करते। उसी तरह दार्शनिक सत्योंका ऊहापोह न करनेवाले सज्जन भी अनुभूतिके आधारपर नीति-नियमोंके जीवन-सत्त्वोंके, चैतन्यको आलोकित करनेवाली शक्तिके दर्शन करनेमें समर्थ होते हैं। परन्तु जिस तरह इन्द्रिय-विज्ञानका आरोग्यके नियमोंसे तथा पदार्थ-विज्ञानका रत्नोंकी रचनासे अभेद्य सम्बन्ध है, ठीक उसी तरह नीतिशास्त्रका तत्त्वोंके दर्शनसे भी। अतएव बुद्धद्वारा प्रतिपादित विचारमें तत्त्वदर्शनकी उपेक्षा तथा उसके प्रति सामञ्जस्यपूर्ण आदर-भावना दोनोंके दर्शन होते हैं और उनकी विसंगतिका परिहार भी होता है।

'धर्म' शब्द बौद्ध साहित्यमें विश्वविषयक तत्त्वज्ञान तथा कर्तव्याकर्तव्य सम्बन्धी विचार दोनोंमें व्यापक तथा सीमित अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। वास्तवमें 'धर्म' शब्द बड़ी बड़ी उलझनोंका जन्मदाता है। इसका प्रयोग भी कब कब किया गया है इसकी गिनती नहीं की जा सकती! अतएव बौद्ध धर्मके अन्वेषक पण्डितोंने इसके अर्थकी बहुत चर्चा की है। यह शब्द मूल वैदिक वाङ्मयमें भी बहुत बार आता है। कठोपनिषदके एक स्थलको छोड़कर सब जगह उसका विवक्षित अर्थ निश्चित है। यह सच है कि सन्दर्भके अनुसार शब्दके अर्थकी छटाएँ बदलती हैं; परन्तु वैदिक वाङ्मयमें सन्दर्भोंका सान्निध्य भी विपुल है अतएव उसमें 'धर्म' शब्द सन्देहका निर्माण नहीं करता। वैदिक साहित्यमें इस शब्दका एकमात्र अर्थ है पवित्र कर्म अथवा कर्तव्य कर्म। परन्तु बौद्ध साहित्यमें सन्दर्भके अनुसार अर्थ बदलते हैं। जब यह शब्द अनेकवचनमें प्रयुक्त होता है तब उसका अर्थ होता है वस्तुके स्वभाव-धर्म, विभिन्न आविष्कार, भिन्न कार्यकारण-भाव। जो कुछ ज्ञेय है वह सब आविष्कार ही है यही उस शब्दका वहाँ अभिप्राय होता है। उसका प्रमुख तात्त्विक अर्थ है वस्तुका स्वभाव अथवा निसर्ग। इस अर्थका मुख्य सम्बन्ध बुद्धके आदेशसे याने नीतिशास्त्रसे है। सारिपुत्त तथा मोग्गलानको जिस धर्म-तत्त्वका ज्ञान हुआ उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो उत्पन्न होता है, सो नष्ट होता है। समुदय याने उत्पत्ति और निरोध याने क्षय ही वस्तुका धर्म या निसर्ग है। इसका नीतिशास्त्रसे सम्बन्ध स्थापित होता है। मानवजीवनका स्वभाव दो तरहका है-एक

अवनतिकी ओर उन्मुख करनेवाला और दूसरा उन्नतिकी ओर। जिस नियमसे उसके स्वभावका उत्कर्ष तथा उसे पूर्णता प्राप्त होती है वही सद्धर्म है। जिस तरह विश्वमें विद्यमान कार्य-कारण भाव ही विश्व-धर्म है उसी तरह मानव-जीवनके उत्कर्षका कार्यकारण-भाव ही मानव-धर्म है। साध्य साधन-भाव वास्तवमें कार्यकारण-भावका ही मानव-जीवनद्वारा सीमित किया गया रूप है; क्योंकि मानव-जीवनकी घटनाएँ दो विभागोंमें—इष्ट तथा अनिष्टमें—विभाजित होती हैं। जो अपने आपमें इष्ट है और जिसके परिणाम अनिष्ट नहीं होते वही विशुद्ध साध्य हैं। जिन कारणोंसे साध्य सिद्ध होता है वही साधन है। जिन साधनोंकी सहायतासे विशुद्ध साध्य संपन्न होता हैं वही साधन तथा साध्य नैतिक सिद्ध होते हैं। विशुद्ध साध्य तथा साधनका कार्यकारण-भाव ही नीतिशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है। बुद्धके धर्मानुशासनमें विशुद्ध साध्यों तथा विशुद्ध साधनोंका विचार किया गया है। इस विचारको 'धर्मता' नाम दिया गया है। जिसके मनपर सद्धर्म पूर्ण रूपसे अङ्कित होता है या जिसके रोम रोममें सद्धर्म समाया हुआ रहता है उसकी अवस्थाको 'धर्म-मेधा'की संज्ञा प्राप्त है। धर्म-विवेक जिस व्यक्तिका प्राण ही बना है उसे 'धर्मचक्षु' कहा जाता है।

तत्त्वदृष्टिका स्वरूप

बुद्धके अनुशासनका तत्त्व-दर्शन उनके नीतिशास्त्रकी आधारशिला है। यह तत्त्व-दर्शन वास्तवमें भारतीय बौद्धिक संस्कृतिकी शाश्वत निधि है। उसके मूलगामी वस्तु-तत्त्व आधुनिकतम विज्ञानयुगमें भी निर्बाध रूपसे विद्यमान हैं। बौद्धोंने अणुको विश्वकी अन्तिम इकाई माना है। वह प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। वास्तवमें ऐसी वस्तु है ही नहीं जो प्रतिक्षण बदलती नहीं रहती। हाँ, यह सच है कि वस्तुमें प्रतिक्षण होनेवाले इस परिवर्तनका भान मनुष्यको नहीं होता। इस प्रकारके याने समझमें न आनेवाले परिवर्तनका वर्णन 'अप्रतिसंख्या'-निरोध कहकर किया गया है। प्राणी मृत्युका ग्रास बनता है, रथ भग्न होकर अनुपयोगी होता है और घट नष्ट होता है। इस तरह कार्यनाशका व्यापार निरन्तर प्रवर्तमान है। इसे 'प्रतिसंख्या-निरोध' याने समझमें आनेवाला विनाश कहा गया है। प्रतिक्षण परिवर्तनशील अणुकी यह कल्पना वास्तवमें विज्ञानकी शक्ति-कणकी कल्पनाके समकक्ष है। बौद्धोंके दर्शन तथा तर्कशास्त्रने इस तरहकी अनेकों निर्बाध कल्पनाओंको जन्म दिया है। क्या धर्म, क्या नीति, क्या मनोविश्लेषण-शास्त्र, क्या वस्तु-विद्या, क्या ज्ञानसम्बन्धी प्रमेय, क्या प्रमाणपद्धति,

क्या शिक्षा-शास्त्र, क्या समाज-शास्त्र, क्या धर्म-संगठनकी पद्धति सब विषयोंमें अत्यन्त सारग्राही एवं सत्यवेधी विचारोंकी समृद्धिसे बुद्धका अनुशासन सचमुच गौरववान् बना है। यही कारण है कि बौद्धोंने प्रगल्भ तर्कशास्त्रके साथ सर्वास्तिवाद, वैभाषिकवाद, सौत्रान्तिकवाद तथा माध्यमिकवाद इन चार तत्त्व-दर्शनोंका निर्माण किया।

वेदान्त, सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि दर्शनोंकी प्रतिद्वंद्वी दर्शनोंके रूपमें उत्कृष्ट उन्नति हुई। बौद्ध, जैन तथा चार्वाक, इन अवैदिक दर्शनोंकी रचना तथा वेदान्तादि षड्दर्शनोंकी रचना परस्परसापेक्ष हैं। परस्पर आपेक्षिकताके आधारपर ही इनकी उत्पत्ति एवं उन्नति हुई है। कोई भी दर्शन अन्य दर्शनोंके सिद्धान्तोंको पूर्वपक्षके रूपमें रखकर ही स्वीय सिद्धान्तोंकी स्थापना करता है। अतएव किसी भी भारतीय दर्शनका तबतक पूर्णतया आकलन नहीं हो सकता जबतक अन्य भारतीय दर्शनोंका मर्म भी भली भाँति समझमें न आ जाय। वैदिक तथा अवैदिक दर्शनोंकी एक संकलित महान् संस्था है; अतएव यह निश्चित होता है कि सांस्कृतिक सहयोगकी दृष्टिसे क्या जैन, क्या बौद्ध, और क्या वैदिक, तीनोंका वैचारिक अधिष्ठान एक ही है। एक ही तात्त्विक प्रेरणाके बीजसे भारतीय दर्शनोंके विशाल वृक्षका निर्माण हुआ है।

जो तत्त्व-विचार बुद्धको चित्तकी शान्ति तथा विशुद्ध नीतिके पोषणमें सहायक अतएव हितकारी मालूम हुआ उसीका उन्होंने खूब जोरके साथ प्रतिपादन किया। उन्होंने न ईश्वरवादका पुरस्कार किया, न देवतावादका। इसका कारण यह है कि क्या ईश्वरवाद, और क्या देवतावाद, दोनोंकी सहायतासे शुद्ध, नैतिक तथा वैराग्य-प्रधान विचार-पद्धतिको अनिवार्य रूपसे पुष्टि मिल नहीं सकती थी; क्योंकि देवताओंको सन्तुष्ट करनेवाले विधि-विधानों तथा कर्मकाण्डमें हिंसा, सुरापान, स्त्री-संभोग, विलासी भोजनके समारोह, विलासिताका अतिरेक करनेवाले उत्सवप्रसंग, नृत्य, नाटक, संगीतके समारोह, चंद्रिकोत्सव, वसन्तोत्सव, जलक्रीडाएँ, संभोग-क्रीडाएँ आदि बहुतेरी वस्तुओंका अन्तर्भाव होता है। देवताओंकी आराधनाके लिए आचारों तथा शास्त्रोंमें धर्मकी ऐसी विधियोंका विधान हुआ है जिनमें बहुविध विषयोंकी आसक्ति तथा विलास चरम सीमातक पहुँचे हैं। ये सब बातें उपर्युक्त विधानको ही सिद्ध करते हैं। अतएव बुद्ध इस बातको मान्यता न दे सके कि शील, समाधि तथा निर्वाणकी साधना करनेवाले धर्म-विचारमें देवता-विचार अनिवार्य माना जाय। सद्गुणोंके लिए सद्गुण ही यथार्थ पारितोषिक

है। साधु देवोंसे बढ़कर हैं। साधुताका मोल किसी भी वस्तुसे नहीं किया जा सकता। इसी विचारका बुद्धने प्रबल पुरस्कार किया।

अहंता तथा ममताके कारण स्वार्थवृत्तिको बल मिलता है, परोपकार, दया, भूतानुकम्पा, इन्द्रिय-संयम, प्रज्ञा आदि सद्‌गुणोंकी वृद्धिमें बाधा पहुँचती है और प्रापञ्चिक स्वार्थको बल प्राप्त होकर अपने कौटुम्बिक जीवनकी परिधिके बाहरका संसार पराया मालूम होता है। अतएव महानुभाव बुद्धने उस तत्त्व-दृष्टिका विकास किया जो अहंकार तथा ममताको छेदती है। बुद्ध अनात्मवादी थे। 'अहम्'के रूपमें सम्बुद्ध जीवात्मा शाश्वत है' यह वैदिकोंका मत था; उसका उन्होंने खण्डन किया। त्रिपिटकमें बार बार कहा गया है कि बुद्धने 'अनत्ता'-वाद यानें अनात्मवादका स्वीकार किया। रथ जिस तरह अनेक विभागोंके समुदायसे बना है, घट जिस तरह कणोंके समुदायसे बना है उसी तरह व्यक्ति भी पदार्थोंके समुदायसे निर्मित है। समूचा विश्व ही समुदायोंका कार्य है। समुदायसे बना हुआ प्रत्येक कार्य ही 'संस्कार' है। व्यक्ति तथा संसारके सब कार्य अनित्य हैं। यही उनके द्वारा प्रणीत प्रथम दार्शनिक सिद्धान्त है। सब कुछ अध्रुव याने अस्थायी तथा निरन्तर परिवर्तनशील है; स्थिर वस्तु संसारमें है ही नहीं। यह विचार जब मनपर अटल रूपसे अङ्कित होता है तब वैराग्यवृत्तिका पोषण होता है। 'व्यक्तित्व' नामकी कोई स्थिर वस्तु है ही नहीं, यह विचार अहंताको धक्का देता है, जड़से हिलाता है और इसीसे चित्तकी वह भूमि या दशा स्थापित होती है जो कि अहिंसा तथा विश्वव्यापी मैत्रीके उदयमें सर्वथा अनुकूल है।

बुद्धने अनात्मवादका स्वीकार अवश्य किया; परन्तु साथ साथ कर्मवाद तथा पुनर्जन्म–वादका भी उपदेश दिया। इसीसे पण्डित असमञ्जसमें पड़े हैं; क्योंकि कर्मानुसार पुनः जन्म लेनेवाले जीवात्माका पूर्ववर्ती तथा परवर्ती जन्ममें एक ही रहना अवश्यम्भावी है। कर्म करता है वही कर्मानुसार जन्म लेता है इस बातको मानकर ही कर्मवाद तथा पुनर्जन्मवाद अर्थपूर्ण हो उठते हैं। बुद्धके शिष्योंने इन विरोधी तथा विसंगत कल्पनाओंके विरोधका परिहार किया है। जीवात्मा कोई अखण्ड, चैतन्य वस्तु नहीं है; वह एक अविराम बहनेवाला चैतन्य-प्रवाह है जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है और कभी नष्ट न होनेवाली वस्तु है। अनेक जन्मोंकी परम्परामें भी वह सूत्रकी तरह अनुस्यूत है। गौतमबुद्ध

कर्मवादको नहीं मानते, इस बातकी प्रसिद्धि निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्र याने जैनधर्मके संस्थापक महावीरके कानोंतक पहुँची थी (अंगुत्तरनिकाय-अट्ठकनिपात-सुत्त १२) । निर्ग्रन्थ ज्ञातिपुत्रने सेनापति सिंह नामके अपने शिष्यसे कहा, " तुम सिद्धार्थ गौतमकी ओर क्यों जाते हो ? वे तो कर्मवादको नहीं मानते, अक्रियावादी हैं। " परन्तु सिंह वैशालीमें पहुँचकर बुद्धसे मिले और उन्होंने उनसे पूछा, " हे गौतम, मैंने सुना है कि आप अक्रियावादी हैं। " तब गौतमने विस्तारके साथ उत्तर दिया, " सच है, मैं अक्रियावादी हूँ; क्योंकि मैं अकुशल कर्म करनेके विरुद्ध हूँ। परन्तु मैं क्रियावादी भी हूँ; क्योंकि तन, वाणी तथा मनसे सम्यक् कर्म करनेके लिए मैं कहता हूँ। मैं उच्छेदवादी हूँ और तृष्णा, द्वेष तथा अविद्याका नाश करनेकी शिक्षा देता हूँ। मैं तपका भी उपदेश करता हूँ। तपका अर्थ है जलाना। अशुद्ध विचारों तथा असम्यक् कर्मोंको जलाना ही पड़ता है। " यहाँ गौतमने फिर एक बार कर्मवादकी याने पुनर्जन्मवादकी चर्चाको टाल दिया है। तात्पर्य, गूढ तात्त्विक प्रश्नोंके विषयमें अन्तिम निर्णयपर पहुँचना असंभव है, इसे भली भाँति समझकर बुद्धने सद्गुणोंकी उपासनाको सम्पूर्ण महत्ता प्रदान की। सद्गुणोंकी उपासना आत्मक्लेशरूप तपसे नहीं होती। इसलिए उग्र स्वरूपमें तप करनेका भी उन्होंने निषेध किया। बौद्धोंका मत है कि शान्ति तथा तितिक्षा याने सहिष्णुता ही परम तप है। यह कहते हुए ' बुद्ध ' शब्दका बहुवचनमें किया गया उपयोग विशेष रूपसे ध्यानमें रखने योग्य है। सेनापति सिंहने आत्मक्लेशपर जैन धर्मका त्याग किया; परन्तु बुद्धने जैन धर्मके ' अहिंसा' तत्त्वको सम्पूर्ण मान्यता प्रदान की । औचित्यपूर्ण संयम तथा आसक्तिपर विजय ही बुद्धकी नीतिका रहस्य है। तृष्णाके बन्धनको नष्ट करनेके लिए नियमोंके परिपालनको उन्होंने आवश्यक बतलाया; परन्तु कर्मबन्धसे मुक्त होनेके लिए जैन धर्ममें विहित देहदण्डको उन्होंने मान्यता नहीं दी। धम्मपदमें (१४१–१४५) कहा गया है, " नग्नचर्या, जटा-धारण, पङ्क लेपन, अनशन, स्थण्डिल याने अनावृत्त शय्याहीन भूमिपर शयन करना, भस्म आदि प्रकारकी धूलिसे अपनी देहको चर्चित कर लेना, नित्य उकडूँ बैठनेकी क्रियाको अपनाना आदि क्रियाओंसे मानव शुद्ध नहीं होता। जो व्यक्ति सम्यक् आचरण करता है, जो शान्त, दान्त, नियत तथा ब्रह्मचारी है और जिसने सर्व भूतोंके विषयमें दण्डका परित्याग किया है वही सच्चे अर्थोंमें ब्राह्मण है, वही श्रमण है और वही भिक्षु है। चाबुकके भयसे तत्पर बने हुए, वेगवान् तथा भद्र अश्वकी तरह

बनो। श्रद्धा, शील, शौर्य, समाधि, धर्मविनिश्चय, विद्या तथा आचरणसे संपन्न तथा स्मृतिमान् बनकर महान् दुःखका अन्त करो। सुव्रती व्यक्ति आत्माका दमन (नियमन) उसी तरह करता है जिस तरह बाण बनानेवाला फौलादका और बढ़ई काठका।"

दुःखवादकी मीमांसा

ऐहिक जीवन दुःखमय है यह विचार ही बौद्ध धर्मके जीवनसम्बधी दर्शनका मूलभूत विचार है। इस विचारका उदय पहले उपनिषदोंमें हुआ। प्रापञ्चिक सुख तथा सुखके साधन अस्थिर और विनाशी हैं; अतएव अन्तमें उनका दुःख परिणाम निश्चित ही है। परम सत्यके सिवा शेष सब आर्तताका कारण है, शोकका कारण है; इस विचारका प्रारम्भ उपनिषदोंमें पाया जाता है; परन्तु यह सच है कि इस विचारने सांख्यों, बौद्धों तथा जैनोंकी, वास्तवमें वेदोंके परवर्ती कालकी समूची भारतीय विचार-पद्धतिको निर्बाध रूपसे प्रभावित किया है। सभी दर्शन तार स्वरसे विश्वकी दुःखमयताको निरन्तर उद्घोषित करते हैं; केवल एक ही अपवाद है और वह है नास्तिक चार्वाकद्वारा प्रणीत दर्शन। परन्तु इस बातके प्रमाण पाये जाते हैं कि परवर्ती चार्वाक दर्शनपर भी इस विचारने अपना अधिकार स्थापित किया। वस्तुतः बुद्ध संतुलित विचारोंके व्यक्ति थे, उन्हें सुख-दुःखोंके द्वन्द्वके अस्तित्वका प्रतिपादन करना था; परन्तु उन्होंने दुःखकी कल्पनापर ही अधिक जोर दिया; क्योंकि उन्होंने जीवनके उस दर्शनका प्रतिपादन किया जिसमें अविद्या तथा तृष्णाको संसारके बन्धनका मूल माना गया। अविद्या तथा तृष्णाकी सर्वव्यापिनी बन्धक शक्तिको मान्यता देनेके उपरान्त उनकी दुःखमयताका स्वीकार करना सुलभ ही है। जितने अधिक अनुपातमें अविद्या कम होती जाती है उतने अनुपातमें ज्ञान या प्रज्ञाकी प्रभाका विस्तार होता रहता है; उसी अनुपातमें चित्तकी शुद्धताका उत्साहपूर्ण तथा शान्तियुक्त आनन्द वर्धमान होने लगता है। अतएव आध्यात्मिक आनन्द ही यथार्थ रूपमें आनन्द है और संसारमें वही मानवको श्रेयकी ओर आकृष्ट करता है। उस आनन्दकी पूर्णता ही निश्चित रूपसे परमार्थ है। धन, सम्मान तथा इन्द्रिय-सुखों द्वारा प्राप्त होनेवाला आनन्द विवेकवान् व्यक्तिकी आँखोंमें आनन्दका आभास मात्र है; क्योंकि विषय-सुखकी उस अनुभूतिके मूलमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे तृष्णाकी अगाध अस्वस्थता ज्वालामुखी पहाड़की तरह छिपी रहती है। इस अस्वस्थताका, तृष्णाकी इस

अति तीव्र उष्णताके सागरका जिसे भान हुआ है वही तत्त्ववेत्ता या दार्शनिक परमार्थका अन्वेषण करता है। उपनिषदोंमें इस ज्ञानका पहले उदय हुआ और बुद्धके कालमें इसमें वृद्धि हुई तथा इसे महत्ता प्राप्त हुई।

उपनिषदोंके पूर्ववर्ती साहित्यमें दुःखवादका नामोनिशाँ नहीं मिलता। वैदिक मन विश्व-शक्तिकी आराधना एवं साधना करके सांसारिक समृद्धिका अर्जन करनेमें ही निमग्न दिखाई देता है। वह दृश्यमान संसारमें बालकों तथा युवकोंके मनके समान ही सोत्साह क्रीडा करता था, निरन्तर संघर्ष करता था। सस्यसंपन्ना भूमि उसे साक्षात् जननी ही प्रतीत होती थी। मेघ तथा पर्जन्य निर्माण करनेवाली वायु उसे अपना सुहृत् ही मालूम होता था। सूर्य उसे परम मित्र दिखाई देते थे। अरुणवर्ण ऊषा वैदिक मानवकी आँखोंमें समूचे विश्वको जागृत करके उसे कर्मकी ओर प्रवृत्त करनेवाली देवी थी। स्वर्गके निवासी देवता पृथ्वीपर बने हुए उसके संसारको संपन्न तथा चरितार्थ बनानेके लिए निरन्तर यत्नशील हैं, यही उसे दृष्टिगोचर होता था। अन्न, पशु, प्रजा, निरामय शरीर, दीर्घायुष्य, शत्रुओंके नाशके भौतिक साधन आदि भौतिक जीवनकी महिमाकी वृद्धि करनेवाले देवताओंकी आराधना मरणके उपरान्त स्वर्गका कारण बनती थी। ऐहिक वैभव तथा पारलौकिक स्वर्ग दोनोंकी प्रेरक शक्तियाँ वैदिक मानवके लिए एक ही प्रतीत होती थीं। वस्तुतः वैदिक वाङ्मयमें आध्यात्मिक आनन्द तथा आधिभौतिक सुख दोनोंका सम्पूर्ण समन्वय हुआ था। वैदिक कालके उत्तरार्धमें शनैः शनैः वह प्रगल्भ सामाजिक परिस्थिति उत्पन्न हो रही थी जो इहलोक तथा परमार्थके भेदको प्रकट करनेवाली विवेक-बुद्धिका निर्माण करती है। वैदिक समाजमें पहले वह चिन्तन-प्रधान विचारशीलता विद्यमान नहीं थी जो आत्मनिरीक्षण करती है, अन्तर्मुख होकर सार तथा असार, नित्य और अनित्यका विवेक करती है। जबतक वैदिक मन भोला-भाला, अल्हड़, बहिर्मुख तथा अपरिपक्व था तबतक यज्ञ-संस्था तथा वैदिक देवताओंकी प्रभुता थी। उपनिषदोंके कालमें चिन्तन-शीलता प्रकट होने लगी। बुद्धके समय इस चिन्तनशीलताने अधिक अन्तर्मुखी रूप धारण किया; क्योंकि सामाजिक परिस्थितिमें परिवर्तन हुआ, कर्मकाण्ड-प्रधान धर्मसंस्थाकी छत्रछायामें पली हुई भारतीय समाज-संस्था व्यथित होकर विनाशोन्मुख बनी। बुद्धके उदयने वास्तवमें उस इतिहासिक परिस्थितिको सूचित किया जिसमें कर्मकाण्ड-विहीन तथा सामाजिक व्यथाका ज्ञान करानेवाली नीतिधर्म-प्रधान समाज-संस्थाका उदय होता है। बुद्धने समाजकी मानसिक संस्कृतिका

विशेष रूपसे शोधन किया और नीति-प्रधान धर्म-संस्थाकी स्थापना की। विश्वके इतिहासमें नीति-प्रधान संस्थाका सूत्रपात करनेवालोंमें बुद्ध ही सर्व-प्रथम हैं। जरतुश्तका धर्म, ईसाई धर्म, और वैष्णव धर्म नीति-प्रधान अवश्य हैं; परन्तु पारलौकिक तत्त्वोंकी और ईश्वरकी सर्वोपरि महिमा ही इन धर्मोंके नीति-विचारकी आधारशिला है। इनके विपरीत बुद्ध-धर्मका परमार्थ विशुद्ध नीतिके स्वरूपको अपनाता है। उसकी वेदान्तविद्या अथवा तत्त्वदर्शन नैतिक प्रज्ञाके प्रकर्षकी पूरक शक्ति है।

बुद्धके पूर्ववर्ती कालकी समाज-संस्था यज्ञ-धर्मपर आधारित थी। वैदिक आर्योंकी समाज-संस्थाका संगठन तथा नियन्त्रण यज्ञ-संस्थाके धार्मिक वातावरणमें ही हुआ था। यज्ञ-संस्थामें ही विशुद्ध नैतिक तत्त्वोंके बीज बोये गए थे; परन्तु संस्थाका जो रूप अभिव्यक्त हुआ वह बड़ा संकीर्ण था। यज्ञोंकी धार्मिक वृत्ति मानवकी स्वार्थप्रवण भावनाओंसे, उसके कौटुम्बिक योगक्षेमकी चिन्ताओंसे, धन, प्रजा, पशु, भूमिलाभ, रोगनिवारण, उत्पातोंका उपशम, युद्धमें विजय आदि वैषयिक तथा सांसारिक कामनाओंसे ही व्याप्त थी। उसे सात्विक आध्यात्मिक रूप देनेका प्रयत्न आरण्यकों तथा उपनिषदोंने किया। परन्तु वह यज्ञकी सर्वाङ्गीण रचनासे पूर्णतया विसंगत था। नैतिक, तात्त्विक, सात्त्विक, विशाल तथा भव्य धार्मिक प्रतिभाके नवीन उन्मेषोंका समावेश करनेके लिए आवश्यक सुधारद्वारा उसमें उचित परिवर्तन एवं संशोधन करनेके स्थानपर उसका पूर्ण परि-त्याग करना ही अनिवार्य मालूम हुआ। इसका कारण था उसकी अतिसंकीर्णता। क्या उसकी इन्द्रियलालसा, क्या भौतिक वैभवकी अभिलाषा, क्या भौतिक देवता-ओंका विचार सब स्थूल ही थे। वास्तवमें एक ऐसी परिस्थिति निर्माण हुई थी जिसमें विशिष्ट देशकी सीमाओंमें छोटे छोटे जन-समूहों अथवा राष्ट्रोंके बीच वर्धमान विरोधी तथा संकीर्ण आचार-विचारों तथा भेद-भावनाओंकी मर्यादाओंको लाँघनेवाले, क्षुद्र अहंकारों तथा शत्रुताओंको तुच्छ अतएव नगण्य माननेवाले व्यापक धर्मके उदयके सिवा सुरक्षाका कोई उपाय नजर नहीं आता था। इस तरहकी परिस्थितिके वायुमण्डलमें बुद्धपूर्व कालकी समाज-व्यवस्थाने प्रवेश किया था। राजाओंके छोटे छोटे राज्य तथा नृप-विहीन विभिन्न गण-संस्थाएँ ही उस समयकी समाज-संस्थाका राजनीतिक स्वरूप था। सार्वभौम सत्ताके अभावके कारण राजाओंके बीच कलह तथा वैरकी अग्नि निरन्तर धुंधुआती रहती थी। बलवान् राज्य दुर्बल बने हुए पड़ोसी राज्यको अपने उदरमें समा लेनेकी

ताकमें निरन्तर रहता था। सारे ही राज्य परस्पर-विरुद्ध षड्यन्त्रोंकी रचनामें निरत रहते थे। अतएव समूची राज्य-संस्था एक तरहसे नित्य युद्धकी अवस्थामें ही अस्वस्थताके साथ उलझी हुई रहती थी। अनेकों गण-संस्थाएँ विद्यमान थीं; परन्तु उनमें दलबन्दीके कारण सर्वत्र अव्यवस्थाका राज्य था, अंधेरनगरी थी और वह समूचे सामाजिक जीवनको जीर्ण दुर्धर रोगकी तरह जर्जर कर रही थी। चातुर्वर्ण्यकी व्यवस्था वैदिक तथा अवैदिक दोनों तरहके भारतीय आर्योंको मान्य थी और वह उनमें प्रचलित भी थी; क्योंकि वेदोंके पूर्ववर्ती कालमें ही नागरी या शहरी संस्कृतिमें जातिभेद तथा वर्ण-संस्था दोनों दृढमूल हो गये थे और वैदिक तथा अवैदिक आर्योंने निःसंकोच भावसे उनका स्वीकार किया था। पुरोहितोंके वर्गकी अथवा ब्राह्मणोंकी धार्मिक श्रेष्ठताको ज्यों-की-त्यों सबने निर्बाध रूपसे मान लिया था। ब्राह्मणत्वका आदर्श श्रेष्ठ था; परन्तु ब्राह्मणोंकी प्रत्यक्ष जीवन-पद्धति आदर्शको हीनता प्राप्त कराती थी। धार्मिक निर्वाह-वृत्तिको अपनानेवाले तपस्वियों, भिक्षुओं तथा संन्यासियोंके संघ सारे देशमें घूमते थे। उनमें भी वैमत्य बहुत बढ़ रहा था। इस तरह बुद्धके समयकी समाज-संस्थामें सामाजिक दुरवस्थाके सब हीन लक्षण तीव्र तथा भीषण रूपमें प्रकट हुए थे और इन्हींको बुद्धके चरित्रमें ग्रथित किया गया है। राजाओंके कलहकी चिनगारियाँ नित्य प्रज्वलित हुआ करती थीं और इसीसे कुटुम्ब-संस्था भी तुरन्त तितर बितर होती थी। जीवनके सब क्षेत्रोंमें स्वस्थता, नित्यता तथा निश्चयका सम्पूर्ण अभाव ही दृष्टिगत होता था; अतएव सामाजिक मन संतप्त था, जीवनसे बिलकुल ऊब गया था। सामाजिक अशान्ति एवं अस्थिरताके कारण 'सर्वमनित्यं' के सिद्धान्तमें ही विश्वास पैदा होने लगा और व्यथित तथा आधिग्रस्त समाज-संस्थाके कारण सबके अन्तःकरणमें 'सर्वं दुःखं' के सत्यने घर कर लिया। स्वाभाविक है कि इस तरहकी अवस्थामें वे ही अवतार सिद्ध हुए जिन्हें यह साक्षात्कार हुआ कि बिना विशुद्ध नीतिकी स्थापना किए समाजको इस दुर्धर दुरवस्थासे मुक्त नहीं किया जा सकता। गौतम बुद्ध 'शक' नामकी गण-संस्थामें उत्पन्न हुए थे। शक, वज्जी, लिच्छवी आदि गणोंको ऱ्हास तथा विनाशसे बचना किस तरह संभव होगा इस सम्बन्धमें बुद्धने उपदेश दिया है। इससे निश्चित होता है कि बुद्धके समय गण-संस्था जीर्ण-शीर्ण हो गई थी। बुद्ध कभी अपने शिष्योंके साथ, तो कभी अकेले देशमें भ्रमण करते थे। उनके देश-पर्यटनके वर्णनोंमें अनेक राजाओंके राज्योंके वृत्तान्तोंका समावेश हुआ

है। उससे विभिन्न राज्योंके सम्बन्धोंका ज्ञान होता है और उनमें दृढमूल शत्रुताका भी परिचय मिलता है। धार्मिक तथा तात्त्विक विरोधोंको लेकर चलनेवाले धर्मोपदेशकों और तपस्वियोंके अनेकों संघ तथा संघचारी व्यक्ति बुद्धसे मिले थे; उनके वर्णन बुद्ध-चरितमें उपस्थित हैं। उनसे उस समयकी घोर धार्मिक अव्यवस्था तथा असमञ्जसताका पता चलता है। सच्चे ब्राह्मण या सच्चे श्रमणको किस तरहका याने किस औसतका व्यक्ति होना चाहिए इस सम्बन्धमें बुद्धने पुनः पुनः उपदेश दिया है और आदर्श-भूत ब्राह्मण या श्रमणकी प्रशंसा की है। इस प्रशंसामें भी उन्होंने विशुद्ध एवं शाश्वत नीति-तत्त्वोंको ही प्रधानता दी है। इससे उस कालके ब्राह्मणत्वकी हीन तथा शोचनीय अवस्था सूचित होती है। भार्या, पुत्र तथा गृहका परित्याग करनेवाले परिव्राजककी महत्ताके बुद्धकृत वर्णनसे और प्रसूता पत्नीके रहते हुए भी अपने घरका, अग्निकी ज्वालाओंसे लिपटे हुए घरकी तरह त्याग करके स्वयं वनवासी हो जानेकी उनकी क्रियासे भी उस समयकी कुटुम्ब-संस्थाकी अनवस्था एवं दयनीय दशा यथार्थतासे सूचित होती है। दुःखवाद तथा निवृत्ति-प्रधान नीतिशास्त्रकी यही सामाजिक पार्श्वभूमि है।

मानवके मनको तृष्णाकी धधकती हुई ज्वालाओंसे, आसक्तिके संकीर्ण बन्धनोंसे मुक्त करना ही निवृत्तिवादका प्रधान उद्देश्य है; क्योंकि विश्वव्यापी मैत्री तथा करुणाकी प्रेरणा ही इस नीतिशास्त्रका प्रमुख आदर्श है। वही नीति-शास्त्र वास्तवमें सर्वश्रेष्ठ धर्मशास्त्र है जिसमें मानव विश्वव्यापी मुदिता याने आनन्दकी महान् अनुभूतिका अधिकारी बनता है। आसक्ति तथा तृष्णाओंसे उत्पन्न होनेवाली सब प्रवृत्तियाँ दुःखमय तथा सदोष हैं; उनका पर्यवसान संकुचित सामाजिक व्यवहारोंमें होता है। ये संकीर्ण सामाजिक व्यवहार ही जातिभेद तथा राष्ट्रभेदको फैलाते हैं और हिंसक तथा मत्सरग्रस्त सामाजिक वैरोंको पावित्र्य प्रदान करते हैं। पवित्र बने हुए इन वैरोंसे ही दुर्बल एवं दुरवस्थासे ग्रस्त सामाजिक स्थितिका निर्माण होता है । अतएव बुद्धने आसक्तिपूर्ण प्रवृत्तिवादका विसर्जन करनेवाले और विश्व-प्रेमकी मंगल भावनासे प्रेरित प्रवृत्तिवादको जन्म देनेवाले निवृत्तिवादका निर्माण किया। धम्मपदमें कहा गया है कि गृह-संस्थाका परित्याग करके निकला हुआ संन्यासी भिक्षु वास्तवमें वह हंस है जो छोटे-से कूपमें अपनी ममताको सीमित न रखता हुआ संसारके सब कूपों, तड़ागों तथा नदियोंपर स्वच्छन्द विहार करता है । बुद्धके समय भारतीयोंके एक ऐसे नवीन सामाजिक प्रपञ्चकी नवीन रचना करनेकी आवश्यकता थी, जो उदात्त तथा

व्यापक नीतिशास्त्रसे पावन होनेकी अभिलाषा करे और जो विश्वव्यापी नैतिक ध्येयकी ओर आकृष्ट हो। इस तरहकी रचनाके लिए चित्तशुद्धिकी नितान्त आवश्यकता थी और उसी चित्त-शुद्धताकी ओर निर्देश करनेका महान् कार्य करनेवाले भिक्षुओंके वर्गका बुद्धने निर्माण किया। इससे भारतीय समाज-संस्थाको नवजीवन प्राप्त हुआ; हिन्दू संस्कृति नवीन शक्तियोंसे संयुक्त एवं लाभान्वित हुई और उसने राजनीति, धर्म, भाषा, कला, साहित्य आदि सब सांस्कृतिक क्षेत्रोंमें अद्भुत और विस्मयकारी विक्रम किए। आजतक ज्ञात इतिहासके हिन्दू साम्राज्य बुद्धके परवर्ती कालके हैं; उनके पूर्ववर्ती कालके राज्य पौराणिक कथाओंके विषय हैं और उनकी इतिहासिक सत्यता विवादकी वस्तु है।

नवजीवनका लाभ

बौद्धों तथा जैनोंके प्रयत्नोंसे ही साधारण मानवकी बोलियों अथवा उपभाषाओंको उच्च कोटिकी भाषाओंका स्थान प्राप्त हुआ और उनमें साहित्यका निर्माण हुआ। इसीसे आधुनिक भारतीय भाषाओंकी पूर्वपीठिका प्रस्तुत हुई। बुद्ध, जैन तीर्थंकरों तथा उनके अनुयायियोंने प्राकृत भाषाओंमें धर्मसम्बन्धी उपदेश, धार्मिक लेखन तथा साहित्यकी रचना की। यही कारण है कि प्राकृत भाषाओंको संस्कृत भाषाकी ही तरह महत्ता एवं उज्ज्वलता प्राप्त हुई। बुद्धके पूर्ववर्ती कालकी स्थापत्यकला तथा हस्तकलाके भारतीय अवशेष थोड़े ही पाए जाते हैं। इससे दिखाई देता है कि भारतीय कलाओंका विकास तथा चरम उत्कर्ष बुद्धके परवर्ती कालमें ही हुआ है। इसमें सन्देह नहीं है कि उनका प्रारम्भ बुद्ध-पूर्व कालमें ही हुआ था। परन्तु बुद्ध-पूर्व कालकी संस्कृतिके केवल दो ही अवशेष निश्चित रूपसे उपलब्ध हैं; एक है वेद तथा वेदाङ्ग और दूसरा है पंजाब तथा सिन्धकी नगर-संस्कृतिके उत्खननमें पाये गए अवशेष। यह तो कदापि सिद्ध नहीं किया जा सकता कि बुद्ध-पूर्व कालमें रामायण, महाभारत तथा पुराणोंको उनका दृश्यमान प्रौढ एवं उन्नत रूप प्राप्त था। विचक्षण तथा विवेकी इतिहासज्ञोंका मत है कि वेदोंके परवर्ती कालका विशाल प्रपंच बुद्ध-जन्मके बादके कालमें ही विस्तृत हुआ है। हिन्दुओंकी मूर्तिकला, स्थापत्यकला तथा चित्रकलाके चमत्कृतिपूर्ण चरमोत्कर्षके प्रतिनिधि बौद्धोंकी कृतियोंमें ही प्रथम पाए जाते हैं। इतिहास इस बातका साक्षी है कि निवृत्ति-प्रधान बौद्धों तथा जैनोंने हिन्दू-संस्कृतिकी कलाके क्षेत्रमें पराक्रमकी वृद्धि की। जड़, स्थूल तथा ऊबड़-

खावड़ पाषाणों तथा पर्वतोंमें कलाके सहारे मानवी चैतन्य तथा सूक्ष्म भावना-ओंके मंगल तथा भव्य आविष्कारोंको जन्म देनेका महान् श्रेय तथा गौरव विशेष रूपसे बौद्धों तथा जैनोंको ही प्राप्त है। अनेक विक्रान्त तथा विजयी राजा तथा उद्यमशील और वैभववान् वैश्योंके वर्ग अनेकों पीढ़ियोंतक जैन तथा बौद्ध धर्मोंके उपासक बने। निवृत्तिवाद हीन प्रवृत्तियोंका शोधन करके अन्तःकरणमें उच्चतम धैर्य तथा उत्साहका निर्माण करता है और उस महान् प्रवृत्तिको जन्म देता है जो पृथ्वीपर परमार्थके निवासके लिए आवश्यक संस्कृतिका निर्माण करती है।

बुद्धकृत धर्म-संगठन

बुद्धधर्मके पूर्ववर्ती धर्म किसी विशिष्ट समाज या राष्ट्र तक ही सीमित थे। हम सर्व मानवोंको अपने अंचलमें समेट लें, उन्हें पावन करें, इस तरहकी प्रेरणाका उनमें अभाव था। अतएव उपर्युक्त विशिष्ट अर्थमें संसारके तीन ही इतिहासिक धर्मोंको प्रधानतासे विश्वव्यापी धर्मकी संज्ञा देना संभव है। ये धर्म हैं बौद्ध धर्म, ईसाई धर्म तथा मुसलमान या इस्लाम धर्म। जैन, शैव तथा वैष्णव धर्म अखिल मानवजातिकी एकताको मान्यता देते हैं, सर्व मानवोंको पावन करनेकी अभिलाषा रखते हैं। क्या शैव धर्म, क्या वैष्णव धर्म, दोनोंने अभारतीयोंको भारतमें आनेके उपरान्त दीक्षा दी है इस बातके इतिहासिक उदाहरण भी हैं। इन्डोनेशियामें भी इनके प्रसारके प्रमाण पाए जाते हैं। परन्तु धर्मके प्रसारके लिए जमीन और आसमानके कुलाबे एक करनेवाली प्रचण्ड उत्कण्ठाके दर्शन तो केवल बौद्ध, ईसाई तथा इस्लाम धर्मोंमें ही दिखाई देते हैं। बुद्धधर्म ही वह पहला धर्म है जो विश्वके इतिहासमें विश्वको व्यापनेके लिए दिग्विजयार्थ निकल पड़ा था। इसके लिए बुद्धने उत्कृष्ट संगठनका निर्माण किया था। कहा जा सकता है कि ईसाई धर्मने भी कई बातोंमें धर्म-संगठनके तन्त्रको बौद्धधर्मसे ही लिया है।

बौद्ध धर्मके संगठनमें प्रधान रूपसे तीन अंशोंका अन्तर्भाव होता है—वे अंश हैं बुद्ध, धर्म तथा संघ। बुद्धका चरित्र ही वास्तवमें मानवी इतिहासका प्रथम महान् मानव-चरित्र है। राम तथा कृष्ण दोनों इतिहासकी दृष्टिसे भले ही बुद्धके पूर्ववर्ती हों; परन्तु बुद्धके परवर्ती कालमें ही उनके उच्चतम व्यक्तित्वको महिमासे मण्डित किया गया। सच तो यह है कि बुद्धका चरित्र ही वह प्रथम व्यक्तित्व है जो समूचे राष्ट्रके ध्यानको आकृष्ट करनेवाला है, जिसने राष्ट्रके मनमें शताब्दियोंतक अपनी महिमाकी गूँज उठाई है। यही इतिहासका वह प्रथम चरित्र

है जिसने मानवका यथार्थ मार्गदर्शन किया, उसे भक्ति-भावनासे विह्वल, वास्तवमें मुग्ध बनाया। बुद्धके व्यक्तित्वको केन्द्र बनाकर उसीके चारों ओर धर्म, संघ तथा साहित्यका निर्माण हुआ। बुद्ध ही मौलिक धार्मिक विचारोंके प्रवर्तक सिद्ध हुए। धार्मिक विचारोंके आचरण तथा प्रचारके लिए आवश्यक दीक्षासे संयुक्त तथा अनुशासनमें पले हुए संघका बौद्धधर्मने संगठन किया। संघ आदर्श कार्य-कर्ताओंका समुदाय था। उसमें बिना स्त्री-पुरुष-भेदका विचार किये व्यक्तियोंका समावेश होता था। इस दीक्षामें अन्य धर्म-संप्रदायोंके विरोधका लवलेश भी नहीं था। यह संघ नैतिक मार्गदर्शनके लिए सर्वस्वका परित्याग करके सहयोग करनेवाले व्यक्तियोंका था। क्या विचार, क्या कृति दोनोंसे अन्य धर्मों या धार्मिक परम्पराओंपर प्रत्यक्ष आक्रमण करनेकी कल्पनाने बौद्ध संघोंको कभी स्पर्श न किया। सर्वसंगपरित्याग करनेवाले भिक्षुओंका ही संघमें समावेश होता था। ये भिक्षु कभी विशिष्ट सीमित क्षेत्रमें ही धर्मप्रसारका काम करते थे, तो कभी सुदूर देशोंमें पर्यटन करके धर्मकी स्थापना करते थे। मानवजातिके कल्याणकी मूल भावना ही उस संघमें विद्यमान थी; उसने सामाजिक ऊँच-नीचकी भावनाको पूर्ण रूपसे विसर्जित किया था। यही कारण है कि बुद्ध-संघ अत्यन्त साधारण जनोंके हितकी तीव्र लगनसे ही सर्वत्र संचार करता था। 'अर्पित हो यह मनुज-काय। बहुजनहिताय बहुजनसुखाय।' यही उसका अटल सिद्धान्त था।

वैदिक तथा स्मार्त परम्पराके अनुसार धर्म और दर्शनके उपदेशों तथा उच्च धार्मिक आदर्शोंको जीवनमें उतारनेका कार्य सामान्य रूपसे ब्राह्मणोंका ही माना जाता था। उपनिषदोंके समय इस परम्पराके अपवाद-रूप अनेकों उदाहरण मिलते हैं। उपनिषदोंके आधारपर सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या तथा आध्यात्मिक धर्मोपदेशका अधिकार स्त्रियों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रोंको वैदिक परम्परामें भी था। परन्तु बौद्धों, जैनों, शैवों तथा वैष्णवोंने तो धर्मोपदेशके लिए वर्णभेदकी मर्यादाको स्थान ही नहीं दिया। बुद्धने अपने समयके भारतीय समाजके सभी वर्णोंमेंसे शिष्योंको पा लिया और उन्हें संघमें समाविष्ट किया। धर्मकी दीक्षा दो तरहकी थी – एक उपासककी और दूसरी भिक्षुकी। श्रावक अथवा उपासक वे हैं जो अपने आश्रम, व्यवसाय तथा सांसारिक कर्तव्योंका त्याग न करते हुए तत्त्वोंको मान्यता देते हैं। इस वर्गमें तथागतकी तत्त्वदृष्टि तथा उनके आचरण-मार्गको माननेवाले सर्व-साधारण जन-समूहका समावेश होता है। यज्ञ करनेवाले वैदिक ब्राह्मण भी सिर्फ़ पशुयज्ञको छोड़कर अपनी यज्ञ-परम्पराको कायम रखते

हुए बुद्धके अनुयायी बनते थे। बुद्ध तथा बौद्ध धर्मप्रचारकोंमें मुसलमान तथा ईसाई धर्मोंकी-सी असहिष्णुताका अभाव था; अतएव बौद्ध प्रचारमें वह तामसी प्रवृत्ति नहीं थी जो पूर्व परम्पराके कठोर और कटु विच्छेदमें ही धन्यता मान ले। लूसर तथा कीटाणुओंसे पीड़ित सस्य जिस तरह वर्षाकी प्रबल धाराओंसे शुद्ध एवं स्वस्थ होकर बलको प्राप्त कर लेते हैं, ठीक उसी तरह बौद्ध-धर्मके प्रचारसे लोक-जीवन नैतिक शुद्धताको प्राप्त करके अपनी मानसिक शक्तिका उत्कर्ष कर लेता था। कुछ लोग तो इस प्रचारसे इतने प्रभावित होते थे कि सम्मान, धन, स्वजन, उच्च कोटिके पद तथा गार्हस्थ्य जीवनके नन्दनवनका भी परित्याग करके निर्वाणके अनन्त मार्गपर अग्रसर होनेकी अभिलाषासे भिक्षुत्वकी दीक्षा लेते थे और बुद्ध, धर्म तथा संघकी शरणमें पहुँचते थे। भिक्षुओंके संघमें वर्णभेद, जातिभेद तथा लिङ्गभेदका बन्धन नहीं था। सब वर्णोंके स्त्री-पुरुषोंके लिए संघमें सम्मिलित होनेमें कोई भी प्रतिबन्ध नहीं था। सारिपुत्त, मोग्गलान, वासेठ्ठ, काश्यप, भारद्वाज, वत्स जैसे ब्राह्मण, आनन्द, देवदत्त, सेनापति सिंह जैसे क्षत्रिय, यस, तपुस्स, भल्लिक, अनाथपिण्डक आदि वैश्य, उपाली जैसे नाई, चुन्द जैसे लुहार आदि समाजके सब स्तरोंके व्यक्ति बुद्धके शिष्य-वृन्दमें सम्मिलित थे। जनतामें बोली जानेवाली भाषाओंको धर्मोपदेशका साधन बनानेमें बुद्धकी अभिलाषा यही थी कि साधारण मानवके जीवनकी महिमा वर्धमान हो, वरिष्ठ धनिक तथा सत्ताधारी व्यक्ति उदार तथा करुणावान् बनें और सामान्य मनुष्यसे एकरूप हो जायँ। बुद्ध और जैन तीर्थंकर मगध तथा कोसल देशोंकी प्राकृत भाषाओंमें अपने धर्मका उपदेश देते थे। त्रिपिटकको बुद्धके अनुयायी स्थविरवादियोंने पाली भाषामें, महासांघिकोंने पैशाची भाषामें और सामंतीयोंने अपभ्रंश भाषामें लिखा। प्राकृत भाषाको प्रधानता देकर सामान्य जनताको सुसंस्कृत करनेमें बुद्धने जिस तरह सुयश पाया उसी तरह धार्मिक क्षेत्रमें स्त्रियोंको पुरुषोंके बराबर ही सम्मानका स्थान प्रदान करके लैङ्गिक समताकी स्थापना करनेमें भी उन्होंने उज्ज्वल यश प्राप्त किया है। बुद्धने स्वयं ही अपनी स्त्री-शिष्याओंका परिगणन किया है[1]।

---

१ (सुत्तपिटक अंगुत्तर निकाय एक निपात) महाप्रजापति, क्षेमा, उत्पल वर्णा, पताचारा, धर्मदीर्णा, नन्दा, शोणा, सकुला, भद्रा कुण्डलकेशा, भद्रा कपिलानी, कच्चाना, गोतमी, सिकालमाता, सुजाता, विशाखा, उत्तरा, सामवती, सुप्रवासा, कात्यायनी, काली आदि।

स्त्रियोंने बुद्ध-संप्रदायका स्वीकार करके धर्म स्थापनाके कार्यमें अनमोल सहयोग दिया है; धार्मिक साहित्यकी भी श्रीवृद्धि की है। विनयपिटककी अत्यन्त उद्बोधक और प्रसन्न 'थेरी-गाथा' स्त्रियों द्वारा ही निर्मित साहित्य है।

चातुर्वर्ण्यके विषयमें जैनों तथा बौद्धोंके विचारोंकी दिशा

भिक्षु-संघकी परिधिके बाहर समाजमें विद्यमान वर्णभेद बौद्धों तथा जैनोंको मान्य था। उसका अस्वीकार तो उन्होंने नहीं किया; परन्तु यह स्पष्ट दिखाई देता है कि क्या बौद्ध, क्या जैन दोनोंके धर्म-विचारोंका झुकाव वर्ण-भेदकी कठोर मर्यादाओंकी महत्ताको कम करनेकी ही ओर था। समाजके वर्णभेदोंको तोड़ने या नष्ट करनेका स्पष्ट आदेश न तो बुद्धने दिया है, न जैन तीर्थंकरोंने. और न उन दोनोंके धर्म-ग्रंथोंने। अवश्य ही क्षत्रियोंके स्थानको ब्राह्मणोंसे उच्च माननेवाली प्रवृत्तिके परिचायक वचन उनके साहित्यमें पाये जाते हैं। उनके धर्म-ग्रंथोंमें कहीं कहीं ब्राह्मण-धर्मकी ही तरह दासों, शूद्रों तथा अन्त्यजोंको हीन माननेवाली प्रवृत्तिके दर्शन भी होते हैं। सिर्फ भिक्षुओंके संघोंमें इस तरहकी भेद-भावनाको न माननेका स्पष्ट आदेश बुद्धने दिया है। विनय-पिटक, चुल्लवग्ग, खंधक ११।१।४ में बुद्ध कहते हैं, "ऐ भिक्षुभाइयो, महान् नदियाँ जब समुद्रमें जा कर मिलती हैं तब गंगा, यमुना, मही, सरयू, अचिरवती आदि उनके नाम तथा भेद नष्ट हो जाते हैं और सबको 'समुद्र' यह एक ही संज्ञा प्राप्त होती है। उसी तरह क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र जब गृहका त्याग करके 'अनिकेत' या गृहहीन बनते हैं और धर्मका आचरण करते हैं तब उनके पूर्ववर्ती नाम तथा गोत्र नष्ट हो जाते हैं और वे शाक्य तथागतके अनुयायी या शिष्य कहलाते हैं। जिस तरह सागरका रस एक ही है उसी तरह धर्मका भी, और वह है निर्वाण-रस।"

बुद्धधर्मके सामाजिक तथा राजनीतिक परिणाम

बुद्धद्वारा पुरस्कृत धर्मसंघकी इस कल्पनाने वर्णोंकी उच्च-नीचताकी कल्पनाको परोक्ष रूपसे धक्का देनेका ही प्रयत्न किया है। इसीसे चातुर्वर्ण्यकी निर्धारित मर्यादाएँ शिथिल होने लगीं। वर्णधर्मकी अपेक्षा विशुद्ध नैतिक धर्मोंको ही जनताका बल प्राप्त होने लगा। बुद्धने स्वयं ही 'आर्य' शब्दका बड़ा व्यापक अर्थ किया; वह यों है – 'अहिंसक ही वास्तवमें आर्य हैं (धम्मपद २७०)। उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित ब्राह्मणत्वके आदर्शका बुद्धने नवीन संस्कार किया और बादमें उसे स्वीकृत किया। बृहदारण्यकोपनिषदमें कहा गया है कि वही

व्यक्ति ब्राह्मण है जिसने बाल्य तथा पाण्डित्य, मौन तथा अमौनके द्वंद्वोंके विषयमें निर्वेदको प्राप्त किया है और जो इन द्वंद्वोंके उस पार पहुँचा है; वही ब्राह्मण है जो केवल तथा सर्वात्मक अक्षरतत्त्वका ज्ञाता है। धम्मपदके अन्तमें 'ब्राह्मणवर्ग' नामका एक स्वतन्त्र अध्याय ही जोड़ा गया है। उसका कथन है :- "जटा, गोत्र अथवा जन्मसे कोई भी व्यक्ति ब्राह्मण नहीं बनता। यथार्थमें वही ब्राह्मण है जिसमें सत्य तथा धर्म वास करते हैं। ब्राह्मण मातासे उत्पन्न होनेके कारण कोई भी ब्राह्मण नहीं बनता। मैं उसे ब्राह्मण कहता हूँ जो पुण्य तथा पापके उस पार पहुँचा है, जो गंभीर प्रज्ञासे संयुक्त, अहिंसक, यथार्थ मार्गका ज्ञाता, बन्धनोंको तोड़नेवाला, निर्भय आसक्तिरहित, स्वर्ग तथा नरकको देखनेवाला, असंग्रही, विजेता, वीर, स्थिर, ज्ञानवान् तथा बुद्ध याने प्रबुद्ध हो।" आर्यत्व तथा ब्राह्मणत्व-का शील और सद्गुणके अर्थमें उपयोग वैदिक परम्परामें भी किया गया है। अतएव वैदिक परम्परामें भी बुद्धके धर्म-सन्देशका बड़ी उदारतासे स्वागत हुआ। अगणित त्रैवर्णिकोंने बुद्धके जीते जी तथा उनके पश्चात् भी बौद्ध मत ग्रहण किया। बुद्धके धर्म-प्रसारको भारतीय वैदिक समाजकी महान् शक्तियोंका समर्थन प्राप्त हुआ। विश्वव्यापी मित्रताका सन्देश एक विश्वव्यापी आन्दोलनके रूपमें परिणत हुआ। बुद्ध व्यक्तिगत मोक्षकी साधनाको ही मानवका कर्तव्य नहीं मानते थे। सब लोगोंके दुःखोंके भारको अपने सिरपर लेनेका महान् नैतिक उत्तरदायित्व उन्होंने निभाया। प्रत्येक मानव या प्राणीको पीडा देनेवाला दुःखका बन्धन बुद्धके अन्तःकरणमें 'टीसोंके ज्वार'का निर्माण करने लगा। 'सर्व लोगोंके दुःख मुझपर आ गिरें और वे सब मुक्त हों' ये ही बुद्धके आर्त उद्गार हैं। सदय हृदय, दयार्द्र दृष्टि रखनेवाले, करुणाकी सजीव मूर्ति बने हुए और सब लोगोंके बन्धनमुक्त हो जानेके समयतक निर्वाणकी आकल्पान्त राह देखनेवाले भगवान् बुद्ध सच्चे अर्थोंमें अवलोकितेश्वर हैं। करुणामय दृष्टिसे विश्वके बन्धन-मुक्त हो जानेकी चिन्तामें निमग्न अवलोकितेश्वरका चित्र अजंताकी गुहाओंमें चित्रित किया गया है।

बुद्धके धर्मोपदेशमें समाजके राजनीतिक संगठनपर अनुकूल परिणाम करनेकी अभिलाषा या अभिप्राय है। परम्परागत आचार-विचारोंके अनुसार चलनेवाला नागरिकोंका व्यवहार शान्ति एवं सुरक्षाके लिए जितना आवश्यक है उसकी अपेक्षा मैत्रीके सम्बन्धपर जोर देनेवाला नैतिक आचरण शान्ति तथा सुव्यवस्थाके लिए

अधिक पोषक सिद्ध होता है। अतएव वर्णधर्मकी अपेक्षा नीतिधर्म ही राज्यको परिपुष्ट, बलवान् एवं सुस्थिर बनाता है। वास्तवमें नीतिकी स्थापना ही राज्यसंस्थाका ध्येय सिद्ध होता है। वैदिकोंकी परम्पराने क्षात्रधर्मको क्षत्रियोंकी दृष्टिसे उच्चतम मूल्य माना था। बौद्ध धर्मने क्षात्र कर्तव्यके लिए वरिष्ठ नैतिक धर्मकी मर्यादाका विधान किया। क्षात्रधर्म-प्रधान राजाओंके वैरोंको प्रोत्साहन मिलनेके कारण बार बार युद्ध होते थे, लड़ाईयाँ छिड़ जाती थीं और इसी वजहसे बुद्धके समयकी समाजसंस्था निःसत्त्व बनती जा रही थी। राजा आपसमें लड़ते थे और गणसंस्थाओंपर भी आक्रमण करते थे; उनमें अन्तर्गत अराजकता निर्माण करके उन्हें अपने वशमें करनेका प्रयत्न करते थे। मगधका राजा अजातशत्रु लिच्छवी गणोंको निकल जानेकी ताकमें रहता था। वैशालीके महावनमें सारंदद मंदिरमें सिद्धार्थ बुद्ध ठहरे थे। लिच्छवी गण जब बुद्धके पास आ पहुँचे तब बुद्धने उन्हें ऐसा उपदेश दिया जिससे गणोंका कल्याण हो और वे अजातशत्रुद्वारा परास्त न हों। इस उपदेशको 'अपरिहानीय धर्म' यह नाम दिया गया है। 'अपरिहानीय धर्म'का अर्थ है विनाशको टालनेवाला धर्म। भगवान् बुद्धने लिच्छवियोंसे सात विषयों या मुद्दोंको ध्यानमें रखनेके लिए कहा। (१) लिच्छवी तथा वज्जी बार बार परिषदोंकी आयोजना करें, उनके विषयमें रुचि रखें। (२) जबतक परिषदोंमें सब लोग सहमत होते रहेंगे तबतक सब कार्य एक ही मतसे संपन्न होंगे। (३) पहले निर्धारित किये गए नियमोंके विरोधमें नवीन नियम न बनाएँ। (४) बड़े लोगोंके विषयमें आदरकी भावना रखें। (५) कुलीन नारियों अथवा वनिताओंपर अत्याचार न करें। (६) अपने धर्म-स्थानों या पवित्र स्थानोंके सम्बन्धमें जो व्यय अथवा दानधर्म निर्धारित हुआ है, उसमें काटछाँट न करें। (७) हमेशा इस तरहका प्रबन्ध करें जिससे सन्तोंकी सेवा उत्तम ढंगसे हो और वे राज्यमें सुख एवं समाधानकी जिन्दगी बसर करें। जबतक उपर्युक्त सात नियमोंका समुचित रूपसे पालन किया जाएगा तबतक उत्कर्ष होता रहेगा, अवनति नहीं होगी (अंगुत्तरनिकाय, सत्तक निपात, सुत्त १९)। गौतम बुद्धने लिच्छवियोंको यह कहकर चेतावनी भी दी कि मार या पापके प्रभावसे तुम्हारे संगठनमें छिद्र उत्पन्न होंगे और उन्हींमेंसे अजातशत्रुका प्रवेश होगा और तुमपर आक्रमण होगा।

वज्जी, लिच्छवी, मल्ल, शाक आदि गणसंघों तथा कोसल, काशी, वत्स, मगध, अंग आदि राज्योंको भेंट देकर, उनके बीचमें रहकर बुद्धने उनमें उदारता,

मैत्री, कर्तव्यनिष्ठा आदि गुणोंको जन्म देनेवाली धर्मसंस्थाकी स्थापना की। इस धर्मकी स्थापनामें सांप्रदायिकताका अहंकार तनिक भी नहीं था। बुद्धकी इस शान्त तथा निर्वैर वृत्तिके कारण वैदिक यज्ञमार्गको अपनानेवाले ब्राह्मण भी उनका सहर्ष स्वागत करते थे। मगध देशका राजा अजातशत्रु तथा कोसल देशका राजा पसेनदी दोनोंमें शत्रुता अवश्य थी; परन्तु दोनों बुद्धकी ही शरणमें पहुँचते थे। दोनोंपर बुद्धका गहरा प्रभाव था। श्रावस्ती राजा पसेनदीकी राजधानी थी। यह राजा बुद्धका प्रिय शिष्य था। बुद्ध जब एक बार श्रावस्ती गए, तब उन्हें खबर मिली कि विदेही-पुत्र अजातशत्रुने राजा पसेनदीको युद्धमें परास्त किया है। उस समय बुद्धने कहा कि विजयसे शत्रुता उत्पन्न होती है; क्योंकि परास्त व्यक्ति दुःखमें निमग्न होता है और आनन्द तो शान्तिमें ही रहता है। इसलिए विजय तथा पराजय दोनों निष्फल हैं। आगे चलकर एक समय राजा पसेनदीने मगधके राजा अजातशत्रुको परास्त करके उसे कैदी बनाया। परन्तु उसके मनमें विचार आया, "यद्यपि अजातशत्रुने मुझे बहुत कष्ट पहुँचाया है, तो भी इसे मुक्त करना ही उचित है; आखिर यह मेरी भगिनिका पुत्र है"। तब उसने हाथियों, अश्वों, रथों आदिका हरण करके अजातशत्रुको बन्धनसे मुक्त कर दिया। इस सम्बन्धमें विचार करके बुद्धने कहा कि मानव दूसरोंको लूटकर अपना लाभ जितना हो सके उतना कर लेता है। इसके विपरीत जिसे दूसरेने लूट लिया है वह मौका पाकर लूटनेवालेको फिर लूटता है। यह चक्र वहीं नहीं रुकता; परिणामको भुगतनेका अवसर आनेतक मूर्ख मानव इसे समझता ही नहीं। हिंसकको दूसरा हिंसक मिल ही जाता है, विजेताकी मुलाकात अन्य विजेतासे हो ही जाती है; दुष्ट भाषण करनेवाले व्यक्तिकी भेंट अन्य दुष्टभाषीसे हुए बिना नहीं रहती। कर्मका चक्र किसीको भी नहीं छोड़ता। अपने अहिंसाके सिद्धान्तको बुद्धने केवल अदृष्ट कर्मविपाकपर ही आधारित नहीं किया था; उस सिद्धान्तके मूलमें मानवी क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओंके अनुभवसिद्ध नियम विद्यमान थे।

अपने धर्मसिद्धान्तोंकी स्थापना करनेमें दीक्षित होनेवालोंको चाहिए कि वे प्रत्यक्ष जीवनमें उन सिद्धान्तोंकी अनुभूति प्रथम प्राप्त कर लें। स्वार्थ तथा परार्थमें कोई विरोध नहीं रहता, इस सत्यको पहले अपनी अनुभूतिका विषय बनाना चाहिए। अगर धर्मप्रसार करनेवाला स्वयं आत्मबंधुत्वमें ही विश्वबन्धुत्वको देखनेमें समर्थ हो तभी स्वार्थ तथा परार्थके कलहका अन्त संभव है। अतएव भगवान् बुद्धने राजा पसेनदीको यह रहस्य बतलाया कि आत्माका प्रेम ही वास्तवमें विश्वप्रेम है। एक

समय राजा पसेनदीके सामने एक बड़ी समस्या पैदा हुई थी। अपने प्रासादके ऊपरी मंजिलेपर सुखासीन राजाने रानी मल्लिकासे प्रश्न किया, "ऐसी कौन वस्तु है जो तुम्हारे लिए आत्मासे भी प्रिय है?" रानीने उत्तर दिया, "कोई भी नहीं।" जब रानीने उलटे वही प्रश्न उससे किया तब राजाने भी वही उत्तर दिया। इस प्रश्नको लेकर राजा बुद्धके पास आए। बुद्धने निर्णय दिया, "विचारवान् भले ही सारे संसारमें घूम ले, उसे आत्मासे प्रिय कुछ भी नहीं मिलेगा। जो आत्मासे प्रेम करेगा वह किसीकी भी हिंसा नहीं करेगा।" (संयुत्तनिकाय, सगाथ वग्ग, कोसल संयुत्त, सुत्त ८)। इस स्थानपर उपनिषदोंकी परमात्माकी कल्पनाका आधार लिये बिना बुद्धके उपयुक्त निर्णयके वास्तविक अर्थको, उसके मर्मको नहीं समझा जा सकता।

बुद्धका धर्मसन्देश प्रधान रूपसे शाश्वत नीतिका सन्देश है। इसलिए विश्वरचना, परलोक तथा पुनर्जन्मसम्बधी विचार-पद्धतिका पूरकके रूपमें स्वीकार भले ही हुआ हो; उसे मुख्य स्थान प्राप्त न था। अतएव बुद्धके महानिर्वाणके उपरान्त यद्यपि बुद्धके अनुयायियोंमें असंख्य मतभेद उत्पन्न हुए, तो भी बुद्ध-संघकी शक्तिका विस्तार होता गया। इसका कारण यह है कि मतभेदोंके रहते हुए भी विश्वव्यापी मैत्री, अनहंकारता तथा सहिष्णुताकी विशुद्ध भावनाने सिर्फ़ बुद्ध-संघको एक ही सूत्रमें ग्रथित करके सन्तोषकी साँस नहीं ली; अपि तु राष्ट्रभेद तथा देशभेदकी सीमाओंका भी पार करनेका गौरव प्राप्त किया। बुद्धके परवर्ती कालमें उनके आदेशको निश्चित करनेवाली अनेक परिषदें बुलाई गईं। बुद्धके महानिर्वाणके उपरान्त तीसरी परिषद् सम्राट् अशोककी प्रेरणासे संपन्न हुई। सम्राट् अशोकके बौद्ध धर्ममें दीक्षित हो जानेके बाद बौद्ध धर्म भारतवर्षकी सीमाओंको लाँघकर विश्वव्यापनके कार्यमें प्रवृत्त हुआ। केवल राज्यको शक्तिसंपन्न एवं सुस्थिर बनाना और उसका विस्तार करना ही राजाका कर्तव्य नहीं है; प्रजाके सद्गुणोंका संवर्धन करना भी उसका कर्तव्य है यह हिन्दुओंका राजनीतिक सिद्धान्त उनके राज्यशास्त्रमें अशोकके पूर्ववर्ती कालसे ही स्वीकृत हुआ था। हिन्दू राज्यशास्त्रमें बलसंवर्धनकी अपेक्षा लोकसंवर्धनकी कल्पनाका स्वीकार मूल तत्त्वके रूपमें पहलेसे ही हुआ था। यह परम्परासे प्रतीत होता आया था कि राजा प्रजाके पापका भागी है; अतएव प्रजासे कर-भारका स्वीकार करते हुए उसे पुण्यशील बनानेका उत्तरदायित्व राजाके ही सिरपर आता है। बौद्ध धर्मकी दीक्षाका स्वीकार करके अशोकने इन तत्त्वोंको शक्ति प्रदान की; उन्हें नई दिशा दिखलाई।

सम्राट् अशोककी बौद्ध दीक्षा

बुद्धके पश्चात् लगभग दो सौ अठारह वर्षोंके उपरान्त (ईसाके पूर्व २६२) सम्राट् अशोकने बौद्ध धर्मकी दीक्षाका स्वीकार किया। वह मूलतः जैन था; परन्तु ब्राह्मण-धर्मके विषयमें बड़ी ही उदारता और आदर-भावना रखता था। प्रथम तो उसने उपासकके रूपमें बौद्ध धर्मकी दीक्षा ली और दो वर्षोंके बाद स्वयं बुद्ध-भिक्षु बन गया और धर्म-प्रवर्तनके कार्यका अंगीकार किया। उसने व्यर्थ व्ययका, व्यर्थ वैरों तथा दण्डदानका निषेध किया और सूक्ष्म तात्त्विक मतभेदोंको पूर्ण रूपसे टाल दिया। वह अपने शिलालेखोंमें न चार आर्यसत्योंका निर्देश करता है, न अष्टाङ्गयुक्त मार्गका, न प्रतीत्यसमुत्पादका, न बुद्धकी दिव्यताका। निर्वाणकी कल्पनाका उच्चारण भी उनमें नहीं मिलता। धर्मदानकी प्रशंसा अवश्य ही बहुत की है। इसका अर्थ यह है कि उसने बौद्ध धर्मके इस सच्चे मर्मको भली भाँति समझ लिया कि प्रत्यक्ष नैतिक जीवनका निर्माण करना ही प्रधान उद्देश्य है। धार्मिक उपासनाओंके मार्ग धार्मिक वैरोंके कारण बनते हैं। ब्राह्मण-धर्मके देवताओंकी पूजाकी विधियोंको मान्यता प्रदान करके सम्राट् अशोकने असभ्य या बर्बर लोगोंमें भी धर्मके प्रसारका कार्य किया। देवताओंके रथोत्सवों तथा होम-हवनोंका पुरस्कार करनेमें भी उसने आनाकानी नहीं की। प्राणि-वधका निषेध, मानव तथा अन्य प्राणियोंको वैद्यकीय सहायता देनेका प्रबन्ध, वृक्षोंका आरोपण, प्रवासियोंकी सुखपूर्ण सुविधाएँ, भवनोंका निर्माण आदि बातोंपर उसने जोर दिया। सामान्य, सरल सद्गुणोंका उपदेश देते हुए उसने कहा, "सद्गुणोंका संवर्धन करो। मजदूरों तथा दासोंके साथ प्रेमका व्यवहार करो। माता तथा पिताकी आज्ञाओंका पालन करो, मित्रों, सहयोगी बन्धुओं, तपस्वियों तथा ब्राह्मणोंके साथ औदार्य एवं आदरका बर्ताव करो। प्राणिमात्रपर दया करो।" भारतकी प्राचीन परम्परामें यह विचार रूढ था कि राज्यकी प्रत्येक कुटुम्बव्यवस्थाको सुचारु रूपसे चलानेका उत्तरदायित्व राजापर है। बुद्ध-धर्मके तत्त्वोंसे इस विचारका अधिक पोषण हुआ। वयोवृद्ध तथा दीन व्यक्तियोंके पालनका उत्तरदायित्व अशोकने धार्मिक अधिकारियोंपर रखा। उसके लिए 'धर्ममहामात्र' नामकी संज्ञासे युक्त उच्च अधिकारीको नियुक्त करनेकी प्रथाका आरम्भ किया। राज्यके धार्मिक संगठनको उसनें 'धर्ममहामात्रों'को ही सौंप दिया। सैंतीस वर्षोंके शासनमें अशोकने पुनः पुनः पर्यटन करके अपने साम्राज्यमें आदर्श राज्यसंस्थापनाका महान् प्रयत्न किया।

तीसरी धर्मपरिषदके उपरान्त धर्म-प्रसारके कार्यको नया प्रोत्साहन मिला। अशोकने धर्मके प्रचारकोंको समूचे भारतवर्षमें और भारतवर्षके बाहर भी भेजनेका सूत्रपात किया और हिमालयसे लेकर कन्याकुमारीतकके प्रदेशोंमें धर्मका आदेश देनेवाले स्तम्भों, शिलालेखों, विहारों तथा स्तूपोंका निर्माण किया; अनेकों नवीन नगरोंको बसाया। यह प्रसिद्ध है कि काश्मीरमें श्रीनगर, नेपाल, देवपट्टण आदि शहरोंको अशोकने आबाद किया। धर्म-प्रसारमें इसका बहुत ही उपयोग हुआ। उसका समूचा परिवार तथा उसके अनेक सम्बन्धी बान्धव धर्मके प्रचारक बने। रानी कुन्तीके दो पुत्र–तिष्य तथा सुमित्र-प्रथम भिक्षु बने। अशोकके सुपुत्र महेन्द्र तथा सुकन्या संघमित्राने भिक्षुओंकी दीक्षाका स्वीकार करके सिंहलद्वीप याने सीलोनमें धर्म-स्थापना की और वहाँके राजाको धर्मकी दीक्षा दी। सिंहलद्वीपमें धर्मचक्र-प्रवर्तनके लिए जो भिक्षु गए थे उनका चित्रण अजंताकी गुहाओंमें पाया जाता है। अशोकने काश्मीर तथा गान्धार देशोंमें भिक्षु मध्यान्तिकको, यवन देशमें महारक्षित-को, दक्षिणापथमें महादेवरक्षितको और अपरान्तकमें धर्मरक्षित तथा महाधर्म-रक्षितको भेज दिया। मज्झिम निकायमें अशोकके इस कार्यका विस्तारसे वर्णन किया गया है। भारतीय इतिहासके इतिहासिक व्यक्तियोंमें महान् धार्मिक सन्त तथा अप्रतिम राज्यकर्ता दोनोंका अनूठा संगम पहले पहल अशोकमें ही पाया जाता है। रामका व्यक्तित्व भी इसी तरहका अवश्य है; परन्तु वह काव्यका विषय है, पुराणोंका विषय है। मानवोंके उद्धारके लिए हिन्दू संस्कृतिको भारत-वर्षके बाहर पहुँचानेमें ही अशोककी वह सर्वोपरि विशेषता है जो हिन्दुओंकी दृष्टिसे निस्सन्देह अभिमानास्पद है।

बौद्ध धर्मकी विश्वव्यापन-पद्धति

बौद्ध धर्म संसारका प्रथम विश्व-धर्म है। स्वधर्मकी दीक्षा देकर सर्व मानवोंको पावन करनेका आग्रह या अभिनिवेश रखनेवाला प्रचारक धर्म ही विश्व-धर्म है। धर्मेतिहासके शास्त्रके यही विश्व-धर्मकी मानी हुई परिभाषा है। संसार भरमें इस तरहके जितने धर्म हैं उनमें बुद्ध-धर्म ही सर्वोपरि सिद्ध होता है। वह ऐसा प्रचारक धर्म है जो प्रचारस्पर्धाके अनुषङ्गमें उत्पन्न होनेवाले विद्वेषसे अछूता रहा। अतएव ईसाई तथा इस्लाम धर्मोंकी अपेक्षा इसका यश अधिक उज्ज्वल सचमुच महान् है। तामस आक्रमणद्वारा अन्य मतोंका बलात् विध्वंस करनेके मोहसे बुद्ध धर्मके प्रचारक सर्वथा अलिप्त रहे; उनकी प्रचार-पद्धति सर्वसंग्राहक थी। शिंटो, कन्फ्यूशिअसका संप्रदाय अथवा

ताओ आदि पौर्वात्य धर्म-पद्धतियोंका विरोध न करते हुए उनसे हेलमेल स्थापित करके बौद्धोंने अपनी शुभ दृष्टि उन्हें प्रदान की। चमेलीके फूल वस्त्रोंको सुगन्ध तो प्रदान करते हैं, परन्तु उनके रंगको अक्षुण्ण रखते हैं; उसी तरह अन्य धर्मोंको बाधा न पहुँचाते हुए बौद्धोंने अपने निर्वाणका सन्देश उनतक पहुँचा दिया। जिस तरह समुद्रसे आए हुए पवनके झोंके अपने साथ पर्जन्यको लाते हैं और जहाँ पहुँचते हैं वहाँके प्राकृतिक स्वभावका विकास करते हैं उसी तरहका कार्य बौद्धोंने देश-विदेशोंमें घूमकर किया। शान्तिके सन्देशको सर्वत्र फैलानेके लिए हिन्दुओंने ईसाई तथा इस्लाम धर्मोंकी तरह शस्त्रका स्वीकार कभी नहीं किया, राजसत्ता तथा राजाश्रयके रहते हुए भी उनका उपयोग धार्मिक अन्यायों तथा अत्याचारोंके लिए कभी नहीं किया। महासागर तथा हिमालयके समान उत्तुङ्ग पर्वतोंके प्रतिबंधों तथा संकटोंकी तनिक भी परवाह न करते हुए पूर्ण रूपसे अपरिग्रही हिन्दू भिक्षुओंने मानव-प्रेमकी सामर्थ्यके आधारपर ब्रह्मदेश (बर्मा), चीन, जापान, मंगोलिया, मध्य एशिया, तुर्कस्तान आदि सुदूर देशोंमें धर्मचक्रका प्रवर्तन किया। केवल चीवर, कमण्डलु, भिक्षा-पात्र, उपानह, कम्बल जैसे सामान्य बाह्य साधनोंको लेकर पर्यटन करनेवाले पदातिक भिक्षुओंने हिमाच्छादित उत्तुङ्ग शिखरोंको लाँघकर, निबिड अरण्योंके बीच रास्ता निकालकर धर्मके ध्वजको सुदूर देशोंमें फहराया। सच है, अहिंसा तथा शान्तिकी शक्ति अद्‌भुत सांस्कृतिक पराक्रमोंको जन्म देती है। शुद्ध विश्वप्रेमके कारण इन पराक्रमोंको अहंकार एवं हिंसाका लवलेश भी पंकिल नहीं करता। यही पौर्वात्य संस्कृतिकी अनुपम विशेषता है और इस संस्कृतिमें उक्त विशेषताके उत्पन्न होनेका कारण है पौर्वात्य संस्कृतिकी तहमें विद्यमान वह मूल संवेदना जो मानवी मनको सीमाओंसे परे मानती है। श्रेष्ठ धार्मिक सत्य मानवी संकेतोंसे बद्ध नहीं हो सकता, इस सत्यकी गहरी अनुभूतिसे यह संस्कृति अनुप्राणित है। इसी महान् अनुभूतिके कारण धार्मिक विग्रहोंके भीषण युद्धोंसे भारत तथा चीन इन्हीं दो देशोंका इतिहास रक्तरञ्जित नहीं हो पाया। बौद्ध धर्मका इतिहास स्पष्टतया इस बातका साक्षी है।

बुद्धका यह बड़ा निर्बन्ध था कि चुन चुनकर उन्हीं प्रचारकोंको बाहर भेजें जिनके रोम-रोममें अहिंसाका महाव्रत पूर्ण रूपसे समाया हुआ हो। इसका उत्कृष्ट उदाहरण पूर्ण नामके शिष्यके संवाद या वार्तालापमें पाया जाता है। "भगवान् बुद्धके जीवनमें ही उनका धर्म मध्यदेशमें चारों ओर फैल गया था। बौद्ध भिक्षु

खासकर वार्तालापके द्वारा धर्म-प्रसार करते थे । पूर्व दिशामें भागलपुर, पश्चिममें गान्धार, उत्तरमें हिमालय तथा दक्षिणमें विन्ध्यपर्वतके बीचका प्रदेश मध्यदेश कहलाता था ।

पूर्ण नामके बुद्धके एक शिष्य थे । वे एक दिन भगवान् बुद्धके पास आकर संक्षेपमें धर्मोपदेश करनेकी प्रार्थना करने लगे । उपदेश देनेके बाद भगवान् तथागतने पूछा, " पूर्ण, अब तुम किस प्रदेशमें जाओगे ? "

पूर्ण– भगवन्, आपके इस उपदेशका ग्रहण करके मैं अब सुनापरंत नामके प्रदेशमें जाऊँगा ।

बुद्ध– हे पूर्ण, सुनापरंत प्रान्तके लोग बड़े कठोर और क्रूर हैं । अगर वे तुम्हें गालियाँ देंगे, तुम्हारी निन्दा करेंगे तो तुम्हें वह कैसा लगेगा ?

पूर्ण– तब तो भगवन्, मुझे वे लोग अच्छे ही मालूम होंगे; क्योंकि मैं सोचूँगा कि उन्होंने मुझपर हाथोंसे प्रहार नहीं किए ।

बुद्ध– और अगर वे हाथोंसे तुमपर प्रहार करें तो ?

पूर्ण– तो भी उन्हें मैं अच्छा ही समझूँगा; इसलिए कि उन्होंने मुझे पत्थरोंसे नहीं मारा ।

बुद्ध– और यदि वे पत्थरोंसे मारना शुरू करें तो ?

पूर्ण – तब तो उन्हें मैं बहुत ही अच्छा समझूँगा; इसलिए कि उन्होंने मुझपर दण्डप्रहारका उपयोग नहीं किया ।

बुद्ध – और अगर वे दण्डप्रहारका भी खूब उपयोग करें तो ?

पूर्ण – तब शस्त्रप्रहारका उपयोग न करनेके कारण मैं उनकी भलाई ही समझूँगा।

बुद्ध – और वे यदि शस्त्रप्रहार करना आरम्भ करें तो ?

पूर्ण – तब मैं उनकी यह भलाई समझूँगा कि उन्होंने मेरा वध नहीं किया ।

बुद्ध – और अगर वे तुम्हारा वध भी कर दें तो ?

पूर्ण – भगवन्, अनेकों भिक्षु इस शरीरसे बिलकुल ऊबकर आत्महत्या कर लेते हैं । इस तरहके शरीरका यदि सुनापरंतके निवासी विध्वंस कर डालें तब तो वे मेरे उपकार-कर्ता ही सिद्ध होंगे । अतएव मैं उन्हें बहुत ही अच्छा समझूँगा ।

बुद्ध – साधु (शाबाश) पूर्ण, साधु ! इस प्रकारके शम-दमसे संयुक्त होकर तुम सुनापरंत प्रदेशमें धर्मोपदेश देनेमें निश्चय ही समर्थ सिद्ध होगे । "

[(मज्झिम निकाय) बुद्ध-धर्म और संघ–धर्मानन्द कोसम्बी पृ. ८०,८१]

बौद्ध धर्म-साहित्य

वैदिक परम्परामें जिस धर्मका उदय तथा विकास हुआ उस हिन्दूधर्मकी प्रमुख भाषाके रूपमें अबतक टिकी रही। इस परम्पराने धर्मकी दृष्टिसे प्राकृत भाषाओंको स्थायी रूपमें दूसरा स्थान दिया। परन्तु प्राचीन कालमें हिन्दुओंके दो सुधारक संप्रदायोंने याने जैन तथा बौद्ध धर्मोंने और मध्ययुगके भक्ति-संप्रदायोंने धर्मकी दृष्टिसे प्राकृत भाषाओंको प्रधानता दी। ईसाके पूर्व पाँचवीं शताब्दीसे ही प्राकृत भाषाएँ धार्मिक भाषाएँ बनीं। प्राकृतका सबसे पुराना नमूना है पाली। इसके पूर्ववर्ती कालमें वैदिक भाषासे उत्पन्न प्राकृत भाषा प्रचलित थी। बुद्ध-धर्मने उसे साहित्यकी प्रतिष्ठा प्रदान की। त्रिपिटकोंकी रचना पालीमें हुई। यह रचना तो उत्तर भारतमें हुई; परन्तु अबतक त्रिपिटकोंकी सुरक्षा सीलोन, ब्रह्मदेश (बर्मा) तथा सयाममें हुई है। त्रिपिटकोंमें बुद्धकी उक्तियाँ तथा प्रवचन संगृहीत हैं। उनमें बुद्धके पश्चात् बहुत भरती हुई। अशोकके समय त्रिपिट-कोंके मूल स्वरूपका प्रथम संस्कार हुआ। त्रिपिटकोंका उपलब्ध रूप ईसाके पूर्व पहली शताब्दीका है। त्रिपिटकके तीन खण्ड हैं—सुत्त पिटक, विनय पिटक और धम्म पिटक। इनमें प्रधानतया उस बौद्ध धर्मका प्रतिपादन किया गया है जो हीनयान संप्रदायको मान्य था। हीनयान प्राचीन बौद्ध धर्मका नाम है। ईसाकी पहली शताब्दीमें भारतवर्षके बौद्ध धर्मको महायानका रूप प्राप्त हुआ। उसमें बुद्धको ईश्वर माना गया और धर्म-भाषाके रूपमें संस्कृत भाषाका पुनः स्वीकार किया गया।

सुत्तपिटकमें बुद्ध-धर्मका अनुसरण करनेवाली दिनचर्याका और सामान्य रूपसे बुद्ध-धर्ममें विहित आचार मार्गका प्रतिपादन किया गया है। विनय पिटकमें बौद्ध धर्मका विवरण तथा बुद्ध-शिष्योंका वर्णन उपस्थित हैं। इस पिटकके पाँच विभाग हैं जो निकाय कहलाते हैं। निकायका अर्थ है संग्रह। बुद्ध-भिक्षुओंका जीवन-क्रम ब्राह्मणों अथवा वैदिकोंके जीवन-क्रमसे किस तरह भिन्न है, वैदिक धर्म और बुद्ध-धर्ममें किस प्रकारकी समता तथा विषमता विद्यमान है, आदिके सम्ब-न्धमें इन निकायोंमें विवरण किया गया है। बुद्धके परिनिर्वाणसे सम्बद्ध वृत्तान्त विस्तारके साथ इनमें उपस्थित है। परिनिर्वाणका अर्थ है अवतारकी समाप्ति। ब्राह्मणी यज्ञ, तपके प्रकार, जैन धर्मसे बौद्ध धर्मका सम्बन्ध, भिक्षु-चर्या आदिपर प्रकाश डालनेवाले अनेकों प्रवचन इन निकायोंमें पाये जाते हैं। खासकर पाँचवें निकायमें हिन्दू बौद्धोंकी महत्त्वपूर्ण और काव्यमय रचना पाई जाती है। इस निका-

यका मेत्ता सुत्त विश्वव्यापी प्रेमका स्तवन करनेवाला काव्य है। इस पिटककी और एक विशेषता यह है कि इसमें 'धम्मपद' नामका प्रसिद्ध श्लोक-संग्रह है जो कि बुद्ध-धर्मका सारसर्वस्व माना जाता है। धम्मपदका नैतिक सौन्दर्य समूचे संसारमें सुप्रसिद्ध है। 'इतिवुत्तक' नामका बुद्धकी उक्तियोंका गद्यपद्यात्मक संग्रह भी इस पिटकमें विद्यमान है। थेरगाथा तथा थेरीगाथा याने बौद्ध ध्येयवादपर वृद्ध भिक्षुओं तथा भिक्षुणियों द्वारा गाए गए उदात्त गीत भी इसमें हैं और 'जातक' नामसे प्रसिद्ध कथाओंका संग्रह भी है। चातुर्य, नीति तथा अद्भुत सामर्थ्यकी परिचायक, प्राचीन लोक-कथाओंको बुद्धके पूर्वजन्मकी कथाओंका रूप प्रदान करके यह जातकसंग्रह लिखा गया है। तृतीय पिटकमें द्वितीय पिटकके ही विषय अधिक पाण्डित्य-पूर्ण ढंगसे प्रश्नोत्तरोंके रूपमें रखे गये हैं।

अन्य पाली ग्रंथोंमेंसे 'मिलिन्द पन्ह' नामकी पुस्तक हिन्दू बौद्धोंकी ही लिखी हुई है। शेष सब ग्रंथ सीलोनके बौद्ध भिक्षुओं द्वारा लिखे गए हैं। 'मिलिन्द पन्ह' ग्रंथकी रचना भारतके वायव्य विभागमें हुई। सिन्धु प्रदेश, गुजरात तथा गंगाके आसपासके प्रदेश पर राज्य करनेवाले यूनान वंशके राजा मिलिन्द अथवा मिनांडर और बौद्ध आचार्य दोनोंमें धर्म और दर्शनके विषयमें जो वार्तालाप हुआ उसे इसमें ग्रथित किया गया है। इस वार्तालाप या संवादकी रचना ईसाके पूर्व पहली शताब्दीमें हुई होगी।

पाली भाषामें जो बुद्ध-धर्म है, वह हीनयान पन्थ है। हीनयानका अर्थ है छोटा रथ। कहा जाता है कि इस संप्रदायके विचारोंका प्रतिपादक धर्मग्रंथ संस्कृतमें भी ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दीमें ही लिखा गया होगा। आज भी इसके धर्मपद, महावस्तु, बुद्धचरित आदि भाग पाए जाते हैं। महायान पन्थने संस्कृतमें भी विपुल साहित्यका निर्माण किया था; परन्तु वह संस्कृत कई स्थानोंपर सम्मिश्र अथवा अशुद्ध है। 'ललितविस्तार' इसका नमूना है। उसपर महायान पन्थके संस्कारकी छाप है। 'ललित-विस्तार' वास्तवमें बुद्धचरित है। 'जातकमाला,' 'अवदानशतक', 'दिव्यावदान' तथा 'बुद्धचरित' ये ग्रंथ महायान पन्थसे प्रभावित दिखाई देते है। 'अवदानशतक' ईसाकी दूसरी शताब्दीकी रचना है। इसमें संस्कृतके त्रिपिटकोंके उद्धरण मिलते हैं, जिनके आधारपर यह अनुमान किया जाता है कि संस्कृतमें भी त्रिपिटक थे।

बुद्ध-धर्मके संस्कृतमें लिखित अधिकतर ग्रंथ महायान पन्थके आचार्यों द्वारा विरचित हैं। महायानका अर्थ है बड़ा रथ। महायान पन्थका प्रमुख धार्मिक लक्ष्य

है उस परिस्थितिका निर्माण करना जिसमें आगामी कालके नवीन बोधिसत्वका या बुद्धका अवतार हो। वे बुद्ध समूची मानवजातिको निर्वाणकी प्राप्तिके योग्य बनाएँगे। हीनयान पन्थ त्रिपिटकको वेदोंकी तरह प्रमाण मानता है; परन्तु महायान पन्थका कोई भी ग्रंथ ऐसा नहीं है जो वेदवत् प्रमाण हो। धर्मकी संज्ञासे विभूषित नौ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। इनमें 'सद्धर्म पुण्डरीक' बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। यह गद्यपद्यात्मक है। इसका पद्य या गाथा शुद्ध संस्कृतमें नहीं है। इसकी रचनाका काल ईसाकी दूसरी शताब्दी है। महायान संप्रदायके अनुसार बुद्ध पाली ग्रंथोंमें वर्णित मनुष्य-रूप भिक्षु नहीं थे। बुद्ध सर्वेश्वर हैं, देवोंके भी देवता हैं और शाश्वत विद्यमान रहते हैं। बुद्ध बनना ही हरेक मानवका अन्तिम ध्येय है।

'करण्डव्यूह' नामका पुराण-ग्रंथ चौथी शताब्दीके पूर्व लिखा गया है। इसमें अवलोकितेश्वरका वर्णन है। अवलोकितेश्वर बोधिसत्त्व हैं। वे नीचे प्राणिमात्रकी ओर असीम अनुकम्पासे देखते हैं। जब तक सबको मोक्षलाभ न हो जाय तब तक वे मुक्त होना याने बुद्ध बनना अस्वीकार करते हैं। अखिल मानवजातिके मोक्षकी अति तीव्र चिन्तामें निमग्न और इस तरहकी असीम अनुकम्पासे ओतप्रोत मूर्तिका वर्णन संसारमें अन्यत्र शायद ही मिलेगा।

'नागार्जुन' नामके ब्राह्मण आचार्यने बुद्ध-धर्मकी दीक्षा लेकर लगभग ईसाकी दूसरी शताब्दीमें महायान सिद्धान्तको सुव्यवस्थित रूप प्रदान किया। महायान संप्रदायके अनेकों ग्रंथ ईसाकी तीसरी शताब्दीमें चीनी भाषामें अनूदित हुए हैं। मूर्तियों तथा मन्दिरोंके रूपमें महायान सिद्धान्तका कलात्मक आविष्कार ईसवी सनके प्रारम्भमें ही शुरू हो गया था। इस कलाकी रचना गान्धार शैलीमें हुई है। पेशावरके निवासी ब्राह्मणपुत्र आसंगने ईसाकी तीसरी शताब्दीके अन्तमें महायान संप्रदायको योगविद्यासे संयुक्त किया।

भारतमें बौद्ध धर्मके न्हासके कारण

अशोकसे (ईसाके पूर्व २७४) लेकर थानेश्वरके हर्षवर्धन (ई. स. ६०६) तक बुद्ध-धर्मको उदार आश्रय एवं आधार देनेवाले बड़े बड़े भारतीय सम्राट् उत्पन्न हुए। बड़े बड़े ब्राह्मण पण्डित भी भिक्षुओंके संघमें सम्मिलित होकर बुद्ध-धर्मके प्रचारक बने। वैश्यों तथा शूद्रोंके समूहोंने उस धर्मका अङ्गीकार किया। ईसाकी दसवीं शताब्दीसे उसकी अवनति वेगसे आरम्भ हुई। वर्तमान समयमें भारतवर्षमें वैभवशाली कलाओंके अवशेष, तत्त्वज्ञान और

साहित्य इतनी ही बौद्ध बातें शेष रही हैं। बुद्ध-धर्म भारतसे निर्वासित हो गया। इसका प्रधान कारण है परम्परागत श्रौत तथा स्मार्त धर्मका वह नवीन संस्कार जो ब्राह्मणों द्वारा किया गया। वैदिक परम्पराके बाहरके देवताओं तथा धर्मकी विधियोंमें सुविधाके अनुसार परिवर्तन करके ब्राह्मणोंने उनका स्वीकार किया और आम जनतामें अपने आसनको सुस्थिर बनाया। बौद्ध तथा जैन श्रमण कुटुम्ब-संस्थासे दूर ही रहे। इसके विपरीत वैदिक धर्मके समर्थकोंने स्मार्त तथा पौराणिक संस्कारों और धर्म-विधियोंकी सहायतासे जनताके कौटुम्बिक जीवनसे एकरूप होकर उसके हृदयमें अविचल एवं अटल स्थान पा लिया। जन्म, विवाह, मृत्यु, अनाजको बोनेके दिन, फसलके दिन, वसन्तोत्सव आदि भावनाओंको उत्तेजित करनेवाले प्रसङ्गोंको धार्मिक संस्कारोंकी सहायतासे पावित्र्य-पूर्ण बनानेका कार्य ब्राह्मणोंने किया। मानव-जीवनके व्यक्तिगत, कौटुम्बिक अथवा सामाजिक सुखों तथा दुःखोंकी भावनाएँ जब क्षुब्ध होती हैं तब उनमें दैवी शक्ति अथवा पवित्रताको ढालनेसे मानवोंके अन्तःकरणोंकी शक्तियाँ आवश्यकतासे अधिक प्रक्षोभसे दूषित नहीं हो पातीं। मानसिक दुर्बलताओं या विकृतियोंको टालनेका कार्य धर्म-विधियोंकी सहायतासे संपन्न होता है। जैन तथा बौद्ध श्रमण धार्मिक विधियोंकी इस महिमाको समझ न सके। अतएव अन्तमें ब्राह्मणोंने समाजमें अपने स्थानको कायम रखनेमें यश पाया।

ईसाकी आठवीं सदीके आरम्भसे ही भारतमें बौद्ध धर्मकी गिरावटका प्रारम्भ हुआ। इसका दूसरा कारण यह है कि बुद्ध-धर्ममें दीर्घकालतक याने जबतक भारतमें हीनयान संप्रदायका प्रभाव कायम था तबतक ईश्वर-भक्तिके सिद्धान्तका अभाव था। बुद्ध-धर्मने बुद्धको ईश्वर बनानेकी प्रक्रियाका आरंभ किया। इसका यह अर्थ होता है कि बुद्ध-धर्मको अपने मूलभूत धार्मिक अभावका बोध हुआ। बौद्धों तथा जैनोंके दर्शनोंमें ईश्वरके अस्तित्वका खण्डन किया है। यह सच है कि महायान पन्थने बुद्धको ईश्वरका रूप देनेका प्रयत्न किया; परन्तु इस पन्थके तत्त्व-दर्शनमें ईश्वरका समर्थन नहीं पाया जाता। ईश्वरकी कल्पना स्वाभाविक रूपसे प्राचीन तथा मध्ययुगीन मानवजातिके हृदयमें स्थान ले रही थी; क्योंकि उस समय विश्वकी समस्या उतनी सुलझी हुई नहीं थी जिससे विश्वका ईश्वरनिरपेक्ष कार्यकारण-भाव समझमें आ सके। मानवके जीवन तथा भविष्यपर अज्ञात अनन्त शक्तियोंका अधिकार है। इस सम्बन्धमें सुखों तथा दुःखोंसे भरी हुई अनुभूति मानवको पराधीनताका तीव्र एवं

गंभीर ज्ञान कराती थी । अपनी शक्तिसे, आत्मसामर्थ्यसे आत्माका उद्धार करनेके लिए प्रबल आत्मविश्वासकी आवश्यकता है । वह उस समय साधारण मानवके बसके बाहरकी बात थी और आज भी है । अतएव जिस आत्माको पराधीनता, दुर्बलता तथा क्लीबताका निरन्तर भान होता हो, वह अपने उद्धारके लिए कल्याणमय तथा अनन्त भव्य-शक्तिके आधारको पानेकी उत्कण्ठासे प्रेरित तो हो ही जाएगी और आपत्तियोंके समय बड़े ही आर्त हृदयसे करुणाका आवाहन अवश्य करेगी । इस तरहके अगतिक तथा आर्त मानवहृदयको ' मा शुचः' याने ' शोक मत करो ' कहकर आश्वासन देनेवाला वरद हस्त शैव तथा भागवत धर्मोंने आगे बढ़ाया । शैव तथा वैष्णव धर्मोंकी भक्तिके सम्मुख बौद्ध-ध्यान विचलित हुआ । साधारण मानव स्वाभाविक रूपसे ध्यानकी अपेक्षा भक्तिपूर्ण भजनके रंगमें रंग जाते हैं । वहाँ परमार्थ निराकार तथा निर्गुण नहीं रहता; वह सगुण एवं साकार बनता है । जनताके मनपर बौद्ध धर्मका जो अधिकार जमा था उसे भक्तिमार्गने नष्ट किया । अतएव बौद्ध धर्म भ्रष्ट और अन्तमें भारतसे निर्वासित हुआ । जैन धर्मका भी संकोच हुआ । शैवों तथा वैष्णवोंके पुराणोंका अनुकरण करनेके बावजूद भी उसे यश प्राप्त न हो सका; क्योंकि उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि उसके लिए अनुरूप नहीं थी ।

बुद्ध-धर्मको पहले पहल जो यश प्राप्त हुआ उसका कारण यह था कि परम्परागत वैदिक तथा अन्य देवताओंका स्वरूप शुद्ध नीतिके तत्त्वोंका परिपालक नहीं रहा था । वैदिक तथा अन्य देवताओंकी कथाएँ तथा तत्सम्बन्धी कर्मकाण्ड दोनों शुद्ध नैतिक आचरण तथा मनके निग्रहके लिए पोषक नहीं थे । चित्तकी शुद्धता तथा सदाचारकी महिमाको पहले पहल प्रकाशमें ले आनेका काम उपनिषदोंने किया । तीर्थंकर तथा बुद्ध उस महिमाके विशुद्ध स्वरूपको साधारण जनताकी पहुँचकी परधिमें ले आए । परन्तु उन्होने इस महिमाको ईश्वर-भक्तिके साथ नहीं जोड़ा । शैव तथा वैष्णव धर्मोंने ईश्वरको नीति-तत्त्वोंके परिपालकका, वीतराग मुनियोंके तारकका रूप दिया । इसीसे उनके सामने बौद्ध तथा जैन धर्म निष्प्रभ हुए ।

शिव, विष्णु, सरस्वती, महादेवी आदि देवताओंका स्वीकार करके महायान पन्थने पौराणिक हिन्दू धर्मकी परम्परासे जोड़नेका प्रयत्न किया । अन्तमें तंत्रमार्गका भी अवलम्ब करके गुप्तविद्या, जादू तथा संभोगकी प्रवृत्तियोंके उत्तेजक कर्मकाण्डों और सांघिक पूजा-प्रकारोंकी बौद्ध धर्ममें धूम मची । शैव तंत्रोंका

आश्रय लेकर अन्य शैव देवताओंके साथ लिङ्गपूजाका भी स्वीकार किया गया। परन्तु इस तरहके समन्वयमें बुद्ध-धर्मका ही लोप हो गया।

बौद्धप्रणीत भारतीय कला

हिन्दू धर्मके इतिहासिक स्वरूपको निश्चित करनेमें बुद्ध-धर्मका इतिहास तथा कलाओंका अध्ययन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। बुद्ध-धर्मके प्रथम काल-खण्डमें ही जब हीनयान सिद्धान्त प्रचलित हो रहा था तब भारतीय स्थापत्यकला तथा मूर्तिकलाका धार्मिक रूपमें अवतार हुआ। अशोकका साम्राज्य (ईसाके पूर्व २७२ से २३१) भारतभरमें फैला हुआ था। इसी समय भारतीय कलाके इतिहासका सूत्रपात होता है। स्मारकोंकी रचनाके लिए पाषाणोंका उपयोग इस समय शुरू हुआ। बुद्धके अवशेषोंको लेकर उनपर स्तूपोंकी रचना पहले आरम्भ हुई। मध्यभारतका साँचीका स्तूप सबसे पुराना और उत्कृष्ट ढंगसे सुरक्षित नमूना है। यह पृथ्वीके अर्धगोलकी तरह दिखाई देता है। ईंटोंसे इसकी रचना हुई है और इसकी संरक्षक वृति तथा प्रवेशद्वार पाषाणोंसे बने हैं। ईमारतके काठके कामकी तरह यह पत्थरोंका काम है। स्तूपके मस्तकपर सन्दूकके जैसा आसन और उसपर छत्र तैयार किया जाता था। यह सम्राट्का चिह्न है। यह तो आजकाल स्तूपोंपर नहीं दिखाई देता; परन्तु वह प्राचीन कालमें जरूर रहा होगा इसका अनुमान स्तूपोंमें खोदे गए चित्रोंसे किया जा सकता है। भारतीय तथा चीनी स्थापत्यकलाके विकासमें स्तूपकलाका बड़ा ही अच्छा उपयोग हुआ। तोरणों या बन्दनवारों तथा प्रवेश-द्वारोंकी रचनाका अनुकरण एशियाके अन्य देशोंमें हुआ। बौद्ध स्थापत्यका दूसरा प्रकार है बौद्ध सभागृह। ईसाइयोंके गिरजाघरों तथा बौद्धोंके चैत्योंमें बहुत ही समता है। ये चैत्य पर्वतमें पाषाणोंमें खोदे गए हैं। इनके एक छोरपर बीचों-बीच, सामने स्तूप रहता है। चैत्यमें जिस जगह स्तूप रहता है उसी स्थानपर गिरजाघरमें वेदी रहती है। चैत्योंके सुन्दर नमूने अजंताकी गुहाओंमें विद्यमान हैं। बम्बई-पूना रेल्वे मार्गके निकट कार्लामें एक सबसे सुन्दर चैत्य विद्यमान है। संगतराशीके ये सब काम ईसाके पूर्व २५० से ई. स. ६०० तक के कालमें संपन्न हुए हैं। तीसरा स्थापत्य-प्रकार है विहार अथवा बौद्ध मठ। भारतमें करीब करीब एक सहस्र विहार पाए जाते हैं। प्रधान रूपसे महाराष्ट्र ही इनका मुख्य स्थान है। अजंता, वेरूल, नासिक, जुन्नर, भाजे, नाणेघाट आदि स्थानोंपर ये विहार बड़ी अच्छी अवस्थामें विद्यमान हैं। बीचमें सभागृह और चारों ओर शयनकी कक्षायें यही इनका साधारण रूप रहता है। प्राचीनतम विहारोंके कमरोंमें

पत्थरका शय्यास्थान रहता है। करीब करीब चालीस विहार ईसाके पूर्ववर्ती कालके हैं।

ई. स. ५० तक बुद्ध-धर्म हीनयान संप्रदायके रूपमें ही विद्यमान था। उसमें बुद्ध-मूर्तिकी पूजा नहीं थी। अतएव उस समयकी कलामें बुद्ध-मूर्ति नही पाई जाती। उस कालमें स्तूप, बोधिवृक्ष, बुद्ध-चरण, त्रिशूल तथा धर्म-चक्रको ही पवित्र मानकर उन्हें प्रणिपात किया जाता था। भारहूत, साँची तथा बुद्धगयाके स्तूपोंमें और महाराष्ट्रकी स्थापत्यकलामें इस बातका प्रतिबिम्ब मिलता है। बौद्ध कलाके द्वितीय युगमें याने महायान संप्रदायके प्रभावके समय ईसाकी दूसरी शताब्दीसे बुद्ध मूर्तियोंके निर्माणका प्रारम्भ हुआ। कहा जाता है कि गान्धार देशमें काबुल तथा स्वात नदियोंकी उपत्यकामें बुद्धकी मूर्तियोंका प्रथम निर्माण हुआ। पहले उस बुद्ध-मूर्तिका निर्माण हुआ जो सिद्धासन या पद्मासनपर स्थित और तेजोवलयसे संयुक्त थी। समूचे संसारमें इसीका अनुकरण किया गया। अजंताकी गुहाओंमें जिस तरह सिद्धासनपर स्थित बुद्धकी मूर्तियाँ पाई जाती हैं उसी तरह महानिर्वाणके समय शय्यापर लेटी हुई मूर्तिके भी दर्शन होते हैं। इसमें बुद्धके विरहके दुःखमें निमग्न एवं आर्त मानव और उनके निर्वाणसे प्रसन्न होकर पुष्प-वृष्टि करनेवाले देवता चित्रित हैं। अजंतामें जिस तरह स्थापत्यकला तथा मूर्तिकला दोनोंके सर्वथा अजेय ऐश्वर्यके दर्शन होते है उसी तरह भारतीय चित्र-कलाके मनोहर आविष्कारकी चरम सीमाके भी। सच तो यह है बुद्ध-धर्मने कलाको अनुपम तथा अमर ऐश्वर्य प्रदान किया है।

जैन धर्मका उदय, उसके प्रवर्तक महावीर

ईसाके पूर्व छठी शताब्दीमें हिन्दुओंने जिस तरह बौद्ध धर्मको जन्म दिया उसी तरह ही जैन धर्मको भी। कई लोगोंका कथन है कि जैन धर्मकी पूर्व-परम्परा बुद्धके पूर्ववर्ती कालसे ही चली आ रही थी। तीर्थंकर महावीर बुद्धके समसाम-यिक थे। हाँ, इतना तो निश्चय ही कहा जा सकता है कि उन्होंने बुद्धके पूर्व धर्म-स्थापनाके कार्यका आरम्भ किया। त्रिपिटकके बुद्धचरित्रमें 'निगंठ नातपुत्त'के रूपमें महावीरका निर्देश किया गया है। बुद्ध-धर्मकी ही तरह जैन धर्म भी हिन्दूधर्मकी वैदिक परम्परासे फूटकर निकली हुई शाखा है इस बातको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ब्राह्मणोंकी प्रधानता तथा वेदोंका प्रामाण्य दोनोंको मान्यता न देनेके कारण जैन धर्म अलग निकला। ईश्वरके अस्तित्वको न

माननेकी कल्पना वैदिक परम्पराके कपिलमुनिके सांख्य संप्रदायमें भी है । जैन धर्ममें भी कर्मविपाकका सिद्धान्त, संसार, दुःखवाद, तत्त्वज्ञानसे कैवल्यकी प्राप्ति आदि बातें उपनिषदोंके संप्रदायसे अविरुद्ध हैं । क्या वैदिक, क्या बौद्ध, क्या जैन तीनों धर्म वैराग्य तथा संन्यास-दीक्षाको मोक्षका साधन मानते हैं । अतएव यही कहना अधिक युक्तियुक्त दिखाई देता है कि वेदविरोधी होते हुए भी जैन धर्म हिन्दू-संस्कृतिकी ही एक विकसित शाखा है । क्या हिन्दू, क्या जैन दोनोंके, राज-नीति, विधि-विधान या क़ानून, ज्योतिष, वैद्यक, अलङ्कार आदि शास्त्र तथा काव्य अथवा धार्मिक उपासनाकी परिधिके बाहरके सांस्कृतिक अङ्ग एक ही हैं ।

पालीमें लिखित बौद्धोंके धर्मग्रंथोंमें कई बार जैन धर्मका उल्लेख एक विरोधी संप्रदायके रूपमें किया है । उसमें महावीरका तो निर्देश है; परन्तु अन्य तीर्थं-करोंका नहीं है । महावीरका जन्म पाटलिपुत्रसे सताईस मीलकी दूरीपर स्थित वैशाली नगरके ज्ञात नामके क्षत्रिय कुलमें हुआ । तीस वर्षकी अवस्थामें माता तथा पिताके वियोगके उपरान्त परिव्राजक बनकर उन्होंने बारह वर्षोंतक तपस्या की । तत्त्वके साक्षात्कारके उपरान्त वे कैवल्यके पदपर आसीन हुए और बहत्तर वर्षकी अवस्थातक (ईसाके पूर्व ४८०) उन्होंने धर्मकी स्थापनाका महान् कार्य किया । अन्तमें 'पावा'में उन्होंने अन्तिम समाधि ली ।

जैन धर्मग्रंथोंकी पौराणिक कल्पनाके अनुसार महावीरके पूर्व तेईस तीर्थंकर हुए थे । इसके लिए इतिहासिक प्रमाण नहीं मिलते । जैन धर्मके ' आगम ' अथवा ' सिद्धान्त ' नामके धर्मग्रंथोंका सुव्यवस्थित संकलन तथा संपादन देवर्धिगणिने ई. स. ४५४ में किया । इसके पूर्व इन ग्रंथोंका स्वरूप विस्खलित और मौखिक परम्परामें था । चन्द्रगुप्त मौर्यके समय (ईसाके पूर्व ४००) पाटलिपुत्रमें महावीरके शिष्योंकी पहली धर्मपरिषद् संपन्न हुई । इस समयसे लेकर वल्लभीमें देवर्धिगणिकी नेतृतामें संपन्न धर्म-परिषदके समय तकके आठ सौ बरसोंके कालका संस्कार इन आगमोंपर हुआ है । इनमेंका श्लोकसाहित्य अधिक प्राचीन भाषामें है । यह प्रमाणित नहीं होता कि इनमें चौबीस तीर्थंकरोंका जो उल्लेख है वह ईसाकी पहली शताब्दीके पूर्ववर्ती कालका है । जैन धर्मग्रंथोंकी भाषाको जैन प्राकृत कहा जा सकता है । इस भाषाका दूसरा नाम है अर्धमागधी । धर्मग्रंथोंके

अतिरिक्त जो जैन साहित्य है, वह जैन महाराष्ट्रीमें लिखा गया है। ऐसा भी कहा जाता है कि आगमग्रंथोंके कुछ अंश महावीरके कालसे चले आए हैं।

तपस्वी मुनियोंका संप्रदाय ऋग्वेदके पूर्ववर्ती कालसे ही चलता आया है। आजकल पौराणिक धर्मके रूपमें जो प्रसिद्ध है उसका मूलस्रोत वेदोंके पूर्ववर्ती कालतक पहुँचता है। परन्तु उपनिषदोंके कालके वैदिक धर्मसे जैनों तथा बौद्धोंके धर्मोंका प्रामाणिक सम्बन्ध अधिक अच्छे रूपमें स्थापित किया जा सकता है। अतएव यह कहना संभव है कि जिस तरह वैदिक धर्मपर वेदोंके पूर्ववर्ती समयके अवैदिक संप्रदायका असर पड़ा उसी तरह जैन तथा बौद्ध धर्मोंके निर्माणमें भी पड़ा होगा। यद्यपि यह पूर्णतया निश्चित नहीं किया जा सकता कि जैन धर्मका उदय महावीरसे हुआ, फिर भी इतना तो निश्चयके साथ कहा जा सकता है कि जैन धर्मको स्पष्ट तथा विकसित रूप महावीरद्वारा ही प्राप्त हुआ। तीर्थंकर पार्श्वनाथ इतिहासिक व्यक्ति हैं या नहीं इस विषयमें संशोधकोंका एकमत नहीं है। पार्श्वनाथका संप्रदाय महावीरके पूर्व कई शताब्दियोंतक विद्यमान रहा होगा। पार्श्वनाथका धर्म संन्यास-प्रधान नहीं था; उसमें नग्न-दीक्षा नहीं थी। इसी वजहसे निश्चयके साथ यह कहा जा सकता है कि संन्यासप्रधान तथा नग्न-व्रतको अपनानेवाले जैन धर्मके प्रवर्तक महावीर ही हैं। 'उत्तराध्ययन' नामके आगममें 'केशी-गौतम-संवाद' नामका एक प्रकरण है। 'उत्तराध्ययन' की रचना महावीरके उपरान्त कई सदियों बाद हुई होगी। परन्तु उसका 'केशी-गौतम-संवाद' निस्सन्देह एक इतिहासिक सत्यका सूचक है। पर इस संवादको पौराणिक ढंगसे लिखा गया है और इसलिए इसका इतिहासिक मूल्य घट गया है।

'केशी-गौतम-संवाद' में महावीरके समक्ष की गई वह चर्चा सम्मिलित है जो पार्श्वनाथ संप्रदायके आचार्य केशी और महावीरके शिष्य गौतमके बीच हुई थी। वास्तवमें इस संवादमें पार्श्वनाथ तथा महावीरके धर्मसम्बन्धी उपदेशोंके भेदका दिग्दर्शन किया गया है। केशिकुमार कहते हैं, चातुर्याम धर्मके चार ही प्रकार हैं – अहिंसा, सत्य अस्तेय तथा अपरिग्रह। महावीरने चरित्र-धर्मके पाँच प्रकारोंका प्रतिपादन किया है, सो क्यों? उन्होंने दूसरा प्रश्न पूछा, महावीरने दिगम्बर-दीक्षाका प्रवर्तन क्यों किया? उपर्युक्त दो प्रश्नोंके आधारपर यह प्रमाणित होता है कि पार्श्वनाथके धर्ममें ब्रह्मचर्य 'महाव्रत' अर्थात् संन्यास या नग्न व्रत प्रधान नहीं था। गौतमके उत्तरसे केशिकुमारका समाधान हुआ। पार्श्वनाथ तथा महावीरमें कोई मौलिक मतभेद नहीं था। अतएव दोनों ही एक धर्मके प्रवर्तक माने गए।

'छेदोपस्थापन' नामका तप जैनधर्मका प्रमुख अंश है। इस तपका अर्थ है प्राक्तन पापका छेदन या विध्वंस करनेके लिए प्रायश्चित्त लेकर आत्यन्तिक संयममें आत्माकी स्थापना करना। केवल आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव तथा महावीर इन दोने ही 'छेदोपस्थापन' नामके तपको महत्त्व दिया। ऋषभदेवकी सहायतासे जैन धर्म तथा वैदिक धर्मके टूटे हुए सम्बन्धको जोड़ा जा सकता है, उनका विच्छिन्न सम्बन्ध फिर एकरूप बनता है। वायु, ब्रह्माण्ड, अग्नि, विष्णु, मार्कण्डेय, कूर्म, लिङ्ग, वाराह, स्कंद तथा भागवत जैसे वैदिक मार्गका अनुकरण करनेवाले पुराणोंमें ऋषभदेवका निर्देश एक परमहंस एवं अवधूत योगी तथा जटाधारीके रूपमें आया है। कर्मक्षयके अभिप्रायसे उग्रतम तपस्या करनेवाले साधुओंके अनेकों संप्रदाय वैदिक परम्परामें आज भी पाए जाते हैं। अतएव यह मानना संभव नहीं कि जैन धर्म ऋषभदेवके कालसे एक पृथक संप्रदाय था। यदि महावीरको ही जैन धर्मकी पृथक् स्थापना करनेवाले प्रवर्तक मान लें, तो ही जैन इतिहासका तर्कसंगत तथा ब्योरेवार प्रतिपादन करना संभव है।

संसार तथा मोक्षके सम्बन्धमें जैनोंकी विचार-पद्धति वैदिकों तथा बौद्धोंकी विचारप्रणालीके समान ही है। जैन धर्ममें कायक्लेशात्मक तपको प्रधानता प्राप्त है, वैदिक तथा बौद्ध धर्मोंमें वैसी प्रधानता नहीं है। जैन साधुओंमें आमरण 'निरशन व्रत' याने निराहार रहनेके व्रतका आचरण करनेकी पद्धति प्रचलित है। क्या वैदिक, क्या बौद्ध, क्या जैन सबके योगशास्त्रसम्बन्धी सिद्धान्त एक ही हैं; परन्तु जैन धर्मशास्त्रने अहिंसाके व्रतको बुद्ध-धर्मकी अपेक्षा भी अधिक महिमा प्रदान की है। उग्र तपस्या करनेमें ही जैन साधुओंकी समूची आत्म-शक्तियोंका विनियोग हुआ। फलतः धर्मका दिग्विजय करनेके लिए उन्हें अवसर ही नहीं मिला। समूची शक्ति आत्यन्तिक तपमें ही क्षीण हो गई। बुद्ध-धर्मने सर्व महाव्रतोंका परिपालन बड़ी ही संयत मात्रामें किया और इसीलिए उस धर्मके अनुयायी दिग्विजयके महान् कार्यमें अपनी शेष शक्तिके संचयका उपयोग करनेमें समर्थ हुए।

भारतवर्षमें इस्लामके आगमनके पूर्ववर्ती कालमें जैन धर्म बहुत ही प्रभावी था। प्राचीन विस्तृत राज्योंके अनेकों हिन्दू अधिपति जैन थे। हिन्दुओंके दर्शनों, कलाओं तथा विद्याओंके उत्कर्षमें जैनोंने बड़ा ही महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। वर्तमान समयमें जैन धर्मके अनुयायियोंकी तादाद लगभग पन्द्रह लाख है। सामाजिक दृष्टिकोणसे हिन्दू समाजमें जैनोंका स्थान बहुत ही उच्च कोटिका है, विद्या तथा व्यापार दोनोंमें उनका बड़ा प्रभाव है।

महावीरका चरित्र—वास्तवमें साधुचरित्रका प्रथम आदर्श

महावीरका चरित्र वास्तवमें साधुके उस चरित्रका सबसे प्राचीन उदाहरण है जिसमें अहंता तथा ममताका समूल नाश हुआ है। तीर्थंकरोंका अतीव अतिरञ्जित वर्णन करनेमें जैन धर्मग्रंथोंने कोई कोर-कसर बाकी न रखी, किसी भी मर्यादाका पालन नहीं किया। अतएव कृष्णके चरित्रकी ही तरह महावीरका चरित्र भी अद्भुत चमत्कारोंकी विभिन्न कथाओंसे परिपूर्ण है। उसमेंसे सत्यका, यथार्थताका चयन करना सचमुच टेढ़ी खीर है। तीर्थंकरोंके मुखके चारों ओर सूर्यकी अपेक्षा सौगुना अधिक प्रकाश है; उनका प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता। उनके चरणोंके नीचे कनक-कमल खिले हुए रहते हैं। उनके परिवारमें एक कोटी देवताओंका समावेश होता है। वे जहाँ पहुँचते हैं वहाँ सुगन्धसे संयुक्त जलकी वृष्टि होती है, भूमिके कण्टक अधोमुख होते हैं, समूचे आकाशमें दुन्दुभिकी ध्वनि सुनाई देती है; आकाशमें धर्म-चक्र घूमता रहता है; पुष्पवृष्टि निरन्तर होती रहती है; विविध पक्षी उनकी परिक्रमा करते रहते हैं। उनका धर्म-ध्वज रत्नमय होता है। उनके शरीरोंमें स्वेद आदि मैलोंका अभाव रहता है। वे अपनी आँखोंको बार बार खोलते नहीं और बन्द भी नहीं करते। उनके मुख चार होते हैं। न उनके नाखून कभी बढ़े होते हैं न बाल। वे आकाशमें संचार करते हैं। वे जहाँ निवास करते हैं उस प्रदेशके चारों ओर शत योजनोंतक अकाल नहीं पड़ता; न अतिवृष्टि होती है न अनावृष्टि। वे जिस राज्यमें रहते हैं वहाँ शत्रुके आक्रमणका भय नहीं रहता। उनके शरीर शुभ लक्षणोंसे युक्त, मल-विहीन, व्याधि-हीन, सुगन्धित तथा सुन्दर रहते हैं। तीर्थंकरोंमें इस तरहके सहजात अतिशय तथा देवकृत अतिशय होते हैं।

अत्युक्तिको छोड़कर महावीरके चरित्रकी ओर अगर हम ध्यान दें तो उसमें ईसा मसीहके चरित्र एवं आदेशका पूर्वरूप प्रतिबिम्बित दिखाई देता है। महावीरके चरित्रमें तितिक्षा, क्षमा, अहिंसा, समता, त्याग आदि अनमोल गुणोंका चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। ईसा मसीहने कहा है, "जो कुर्ता ले जाए उसे कोट भी उतारकर दे दो।" महावीरके चरित्रमें ऐसे अनेकों अवसर हैं। दीक्षित होनेके उपरान्त महावीरने अपने पास एक ही वस्त्र रखा था। राजकुमार होनेके कारण वह वस्त्र बड़ा मूल्यवान् था। एक गरीब ब्राह्मणने उन्हें राजपुत्र समझकर उनसे भिक्षाकी याचना की। उस समय महावीरने कहा, "मैं सभी

वस्तुओंका त्याग कर चुका हूँ। तुम्हें देनेके लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है; फिर भी इस वस्त्रका आधा अंश तुम्हें देता हूँ।" ब्राह्मणने उस वस्त्रका स्वीकार किया और सुधारके लिए उसे एक कुशल दर्जीको सौंपा। वह दर्जी कहने लगा, "इसका शेष अंश लाओगे तो बहुत धन पाओगे।" अब वह ब्राह्मण महावीरके पीछे पीछे फिरने लगा। महावीरका आधा वस्त्र एक समय किसी कँटीले पौधेमें उलझ गया। पौधेसे निकालकर ब्राह्मणने उसको ले लिया। उस दिनसे महावीरने कभी वस्त्र नहीं पहना। इसी तरहकी और एक कथा यों है :- वर्षाऋतुमें महावीरने एक कुलपतिके आश्रममें निवास किया था। कुलपतिने उनके लिए एक घासकी झोंपड़ी बनवा दी थी। पासके गाँवकी गौओंने उसे घेर लिया और घास खाना शुरू किया। महावीरने झोंपड़ीको बचानेका तनिक भी प्रयत्न नहीं किया और गौओंको घास खाने दिया। इसके लिए आश्रमके निवासियोंने महावीरको दोषी ठहराया। महावीरने उस आश्रमका परित्याग कर दिया। तात्पर्य वैराग्य, धैर्य, दीर्घदर्शिता, क्षमा आदि गुणोंका आदर्श उपस्थित करनेवाली इस तरहकी अनेकों कथाएँ महावीरके चरित्रमें विद्यमान हैं।

जैनोंके धर्मग्रंथ तथा साहित्य

जैन धर्मके संप्रदायोंमें कई भेद हैं और उनमें परस्पर-निन्दा करनेवाली कथाएँ भी प्रचलित हैं। ईसाकी पहली शताब्दीतक जैनोंके दो मुख्य संप्रदायोंका याने श्वेताम्बरों तथा दिगम्बरोंके पन्थोंका निर्माण हुआ। इनमें दिगम्बर-संप्रदाय अधिक प्राचीन है। इस संप्रदायकी धारणा है कि विशुद्ध आगमके स्वरूपमें लिखे गए जैन धर्मग्रंथ नष्ट हो गये हैं। परन्तु इतिहासिक दृष्टिकोणसे भाषाके विकासके प्रमाणोंके आधारपर उपलब्ध 'आगमिक' याने आगम-सम्बधी साहित्यके क्रमको निर्धारित किया जा सकता है। साधारणतया यह अनुमान भी किया जा सकता है कि उस साहित्यका कुछ अंश महावीरके कालसे ही चलता आया है। आगम अथवा सूत्रग्रंथ, आगमकी टीकाएँ, दर्शनग्रंथ, पुराण-साहित्य तथा ललित साहित्य आदि कई प्रकारोंके विविध अंश जैन वाङ्मयमें पाए जाते हैं। सूत्रग्रंथोंमेंसे 'उत्तराध्ययन-सूत्र' एक सुन्दर धार्मिक काव्य है। इसमें बौद्ध-साहित्यकी तरहके दृष्टान्त, संवाद (वार्तालाप), सिद्धान्त तथा गीत सम्मिलित है। टीका-ग्रंथोंमें जैन धर्मके इतिहासके तथा तात्त्विक विचारोंके विविध साधनोंकी सामग्री मिलती है। इनमें बौद्ध जातक-कथाओंकी ही तरह तत्त्व-बोधक कथाएँ भरपूर

हैं। भद्रबाहुके श्लोकोंके बीच कई मनोहर कथाओंको पिरोया गया है। 'शान्तिसूरि' तथा 'देवन्द्रगणि' की टीकाएँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'शान्तिसूरि' ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीमें विद्यमान थे। जैनोंकी अधिकांश पौराणिक कथाएँ वैदिक पुराणोंके कथांशोंसे ली गई हैं। जैनोंका कथाकोश महत्त्वपूर्ण कथाओंका संग्रह है। कथा-साहित्यमें गुजरातके महान् पण्डित कवि तथा साधु हेमचन्द्र (जन्म ई. स. १०८९) द्वारा विरचित 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुष-चरित'का स्थान निस्सन्देह बहुत ही उच्च कोटिका है। जिनसेनका 'पार्श्वभ्युदय' काव्य (ई. स. ८००) वास्तवमें संस्कृत साहित्यका चेतोहर अलङ्कार है।

जैनोंका तत्त्वदर्शन

तत्त्वदर्शन तथा तर्कशास्त्रमें जैन धर्मने जो कार्य किया है, वह अपना शाश्वत मूल्य रखता है। इस क्षेत्रमें वैदिकों, बौद्धों तथा जैनोंका कार्य तुल्यबल है। पारस्परिक संघर्ष तथा सहयोगके कारण इस विषयका बड़ा ही सुन्दर उत्कर्ष हुआ है। 'सिद्धसेन दिवाकर' तथा 'समंतभद्र' इन दो महानुभावोंने जैन दर्शनकी नींव डाली। सिद्धसेनका जन्म एक ब्राह्मण-कुलमें हुआ था। सिद्धसेन तथा समंतभद्रने महावीरके तत्त्वदर्शनको तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे विशुद्ध रूप प्रदान किया। इन्होंने उस विचार-पद्धतिकी स्थापना की, जो अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वादके नामसे संसारभरमें प्रसिद्ध है। सिद्धसेन दिवाकरके 'सम्मतितर्क' तथा 'न्यायावतार' और समंतभद्रकी 'आप्तमीमांसा' विख्यात दार्शनिक ग्रंथ हैं। दिगम्बर संप्रदायमें पण्डित पात्रस्वामीने तर्कशास्त्रकी रचनाका सूत्रपात किया। हरिभद्र तथा अकलंक नामके दो पण्डितोंने जैन दर्शनका साङ्गोपाङ्ग विस्तार किया। हरिभद्रविरचित 'षड्दर्शन-समुच्चय' दर्शन-शास्त्रपर लिखे गए ग्रंथोंमें एक जगमगाता रत्न है। हरिभद्रसूरिसे लेकर वर्तमान समयतक जैन पण्डितोंकी परम्परा अविच्छिन्न रूपमें विद्यमान है। भारतीय संस्कृतिके विकासमें हेमचन्द्रने जो महान् कार्य किया है वह निस्सन्देह समस्त हिन्दूजातिके लिए अभिमानका विषय रहेगा। क्या तर्कशास्त्र, क्या व्याकरण, क्या कोश, क्या कविता आदि विविध विषयोंको इस विद्वानने ही समृद्ध किया है। जैनोंकी दार्शनिक विचार-पद्धतिमें 'अनेकान्तवाद' एक ऐसा महान् मौलिक सिद्धान्त है जो तर्कशास्त्रकी दृष्टिसे सूक्ष्म तथा अविचल है। इस 'अनेकान्तवाद'में तथा पश्चिमीय दार्शनिक हेगेल और कार्ल मार्क्सद्वारा पुरस्कृत एवं प्रतिपादित विरोध-विकासपद्धतिमें बहुत ही समता है। जैनोंके तत्त्वदर्शन तथा सांख्य दर्शनमें भी महत्त्वपूर्ण समता पाई जाती है अवश्य;

परन्तु यह भी सर्वथा सत्य है कि जैनदर्शनका विकास स्वतंत्र रूपसे हुआ है। वैदिकों तथा बौद्धोंके दार्शनिक विचारोंका गहरा अध्ययन करके ही जैन दार्शनिकोंने अपने तत्त्वदर्शनकी स्थापना की है। अतएव आपसमें संघर्ष करनेवाली विचार-पद्धतियोंका सुन्दर समन्वय करनेवाले 'अनेकान्तवाद' जैसे महान् सिद्धान्तकी वे स्थापना कर सके। जैन दार्शनिकोंने इस सत्यको भली भाँति समझ लिया कि सब तत्त्वदर्शन–चाहे आपसमें कितने ही प्रतिद्वंद्वी क्यों न हों– अपनी अपनी अनुभूतिजन्य तथा तार्किक सुसंगतताको कायम रखनेमें निरन्तर यत्नशील हैं और इसे समझकर उन्होंने तत्त्वदर्शनके प्रत्येक प्रयत्नको सापेक्ष सत्यता प्रदान की। इस 'अनेकान्तवाद'के स्वीकारके कारण परमतसहिष्णुता उनमें खूब बढ़ी। हरिभद्रसूरि सब दर्शनोंके प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने कहा,[1] "मैं न महावीरके सम्बन्धमें पक्षपात रखता हूँ, न कपिल आदिका द्वेष करता हूँ। वही कथन स्वीकारार्ह है जो युक्तियुक्त होता है।" महापण्डित तथा कवि हेमचन्द्रने सोमनाथके मन्दिरमें प्रणाम करते हुए कहा,[2] "मैं उसकी वन्दना करता हूँ जिसके मनके राग, द्वेष, आदि संसार-बीजके अङ्कुरकी वृद्धिमें सहायक विकारोंका क्षय या विध्वंस हुआ है; चाहे वह ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो अथवा जिन हो"।

जैनोंकी श्रेष्ठ स्थापत्यकला

यद्यपि जैन धर्म बुद्ध-धर्मकी अपेक्षा प्राचीन है तो भी जैनोंने अपनी कलाका निर्माण बौद्ध-कलाके परवर्ती कालमें किया। काशीप्रसाद जायसवालके मतानुसार उड़ीसा प्रान्तके ईसाके पूर्व दूसरी शताब्दीमें विद्यमान सम्राट् खारवेलने उदयगिरिपर जैन अर्हन्तोंके मन्दिरोंका निर्माण किया था। खारवेलने मगधके राजाको परास्त करके पहले तीर्थंकरकी अर्थात् आदिजिन ऋषभदेवकी मूर्तिको प्राप्त किया था। कुछ पण्डितोंका कथन है कि मथुरामें ईसाके पूर्व छठी शताब्दीमें जैन स्तूपोंका निर्माण हुआ था। 'कुशान'–कालमें भी जैन शिल्प अस्तित्वमें था इस विषयमें कुछ प्रमाण मिलते हैं। गुप्तवंशके राजाओंके कालकी सुन्दर जैन मूर्तियाँ भग्नावस्थामें पाई गई हैं; परन्तु ई० स० ९००

---

१ पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः। (लोकतत्त्वनिर्णय)

२ भवबीजाङ्कुरजनना रागाद्या क्षयमुपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो वा जिनो वा नमस्तस्मै॥

तक जैनोंकी वैभवशाली कलाके दर्शन नहीं होते। जैनोंने उस स्थापत्यका निर्माण किया जिसमें द्राविड तथा आर्य शैलियोंका समन्वय किया गया है। जैनों द्वारा निर्मित कीर्तिस्तम्भ अथवा मन्दिरोंमें पथक रूपसे निर्मित स्तम्भ उनकी कलाके यशके परिचायक हैं। दक्षिणमें जैनोंके अनेकों ऐसे बहुतसे स्तम्भ पाए जाते हैं जिनपर नक्काशी की गई है। राजस्थानमें विद्यमान चित्तौड़ गढ़का जयस्तम्भ आज भी दर्शकोंके चित्तको विस्मयविमुग्ध करता है। इसकी ऊँचाई १२२ फीट है और इसकी नौ मंजिलें हैं। इतना सुन्दर और भव्य स्तम्भ संसारमें अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। इसपर जो नक्काशी की गई है वह एक ऐसी अनूठी चीज है कि सचमुच देखते ही बनता है।

उत्तर भारतके प्राचीन जैन मन्दिर, रोमके साम्राज्यके कालकी या मध्ययुगके योरोपकी स्थापत्यरचनाकी कलाओंकी अपेक्षा स्थापत्यकी बहुत ही आगे बढ़ी हुई और उन्नत शैलीके सुन्दर नमूने हैं। आबू-पहाड़पर स्थित श्वेत पाषाणोंसे बना हुआ जैन मन्दिर स्थापत्यकी विस्मयकारिणी शक्तिके ऐश्वर्यको पूर्णतया प्रकट करता है। क्या उसका गुम्बद, क्या उसके आधाररूप आठों स्तम्भ, क्या उन स्तम्भोंपर स्थित मिहराबें, क्या उन स्तम्भोंके पीछे गुम्बदका आधार बनी हुई दीवारें, क्या उन दीवारोंमें स्थित नक्काशी या खुदाईके कामसे अलङ्कृत द्वार—सबकी संवादिता तथा परस्पर-पूरकता शत-प्रति-शत नयनमनोहर है। मिहराबोंकी रचना ही कुछ इस तरहकी है जिससे आठों स्तम्भ उस गुम्बदके अंतरङ्गकी शोभा बढ़ाते हैं। इस गुम्बदके भीतरी भागके अलङ्कार-चक्र एकहरे, दुहरे, तिहरे होकर गुम्बदके केन्द्रतक पहुँचे हैं। इस अलङ्कारचक्रका वैचित्र्य तथा उसकी समृद्धि दोनों उच्च कोटिकी सुरुचिका संवर्धन तथा पोषण करते हैं। गुजरातके वड़नगरके सुन्दर तोरणों या प्रवेश-द्वारोंकी भव्यता, खुदाईकी अनुपम पटुता तथा शोभा भारतीय स्थापत्य-कलाको संसारकी आँखोंमें निस्सन्देह ऊँचा उठाती हैं। जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मकी विश्वविजयिनी स्थापत्य-कलाको पानेके कारण हिन्दू-संस्कृति निरन्तर अपनेको धन्य मानती रहेगी।

जैन भी हिन्दू-संस्कृतिके उत्तराधिकारी

जैन तथा बौद्ध धर्मोंके विजयकी समीक्षा अधिक विस्तारके साथ करना आवश्यक है। यहाँ संक्षेपमें उसकी रूपरेखाका ही दिग्दर्शन किया गया है। बौद्ध धर्मको अपनानेवाली हिन्दू प्रजा वर्तमान समयमें अधिकतर शेष ही नहीं है। जैन हिन्दुओंकी संख्या भी अन्य हिन्दुओंकी आबादीकी तुलनामें नगण्य है।

परन्तु जैन लोग बहुत उन्नत हैं, आगे बढ़े हुए हैं; उनमेंसे कुछ लोग जैन जातिको हिन्दू-जातिसे भिन्न मानते हैं। परन्तु यह सत्य है कि जैन धर्म भी हिन्दू धर्मके अनेकों उपासना-संप्रदायोंमेंसे एक संप्रदाय है; सिर्फ वेदोंके प्रामाण्यका अस्वीकार करनेके कारण उन्हें हिंदुओंसे भिन्न नहीं कहा जा सकता। इसका कारण यह है कि जैनोंकी केवल एक ही बात-धार्मिक उपासना-हिन्दुओंसे भिन्न है; परन्तु उनका और सब हिन्दुओंका दर्शन या तत्त्वज्ञान व्यापक अर्थमें एक ही है। कर्मसिद्धान्त तथा मोक्षसिद्धान्त दोनों समूचे हिन्दू तत्त्ववेत्ताओंके समान हैं। अन्य हिन्दुओंकी तरह जैनोंमें भी आचार, व्यवहार, भाषा, कला, साहित्य, आदर्शवाद, रुचि आदिकी सांस्कृतिक समानता पाई जाती है। अतएव यह निश्चित रूपसे कहा जा सकता है कि जैन समाज भी व्यापक हिन्दू-संस्कृतिकी छत्रछायामें ही चल फिर रहा है।

६-आधुनिक भारतके सांस्कृतिक आन्दोलन

बाह्य संस्कृतियोंके साथ सम्पर्क,–इस्लाम

भारतीय संस्कृतिमें भारतके बाहरकी अनेक संस्कृतियोंकी धाराओंका मिश्रण हुआ है। इस्लामके आगमनके पूर्व जो मानव-समूह विदेशी संस्कृतियोंको लेकर आए वे सब यहाँकी संस्कृतिमें घुल-मिलकर एक हो गये। मध्य एशिया तथा पश्चिम एशियासे अनेकों मानव-प्रवाह आए, प्राचीन ईरानके साम्राज्यसे सम्पर्क स्थापित हुआ। भूमध्यसमुद्रके आसपासके तथा मेसापोटेमियाके प्राचीन राष्ट्रोंके साथ आदान-प्रदान चलता रहा। सिकन्दरके आक्रमणके उपरान्त यूनानी संस्कृतिसे साक्षात् सम्बन्धकी स्थापना हुई। भारतीय ज्योतिष तथा मूर्तिकला इस सम्बन्धकी स्मृतिको सजग करते हैं। जब भारतीय संस्कृति इन संस्कृतियोंके सम्पर्कमें आई तब जो संघर्ष हुआ होगा उसका नामोनिशाँ भी नहीं मिलता; यह संभव है कि संघर्ष ही न हुआ हो। इस्लामके आगमनके समयतक भारतीय संस्कृतिने अपने सामाजिक प्रपञ्चको पौराणिक संस्कृतिके रूपमें सुरक्षित रखा।

इस्लामके आक्रमण-कालसे ही भारतीय संस्कृति अथवा हिन्दू संस्कृतिकी दुर्बलताके चिह्न दृग्गोचर होने लगे। इस्लामके प्रथम आक्रमणके आघातसे ही बौद्ध धर्म नामशेष हो गया। इस्लामके आक्रमणसे यह स्पष्ट हुआ कि श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणोंकी छत्रछायामें पली हुई हिन्दुओंकी समाजसंस्था राजनीतिक दृष्टिसे अतीव दुर्बल है। राजनीतिक दृष्टिसे ग्रामसंस्था ही हिन्दुओंकी महत्त्वपूर्ण संस्था थी; परन्तु ग्रामों तथा नगरोंमें जन्मसिद्ध ऊँच-नीचकी श्रेणियोंपर आधारित विद्यमान जातिसंस्था हिन्दुओंकी राजनीतिक दुर्बलताकी परिचायक सिद्ध हुई। जन्मसिद्ध ऊँच-नीचताकी दृढमूल भावनाके कारण हिन्दुओंकी समाज-रचनामें सामाजिक एकरूपताका विकास कभी न हुआ। अतएव विदेशी आक्रमणोंके विरोधमें समूची शक्तिके साथ, तन-मन-धनसे आन्दोलन करनेकी स्वाभाविक प्रेरणा बड़े ही धुँधले रूपमें विद्यमान रही। गजनीके महमूदने पंजाब और सिंधको लाँघकर सौराष्ट्रके एक छोरपर विद्यमान सोमनाथके पवित्र मन्दिरका विध्वंस किया और वे उसके विशाल वैभवको लूटकर चले गए। सतरहवीं शताब्दीतक मुसलमानोंने कुल मिलाकर चार बार सोमनाथके मन्दिरका विध्वंस किया। इससे यह सिद्ध हुआ कि हिन्दुओंकी समाज-रचना राजनीतिके सामर्थ्यको बढ़ानेमें अत्यन्त असमर्थ है। सोमनाथके जीर्णोद्धारपर आलोचना करते हुए एक मार्मिक इतिहासज्ञने हालहीमें कहा कि जो देवता अपना तथा अपने वैभवका रक्षण नहीं

कर सकते, उनका हम जीर्णोद्धार भी क्यों करें ? उनका यह कहना सचमुच बड़ा ही सूचक एवं अर्थपूर्ण है।

मुसलमान विजेता अपने साथ कुछ लोगोंको ले आए थे। राजनीतिक दृष्टिसे शिथिल हिन्दू-समाजके अन्तरङ्गमें प्रवेश करके मुसलमान विजेताओंने शिल्पकारोंके समूहोंको बलात् भ्रष्ट किया। मुसलमान राज्यकर्ताओंने इस बातको भली भाँति पहचाना था कि हिन्दुओंके सामाजिक जीवनसे एकरूप हुए बिना उनका शासन यहाँ चिरकालतक बना नहीं रह सकता। परन्तु हिन्दू समाजमें जातिभेद इतना दृढमूल हो चुका था कि विदेशियोंके लिए सामाजिक एकरूपतासे लाभान्वित होना सुतराम् असंभव था। अतएव हिन्दू समाजके कुछ अंशोंको लालच दिखाकर और जहाँ लालचसे काम नहीं होता था वहाँ बलका प्रयोग करके वे उन्हें मुसलमान धर्मकी छत्रछायामें ले आए। हिन्दू समाजमें शिल्पकार-जातियोंको शूद्र याने सबसे हीन-वर्णीय माना जाता है; मुसलमान धर्ममें प्रवेश करके उन्हींको राज्यकर्ताओंके समान ही स्थान प्राप्त होने लगा। इसीलिए धर्मपरिवर्तन उन जातियोंको तुरन्त ही सम्मत हुआ। इस्लाम धर्ममें धार्मिक समताका पालन बड़ी सचेष्टताके साथ किया जाता है। अतएव हिन्दू समाजकी जिन जातियोंके लोगोंने इस्लाम धर्मकी दीक्षा स्वीकार की उनको धार्मिक समताके खुले वायुमण्डलने अपने वशमें कर लिया। जिन्होंने धर्मपरिवर्तन किया वे अधिक कट्टर मुसलमान बने। मुसलमानोंके आक्रमणके कालमें तथा उनके स्थिर शासनमें कई बार धर्मपरिवर्तनके आन्दोलनको एक आँधीका, एक तूफ़ानका रूप प्राप्त होता था। धर्मपरिवर्तनके कारण मुसलमान राज्यकर्ता भारतवर्षमें अपने अनुकूल सामाजिक समूहको प्राप्त कर सके, उसके आधारको प्राप्त करनेमें समर्थ हुए।

इस्लामके दीर्घकालीन शासनके कारण भारतीय समाज दो विभागोंमें विभाजित हुआ। सामाजिक दृष्टिकोणसे दुर्बल हिन्दू-धर्म इस्लामको पचानेमें असमर्थ सिद्ध हुआ; वह उसे आत्मसात् न कर सका। तीव्र सामाजिक विषमता, शिल्पकारवर्गको प्रदत्त हीन स्थान तथा प्रबल राजनीतिक संगठनका अभाव इन तीन कारणोंसे हिन्दू-धर्मको इस्लामके सामने परास्त होना पड़ा।

भारतवर्षकी संस्कृतिको अरबी, ईरानी, तुर्की तथा मुगलोंकी संस्कृतियोंनें भी प्रभावित किया। इन संस्कृतियोंको मुसलमान शासन-कर्ता अपने साथ लाए थे।

अरबी, तुर्की, फ़ारसी तथा मुगली शब्द और मुहावरे हमारी प्रान्तीय प्राकृत भाषाओंमें प्रविष्ट एवं दृढमूल हुए। पोशाक, आहार, घरोंकी सजावटकी वस्तुएँ, राज्योंका व्यवहार, न्यायालय आदिमें मुसलमानी बातोंने प्रवेश पाया। साधारण जनताके धार्मिक आचारोंमें मुसलमानोंके आचारोंका प्रवेश हुआ। हिन्दू साधुओं तथा फ़कीरोंको, समाधि तथा पीरको, यात्राओं तथा उर्सोंको हिन्दू जनतासे समान मान देने लगी। कबीर, नानक, दादू आदि सन्तोंमें हिन्दू-धर्म तथा इस्लाम दोनोंकी विचार-धाराओंका समुचित मेल होकर भारतमें उनको विभूतिमत्त्व प्राप्त हुआ। हिन्दू तथा मुसलमान दोनों एक ही जगह हेल-मेलसे रहने लगे और दोनोंकी संस्कृतियोंमें सहयोगकी भावना तथा सहिष्णुताका जन्म हुआ। धार्मिक सहिष्णुताकी स्थापनामें कुछ मुसलमान राज्यकर्ताओंने स्वयं नेतृत्व किया; परन्तु फ़िरोज तुगलक तथा औरंगजेब धार्मिक असहिष्णुतासे चरम सीमातक पहुँचे।

हिन्दुओंकी मूर्तिकला, वस्तुकला तथा चित्रकलापर प्रचण्ड प्रहार करके मुसलमान राज्यकर्ताओंने हिंदुओंके मनको सदाके लिए क्षत-विक्षत किया है। नष्ट कलाके अवशेष हृदयको द्रवित करनेवाली क्रूरता एव बर्बरताको सूचित करते रहते हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि हिन्दुओंकी वास्तुकलाने मुसलमानोंके राजत्वकालमें मुसलमानी वेषका स्वीकार करके अपनी दिव्यताको और अधिक वैभवशाली रूपमें अभिव्यक्त किया है। इस कलापर ईरान तथा अरबस्थानकी कुशल कारीगरीका भी अच्छा संस्कार हुआ है। ताजमहल हिन्दुस्थानकी मुसलमानी वास्तु-कलाका विश्वमान्य उदाहरण है। संसारकी अन्य इस्लामी इमारतोंसे यह इमारत बिलकुल भिन्न प्रकारकी है। हिन्दू शिल्पशास्त्रके सिद्धान्तोंका पालन करके इसकी रचना की गई है। बीचमें एक बड़े गुम्बज् तथा उसके चारों ओर चार छोटे छोटे गुम्बजोंको देखकर मनमें पञ्च-रत्नोंकी कल्पनाका उदय होता है। गुम्बजके मूलमें कमलके दल हैं। गुम्बजकी चोटीके पास एक उलटा कमल दिखाया गया है। चोटीपर त्रिशूल है। सच तो यह है कि ताजमहल हिन्दू तथा मुसलमान दोनों संस्कृतियोंके मधुर मिलनका एक नितान्त सुन्दर प्रतीक है। चित्रकलाके क्षेत्रमें भी दोनों परम्पराओंका मिश्रण दिखाई देता है। राजपूत शैली तथा मुगल शैली दोनों सम्मिश्र शैलियाँ हैं। प्राचीन हिन्दू-कला जीवन-शक्ति तथा भौतिक शक्तिके विविध आविष्कारोंको कलाका प्राण मानती है। इस्लामी परम्परामें पली हुई कला भूमिति-शास्त्रकी रेखाओंके बीचके समन्वय, सन्तुलन तथा संवादिताको प्रधान मानती है। इस्लामी कलामें रेखा-

पद्धतिके विषयमें संवेदनशीलता खूब है। परन्तु वनस्पतियों, प्राणियों, पशुओं, पक्षियों, तथा मानवोंमें विद्यमान जीवन-शक्ति रेखारूप बन्धनकी दासताका स्वीकार नहीं करती। प्राण या जीवन-शक्तिका साक्षात्कार ही प्राचीन हिन्दू-कलाका ध्येय था। इस्लामी तलवारने इस ध्येयपर आघात किया। अतएव अजंताकी चित्रकलाके उपरान्त भारतीय चित्रकलाके अवतारका अस्त हो गया।

भारतके बाहरसे आई हुई इस्लामी संस्कृति भारतीय संस्कृतिको परास्त करनेमें तनिक भी समर्थ न हुई। अन्तमें हिन्दुओंने बाजी मार ली। बाह्य संस्कृतियोंके साथ संघर्ष हो जानेके बाद भी अन्तमें भारतीय संस्कृति अपने सत्त्व या स्वत्वको कायम रखनेमें समर्थ सिद्ध हुई। भारतवर्षमें उच्च कोटिकी मुसलमानी संस्कृति नहीं आई; क्योंकि अफ़गान तथा मुगल राज्यकर्ताओंको वह प्राप्त न हुई थी। उच्च कोटिकी मुसलमानी संस्कृति मध्ययुगमें योरोपकी ओर चली गई। उसके योगसे योरोप नवजीवनकी संवेदनाओंसे संयुक्त एवं लाभान्वित हुआ। ईसाकी सतरहवीं शताब्दीमें भारतमें पाश्चात्य संस्कृतिका आगमन हुआ, जो इस्लामी संस्कृतिकी तुलनामें अधिक प्रभावी तथा शक्तिसंपन्न थी। परन्तु इसका यथार्थमें गहरा असर यहाँ अँग्रेजोंके राज्यकी स्थापनाके उपरान्त ही प्रकट होने लगा।

ब्रिटिश राज्यकी स्थापनासे निर्मित क्रान्ति

गत डेढ़ सौ वर्षोंके अँग्रेजोंके शासन-कालमें भारतीय जीवनमें जिस तरहका विकासोन्मुख स्थित्यन्तर हुआ, उस तरहका विस्मयकारी परिवर्तन भारतके इतिहासमें सहस्रों वर्षोंमें और वह भी इतनी अल्प अवधिमें किसी भी समय न हुआ था। चार सौ बरस पहले भारतके इतिहासमें जो घटनाएँ घटित हुई हैं उनकी तहमें गत डेढ़ सौ वर्षोंके महान् स्थित्यन्तरके बीज बिलकुल नहीं मिलते। तत्त्वका अनुसन्धान करनेवाली बुद्धि यह कहनेपर बाध्य होती है कि अँग्रेजी राज्यकी स्थापना ही इस स्थित्यन्तरका असाधारण कारण है। इस परिवर्तनने भारतीय संस्कृतिके प्रवाहकी दिशाको ही बदल डाला। अँग्रेजोंके आगमनके पूर्ववर्ती कालमें भारतीयोंके इतिहासिक विकासके क्रममें शिथिलताने प्रवेश किया था, इतना ही नहीं उसमें अगतिकता आई थी। विकास तथा प्रगतिको जन्म देनेवाली शक्ति पूर्णतया सुषुप्तिकी अवस्थामें पहुँची थी। साधारणतया एशिया महाद्वीपका इतिहास ही कुछ ऐसा दिखाई देता है कि उसमें योरोपीय इतिहासकी तरह इतिहासिक विकासकी एकके बाद एक आनेवाली सुव्यवस्थित

सीढ़ियाँ प्राप्त नहीं होती। इतिहासिक विकासक्रमकी यह कल्पना ही एशिया तथा हिन्दुस्तानके इतिहास-शास्त्रसे मेल नहीं खाती। अतएव निरुपाय होकर कहना पड़ता है कि भारतमें अँग्रेजोंके राज्यकी स्थापना ही वह असाधारण प्रेरणाका स्रोत है जिससे अँग्रेजोंके राजत्व-कालमें भारतीय जीवनमें सर्वाङ्गीण संक्रमण हुआ। इस संक्रमणका विस्तार और व्यास सर्वगामी था। इस स्थित्यन्तरने सामाजिक तथा व्यक्तिगत भारतीय जीवनके सब अङ्गोंको प्रभावित किया।

बाह्य जीवनका पूर्णतया बदला हुआ क्रम तथा मानसिक मूल्योंमें क्रान्ति दोनों मिलकर सर्वाङ्गीण सामाजिक परिवर्तनको जन्म देते हैं। अंग्रेजोंके शासनने जीवन-क्रममें परिवर्तन भी किया और साथ साथ मानसिक मूल्योंमें क्रान्ति भी। इस शासनने भौतिक एवं यान्त्रिक सुधारोंको जन्म दिया, नवीन संगठित राज्य-यन्त्रका निर्माण किया। यही वह शासन था जिसने उदार मतोंका पुरस्कार करनेवाले न्यायासनका सूत्रपात किया और आधुनिक ढंगकी व्यक्तिगत स्वतंत्रताको प्रधानता देनेवाले, सब धर्मोंके व्यक्तियोंको समान माननेवाले क़ानूनकी स्थापना की। इसी राज्यने शहरोंमें पाश्चात्य रहन-सहनकी पद्धतिका प्रवेश करवाया, अखबार आदि विचार-विनिमयके प्रभावी साधनोंका निर्माण किया, सारे नागरिकोंको समान दर्जा देनेवाली शिक्षा-संस्थाका सूत्रपात किया और सुदूर प्रान्तों तथा विभिन्न देशोंमें यातायातके उन साधनोंका बड़े पैमानेपर विस्तार किया, जिनसे परस्पर आदान-प्रदान तुरन्त ही संभव हो। इस तरह अंग्रेजी राज्यने बाह्य परिस्थितिमें एक बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया। मानसिक मूल्योंमें क्रान्ति करनेका प्रयत्न भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे इसी विदेशी राज्यने किया। आधुनिक विद्याओं तथा कलाओंपर आधारित पाश्चात्य संस्कृतिके मूल्योंका तथा भारतीयोंकी परम्परागत संस्कृतिके मूल्योंका मौलिक संगठन ही अतीव भिन्न है। मानसिक दृष्टिकोणसे पाश्चात्य संस्कृति तथा भारतीय संस्कृति उसी तरह आपसमें भिन्न अतएव कोसों दूर थी जैसे आकाशमें स्थित दो भिन्न तारोंपर निवास करनेवाली दो संस्कृतियाँ। पाश्चात्य संस्कृतिके साथ सम्पर्क तथा संघर्षसे भारतीयोंकी मानसिक संस्कृतिके मूल्योंमें बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ। आधुनिक विद्याओं, कलाओं तथा पाश्चात्य साहित्यकी शिक्षा-दीक्षासे कुछ भारतीय लाभान्वित हुए और इसके फलस्वरूप विद्युत्-संचारसे कम्पित यन्त्रोंकी तरह भारतीयोंके मन नवीन विचारोंके आन्दोलनसे थर्राने लगे। इससे जीवनकी ओर देखनेका दृष्टिकोण

बदल गया, बुद्धि तथा विचारोंको एक विलक्षण अधिष्ठान प्राप्त हुआ; जीवनका अर्थ करनेकी पद्धति ही बदल गई जिससे सामाजिक तथा धार्मिक परिवर्तनका प्रारंभ हुआ। यह मानना चाहिए कि अँग्रेजी विद्याकी शिक्षा वास्तवमें भारतीय समाजका प्रबल मन्थन करनेवाली उन अनेक शक्तियोंमेंसे एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है जिसका प्रादुर्भाव अँग्रेजी शासनके कारण हुआ। इस शिक्षाके कारण अँग्रेजी क़ानून विकासके पथपर अग्रसर हुआ। सामाजिक तथा धार्मिक सुधारके लिए यह आवश्यक होता है कि कायदे या क़ानूनके प्रति विरोधकी भावना नष्ट हो; इतना ही नहीं यह भी नितान्त आवश्यक है कि क़ानूनके ज़रिए राज्य-संस्थाको आधार एवं बल प्राप्त हो। भारतीय समाजको क्रान्तिकारी विचारोंकी नेतृता अँग्रेजी शिक्षाके कारण प्राप्त हुई। इसी नेतृताकी वजहसे अँग्रेजी शासनके लिए वह वायुमण्डल उत्पन्न हुआ जो कि सुधारकी ओर उन्मुख करनेवाले कानूनोंके निर्माणके लिए बड़ा अनुकूल था।

ई. स. १८२९ में सतीकी प्रथा बन्द हुई और एक भीषण सामाजिक विधानकी धार्मिकताको तिलाञ्जलि दी गई। सन् १८४३ में क़ानूनके बलपर गुलामोंके व्यापारकी प्रथाको नष्ट किया गया। सन् १८३६ में ही क़ानूनने ठगोंके राक्षसी व्यवसायको समाप्त किया। सन् १८६० में 'पीनल कोड'को पूर्णतया निश्चित क़ानूनका सुव्यवस्थित रूप दिया गया जिससे सितमसे भरे हुए, अव्यवस्थित एवं विसंगत न्यायदानकी उन पद्धतियोंका स्थायी रूपसे प्रतिबन्ध होने लगा जो हिन्दू तथा मुसलमान जमातोंकी धर्माधिकारी संस्थाओं द्वारा प्रचलित थीं। इसीसे अङ्गभूत व्यक्तियोंपर दबाव डालनेकी उन जमातोंकी असीम शक्ति निरन्तर क्षीण होने लगी और कुछ समयके बाद नामशेष भी हो गई। अँग्रेजी क़ानून तथा न्यायालयने व्यक्तिको जमातोंकी यन्त्रणासे मुक्त करनेका कार्य किया और इसीके फलस्वरूप समाजके सुधारकी प्रवृत्तियोंको स्वच्छन्द विकासका अवकाश मिला। सामाजिक बहिष्कारका महान् शस्त्र शनैः शनैः कुण्ठित होने लगा और अन्तमें मोरचेने उसे पूर्णतया ग्रस लिया। फल यह हुआ कि भारतीय समाजमें आचारों तथा विचारोंकी स्वतंत्रताके नवीन युगका श्रीगणेश हुआ।

भारतीय समाजको यदि नवीन वैचारिक नेतृता अंग्रेजी शिक्षाकी वजहसे प्राप्त न होती, तो सिर्फ़ क़ानून असमर्थ ही सिद्ध हो उठता। पाश्चात्य विद्याके

प्रसारमें सहायता पहुँचानेवाली और एक शक्ति इस देशमें सर्वत्र संचार करने लगी और वह है ईसाई धर्मोपदेशकोंका प्रचार। ईसाई उपदेशकोंने सन् १८४० से १८६० के बीच समूचे भारतवर्षमें व्याख्यानों, लेखों, अखबारों, पुस्तकों तथा शिक्षाके अन्यान्य साधनोंकी सहायतासे हिन्दू और मुसलमान दोनोंके धर्मोंपर बड़ा संगठित तथा प्रभावी आक्रमण किया। विचारोंकी जागृतिपर इसका भी काफी असर हुआ। धर्म तथा समाजके सुधारकोंकी सभाओं, परिषदों, संस्थाओं तथा अखबारोंके रूपमें एक बड़े देशव्यापी आन्दोलनका सूत्रपात हुआ।

भ्रमका निरास तथा नये व्यापक मूल्य

भारतीय मानवका परम्परागत जीवन-क्रम सनातन रूढियों तथा अन्धश्रद्धाके बन्धनोंसे पूर्णतया जकड़ा हुआ था। धार्मिक तथा सामाजिक इन दो कल्पनाओंमें भेद-दर्शक लक्षण-रेखा ही प्राप्त नहीं होती थी। जन्मसे लेकर मृत्युतकके सब महत्त्व-पूर्ण व्यवहार धर्मकी चहारदीवारीमें ही सीमित थे। एक दिनकी सुबहसे दूसरे दिनकी सुबह तकके चौबीस घण्टोंके कार्यक्रम भी धर्मग्रंथों द्वारा निर्धारित किए गए थे। स्नान, पान, भोजन, पर्यटन, व्यवसाय, विवाह आदि बहुतेरे मानव-व्यवहारोंपर धर्मका अधिकार था। भक्ष्याभक्ष्य, पेयापेय आदिके सम्बन्धमें भी धर्मशास्त्र ब्योरेवार निर्णयपर पहुँचा था। किसके साथ भोजन करें, क्या खाएँ, कब नींदसे जागें, कब सोएं, सोते समय अपना सिर तथा पैर किस दिशामें रखें, प्रवास कब करें. किस समय और किस दिशाकी ओर उन्मुख होकर प्रवासके लिए प्रस्थान करें, श्मश्रू किस दिन और किस तिथिमें वर्ज्य मानें और किसमें विहित आदि सबके सम्बन्धमें धर्म ही विधान करता था। जमुहाई लेना, छींकना आदि स्वाभाविक क्रियाओंके विषयमें भी धर्म-विहित आचारोंका पालन किया जाता था। प्रत्येक जाति तथा उपजातिके विभिन्न आचारों तथा कुल-धर्मोंको धर्मके उच्चतम और श्रेष्ठ उपदेशकी तरह प्रमाण माना जाता था। अत्यन्त साधारण, छोटी-मोटी रूढियोंका भी उल्लंघन न हो इसलिए पितर, देव, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच सुप्रबन्ध तथा नियन्त्रणके उद्देश्यसे सर्वत्र उपस्थित रहते थे। हरेक महीने तथा ऋतुके अलग अलग आचारों तथा व्रतोंका पालन करना पड़ता था। श्राद्धों, मनौतियों, व्रतों, उद्यापनों, तीर्थोत्सवों तथा यात्राओंको अपूर्व महिमासे मण्डित किया था। घरमें यदि कोई बीमार हुआ, किसी सम्बन्धीपर कुछ आपत्ति आ पड़ी, बान्धवोंको किसी संकटने घेर लिया, घरके किसी जानवरकी अकस्मात् मृत्यु हो गई, व्यवसायमें अपयश मिला, गृहदाह हुआ, इमारत गिर पड़ी,

कोई व्याधि फैल गई, कोई अवर्षण हुआ, अतिवृष्टि हुई तो यह समझा जाता था कि कोई व्रतभङ्ग, आचारोंमें कोई गड़बड़ी, जातिभेदके समुचित पालनमें कोई प्रमाद हो जानेसे; छूआछूतके सम्बन्धमें किसी प्रकारकी शिथिलताके आनेसे देवताओं तथा पितरोंका प्रकोप अवश्य हुआ होगा और तब तुरन्त उसका उपशम किया जाता था। उस कालका हिन्दू या भारतीय मानव दिनके चौबीसों घण्टे तथा वर्षके बारहों महीने भूतों, पिशाचों, देवताओं, राक्षसों तथा वेतालोंकी कड़े पहरेमें निरन्तर रहा करता था। क्या घरमें, क्या कुँएमें, क्या दरवाजेमें, क्या चूल्हेमें, क्या दीवारमें, क्या छतपर, क्या चौराहेपर, क्या पानीमें, क्या नदी-तालाबोंमें, क्या वृक्षपर, क्या खेतकी मेंड़ोंपर क्या पर्वतपर, क्या जमीनपर, क्या आसमानपर क्या आकाशमें, क्या पातालमें वास्तवमें सब जगह, दशों दिशाओंमें तथा तीनों कालोंमें मानवको ये अदृश्य शक्तियाँ सर्वत्र व्याप्त दिखाई देती थीं। कुलके आचारों, जातिभेदों तथा देवताओंके विषयमें उससे नित्य अनेकों प्रमाद होते थे; परन्तु उनके लिए प्रायश्चित्त तथा दण्ड भुगतनेके लिए वह निरन्तर प्रस्तुत रहता था। विभिन्न देवताओंकी मूर्तियोंके सम्मुख वह सर्वत्र और सदैव नम्र होता था; क्योंकि उसके प्रमाद असीम थे, उनके लिए उसके मनको खेद नहीं होता था। सच तो यह था कि उस कालके भारतीय मानवके जीवन तथा मनपर उपर्युक्त काल्पनिक, स्वप्नमय तथा भ्रमनिर्मित शक्तियोंका जितना निर्बाध अधिकार था उतना उसपर न तो उसके देशके राजाके शासनका था, न उसके गाँव तथा जमात का। वास्तवमें वह इन्द्रजालोंकी दुनियामें भूतपिशाचोंके विश्वमें (Phantom world) रहता था।

अँग्रेजी शासनने आधुनिक शिक्षाकी, भौतिक सुधारों तथा विकसित राज्य-व्यवस्थाकी स्थापना करके उक्त कल्पनामय विश्वको भूचालका-सा धक्का दिया। इतिहास, गणित, भूगोल, सृष्टिविज्ञान आदि आधुनिक विद्याओंने श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणोंका स्थान ले लिया। इसके फलस्वरूप युवकोंकी उस पीढ़ीका, परम्पराका जन्म हुआ जिसने नवीन समर्थ विचारोंका आकण्ठ पान किया था। इस परम्पराने देशकी विविध भाषाओंको नवीन अँग्रेजी गद्यका रूप देना शुरू किया। नव-शिक्षितोंका यह एक ऐसा वर्ग था जो शब्द-प्रामाण्य तथा रूढ़ि-प्रामाण्यकी शृंखलाओंको तोड़नेका हिमायती था। पाश्चात्य संस्कृतिकी विस्मयकारिणी दीप्तिसे इन युवकोंकी आँखें सचमुच चौंधिया गई थीं। उस संस्कृतिकी उज्ज्वलता तथा भेदक प्रकाशमयता इतनी

अद्भुत थी कि उससे मध्ययुगके अंधकारमें बढ़ी हुई और टिकी रही जीर्ण तथा सनातन समाज-व्यवस्थाका कुडौल, कुरकुरा एवं जघन्य अन्तरङ्ग स्पष्ट-तया दृष्टिगोचर हुआ। अंधश्रद्धासे स्वीकृत विचार-पद्धतिका परित्याग करके नवीन युवकोंकी परम्परा बुद्धिवादका आश्रय लेनेमें दत्तचित्त हुई। पाश्चात्य विद्या तीन नवीन मूल्योंको इस देशमें ले आई। ये तीन मूल्य है—बुद्धिवाद, व्यक्तिकी पूर्ण स्वतंत्रता और सब मानवोंकी राष्ट्रभेद-निरपेक्ष तथा वंशभेद निरपेक्ष, स्वाभाविक समता। बुद्धिवादके कारण पुरानी परम्पराके दोषों तथा त्रुटियोंका भली भाँति अवलोकन करनेवाली दृष्टिका लाभ हुआ और विज्ञानसे सुपरीक्षित आचारों तथा विचारोंकी पद्धतिको रूढ करनेका हौसला प्राप्त हुआ। व्यक्ति-स्वातंत्र्यके विचारसे वह स्फूर्ति प्राप्त हुई जो पुरानी समाज-व्यवस्थाके व्यक्तीकी आत्माके विकासके बाधारूप बन्धनोंको तोड़नेका काम करती है। मानवोंकी मूल-भूत समताकी कल्पनाके कारण संसारके अन्य राष्ट्रोंकी संस्कृतियोंके विषयमें जो तुच्छतापूर्ण, पूर्वग्रह-दूषित दृष्टिकोण था उसका नाश हुआ, नीर-क्षीर-विवेककी बुद्धि जागृत हुई और सब संस्कृतियोंके सार-रूप अंशका ग्रहण करनेकी उदार भावनाका उदय हुआ। इन त्रिविध मूल्योंके ही कारण ऐहिकता-प्रधान विचार-पद्धति उत्पन्न हुई; इस विचारको उचित रूपमें महत्ता प्राप्त हुई कि परलोकके जीवनकी अपेक्षा इहलोकका जीवन-क्रम शुद्ध तथा यशस्वी होना चाहिए।

ब्राह्म समाज तथा प्रार्थना समाजका उदय

उपर्युक्त नवीन मूल्योंसे नव-शिक्षितोंको स्फूर्ति प्राप्त हुई और उनमें हिन्दू धर्म-संस्थाका मूलगामी परिशीलन आरम्भ हुआ। हिन्दू-धर्म ही हिन्दुओंके सामाजिक जीवनका प्राण है। उस धर्मके गाभेपर बुद्धिवादसे प्रकाश डालकर उसमें परिवर्तन तथा संशोधन किए बिना सामाजिक परिवर्तन सुतराम् असंभव है इस मर्मको प्रज्ञावान् व्यक्तियोंने उस समय भली भाँति समझ लिया। उन्हें यह स्पष्ट दृष्टिगोचर हुआ कि शब्द-प्रामाण्यपर आधारित कोई भी पुरानी धर्म-संस्था समाजके आधुनिक सुधार एवं विकासमें निश्चय ही बाधा-स्वरूप है। वास्तवमें सब पुरानी धर्म-संस्थाएँ आधुनिक मानव-संस्कृतिके विकासके लिए बन्धन-रूप ही हैं; क्योंकि धर्म-संस्थाएँ हरेक समाजको अन्य समाजसे मानसिक दृष्टि-कोणमें अलग करती हैं और उससे सांस्कृतिक सहयोग तथा तज्जन्य बंधुत्वकी भावनाका विकास नहीं हो पाता। इसका परिणाम यह होता है कि मानव-जातिकी शक्तियाँ बढ़नें नहीं पातीं; अपि तु कुण्ठित होती हैं। अतएव धर्मभेद-

मूल वैरों तथा विरोधोंको पूर्णतया नष्ट करनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि शब्द-प्रामाण्य और विभिन्न रूढ़ियोंपर आधारित धर्म पिछड़ जाँय और सर्व मानवोंका वह धर्म स्थापित हो जो विवेक-बुद्धिको ही अधिष्ठानके रूपमें अपनाता है। इस तरहकी तलस्पर्शिनी प्रज्ञाका उदय भारतवर्षके जिस महान् प्रज्ञाशाली व्यक्तिके मनमें हुआ वह है राजा राममोहन राय। इस सुन्दर, भव्य, विद्वान्, त्यागी तथा तपस्वी अतएव सचमुच महान् व्यक्तिका उदय अंग्रेजी राज्यकी स्थापनाके बाद शीघ्र ही हुआ। समाज-सुधार तथा धर्म-सुधारके अविभाज्य सम्बन्धको पहले-पहल इन्होंने पहचाना। बिना धर्म-दृष्टिको परिवर्तित किए सामाजिक बन्धनोंको तोड़नेका मानसिक बल प्राप्त नहीं होता; क्योंकि हीन कोटिकी धार्मिक अन्धश्रद्धा ही सामाजिक रूढियोंको स्थिर तथा बलवान् बनानेका प्रमुख उपादान बनती है। धार्मिक ग्रंथ धार्मिक अन्धश्रद्धाका पोषण करते हैं। अतएव सबसे पहले ग्रंथप्रामाण्यपर ही आघात करना धर्मके सच्चे सुधारकोंके लिए अनिवार्य हो उठता है। इस नियमके अनुसार राजा राममोहन रायने सर्व धर्म-ग्रंथोंका परिशीलन करके यह महान् सन्देश दिया कि ईश्वर ही वह एकमेव सत्य है, जो सर्व धर्मोंके मूलमें निहित है। अपने इस महान् सन्देशके प्रसारके लिए राजा राममोहन रायने बंगालमें सन् १८२८ में ब्राह्मसमाजकी स्थापना की। अँग्रेजी शासनकी स्थापना पहले बंगालमें ही हुई थी। अतएव नवीन युग-धर्मके प्रथम संस्थापक भी वहीं उत्पन्न हुए।

ब्राह्मसमाजकी स्थापनासे हिन्दुओंके या भारतीयोंके नव-युगके प्रभातकी घोषणा हुई। इसीसे सुशिक्षित व्यक्तियोंको आत्माकी सामर्थ्य प्राप्त हुई। इस नव-धर्मने यह विश्वास पैदा किया कि पुराने संकीर्ण आचारों तथा कृपण बन्धनोंको तोड़नेमें ही सच्ची धार्मिकता है। व्यक्ति-स्वातंत्र्यके तत्त्वका स्वीकार करनेके कारण ब्राह्मसमाजके आन्दोलनने नारी-जातिके उद्धारका प्रश्न उठा लिया; क्योंकि पुराने धर्मके कारण गृह-संस्थामें नारीका व्यक्तित्व ही नष्ट हो चुका था। राजा राममोहन राय तथा उनके सहयोगियोंने सतीकी अमानुष प्रथाको क़ानूनकी मददसे रोकनेका आन्दोलन शुरू किया और उसमें उन्होंने सुयश भी पाया। सतीकी प्रथा वास्तवमें इस तत्त्वकी ओर संकेत करती थी कि संसारमें नारीका अस्तित्व ही पुरुषके लिए है, अपने लिए नहीं; उसका व्यक्तित्व पुरुषमें पूर्णतया समर्पित है। इसि तत्त्वकी प्रतिध्वनि उस समय हिन्दुओंके सब प्रकारके नारी-जीवनमें चारों ओर सुनाई देती थी। नारीको अपने बचपनमें ही याने अबोध अवस्थामें विवाहके बन्धनमें बद्ध होना

पड़ता था। क़ानून तथा धर्म दोनों उसे पुरुषके समान स्वतंत्र उत्तराधिकारके हकसे वञ्चित कर चुके थे। व्यवहारमें स्वतंत्र व्यवसाय करनेका द्वार उसके लिए बंद था। गृह-संस्थामें वह पिता, सास-ससुर तथा पतिकी पूर्णतया अधीन थी। भद्र-पुरुषोंके वर्गमें विधवाविवाहपर प्रतिबन्ध था। बाल-विधवाओंको या तो बलात् सती होनेपर बाध्य किया जाता था या तो संन्यास-धर्मसे बड़े दुखके साथ अपना जीवन घर ही में बिताना पड़ता था। इस तरहसे एक मानवके नाते उनका स्वतंत्र अस्तित्व ही समाजको अस्वीकार था; उसे समाज अमान्य करता था। प्रगल्भ मनके योरोपीय दम्पतियोंको देखकर आंग्लविद्याविभूषित व्यक्तियोंके मनमें उसी तरहके दाम्पत्य-जीवनको बितानेकी अभिलाषा उत्पन्न होने लगी। उनके मनमें अपने नवीन व्यवसायके तथा शिक्षाके बादकी प्रौढ अवस्थाके अनुरूप किसी शिक्षित वधूको पानेकी आकांक्षाका आविर्भाव हुआ। विकसित व्यक्तित्वसे संपन्न वधू उस समय समाजमें विद्यमान नहीं थी। उसके लिए आन्दोलन करना पड़ा। स्त्री-शिक्षाका आन्दोलन ही वास्तवमें स्त्री-स्वातंत्र्यका आन्दोलन है। असलमें स्वतंत्र व्यक्ति वह है जो बिना बाह्य बन्धनोंके संसारमें विवेक-बुद्धिसे चलता है। इस तरहका व्यक्तित्व उस कालके हिन्दू पुरुषोंमें भी नहीं था; भला नारियोंमें कहाँ मिलता? इस तरह बन्धनोंसे जकड़ी हुई नारीके व्यक्तित्वको विकसित करके हिन्दू या भारतीय मानवकी कुटुम्ब-संस्थामें मौलिक परिवर्तन करनेकी इच्छा रखनेवाले महान् आन्दोलनका सूत्रपात ब्राह्मसमाजने तथा सुधारकोंने किया। स्त्री-शिक्षा, प्रौढ-विवाह, विधवा-विवाह, अनाथ बालकोंका संवर्धन आदि प्रयत्न इसी आन्दोलनके अंश हैं। कुटुम्ब-संस्थामें इस तरहका परिवर्तन करनेवाले आन्दोलनके साथ साथ ब्राह्म मतके समर्थकोंने हिन्दू समाजकी मुख्य रचनामें परिवर्तन करनेवाले जातिभेद-विध्वंसक आन्दोलनका भी सूत्रपात किया। मिश्र-विवाहोंको उन्होंने प्रधानता दी। हिन्दू समाजकी कुछ जातियोंमें विधवा-विवाह रूढिके आधारपर मान्य था, तो कुछमें अमान्य। सन १८५६ में विधवा-विवाहका क़ायदा मंजूर हुआ। यह स्वाभाविक है कि विधवा-विवाहको अमान्य करनेवाली जातियोंको अपनी उच्चत्व-सम्बन्धी अहंताको नष्ट करनेमें इस क़ायदेका उपयोग हो। ब्राह्म धर्म-तत्त्वने यह सिद्ध किया कि जातिभेदपर आधारित आचार धर्मकी दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और जातिभेदकी संस्थाको तत्त्वकी दृष्टिसे एक बहुत बड़ा धक्का दिया। ब्राह्मसमाजने बड़े आवेश तथा अभिनिवेशके साथ इस बातका प्रतिपादन किया कि वर्ण-व्यवस्थाका समर्थन किसी भी दृष्टिकोणसे नहीं किया जा सकता। यह सच है कि वर्तमान समयतक किसी भी छोटे या बड़े

आन्दोलनने जातिभेदको नष्ट करनेमें यश नहीं पाया है; परन्तु जातिभेदके वैचारिक तथा तात्त्विक आधारको नष्ट करनेके कार्यका सूत्रपात करनेका प्रथम श्रेय ब्राह्मसमाजको ही प्राप्त है। ब्राह्मसमाजके प्रमुख समर्थकोंको सामाजिक सुधारके इस संग्राममें बड़े बड़े कष्टोंको सहन करना पड़ा, बहुत यातनाएँ उठानी पड़ीं। कई बार ऐसा भी हुआ कि उनके ही दलके बहुत प्रबल माने जानेवाले सेनानी भी हिम्मत हार बैठे। उदाहरणके तौरपर केशवचन्द्र सेन जैसे महान् और प्रभावी प्रवक्ताने स्वयं ही लोभवश अपनी कन्याका बाल्यावस्थामें ही दान करके अपने संप्रदायके प्रणका भङ्ग किया। भारतके सभी प्रान्तोंमें धर्म-सुधारकोंके हरेक संप्रदायके नेताओंमें इस तरह कुछ कच्चे दिलके नेता निर्माण हुए। यह सर्वथा सत्य है कि सामाजिक परम्पराके बन्धनको तोड़ते-मरोड़ते समय उत्पन्न होनेवाला प्रत्याघात इतना भीषण तथा कठोर हुआ करता है कि वही बहुतेरे व्यक्तियोंके धैर्य एवं शौर्यकी कसौटी सिद्ध होता है।

ब्राह्मसमाजने हिन्दू-धर्मकी और परोक्ष रूपसे समूचे रूढ धर्मोंकी मूल रचनामें बहुत दूरतक पहुँचनेवाला परिवर्तन करनेकी महत्त्वाकाङ्क्षाको प्रदर्शित किया। सब रूढ धर्म धर्म-ग्रंथोंके निर्बाध प्रामाण्यमें श्रद्धा रखते हैं। ब्राह्मसमाजने इस प्रामाण्यका त्याग करके मानवके हृदयके, उसकी विवेक-बुद्धिके प्रामाण्यका स्वीकार किया, संसारके सब धर्मोंके मुख्य और मूलभूत, समान रहस्योंको मान्यता दी जिससे सब रूढ धर्मोंको नष्ट करनेके बदले उनके सुधारका मार्ग सूचित हुआ। इस तरह ब्राह्मसमाजने समूची मानव-जातिकी एकता स्थापित करनेकी आधारशिलाको उपस्थित किया। नीतिके शाश्वत सिद्धान्त, मानवी बंधुत्व तथा निराकार, मंगलमय, सर्वज्ञ और सर्वव्यापी परमात्माका अस्तित्व इन तीन बातोंमें सब धर्मोंका वास्तविक रहस्य समाया हुआ है। मूर्तिपूजाको निषिद्ध मानकर ब्राह्मसमाजने हिन्दू-धर्मकी भ्रान्त धार्मिक धारणाओंको और कर्मकाण्डको निराधार सिद्ध करनेका प्रयत्न किया। मूर्तिपूजा ही वर्तमान पुरोहित संस्थाकी नीव है; उसे नष्ट करनेसे पुरोहित वर्गका आधार बनी हुई संस्था भी स्वाभाविक रूपसे विलीन होती है। इससे धार्मिक आचारोंका विप्लव भी आसानीसे नष्ट होता है और विशुद्ध नैतिक आचरणको धार्मिक महत्ता प्राप्त होती है। इस विषयमें भारतमें अबतक कोई विशेष परिवर्तन नहीं दिखाई देता। ऐहिक जीवनको नीति-प्रधान बनाकर संसारके व्यवहारको यशस्वी बनानेवाले नवीन मानव-समाजका निर्माण करना ही ब्राह्मसमाजका प्रधान उद्देश्य है। इसीलिए ब्राह्मसमाजने पारलौकिक कल्पनाओंको व्यर्थ एवं निस्सार सिद्ध किया। मानव-

जीवनकी अपूर्णताका निरन्तर भान कराने तथा शाश्वत और अनन्त आदर्शको सम्मुख रखनेका कार्य, ईश्वरकी उपासना करती है; परन्तु ब्राह्मसमाजकी प्रेरक शक्ति असलमें वह दृष्टिकोण रखनेमें है जिससे मानव ऐहिक संसारमें विजय पानेमें समर्थ हो और इहलोकमें ही वह अपने जीवनको पूर्णतया सफल बनाए।

ब्राह्मसमाजने बंगालमें बड़े बड़े प्रतिभावान् व्यक्तियों तथा महान् चिन्तकोंको जन्म दिया है। इनके सहयोगके कारण बंगाली साहित्यको, कलाओं तथा विद्याओंको महनीय पद प्राप्त हुआ। विश्वकवि रवीन्द्रनाथ 'ठाकुर' वास्तवमें ब्राह्मसमाजके कीर्ति-मन्दिरके, विश्वको आलोकित अत्यन्त प्रकाशमान् स्तम्भ हैं।

ब्राह्मसमाजके विचारोंकी प्रेरक शक्ति परावर्तित होकर महाराष्ट्र तथा गुजरातमें भी पहुँची। गत शताब्दीके अनेकों बड़े बड़े महाराष्ट्रीय कर्तृत्ववान् व्यक्ति इसी शक्तिसे प्रेरित दिखाई देते हैं। यद्यपि महाराष्ट्र तथा गुजरातके सभी सुधारकोंको ब्राह्मसमाजसे संबद्ध नहीं कहा जा सकता, तो भी उनमेंसे कुछ महत्त्वपूर्ण व्यक्तियोंका ब्राह्मसमाजसे सम्बन्ध स्थापित हो ही जाता है। बम्बई शहरके आंग्लविद्याविभूषित युवकोंकी प्रथम पीढ़ी और बंगालके सुशिक्षितोंकी पहली पीढ़ी दोनों एक ही परिस्थितिके परिणाम हैं। एकेश्वरवादको अपनाकर चलनेवाली धर्मक्रान्ति ही इस परिस्थितिका व्यवच्छेदक लक्षण है। इस प्रवृत्तिके मूलमें एक बड़ी उत्सुकता यह थी कि हिन्दू-समाजकी कुटुम्ब-संस्थामें परिवर्तन हो, नारीको स्वतंत्रता प्राप्त हो, जातिभेद नष्ट हो, मूर्तिपूजा तथा कर्मकाण्डके विप्लवका उच्छेद हो और सब धर्मोंके अनुयायियोंमें बंधुत्वका सम्बन्ध स्थिर हो। मानवधर्म-सभा, परमहंससभा, ज्ञानप्रसादसभा आदि वे विविध रूप हैं जिनके द्वारा सुधारकोंकी विचार-पद्धतिमें नवीन अङ्कुरोंका उद्भव हुआ। पण्डित विष्णुशास्त्री, लोकहितवादी, नाना शंकरशेट, बेहरामजी मलबारी, वि. ना. मंडलिक, भाऊ दाजी लाड, भगवानदास पुरुषोत्तमदास, कावसजी जहाँगीर, मंगलदास नथूबाई आदि महान् सुधारक अँग्रेजी विद्याके प्रभावसे निर्माण हुए। इन सबमें दो गुण पर्याप्त मात्रामें विद्यमान थे—एक सामाजिक सुधारके लिए तीव्र बेचैनी और आधुनिक विचारोंकी प्रबल आँच या ज्वाला। प्रार्थनासमाजकी स्थापना तथा अखिल भारतीय सामाजिक परिषद्का उपक्रम दोनों इन व्यक्तियों द्वारा किए गए आन्दोलनकी ही उपज हैं। प्रार्थनासमाज वस्तुतः ब्राह्मसमाजका वह प्रतिबिम्ब है जो सन् १८६७ में दृग्गोचर हुआ। परन्तु इस प्रतिबिम्बमें बिम्बका तेज तथा सामर्थ्य नहीं था।

जिन व्यक्तियोंका सहयोग इस समाजको प्राप्त हुआ था वे महान् थे, विद्वान् थे और सुयोग्य समीक्षक भी थे; परन्तु वा. अ. मोड़क तथा डॉ. रा. गो. भाण्डारकर जैसे इने-गिने व्यक्तियोंको अगर छोड़ दें तो और किसीमें भी परिस्थितिसे डटकर लोहा लेनेकी शक्ति नहीं थी। फल यह हुआ कि इन सुधारकोंके प्रयत्नोंको भद्र वर्गकी कुटुम्बसंस्थाको नवीन रूप देना यही अत्यन्त साधारण स्वरूप प्राप्त हुआ। जातिभेदको नष्ट करनेके विषयमें इन्होंने जानबूझकर शिथिलताको अपनाया। इनके अन्तरतममें ब्राह्मणी अथवा सफेदपोशोंकी संकीर्णताके भाव अनजानमें छिपे हुए थे। धर्मकी स्थापनाके कार्य सर्वस्वको न्योछावर किए बिना संपन्न नहीं हो सकते। सर्वस्वका होम करनेकी प्रबल भावना ही बड़े बड़े सामाजिक विद्रोहोंको जन्म देती है। धर्म-स्थापनाके कार्यके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि स्फूर्तिके महान् सागर उमड़ पड़े। जब दिव्यताका सन्देश आकाश और पातालको एक करनेवाले प्रचण्ड आन्दोलनका निर्माण करता है और सदियोंतक उन प्रबल वीरों एवं साधकोंकी अखण्ड परम्पराको जन्म देता है जो प्रज्ञा तथा त्यागकी साकार मूर्तियाँ हैं; तभी धर्म-स्थापनाका नवीन युग सच्चे अर्थोंमें अवतीर्ण होता है। इस तरहकी प्रचण्ड शक्ति आजतक भारतवर्षके किसी भी वैचारिक आन्दोलनको प्राप्त नहीं हुई। सर्वाङ्गीण विद्वत्ता, व्यवहारी दृष्टिकोण तथा भविष्यके स्वरूपका अनुमान तीनों अनमोल गुण न्यायमूर्ति महादेव गोविन्द रानडे तथा डॉ. भाण्डारकर जैसे प्रार्थनासमाजके अनुयायियोंमें थे अवश्य; परन्तु जिस भारतीय समाज-रचनामें उन्हें क्रान्ति करनी थी उसकी प्रतिगामी शक्तियोंका विध्वंस करनेके लिए आवश्यक शक्तिका संचय न वे कर सके और न बंगालके ब्राह्मसमाजी।

न्यायमूर्ति रानडेने कांग्रेसकी स्थापना करके भारतीय राजनीतिक आन्दोलनकी सुचारु रूपसे नींव डाली और साथ साथ सामाजिक परिषदकी भी स्थापना करके सामाजिक सुधारके आन्दोलनको एक निश्चित रूप देनेका प्रयत्न किया। परन्तु कांग्रेसकी तरह यह परिषद दीर्घजीवी नहीं हो पाई; क्योंकि राजनीतिक आन्दोलनको प्रधानता देनेवाली लोकमान्य तिलकजीकी नेतृताकी विजय हुई। परन्तु स्त्रियों तथा पुरुषोंकी समानताका आन्दोलन, जातिभेदपर आधारित आचारोंका उच्छेद करनेवाला आन्दोलन और ऐहिक जीवनको केन्द्रीय स्थान देनेवाले शैक्षणिक आन्दोलन तीनोंने इस देशमें अपना आसन सदाके लिए स्थिर किया। इन आन्दोलनोंके वैचारिक नेतृत्वका श्रेय निस्सन्देह ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज तथा सामाजिक परिषदके

कार्यमें सहयोग देनेवाले सुशिक्षित सुधारकोंको प्राप्त है । मद्रास प्रान्तमें धार्मिक सुधारकोंको इच्छानुसार महत्त्व प्राप्त नहीं हुआ; केवल सामाजिक सुधारक वहाँ भी अगुआ बने । दि. ब. रघुनाथराव तथा सर. टी. माधवराव दोनों नाम इस दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं । इसी समय मद्रासकी तरफ थिऑसॉफीके पन्थके रूपमें नव सुशिक्षितोंके उस आन्दोलनका सूत्रपात हुआ जिसने धार्मिक तथा बुद्धिवादी सुधारकों द्वारा किये गए वैचारिक आक्रमणोंका प्रतिकार करनेका प्रयत्न किया, पुरानी अन्ध-श्रद्धा, तथा भ्रमपूर्ण धार्मिक आचारोंका, कर्मकाण्ड, मन्त्रतन्त्रों, मूर्तियों, अवतारों, गुरुओं तथा अद्‌भुत चमत्कारोंका नये ढंगसे समर्थन किया और भोले भाले भावोंको, अंधभक्तिको दृढमूल करनेका प्रयत्न किया । थिऑसॉफीके इस पन्थकी शाखा-प्रशाखाएँ भारत भरमें फैल गईं ।

आर्यसमाज, हिन्दुत्वको प्रतापी करनेकी महत्त्वाकांक्षा

ब्राह्म-प्रार्थना-समाजके आन्दोलनकी ही तरह समान रूपसे महत्त्वपूर्ण, परन्तु उससे भी अधिक कार्यक्षम एवं प्रभावी आन्दोलन पंजाबमें उत्पन्न हुआ और वह है आर्यसमाज जिसकी स्थापना सन १८७५ में हुई । ब्राह्मसमाज तथा आर्य-समाज दोनोंकी समानता एकेश्वरवादको अपनानेमें है । परन्तु इन दो आन्दोलनोंमें एक मूलभूत अन्तर भी है । संसारके सभी धर्म-संप्रदाय उनकी ईश्वर-विषयक श्रद्धा तथा नैतिक तत्त्वकी समानताके कारण ब्राह्मसमाजके लिए आदरणीय अवश्य है; परन्तु यह समाज किसी भी एक धर्म-ग्रंथको प्रमाण नहीं मानता; विवेक-बुद्धि ही उसके लिए एकमात्र प्रमाण है । इसके विपरीत आर्यसमाजका पवित्र ग्रंथ है वेद । शेष सभी धर्म-ग्रंथ मानव-प्रणीत होनेके कारण प्रमाण नहीं हैं । हिन्दुओंकी मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा तथा अन्य पौराणिक आचार आर्यसमाजके लिए अमान्य हैं; एक ईश्वरके सिवा अन्य देवता मान्य नहीं हैं; अन्य धर्म अत्यन्त सदोष अतएव खण्डनीय हैं । आर्य-समाजके आद्य संस्थापक स्वामी दयानन्दने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामके ग्रंथमें अन्य मतोंका खण्डन करके आर्यसमाजके तत्त्वोंका आचार-मार्गके साथ बड़े विस्तारसे प्रतिपादन किया है । दयानन्दने वेदोंपर भी स्वतंत्र भाष्य लिखा है । इस भाष्यकी भूमिका उनके वेदविषयक सामान्य दृष्टिकोणको सम्यक् रूपसे विशद करती है । आर्यसमाज जातिभेदको नहीं मानता; स्त्री-शिक्षा, पुनर्विवाह तथा विभिन्न जातियोंके सम्मिश्र विवाह उसके लिए मान्य हैं । पंजाब तथा संयुक्त प्रान्तमें आर्यसमाजने सनातन धर्म-संस्थापर पचास बरसोंतक बड़े वेगसे आघात किए और

स्वमतकी स्थापना की। ईसाई तथा मुसलमान धर्मोंपर आर्यसमाजका विशेष रोष है, अतएव आर्यसमाजको आधुनिक हिन्दुत्वके आन्दोलनका शक्तिशाली नेतृत्व प्राप्त हुआ।

सत्यसमाज और पिछड़े हुए लोगों तथा शूद्रोंमें जागृति

क्या ब्राह्मसमाज, क्या प्रार्थनासमाज, क्या आर्यसमाज, क्या सामाजिक सुधारकोंका पन्थ सबसे अलग ढंगकी धार्मिक और सामाजिक क्रान्ति करनेका एक नवीन आन्दोलन महाराष्ट्रकी पिछड़ी हुई जातियोंमें उत्पन्न हुआ और वह है ब्राह्मणेतरोंका सत्यशोधक समाजका आन्दोलन। हिन्दुओंकी ब्राह्मणी परम्पराने बहुजन-समाजपर कई युगोंतक निर्बाध शासन किया और निम्न जातियोंके समाजको निरन्तर अज्ञान, दरिद्रता, भोलेपन, पिछड़ेपन, अस्वच्छता, मलिनता, मनकी दुर्बलता तथा हताश वृत्तिका ही भागी बना रखा। इस ब्राह्मणी परम्पराद्वारा किये गए अन्यायके विरुद्ध विद्रोह करनेवाली प्रवृत्ति सत्यशोधक समाजके रूपमें जाग उठी। किसानों, कारीगरों तथा मजदूरोंके वर्गोंका दीर्घकालीन आर्थिक शोषण भी इस असन्तोषके मूलमें विद्यमान था। इस आन्दोलनके पास हिन्दूधर्मकी परम्परापर बौद्धिक आक्रमण करनेवाली वैचारिक भूमिका भी थी। ज्योतिबा फुले इस महान् आन्दोलनके मूल प्रवर्तक हैं। सन् १८७३ में पूना शहरमें सत्यशोधक समाजकी स्थापना हुई। ब्राह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाजकी ही तरह एकेश्वरवाद, विशिष्ट पवित्र ग्रंथोंको पूर्णतया प्रमाण न मानना, विवेचक बुद्धिका प्रामाण्य, पुरोहित वर्गका अभाव, मूर्तिपूजाका विरोध, तीर्थयात्राका विरोध, अद्भुत चमत्कारोंपर अविश्वास, परलोकका तथा स्वर्ग-नरकोंका अभाव, समूची मानवजातिकी समता, बंधुत्व तथा व्यक्तिकी स्वतंत्रता आदि तत्त्वोंको सत्यशोधक समाजने भी अपनाया। सरकारी संस्थाओंमें विद्यमान ब्राह्मणी शासन तथा समाजके सब महत्त्वपूर्ण व्यवहारोंमें दृश्यमान ब्राह्मणी नेतृताके विरोधमें एक तरहके वर्ग-विग्रहका ही निर्माण इस आन्दोलनने किया। अन्य सुधारकोंकी ही तरह सत्यशोधक समाजके समर्थक अँग्रेजी शासनके प्रति आदरकी भावना रखते थे। भारतीय सुधारकोंके इतिहासमें राजा राममोहन रायको यदि छोड़ दें, तो सचमुच ज्योतिराव फुलेकी तरह दृढ, त्यागी, धीरोदात्त तथा तपस्वी नेता दूसरे नहीं हुए। स्व. आगरकर उनके समान ही मालूम होते हैं; परन्तु वे राष्ट्रवादी थे, मानवतावादी नहीं। ज्योतिबा वास्तवमें मानवताका वह अगाध प्रेम-सागर है जो राष्ट्रभेदके बन्धनोंको तृणवत् मानकर उन्हें आसानीसे लाँघता है और आगे

बढ़ता है। आगरकर सहृदय अवश्य थे; परन्तु उनका बुद्धिवाद रूक्ष था; उन्होंने मानवताका व्यापक प्रेम नहीं पाया था।

सत्यशोधक समाजके संस्थापकोंने दक्षिण भारत तथा महाराष्ट्रमें जिस प्रवृत्तिको साकार रूप प्रदान किया वह अब पूर्णतया दृढमूल बनी है। भारतीय समाजके पिछड़े हुए, निम्न स्तरोंके व्यक्तियोंके विकासकी आशा इच्छाशक्तिका प्रबल रूप धारण करके उपस्थित है। मलिनता तथा दुर्दशाको प्राप्त भारतीयोंके धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अपकर्षके सब कुलक्षण इन स्तरोंमें प्रगट हुए हैं। यह एक सचाई है कि यदि इन स्तरोंका जीवन निर्मल न हो पाया, अगर इनमें प्रकाशकी किरणोंका उन्मुक्त प्रवेश न हो सका और यदि इन स्तरोंके पशुप्राय अवस्थातक पहुँचे हुए मानव मानवताकी स्वतंत्रतासे लाभान्वित न होकर सदाचार, ज्ञान एवं माङ्गल्यसे सुशोभित समृद्धिको प्राप्त न कर सके, तो यह निश्चित है कि भारतीय समाजके भविष्यके सम्बन्धमें अधिक आशाएँ रखनेके लिए कोई अवकाश नहीं है। सत्यशोधक समाजकी स्थापनाके कारण किसानों तथा मजदूरोंके जीवनसंग्रामको एक निश्चित रूप प्राप्त हुआ। ब्राह्मणेतरोंके आन्दोलनके ही कारण दक्षिण भारतमें अस्पृश्योंके आत्मोद्धारके आन्दोलनको कुछ बल मिला। साधारणसे साधारण व्यक्तियोंको आधुनिक आंग्लविद्याकी शिक्षा प्राप्त हो, सामाजिक जीवनमें समताकी स्थापना हो, धार्मिक भेदोंकी महिमा कम हो आदि विभिन्न कल्पनाओंका पिछड़े हुए बहुजनसमाजके प्रमुख व्यक्तियोंके मनमें जो उदय हुआ उसका असली कारण उपर्युक्त ब्राह्मणेतरोंका आन्दोलन ही है। मुसलमानोंके विषयमें जो आत्मीयताकी भावना ब्राह्मणोंकी अपेक्षा ब्राह्मणेतरोंके प्रतिदिनके व्यवहारोंमें प्रकट होती है और ब्राह्मणेतरोंके आन्दोलनोंमें स्पष्टतया लक्षित होती है इसका प्रधान कारण है इस (सत्यशोधक) आन्दोलनका धर्मभेदातीत दृष्टिकोण।

समाज-सुधार तथा अँग्रेजी क़ानून

ब्राह्मसमाज, प्रार्थनासमाज, आर्यसमाज, सामाजिक सुधारकोंकी संस्थाएँ, सत्यशोधक समाज तथा ब्राह्मणेतर आन्दोलन आदिमें ग्रथित धार्मिक तथा सामाजिक विचारोंका प्रतिबिम्ब अँग्रेजोंके क़ानूनमें, उनकी राज्य-संस्था तथा शिक्षा-संस्थामें दिखाई देता है। अंग्रेजी राज्य या शासनकी नीति तथा सुधारकोंका दृष्टिकोण दोनों परस्पर पूरक ही थे। अंग्रेजी शासनके क़ानूनके मुताबिक इस देशकी समूची प्रजाका स्तर समान ही माना गया। अतएव वह धर्म-विचार उत्पन्न हुआ जो धर्मके विशिष्ट संप्रदायों तथा पवित्र

ग्रंथोंको ही महत्ता न देते हुए केवल विवेक-बुद्धिको प्रामाण्य माननेवाला धर्मविचार निर्माण हुआ। मूर्तिपूजा द्वारा निर्मित कर्मकाण्डका समर्थन करनेवाला एक दल उस कर्मकाण्डको न माननेवाले दूसरे दलको पराया समझता है। इसीसे मूर्तिपूजाका विरोधी विचार शनैः शनैः प्रसृत होने लगा। हिन्दूधर्मकी अनेकदेवतावादका पुरस्कार करनेवाली संस्थापर आघात करनेके लिए ही एकेश्वरवादकी प्रबल लहर उत्पन्न हुई। हिन्दू-धर्ममें मूलतः एकेश्वरवाद ही विद्यमान है; परन्तु प्रत्यक्ष आचरणमें तो अनेकदेवतावाद ही यशस्वी होता है। हिन्दू-धर्म संस्थाके रूपमें अनेकदेवतावादका ही पुरस्कार करनेवाला धर्म है। उसके विरुद्ध एकेश्वरवाद प्रतिकारके लिए उत्पन्न हुआ। वह अभी भविष्यकी वस्तु है। अंग्रेजी क़ानूनने निरुपाय होकर उस धाराको अपनाया जो हिन्दू-धर्मकी श्रुतियों, स्मृतियों तथा पुराणोंमें ग्रथित क़ानूनके विरुद्ध थी। उसने सती की प्रथाका प्रतिबन्ध किया सन् १८३२ तथा १८५० के क़ायदेके अनुसार धर्म-परिवर्तन करनेके बाद भी व्यक्तिको अपने सम्बन्धियोंकी संपत्तिका उत्तराधिकारी बनाया गया; उसके अधिकारको कायम रखा गया। सन् १८४० में गुलामोंके व्यापारको रोकनेवाला क़ानून मंजूर हुआ। सन् १८५६ में पुनर्विवाहके क़ायदेको मंजूर करके ब्राह्मणी हिन्दू-धर्मके नारीजीवन सम्बन्धी मूलभूत तत्त्वको भारी ठेस पहुँचाई गई। सन् १८६५ में वह क्रान्तिकारी क़ानून-जिसे इन्डियन् सक्सेशन एक्ट कहा जाता है-पास किया गया, जो भारतके किसी भी जाति या धर्मके व्यक्तिको अन्य-जातीय या अन्य-धर्मीय व्यक्तिसे विवाह करनेकी अनुमति देता है। इस क़ानूनने जातिभेद तथा धर्मभेदकी जड़को ही उखाड़ दिया। यों तो इस क़ानूनको प्रत्यक्ष आचरणमें स्थान देनेका काम कोई एक व्यक्ति ही किसी समय करता है और यह व्यक्ति वस्तुतः अपवाद ही होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि क़ानून असलमें धर्म-सुधार या समाज-सुधारको अवसर अवश्य प्रदान करता है; परन्तु उस सुधारके यथार्थमें संपन्न होनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि समाजके अङ्ग प्रत्यङ्गमें क्रान्तिकारी शक्तिका उदय हो। यह सही है कि जातीयतावादको नष्ट करनेवाला क़ानून अँग्रेजोंने निर्माण किया; परन्तु साथ साथ यह भी मानना पड़ेगा कि जातीयता वादको नष्ट करनेवाली समाज-क्रान्तिका निर्माण वे न कर पाए।

गांधी युग

सन् १९१४-१८ में जो प्रथम विश्व-युद्ध हुआ उसने अँग्रेजी राज्यकी स्थापनासे लेकर सन् १९१४ तक चलनेवाले सामाजिक आन्दोलनको बल दिया,

उसमें शक्तिका संचार किया। भारतीय राजनीतिपर इसका क्या असर हुआ इसका ज्वलन्त प्रमाण इसके बादके राजनीतिक आन्दोलनोंके उत्कर्षमें मिलता है। इस कालमें सामाजिक आन्दोलन भी अत्यन्त प्रभावी बने। लोकमान्य तिलक तथा न्यायमूर्ति रानडे जैसे व्यक्ति सन् १८९२ में ईसाई धर्मोपदेशकोंके साथ चाय लेते हैं और उससे सामाजिक वायुमण्डलमें खलबली-सी पैदा होती है। पुराने विचारोंसे प्रभावित सफ़ेदपोशोंका वर्ग उसके विरुद्ध आक्रोश करते हुए कहता है, "यह कितना भीषण पाप है! कितना घोर अनाचार! हे परमात्मन्, क्या बड़े बड़े लोग भी अब इतनी भीषण अव्यवस्थाका निर्माण करने लगे!" और ये नेता भी सामाजिक तथा कौटुम्बिक दबावसे डरकर कायरतासे परिस्थितिके सामने नतमस्तक होते हैं और गोमूत्रके प्राशनसे प्रायश्चित्त लेनेके लिए प्रस्तुत होते हैं। प्रथम महायुद्धके उपरान्त उपर्युक्त वायुमण्डलमें क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ।

पहले महायुद्धकी समाप्तिसे लेकर दूसरे महायुद्धकी समाप्तितकके भारतीय इतिहासको प्रधानतासे 'गांधी-युग'की संज्ञा देना संभव है। धैर्यशाली समाज-सुधारकोंके शूर नेताकी दृष्टिसे यदि हम महात्मा गांधीकी ओर देखें, तो उनका व्यक्तित्व अधिक प्रभावी हो उठता है। यह स्पष्ट दिखाई देता है कि बीती सदीके सुधारकोंका महत्त्वपूर्ण कार्य गांधीमें अपने उत्कर्षकी चरम सीमाको प्राप्त हुआ। स्त्रियोंके विषयमें गांधीकी सेवा तथा कर्तृत्व गत शताब्दीके सुधारकोंकी आत्माओंको सचमुच मोक्षका आनन्द प्रदान किए बिना नहीं रह सकता। महात्मा गांधी सैकड़ों नारियोंको राजनीतिके क्षेत्रमें ले आए और उन्होंने स्त्रियों तथा पुरुषोंकी समानताकी बड़ी उज्ज्वलताके साथ स्थापना की। वर्तमान भारतीय स्वराज्यकी राजनीति गांधीके उक्त महान् कार्यका ज्वलन्त प्रमाण है। एक नारी (श्री. अमृत कौर) भारतीय मन्त्रिमण्डलमें विराजमान है, दूसरी (श्री. विजयालक्ष्मी पण्डित) आन्तरराष्ट्रीय राजनीतिमें अपनी नेतृताके उत्कृष्ट गुणोंकी दीप्ति दिखा रही है और तीसरी नारी (अब स्वर्गीया सरोजिनी नायडू) एक बड़े इलाकेकी गवर्नर बनी थी। सन् १९१८ में अस्पृश्यता-निवारणकी समस्यापर लोकमान्य तिलकने अपना निश्चित मत नहीं दिया; परन्तु उसी समय गांधीने अपने आश्रममें एक अस्पृश्य कन्याका स्वयं अपनी पुत्रीकी-तरह पालनपोषण-किया और अस्पृश्यताका उच्छेद करनेवाले आन्दोलनको देशव्यापी रूप प्रदान किया। जातिभेदको

नष्ट करनेके लिए उन्होंने अपने आश्रममें सब जातियोंके लोगोंके साथ पंगतमें भोजन करने तथा ब्याहमें कन्याका आदान-प्रदान करनेका प्रारंभ करके सनातन निर्बन्धोंका भङ्ग किया; इतना ही नहीं, अपने एक पुत्रका एक ब्राह्मण-कन्यासे विवाह करवाया। सब धर्मोंके विषयमें सम-बुद्धिका निर्माण करने तथा सर्व धर्मोंके अनुयायियोंमें भ्रातृभावकी स्थापना करनेके लिए उस महात्माने आत्म-समर्पण किया। इस तरह राजा राममोहन रायसे लेकर महात्मा गांधीतकके कालमें धार्मिक तथा सामाजिक सुधारका इतिहास निरन्तर उत्कर्षके पथपर अग्रसर होता रहा और वर्तमानमें वह स्वराज्यके काल-खण्डमें प्रवेश कर रहा है।

गत शताब्दीमें अँग्रेजी राज्य-कालमें सुधारके जो प्रयत्न हुए उनके कारण धार्मिक तथा सामाजिक विचारों एवं आचारोंकी दिशामें परिवर्तन हुआ। परन्तु सुधारकी ओरका यह झुकाव बड़ा उथला है। दिखाई देता है कि इस झुकावका भारतीय समाजके गहरे अन्तस्तलमें प्रवेश नहीं हो पाया। मूक, सनातन रूढि वास्तवमें इतनी वज्रमयी है कि वह गत डेढ़ सौ वर्षोंके सामाजिक और धार्मिक सुधारके इतिहासको एक ही क्षणमें नष्ट कर सकेगी। ऊपरी तौरसे दिखाई देता है कि सफेदपोशोंका सुधार हुआ है; परन्तु उनकी गृह-संस्थामें प्रवेश करते ही उनमें विद्यमान पुरातन रूढिकी जीर्ण दशाका साक्षात्कार होता है और मनमें सहसा भयका निर्माण होता है। गृह-संस्थाकी सनातन रूढिका यह कलि-पुरुष प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अवसरपर अपने अस्तित्वका प्रमाण उपस्थित करता है। राजनीतिक चुनावके समय सर्व जातियाँ तथा धर्म-संप्रदाय अपने क्षुद्र अहंकारको प्रदर्शित करते हैं। सच तो यह है कि अबतक भारतीय समाजको या हिन्दू समाजको शुभ, उदार तथा मानवतासे पूर्ण भावनाओंकी वह विशाल संपत्ति प्राप्त नहीं हुई है, जो निश्चित रूपसे भविष्यपर विजय प्राप्त करा देती है। क्या अँग्रेजी राज्य, क्या उसमें चली आई सुधारकोंकी परम्परा दोनोंने विरासतमें बहुत ही कम दिया है। विशाल तथा शक्तिसंपन्न वैचारिक क्रान्तिको जन्म देनेवाला महान् नेतृत्व अभीतक भविष्यकी वस्तु है। वर्तमान नवीन राज्यकर्ता राजनीतिमें इतने उलझे हुए हैं कि उनसे उक्त औसतके नेतृत्वकी आशा रखना व्यर्थ है। नवीन मानवतावादी तथा बुद्धिवादी वैचारिक नेतृत्वको जन्म देना अब महान् भविष्यका निर्माण करनेवाली नवीन पीढ़ीका कर्तव्य है।

नवीन युगके भारतीय द्रष्टा—(१) राजा राममोहन राय

नवीन सामाजिक आन्दोलनके लिए सन्तोंके आदर्शकी आवश्यकता है; परन्तु यह भी आवश्यक है कि आधुनिक सन्तोंका आदर्श तुकारामतकको सन्त परम्पराके

आदर्शसे कुछ अंशोंमें भिन्न हो । तुकारामके समयतक जो सन्त हुए उनके कालमें विद्यमान मानव-निर्मित विश्वको यह ज्ञात न था कि बड़ी बड़ी सामाजिक संस्थाओंमें परिवर्तन करने अथवा नवीन संस्थाओंको जन्म देनेका उत्तर-दायित्व भी मानव ही पर है। रूढिकी शक्ति सनातन तत्त्वकी तरह प्रबल एवं प्रभावी मालूम होती थी । व्यक्तिगत रूपसे रूढिपर आक्रमण करके अन्तमें मानव रूढिके प्रचण्ड दुर्गोंको, पहाड़ोंको रौंद सकता है, बड़े बड़े आन्दोलनोंको जन्म देकर मानव इतिहासको पलटाकर नवीन सामाजिक सम्बन्धोंकी स्थापना कर सकते हैं, इस तरहका भान उस समय साधारण मानव तो छोड़ दीजिए; सन्त महन्तोंमें भी नहीं था। तुकारामतकके सन्तोंका इस बातका स्पष्ट भान या ज्ञान नहीं था कि अज्ञान तथा पापका विस्तार करके बड़ी बड़ी सामाजिक संस्थाएँ समाजके स्वास्थ्यको बिगाड़-कर उसकी अवनतिका कारण बनती हैं और इसीलिए इन सामाजिक संस्थाओंमें परिवर्तन करनेका महान् उत्तरदायित्व प्रधान रूपसे साधकों तथा मुमु-क्षुओंपर है। सामाजिक विश्वका समूचा उत्तरदायित्व स्वयं मानवोंपर ही है और सामाजिक स्थितिको कायम रखना तथा उसमें परिवर्तन करना मानवोंपर निर्भर है, इस बातको स्पष्ट रूपसे समझना यही वास्तवमें नवीन युगकी विशेषता है। वर्तमान समयमें बड़ी यन्त्रणाओंके साथ मानवको इस उत्तरदायित्वका ज्ञान हुआ है। यह ज्ञान वास्तवमें मानवके प्राकृतिक स्वातंत्र्यका एक महान् अन्वेषण है जो स्वयं उसने कर लिया है। मानवने अपनी उत्पत्तिके कालसे लेकर आजतक अपना जो विकास किया है उस विकास-सोपानकी हरेक सीढ़ी वास्तवमें इस प्राकृतिक स्वातंत्र्यके विशेष अंशकी खोज है। मानवकी प्रगतिका इतिहास उसके स्वातंत्र्यका इतिहास है । इससे उसकी मानसिक सामर्थ्यमें निरन्तर वृद्धि हो रही है। हाँ, इतना सच है कि इस स्वातंत्र्यकी प्रतीति उसके लिए नवीन, महान् और नैतिक उत्तरदायि-त्वोंका निर्माण करती है जिससे उसके चित्तकी अस्वस्थता अधिक गहरी और विस्तीर्ण बनती है । अतीतके लोगोंकी भ्रान्तियोंमें पिशाचका ऊधम, शैतान, बेताल, भीषण राक्षस, देवताओंका प्रकोप आदि वस्तुएँ विद्यमान थीं और उनके कारण मान-वका मन सदैव अस्वस्थ तथा भ्रममें पड़ा हुआ था और उस अस्वस्थ-ताको नष्ट करनेवाले मन्त्रका ज्ञानी मान्त्रिक भी उसकी मददके लिए प्रस्तुत रहता था। वर्तमान समयमें विश्वके अर्थको अधिक अच्छी तरहसे समझनेमें मानव सफल हुआ है, अतएव वे राक्षसी तथा दैवी शक्तियाँ तिरोहित हुई हैं अवश्य; परन्तु आजका मानव यह भी भली भाँति समझ चुका है कि पिशाचों तथा राक्षसों

की अपेक्षा मानवके अन्तरङ्गमें विद्यमान दुष्ट वासनाएँ, अज्ञान, हिंसक प्रवृत्तियाँ तथा लोभ आदि मनोव्यापार ही उसके व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रपञ्चका विध्वंस करनेकी ताकमें निरन्तर रहा करते हैं। अतएव मानवी स्वातंत्र्यकी सुरक्षा करनेके लिए नवीन युग उन सन्तों तथा धर्म-संस्थापकोंकी याचना कर रहा है जो महान् मानसिक सामर्थ्यका सम्पादन करनेवाले सिद्ध हों। सत्यका निरन्तर अन्वेषण तथा विश्वव्यापी मित्रता ये दो भावनाएँ मानसिक सामर्थ्यके कार्य तथा कारण हैं। उक्त दो प्रेरणाएं ही वस्तुतः मानवकी आध्यात्मिक शक्ति है। यही मानवकी दिव्यता है और वही सच्चे अर्थोंमें सन्त है जिसमें इस दिव्यताके दर्शन होते हैं।

उन्नीसवीं सदीके प्रारम्भमें भारतवर्षमें समाज-सुधारकोंका नया धार्मिक आन्दोलन शुरू हुआ। उसमें मानवके सामाजिक उत्तरदायित्वके तथ्यका स्वीकार किया गया था। साथ साथ इस आन्दोलनके नेताओंको इस बातका भी ज्ञान हुआ था कि इस क्रान्तिकारी उत्तरदायित्वके ज्ञानकी सफलताके लिए आध्यात्मिक शक्तिकी भी नितान्त आवश्यकता है। इस आन्दोलनके प्रथम नेता हैं राजा राममोहन राय। ये वास्तवमें भारतके प्रथम आधुनिक सन्त हैं। ये एक ऐसे प्रतिभावान्, दिग्गज विद्वान् तथा त्रिकालदर्शी सन्त थे जिन्होंने व्यापक दृष्टिकोणसे वैदिक संस्कृतिका अध्ययन करके उसके शाश्वत रहस्यका आकलन किया था। स्वयं स्थापित धर्म-संगठनको उन्होंने ब्रह्मसमाज यह नाम दिया। इसमें उनके द्वारा प्रदर्शित औचित्य इतिहासके बहुत गहरे मन्तव्यको सूचित करता है। 'ब्रह्म' शब्द उपनिषदोंमें विश्वके अन्तिम सत्य तथा मानवी अचिन्त्य चित्-शक्तिके बोधक अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। इस शब्दमें वह तत्त्व अभिव्यक्त हुआ है जो वैदिक संस्कृतिका सार है, सर्वस्व है। पुराने परम्परागत पावित्र्योंका उच्छेद करनेवाले समाज-सुधारकोंके ये पितामह आसन्न-मृत्यु अवस्थातक भूतकालसे भीषण युद्ध करते रहे; परन्तु जो विचार भारतीय भूतकालके अन्तरङ्गके चैतन्यका मूल स्रोत था उसे उन्होंने बड़े औचित्यके साथ अपनी विजय-ध्वजाके नीचे निर्मित विचार-मन्दिरके अन्तरतम आगारमें स्थान दिया। राजा राममोहन राय इस सत्यको भली भाँति जानते थे कि ब्रह्मचिन्तनसे प्रबुद्ध आध्यात्मिक शक्ति मानवी समताके नवीन युगका निर्माण करेगी। पुरानी धर्म-संस्थाओंने मानवसमाजके चारों ओर खड़ी की गई और युगों युगोंतक पोसी गई भेद-भावोंकी तटबंदीको उड़ा देनेवाली शक्तिके निर्माणके कार्यका उन्होंने बीड़ा उठाया था। समान विवेक-बुद्धि तथा

समान संस्कृतिका निर्माण करके मानवी एकताकी स्थापना करना ही उनका उच्च आदर्श था और इसीसे प्रेरित होकर उन्होंने 'नवयुग' के आन्दोलनका सूत्र-पात किया। उक्त आदर्शकी प्राप्तिके लिए क्या जातिभेद, क्या वर्णभेद, क्या धर्मभेद, क्या देशभेद सबके संकीर्ण बन्धनोंको तोड़कर-मरोड़कर उन्होंने 'ब्रह्म' शब्दमें उस विश्वतत्त्वको देखा जो एक महान् भ्रातृभावका प्रेरक था। ईश्वरकी उपासना तथा मानवोंकी नैतिक एकता इनका मनोहर मेल ही सब धर्मोंका निर्बाध रहस्य है। यह रहस्य संसारके धर्मसम्बन्धी विरोधोंका खण्डन करता है। इस प्रकारके तत्त्वको भारतीय, ईसाई तथा मुसलमानी संसारके सम्मुख रखनेमें राजा राममोहन राय सर्वप्रथम थे। सन्त स्वदेश तथा विदेश, स्वधर्म तथा पर-धर्मसे परिचित नहीं हुआ करते। 'आमुचा स्वदेश। भुवनत्रयामध्यें वास ॥' यही उनका स्वभाव होता है। ब्राह्मसमाजके इसी तरहके आदर्शवादका सम्यक्कथन निम्नलिखित दो श्लोकोंमें किया गया है:-

> सुविशालमिदं विश्वं पवित्रं ब्रह्ममन्दिरम्।
> चेतः सुनिर्मलं तीर्थं सत्यं शास्त्रमनश्वरम् ॥
> विश्वासो धर्ममूलं ही प्रीतिः परमसाधनम्।
> स्वार्थनाशस्तु वैराग्यं ब्राह्मैरेवं प्रकीर्त्यते ॥

अर्थः— ब्राह्मसमाजी कहते हैं कि यह बड़ा ही विशाल विश्व ब्रह्मका पवित्र मन्दिर है, शुद्ध चित्त ही पुण्य-क्षेत्र है, सत्य ही शाश्वत धर्मशास्त्र है, श्रद्धा ही धर्मका मूल है; प्रेम ही परम साधन है और स्वार्थ-नाश ही वैराग्य है।

क्या राजनीतिक सुधार-वाद, क्या सामाजिक स्वास्थ्यकी प्राप्तिके लिए प्रवृत्त समाजशास्त्रज्ञोंका सुधारवाद दोनोंमें संकीर्णता रहती है। राजनीतिक सुधारके आन्दोलनमें या तो नैतिक गहराईका अभाव रहता है या शास्त्रीय सत्यका पीठ-बल नहीं रहता। समाजशास्त्रज्ञोंके सुधार-सम्बन्धी आन्दोलनमें शास्त्रीय सत्य तथा नैतिक श्रद्धा रहती है अवश्य; परन्तु उसमें मानवी एकताकी धारणा दुर्बल होती है। क्रान्तिके आन्दोलनमें चरम कोटिके त्यागका स्फुरण अवश्य रहता है; परन्तु क्रान्तिके ध्येयवादमें नैतिक विवेकका विसर्जन किया जाता है। अतएव क्या राजनीतिक सुधार-वाद, क्या सामाजिक सुधार-वाद, क्या क्रान्ति-वाद तीनोंमें मानवकी आध्यात्मिक शक्तियाँ सर्वाङ्गीण रूपमें अभिव्यक्त नहीं हो पातीं। सन्तोंके सुधारके आन्दोलनमें ही वे शक्तियाँ पूर्णतया अभिव्यक्त होती हैं। राजा राममोहन रायके चरित्रमें इस तरहका 'सन्त-

स्वभाव' प्रकट हुआ है। परम कोटिके त्यागके लिए प्रस्तुत होकर उन्होंने सामाजिक सुधार तथा राजनीतिक क्रान्ति दोनों ध्येयोंको जागृत रखा था। इन दोनों ध्येयोंका पोषण उनकी आध्यात्मिक भावना करती थी।

राजा राममोहन राय अपनी माताके लाड़ले थे, बड़े मातृभक्त थे। परन्तु माता मूर्तिपूजक थी और उसने मूर्तिपूजाका त्याग करनेवाले पुत्रका मुँह भी न देखनेका प्रण किया था। इसके फलस्वरूप राजा राममोहनको स्थायी रूपसे माताके वियोगको सहन करना पड़ा। फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिकी पराजयसे वे निर्विण्ण हुए थे। फ्रान्सीसी जहाजमें पर्यटन करते हुए उन्हें सहसा फ्रान्सकी राज्यक्रान्तिकी विजयका शुभ संवाद मिला। आनन्दके आवेगमें जहाजकी सीढियोंसे शीघ्र उतरते हुए उनका पैर फिसला और वे गिर पड़े; उनके पैरको सख्त चोट पहुँची। परन्तु आनन्दमें उन्हें उस चोटका भान न रहा। फ्रान्सीसी कप्तानको बधाई देनेके लिए उसी दर्दभरे, आहत पैरके सहारे चल पड़े। सचमुच इस महान् सन्तकी राजनीतिक क्रान्ति तथा समाज-सुधारकी तहमें आध्यात्मिक शक्ति विद्यमान थी।

सामाजिक परिवर्तनके विश्वव्यापी आन्दोलनका निर्माण यदि परमार्थके आधारपर हुआ तो ही संसार तरनेमें समर्थ होगा। बिना परमार्थके मानवी संसार असार होकर अस्तव्यस्त तथा नष्ट होगा। सत्यकी जिज्ञासा तथा निर्बाध नीति-तत्त्वोंकी आराधना ही सच्चे अर्थोंमें परमार्थ है। यह नितान्त आवश्यक है कि इस परमार्थका उत्तराधिकार मानवताके आन्दोलनको प्राप्त हो।

(२) लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, कर्मयोगकी मीमांसा

बीसवीं सदीमें भारतवर्षमें दर्शनकी पार्श्वभूमिका निर्माण करनेवाले अनेकों प्रभावी विचार-प्रवर्तक उत्पन्न हुए। इनमें लोकमान्य तिलक, महात्मा गांधी, योगी अरविन्द तथा भाई मानवेन्द्रनाथ राय इन महानुभावोंके विचारोंमें विशेषताके दर्शन होते हैं। इनके विचारोंका संक्षेपमें परामर्श करके हम वैदिक संस्कृतिके विकासकी प्रस्तुत समीक्षाको समाप्त करेंगे।

बुद्धके उदयसे लेकर अँग्रेजी राज्यकी स्थापनाके समयतकके कालमें भारतवर्षमें निवृत्तिवादका अधिक प्रभाव था। क्या संन्यासी सन्त, क्या वानप्रस्थका स्वीकार न किए हुए सन्त दोनोंके लिए निवृत्तिवादकी गेरुई एवं तेजस्वी छटा बिना गेरुए चीवरके ही पारमार्थिक शुचिताके वलयका निर्माण करती थी। इन्द्रियगम्य विश्वके ज्ञानको भ्रान्ति अथवा बन्धन-मात्र समझकर अन्तर्मुख होते हुए पारलौकिक तत्त्वके

रंगमें रंगनेवाला ज्ञान ही उस बन्धनको नष्ट करता है, यही श्रद्धा उस युगका स्वामित्व करती थी। इस बाह्य विश्वकी उत्कट अनुभूति ही पाश्चात्य संस्कृतिकी मूल-भूत शक्ति है। इस पाश्चात्य संस्कृतिने सहस्रों वर्षोंसे अन्तर्मुख बने हुए भारतीय ज्ञानको अपनी गुहासे बाहर निकलनेके लिए बाध्य किया। इस समाधि-भग्न अतएव अस्वस्थ ज्ञानको तत्त्वज्ञानका स्वरूप भारतीय राजनीतिक असंतोषके जनकने – लोकमान्य तिलकने – दिया। बाह्य विश्वकी उक्त अनुभूति परम्परागत संस्कृतिके मूल-भूत अथवा बीज-भूत तत्त्वके अधिष्ठानसे पूर्णतया भिन्न पाश्चात्य संस्कृतिकी प्रतिध्वनि मात्र नहीं है; उसे अपनी जन्म-भूमिकी विचार-पद्धतिका अधिष्ठान प्राप्त करानेका महत्त्वपूर्ण कार्य लोकमान्य तिलकने किया और यह अधिष्ठान है भगवद्गीता। भगवद्गीताके स्वीकारका कारण उन्होंने बड़े ही स्पष्ट शब्दोंमें निम्नानुसार बतलाया है। "इसीमें कर्म-अकर्मके सारे बीज हैं और स्वयं भगवान्‌ने निश्चयपूर्वक यह आश्वासन दिया है कि इस धर्मका स्वल्पमात्र आचरण भी बड़ी बड़ी आपत्तियोंसे बचाता है। इससे अधिक और क्या चाहिए? सृष्टिका नियम है कि बिना किए कुछ नहीं होता। इस नियमको भली भाँति समझकर तुम केवल निष्काम बुद्धिसे युक्त कर्ता बनो। इतना ही पर्याप्त है। गीता इसलिए नहीं कही गई कि केवल स्वार्थ-परायण बुद्धिसे गृहस्थीका निर्वाह करके थके-माँदे लोगोंका कालयापन हो या गृहस्थीका त्याग करनेके लिए लोगोंकी तैयारी हो। सच तो यह है कि संसार या गृहस्थी ही मोक्षकी दृष्टिसे कैसे चलाए, संसारमें मानवका वास्तविक कर्तव्य क्या है, आदिका तात्त्विक दृष्टिसे उपदेश देनेके लिए ही गीताशास्त्रका प्रवर्तन हुआ है। अतएव हमारी अन्तिम प्रार्थना इतनी ही है कि हरेक व्यक्ति अपने पूर्व वयमें ही गृहस्थाश्रम या संसारके इस प्राचीन शास्त्रको हो सके उतने शीघ्र समझकर ही रहे" (गीतारहस्य प्रस्तावना पृष्ठ १५)। गीताको ही क्यों चुना गया इसे स्पष्ट करते हुए लोकमान्य तिलक कहते हैं, "मोक्ष, भक्ति तथा नीति-धर्म इनमें आधिभौतिक ग्रंथकर्ताको जो विरोध मालूम होता है वह अथवा संन्यास-मार्गके अनुयायियोंके मतानुसार ज्ञान और कर्ममें दृश्यमान विरोध, दोनों यथार्थ नहीं हैं; ब्रह्मविद्या तथा भक्तिका जो मूल तत्त्व है वही नीति तथा सत्कर्मकी नींव है इसे बतलाकर इहलोकमें संन्यास, कर्म तथा भक्तिका सुयोग्य समन्वय करके मानव अपने जीवन-यापनके किस मार्गका अनुकरण करे इस सम्बन्धमें भी गीता एक निश्चित निर्णयपर पहुँची है। इस तरह

गीता यह ग्रंथ प्रधान रूपसे कर्मयोगका ग्रंथ है। अतएव सब वैदिक ग्रंथोंमें उसे 'ब्रह्मविद्यान्तर्गत [कर्म-] योगशास्त्र'के नामसे अग्रस्थान मिला है। जब प्राचीन शास्त्र अपने अपने समयके अनुसार विकासकी यावच्छक्य चरम अवस्थातक पहुँचे तब वैदिक धर्मको वह अन्तिम, ज्ञान-मूल, भक्तिप्रधान तथा कर्मयोग-पर रूप प्राप्त हुआ था, जो वर्तमान समयमें प्रचलित वैदिक धर्मका भी मूलस्रोत है। गीतामें इसी रूपका प्रतिपादन किया गया है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि सांप्रत हिन्दू-धर्मके तत्त्वोंको संक्षेपमें परन्तु साथ साथ निस्सन्दिग्ध रूपसे विशद करनेवाला गीताकी टक्करका दूसरा ग्रंथ संस्कृत साहित्यमें नहीं है" (गीतारहस्य, प्रस्तावना पृ.११)। अक्सर यह आक्षेप किया जाता है कि नवीन युगके ज्ञान, उसकी समस्याओं तथा उत्तरदायित्वोंका स्वरूप ही इतना भिन्न है कि दो हजार बरसों पूर्व लिखी गई गीता उनके विषयमें मार्गदर्शन कैसे कर सकेगी? इस सम्बन्धमें गीतारहस्यके कर्ताका कथन यों है:– गीतामें प्रणीत धर्म, सत्य तथा अभय है अवश्य; परन्तु जिस समय जिस रूपमें वह कहा गया उस देश-कालमें, उस परिस्थितिमें, बहुत ही परिवर्तन हुआ है और इसलिए कई लोगोंकी आँखोंमें इस ग्रंथकी आभा पूर्ववत नहीं रहीं; अपि तु धुँधली हो गई है। ... ... सिवा इसके अनेकों नवीन विद्वानोंकी आजकल यह धारणा हो गई है कि वर्तमान समयमें आधिभौतिक ज्ञानकी पाश्चात्य देशोंमें विपुल वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप अध्यात्मशास्त्रके अनुसार प्राचीन कर्मयोगका जो विवेचन उसमें किया गया है, वह आधुनिक कालके लिए पूर्णतया उपयोगी कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। उपर्युक्त धारणाएँ भ्रान्त हैं, निर्मूल है। ... ... मोक्ष-धर्म और नीति दोनों आधिभौतिक ज्ञानकी परिधिके बाहरके विषय हैं और इनके सम्बन्धमें प्राचीन कालमें हमारे शास्त्रकारोंने जिन सिद्धान्तोंकी स्थापना की है उनसे परे मानव-ज्ञानकी प्रगति अभीतक नहीं हो पाई है। इतना ही नहीं, पाश्चात्य देशोंमें भी अध्यात्मके दृष्टिकोणसे उपर्युक्त प्रश्नोंका उहापोह अबतक चल रहा है और वहाँके आध्यात्मिक ग्रंथकर्ताओंके विचार गीता-शास्त्रके सिद्धान्तोंसे बहुत भिन्न नहीं हैं। गीतारहस्यके विभिन्न अध्यायोंमें किये गए तुलनात्मक विवेचनसे यह बात स्पष्ट हो जाएगी। ... ... अर्थात् यह सत्य है कि दोनोंमें सूक्ष्म भेद हैं और ये भेद बहुत ही हैं। यह निर्विवाद है कि जो व्यक्ति इन सूक्ष्म भेदोंसे परिचित होना चाहता है या इन सिद्धान्तोंके सम्पूर्ण प्रतिपादन तथा विस्तारकी जानकारी प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है उसके लिए पाश्चात्य ग्रंथोंका मूल रूपमें अवलोकन करना परमावश्यक

है। पाश्चिमात्य विद्वानोंका कहना है कि कर्माकर्मविवेक अथवा नीति-शास्त्रपर सर्वप्रथम सुव्यवस्थित ग्रंथ यूनानके दार्शनिक अरस्तूने लिखा। परन्तु हमारे मतमें अरस्तूके भी पूर्व महाभारत तथा गीतामें इन प्रश्नोंका विचार अरस्तूसे भी अधिक व्यापक तथा तात्त्विक दृष्टिकोणसे किया गया है और अध्यात्मकी दृष्टिसे गीतामें प्रतिपादित नीति-तत्त्वोंसे अलग स्वतंत्र नीतितत्त्व अब-तक संसारमें उत्पन्न नहीं हुआ है। संन्यासीकी तरह रहकर शान्तिके साथ तत्त्वज्ञानके विचारोंमें जीवन बिताना समीचीन है अथवा विभिन्न प्रकारोंकी राज-नीतिक उथल-पुथलमें सम्मिलित होना या सहयोग देना उचित है, इस सम्बन्धमें अरस्तूकृत स्पष्टीकरण गीतामें विद्यमान है और मनुष्य जो कुछ पाप करता है सो अज्ञानसे ही करता है यह सुकरातका मत भी एक तरहसे गीतामें समाविष्ट हुआ है; क्योंकि गीताका सिद्धान्त है कि ब्रह्मज्ञानसे जिस व्यक्तिमें सम-बुद्धिका उदय हुआ है उससे पापकर्म किया जाना सर्वथा असंभव है। एपिक्यूरिअन तथा स्टोइक संप्रदायके यूनानी पण्डितोंका मत है कि चरम अवस्थातक पहुँचे हुए परमज्ञानी पुरुषका आचरण ही नीतिकी दृष्टिसे सब लोगोंको आदर्शके रूपमें मान्य है। उपर्युक्त मत भी गीताके लिए ग्राह्य है और इस संप्रदायके समर्थकों द्वारा किया गया परमज्ञानी पुरुषका वर्णन तथा गीताके स्थितप्रज्ञके लक्षण दोनों समान हैं। इसी तरह हरेक मानवका मानव-जातिके हितके लिए निरन्तर यत्नशील रहना ही यथार्थमें नीतिकी चरम सीमा या निकष है यह मिल, स्पेन्सर, कान्ट आदि आधिभौतिकवादियोंका कथन भी गीतामें वर्णित स्थितप्रज्ञके 'सर्वभूतहिते रतः' जैसे बाह्य लक्षणमें संगृहीत हुआ है और काण्ट तथा ग्रीनकी नीतिशास्त्रकी उपपत्ति तथा उनके इच्छा-स्वातंत्र्यके सिद्धान्त भी गीतामें उपनिषदोंके ज्ञानके आधारपर दिए गए हैं" (गीतारहस्य, प्रस्तावना पृष्ठ ६,१०)।

उक्त स्थानपर प्राचीन भारतीय संस्कृतिका पाश्चात्य संस्कृतिके साथ सामञ्जस्य दिखाकर लोकमान्य तिलकने यह अतीव उदात्त अभिप्राय व्यक्त किया है कि मानव-जातिका नीतिशास्त्र वास्तवमें एक ही है। पाश्चिमात्य तथा पौर्वात्य संस्कृति-योंका सुन्दर समन्वय करनेका यह प्रयत्न बड़ा ही समझदार एवं सराहनीय दिखाई देता है। परन्तु यह एक ऐसा प्रयत्न है जो एक प्राचीन एवं पवित्र धर्मग्रंथको आधारशिला मानकर हो रहा है। अतएव इसका यश सीमित ही रहा; क्योंकि भगवद्गीताका स्पष्ट आशय है कि इसमें (याने भगवद्गीतामें) वह अन्तिम सत्य लिपिबद्ध हुआ जिसका निवेदन साक्षात् सर्वज्ञ परमात्माने स्वयं अपने मुखसे किया

था। वर्तमान युगमें उक्त आशयका प्रभाव नहीं रहा है। दूसरी बात यह है कि भगवद्गीताकी रचना तार्किक सुसंगति तथा बुद्धिवादी विवेचन-पद्धतिके अनुसार नहीं हुई है। वास्तवमें भगवद्गीताकी विचार-पद्धति कुछ ऐसी है जो भावुक, श्रद्धालु अथवा कल्पना-तरङ्गोंमें तन्मय होनेवाले उच्च कोटिके धार्मिक संस्कारोंसे संपन्न व्यक्तिको काव्यमय प्रतीति करानेमें समर्थ है। माना कि भगवद्गीतामें ऐसे अनेकों सिद्धान्त हैं जो तीव्रतम बुद्धिवादके निकषपर रखकर स्वीकृत हुए हैं, सूक्ष्म प्रज्ञासे ज्ञात हैं और दीर्घ तथा गहरी अनुभूतिके आधारपर परीक्षित एवं खरे उतरे हैं। परन्तु इनकी परस्पर संगति तथा समर्थन साधक और बाधक तर्कशास्त्रके आधारपर नहीं किया गया है। अतएव शंकराचार्यसे लेकर लो० तिलक तक अनेकों मनीषियोंने भगवद्गीताको आत्मसात् करके उसे निश्चित बौद्धिक आकार देनेका प्रयत्न किया है। तीसरी चीज यह है कि भगवद्गीतामें प्रतिपादित पुनर्जन्म वादका सिद्धान्त एक विशुद्ध श्रद्धेय तत्त्व है। सिवा श्रद्धाके या सिवा कल्पनाके इस बातके लिए कोई अन्य प्रमाण नहीं है कि प्रत्येक व्यक्तिकी आत्माको अनगिनत जन्म-मरणोंका चक्कर काटना पड़ता है। विश्वके अनेकों महान् धर्म संसारके विषयमें इस सिद्धान्तका स्वीकार नहीं करते। चौथी बात यह है कि भगवद्गीताकी स्वर्ग-नरककी कल्पना, सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति-लयकी कल्पना अथवा ब्रह्मादि देवताओंकी कल्पना तीनोंका महत्त्वपूर्ण तात्त्विक स्तर अन्ततोगत्वा पौराणिक कथाओंके स्तरसे अधिक ऊँचा नहीं सिद्ध हो सकता। पाँचवी चीज यह है कि भगवद्गीताके कर्माकर्म-विचारके मूलमें जो अनेकों तत्त्व हैं उनमें सहज कर्मका तत्त्व अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गीताने इस तत्त्वका चातुर्वर्ण्य-युक्त समाज-रचनासे मल बिठाया हैं; सहज कर्मका अर्थ है प्रत्येक वर्णका परम्परासे प्राप्त कर्तव्य। परन्तु स्मार्त धर्मशास्त्रकी अथवा भगवद्गीताकी वर्णव्यवस्थाकी कल्पना सार्वदेशीय नहीं है; सार्वकालिक समाज-रचनाओंपर लागू होनेवाली कल्पना नहीं है। वह वास्तवमें हिन्दू समाजकी प्राचीन इतिहासिक परिस्थितिसे उत्पन्न हुई है। प्रत्यक्ष अनुभवसे तथा समाजशास्त्रकी कसौटीसे अब यह सिद्ध हुआ है कि वर्तमान कालकी समाज-धारणाकी समस्याओंको सुलझानेमें उक्त कल्पना सहायक नहीं होती। छठी बात यह है जिस कालमें भगवद्गीताकी रचना हुई थी उस कालमें समाज-संस्थाएँ स्थितिशील थीं; एक ही रूपमें दीर्घकालतक बनी रहती थीं। प्रकृतिकी वनस्पतियों तथा प्राणियोंकी आकृतियोंकी तरह उनके आकार भी सनातन प्रतीत होते थे। परन्तु गत तीन सौ

वर्षोंमें मानव-समाजोंमें मौलिक परिवर्तन हुआ है। आजकल समस्त मानवजाति एक ऐसे युगमें प्रवेश कर चुकी है जो निरन्तर परिवर्तनशील याने गतिशील समाजसंस्थाओंका युग है। अतएव मानवके उत्तरदायित्वों, कर्तव्यों तथा ध्येयों-का कुछ नवीन ही रूप दृश्यमान हो रहा है। यह बात नहीं है कि वर्तमान युगमें केवल भौतिक शास्त्रोंकी ही उन्नति हुई है; अपि तु वनस्पतियों, प्राणियों तथा मानवोंके भी जीवनपर प्रकाश डालनेवाले शास्त्रोंका विकास एवं वृद्धि हुई है। मनोविज्ञानको तथा सामाजिक शास्त्रोंको भौतिकशास्त्र कहना उचित नहीं है। मानवी इतिहासका तत्त्वज्ञान एक ऐसा नवीन शास्त्र है जो मानवके जीवनपर चारों ओरसे प्रकाश डालता है। तात्पर्य, मानव-समाज तथा प्रकृतिके स्वरूपों तथा पारम्परिक सम्बन्धोंको जो नवीन अर्थ वर्तमान सम-यमें ज्ञात हुए हैं उनका भी परामर्श लेना नीतिशास्त्रके लिए अनिवार्य हो उठा है। इसके विना यह असंभव है कि मानवी संसारको शुभ तथा मंगल रूप देनेवाला कर्मयोग निष्पन्न हो। वर्तमान कालके लिए गतिशील समाजव्यवस्थाका अनुसन्धान करनेवाला कर्मयोग-शास्त्र नितान्त आवश्यक है। परिवर्तनशील अवस्थाके अनुरूप स्वभावज कार्योंका स्वरूप भी बदलता है। देश तथा कालके अनुसार मानव-स्वभाव अनेक रंगों तथा आकारोंको धारण करता है; अनपेक्षित परिस्थितिको प्राप्त होते ही मानवको अभिनव मार्गका अन्वेषण करना पड़ता है। स्वभाव यह कोई स्थिर घटना नहीं है। खासकर मानव-स्वभाव एक अत्यन्त लचीली और अगणित रूपोंको धारण करनेवाली वस्तु है। अतएव स्वभावज कर्मको निश्चित करनेकी स्थिर कसौटी सर्वथा दुर्लभ है।

लोकमान्य तिलकने अन्तर्मुख अध्यात्मवादको, ऐहिक प्रपञ्चको यशस्वी एवं कल्याणमय बनानेवाले कर्मयोगका मूलभूत शास्त्र बनानेका बड़ा ही दुर्घट प्रयत्न किया। त्रिगुणात्मक त्रैलोक्यके विषयमें सम्पूर्ण विरक्ति ही सच्चे अर्थोंमें निस्त्रैगुण्य है। यद्यपि जनक, रामचन्द्र, कृष्ण, युधि-ष्ठिर, ध्रुव, प्रह्लाद आदिके पौराणिक उदाहरणोंके आधारपर यह बात मनपर अङ्कित होती है कि उक्त निस्त्रैगुण्यसे या सर्वाङ्गीण वैराग्यसे नैष्कर्म्यको स्वायत्त करके इस भूलोकके मानवी प्रपञ्चके अभ्युदयको प्राप्त करनेवाला पराक्रम उत्पन्न होता है; तो भी इस सिद्धान्तमें विद्यमान वैचारिक विसंगतिका पूर्णतया परिहार नहीं किया जा सकता। सर्व इच्छाओं तथा क्रियाओंको चरणोंपर समर्पित करके उसकी शरणमें पहुँचकर एक निमित्तमात्र बने रहनेकी कल्पनाका अपनी

आत्मा तथा विश्वका उद्धार करनेवाला कर्मके या सामाजिक प्रपञ्चका निर्माण करके उसे सुचारू रूपसे चलानेवाले कर्मके साथ समन्वय या सामञ्जस्यपूर्ण सम्बन्ध कैसे स्थापित करें, यह भी एक महान् रहस्यमय समस्या है।

(२) योगी अरविन्द घोष, भूलोकका दिव्य जीवन

लोकमान्य तिलकने भारतीय आध्यात्मिक विचारको नवीन दिशा दिखाई। पदार्थ-विज्ञान, सृष्टिशास्त्र, इतिहास, विकासवाद, मनोविज्ञान तथा सामाजिक शास्त्र आदि नवीन शास्त्रोंकी उन सम्मतियोंका-जो कि अध्यात्मविद्याके लिए उपकारक या उसे अधिक अर्थपूर्ण बनानेवाली हों अथवा अध्यात्मके सिद्धान्तोंको नवीन रूप प्रदान करनेवाली या उनमें परिवर्तन करनेवाली सिद्ध हों—अन्वेषण करके अध्यात्मविद्याका नवनिर्माण करनेकी आवश्यकता उन्हें प्रतीत हुई थी। परन्तु जैसा कि उन्होंने प्रस्तावनामें कहा है कि समूचा जीवन राजनीतिक कलहोंमें बीत जानेके कारण अपूर्णताको पूर्ण करनेके लिए समय ही शेष न रहा। इस तरहका प्रयत्न योगी अरविन्दने किया है। उन्होंने भगवद्गीता, ऋग्वेद तथा उपनिषदोंके अथवा भारतीयोंकी अध्यात्मविद्याके सभी संप्रदायोंके गूढ अर्थोंको बड़ी विलक्षण, अभिनव समृद्ध तथा गंभीर शैलीके सहारे अभिव्यक्त किया है; और दृश्यमान सृष्टि, अदृश्य आध्यात्मिक शक्तियोंका विश्व, मानवी अथवा दिव्य आदर्शवाद सबका परामर्श करनेवाले अध्यात्मवादी तत्त्वज्ञानकी उन्होंने नवीन रूपमें रचना की है।

लोकमान्य तिलककी शैली और योगी अरविंदकी शैलीमें बड़ा मौलिक भेद है। लोकमान्य तिलक कुछ ऐसी शैलीको अपनाते हैं जिससे अत्यन्त गहन भावार्थ भी साधारण सुशिक्षित तथा जिज्ञासावान् व्यक्तिकी बुद्धिकी पहुँचमें आ सके और वह भावोंकी गहराईके कारण घबड़ा न जाए। संक्षेपमें तिलककी शैलीमें वह सुविधा है जिससे पाठकके पैर जमीनपर ही रहते हैं; तर्ककी सुसंगतता स्पष्ट रहती है। वे वाचकको विचारोंके उस रम्य कुहासेमें कभी नहीं ले जाते जो परम्परागत अध्यात्मवादी परिभाषाके विलाससे निर्मित होता है। इसके विपरीत, परिचित तथा अपरिचित, गूढ आध्यात्मिक कल्पनाओंके विशाल विस्तारसे योगी अरविन्दका प्रतिपादन तज्ज्ञ वाचकको भी चक्करमें डाल देता है। तज्ज्ञ वाचकको भी कई बार यह मालूम होता है मानों वह अनन्त दूरीपर स्थित तारों तथा तेजोमेघोंके बीच निराधार अवस्थामें फेंका गया हो। विचारोंकी मंजिलें भली भाँति

समझमें आते आते सहसा ओझल हो जाती हैं। विज्ञान तथा दर्शनके पाश्चात्य तथा पौर्वात्य पारिभाषिक शब्दों और कल्पनाओंको अरविन्दके प्रतिपादनमें भरसक पिरोया गया है। अतएव उनकी सहायतासे सिद्धान्तोंका अनुसरण करनेका हम सब प्रयत्न करते हैं; परन्तु हम कहाँ खड़े हैं, कितने पानीमें हैं इसकी थाहको पाना भी कई बार मुश्किल हो उठता है। उस प्रतिपादनके तत्त्वों तथा सिद्धान्तोंकी तेजोमय मूर्तियाँ सायंकालके क्षितिजपर अङ्कित, प्रतिक्षण परिवर्तनशील चेतोहर आकृतियोंकी तरह निरन्तर बदलती रहती हैं। सायंकालीन क्षितिजपर विलास करनेवाली किरणोंकी बहुरंगी सृष्टिको स्पर्श करना जिस तरह असंभव है, ठीक उसी तरह अरविन्दकी विचार-सृष्टिके ऊपरके स्तरोंका आकलन करना बुद्धिके लिए असंभव हो उठता है। आध्यात्मिक भावनाके सहारे इन स्तरोंकी अनुभूति संभव है; परन्तु बुद्धिके सहारे इनकी कल्पना नहीं की जा सकती और कल्पना करना भले ही संभव हो; उन्हें सिद्ध तो किया ही नहीं जा सकता। इन विचारोंमें तर्क-संगतता है, परन्तु उपपत्ति बहुत कम है। भव्य भावनाओंका आविष्कार करनेवाले गूढवादी काव्यकी तरह उक्त प्रतिपादनमें अचिन्त्य संवेदनाओंका निर्माण करनेकी शक्ति है। उसमें आधुनिक विज्ञानके सिद्धान्तों तथा समस्याओंसे सूचित होनेवाले आध्यात्मिक अभिप्राय अधिकार-पूर्ण वाणीमें कहे गये हैं। विज्ञानके ये सूचित अर्थ विज्ञानकी परिधिके बाहरकी आध्यात्मिक विशाल संवेदनाओंके आधार बनते है। किसी भव्य प्रासादके स्तम्भोंके पदतलमें या उनके ऊपरकीनोकपर खुदी गई और बाहुओंसे, हाथोंसे या मस्तकसे आधार प्रदान करनेवाली मूर्तियोंकी ही तरह विज्ञानके अभिप्राय अरविन्दके अध्यात्म-प्रासादको आधार प्रदान करते हैं; वह आधार वास्तवमें एक आभास मात्र है।

भगवद्गीताके सन्देशको स्पष्ट करनेके लिए योगी अरविन्दने गीतापर विस्तृत निबन्ध लिखे हैं। समाजकी रचना तथा विचार-पद्धतिमें निरंतर इतिहासिक विकास होता रहता है। अतएव सहस्रों वर्ष पूर्वके युगकी गीताके विचार नवीन युगके लिए किस तरह स्फूर्तिदायी हो सकेंगे इस प्रश्नको बार बार उपस्थित करके उन्होंने उसका उत्तर दिया है। वे कहते हैं:—

जिस समय भगवद्गीताकी रचना हुई उस समयसे लेकर आजतक अनेक लम्बे युग बीत गये हैं। उस रचनाके उपरान्त विचारों तथा अनुभवोंमें अनेकों परिवर्तन हुए हैं। इस अवस्थामें भी वर्तमान मानव-मनके लिए भगवद्गीताके सन्देशका व्यवहारोपयोगी मूल्य अथवा उसकी आध्यात्मिक उपयुक्तता कायम रही

है। मानव-मन सदैव आगे बढ़ता रहता है; दृष्टिकोणमें परिवर्तन करता है और विचारोंके सारको व्यापक रूप प्रदान करता है। इस तरहके परिवर्तनोंके कारण पुरानी विचार-पद्धति निरर्थक बन जाती हैं। यदि उसकी सुरक्षा करना चाहें तो उसके मूल्योंको व्यापक बनाना पड़ता है; उसके लिए मर्यादा रखनी पड़ती है। उसमें परिवर्तन करना होता है। परन्तु यह संभव है कि प्राचीन सिद्धान्तोंमें दीर्घ जीवन-शक्तिका निवास हो; उसकी सीमाएँ भी निर्धारित हों। वे निरर्थक भी हो उठते हैं; परन्तु ये दोष उनकी रचनासे सम्बद्ध रहा करते हैं। उनकी तहमें विद्यमान सत्यकी सजीव दृष्टि उनके निरन्तर प्रामाण्य तथा उनकी अर्थवत्ताको कायम रख सकती है। गीता यह पुस्तक ही कुछ ऐसी है जिसकी रचना सचमुच असाधारण है, उसमें ताजगी है; उसका सच्चा सार पूर्णतया नवीन है। अनुभवमें उसे पुनरपि नवीनता प्राप्त होती है। भारतके सभी धार्मिक विचारोंपर उसका प्रभाव है। उसका प्रभाव केवल तात्त्विक और पण्डिताऊ नहीं है, वह साक्षात् तथा सजीव है; विचारों तथा कृतियोंपर वह प्रभाव है। वह एक सामर्थ्यवान् रचना करनेवाला अंश है जो राष्ट्र तथा संस्कृतिके जीर्णोद्धार अथवा नव-जीवनके लिए आवश्यक है। एक अधिकारसंपन्न वाणीने [लो. तिलक] हाल ही कहा है कि हमारे लिए नितान्त आवश्यक आध्यात्मिक जीवनके आध्यात्मिक सत्यके दर्शन गीतामें होते हैं" (गीतापर लिखे गए निबन्ध पृ. ५०१)।

वेदों तथा उपनिषदोंके विचारोंके निचोड़का सुचारु रूपसे संग्रह करके गीता धैर्यके साथ आगे बढ़ती है; क्योंकि पवित्र धर्म-ग्रंथ वास्तवमें अन्तस्तलमें निहित स्वयंप्रकाश सत्यका शब्द-रूप आविष्कार है। अन्तस्तलमें विद्यमान वह वेद ही उसकी आधारशिला है। शब्दकी तुलनामें सत्य महान् है। धर्मग्रंथोंके शब्द-बन्धन विभ्रमोंका निर्माण करते हैं। ईसाई धर्मके प्रेषितने अपने शिष्योंको चेतावनी दी कि शब्द नाश करता है और अभिप्राय तारता है। एक ऐसी मंजिल आती है जहाँ धर्मग्रंथकी उपयुक्तता आप ही आप समाप्त होती है (गीतापर लिखे गए निबन्ध पृ. ८३–८४)।

भगवद्गीताके उत्तरसे वह निर्णय नहीं निकलता जो विद्यमान मानव-जातिके सम्मुख उपस्थित सम्पूर्ण प्रश्नको सब प्रकारसे सुलझानेवाला सिद्ध हो। वह उत्तर अधिक प्राचीन मनःस्थितिसे मेल खाता है। अतएव आधुनिक मन-पर सामूहिक प्रगतिका जो बोझ पड़ता है वह उसके साथ मेल नहीं खाता। यह

पुकार सामाजिक जीवनकी है; इसीमें अन्ततोगत्वा वह आध्यात्मिक ध्येय मूर्त रूप धारण करेगा जो अधिक महान्, बौद्धिक, नैतिक तथा गतिशील होगा। गीताका उत्तर इस पुकारके अनुरूप नहीं है (गीतापर लिखे गए निबन्ध पृ. ५०७)।

लोकमान्य तिलकने गीताके जिस रहस्यका प्रतिपादन किया उसीको योगी अरविन्दने गूढवादकी तथा तत्त्वज्ञानकी अद्ययावत् आध्यात्मिक परिभाषामें कहा। परन्तु 'लोकसंग्रहके लिए कर्मयोग' की कल्पनाको स्वायत्त करके उसके 'पर-पारे' पहुँचकर योगी अरविन्दने कर्मयोगका समर्थन किया है। योगी अरविन्दकी विचार-पद्धति गीतारहस्यमें बीज-रूपमें अवश्य है; परन्तु उसका विस्तार तथा परिष्कार पूर्णतया अभिनव याने नवीन विचारोंसे समृद्ध है। योगी अरविन्दने आध्यात्मिक दृष्टिको सम्पूर्ण नवीन वैभव प्रदान किया है।

योगी अरविन्दने विश्वके दो स्वभावोंका प्रतिपादन किया है—एक है भौतिक अविद्यामय प्रकृति और दूसरी दिव्य, कल्याणमय तथा चैतन्यमय परा-प्रकृति। पहली प्रकृति बन्धनकारी तथा अज्ञानमय है और दूसरी स्वातंत्र्यमय एवं सम्पूर्ण ज्ञानमय। इन दोनों प्रकृतियोंको ध्यानमें रखकर गीताने वे आदेश दिए हैं जो मानवी विकासकी विभिन्न ऊँच-नीच अवस्थाओंके अनुसार हैं। अन्तिम अवस्थामें मानव सम्पूर्ण दिव्य जीवनका अधिकारी होता है; पुरुषोत्तमकी परा प्रकृतिसे एकरूप होता है। दिव्य जन्मकी प्राप्ति होकर दिव्य कर्मका प्रारम्भ होता है। ज्ञान, भक्ति तथा कर्मका महान् समन्वय सम्पन्न होकर पूर्ण योग निष्पन्न होता है। क्या यह ज्ञान, क्या भक्ति, क्या कर्म सब विशुद्ध मोक्षा-वस्थाका महत्तम आविष्कार है। विश्वात्मक पुरुषोत्तमकी यह चिन्मय लीला है। इसमें हृदयस्थ परमात्माके विशुद्ध संकेतकी अभिव्यक्ति होती है। यह अवस्था निवृत्ति-पर संन्यासयोग नहीं है। संन्यासमय मोक्ष ज्ञानके इस ओरकी अवस्था है; वह पूर्णावस्था या चरम अवस्था नहीं। लो. तिलक यह कहनेका साहस न कर सके; क्योंकि उन्होंने आद्य शंकराचार्यके 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' याने 'ज्ञानसे ही कैवल्य' या 'ज्ञानसे ही मोक्ष'के सिद्धान्तको मान्यता दी थी। अतएव वे यह कहनेपर बाध्य हुए कि ज्ञानवान् व्यक्ति लोकसंग्रहके लिए कर्म करता है अवश्य; परन्तु मोक्षसे कर्मका साक्षात्

सम्बन्ध नहीं है। योगी अरविन्दने इस स्थिर सिद्धान्तकी घोषणा की कि ज्ञान, विश्वव्यापी प्रेम (भक्ति) तथा कर्म तीनों मोक्षावस्थाके, पुरुषोत्तमअवस्थाके ही अविभाज्य अंश हैं।

भाववादी तत्त्वज्ञान और आधुनिक विज्ञानकी सम्मतियोंको ध्यानमें रखकर अपने 'दिव्य जीवन' (The Life Divine) नामके महा-निबन्धमें योगी अरविन्दने दिव्य परा प्रकृतिकी बड़ी ही विस्तृत मीमांसा की है। जड़वादी विचार-पद्धतिके आशयकी यहाँ समुचित समीक्षा की गई है। विकासवादको स्वीकार करके भौतिक तथा जड़ विश्वसे लेकर ईश्वर तकके विश्व-विकासका विशाल चित्र उक्त महान् निबन्धमें खींचा गया है। उसमें सांख्य दर्शनके सत्कार्यवादी तर्कशास्त्रका उपयोग एक विलक्षण अर्थमें किया गया है। वहाँ विकासकी सोपान-परम्परा निम्नानुसार मानी गई है – जड तथा निरिन्द्रिय जगत्, वनस्पति-सृष्टि, मनःसम्पन्न प्राणी, ज्ञानसंपन्न मानव और अन्तमें ईश्वरीय जीवन। सांख्य दर्शनका युक्तिवाद यह है कि सृष्टिमें या संसारमें जो कार्य दिखाई देता है वह उत्पत्तिके पूर्व विद्यमान तो रहता ही है। वह कारणमें स्थित शक्तियोंके रूपमें विद्यमान रहता है। मानवमें दिव्य जीवनकी आकांक्षा है। अमरताको पानेके लिए वह अतीव उत्सुक है। ईश्वरके अस्तित्वमें उसे श्रद्धा है। यह जीवन, यह अमरता अथवा ईश्वरीय अस्तित्व ही मानवी विकास अथवा विश्व-विकासका अन्तिम उद्दिष्ट है। अन्तस्तलमें निहित शाश्वत तथा दिव्य सत्यकी जानकारी ही मानवकी श्रेष्ठता है। यही अमरता है और यही ईश्वर है। यही वह मन (super-mind) है जो सर्वव्यापी तथा वरिष्ठ है। भौतिक विज्ञानके विकासवादका कथन है कि मानव ही सृष्टिके विकासकी चरम सीमा है। परन्तु मानवकी उत्कण्ठाएँ, आकांक्षाएँ, आदर्श-विषयक कल्पनाएँ, अमरताकी अभिलाषा तथा ईश्वरके अस्तित्वकी भावना सब उसके अपने सीमित, क्षणिक, सदोष, मर्त्य तथा बन्धनोंसे जकड़े हुए जीवनके उस पार निहित भावी विकासकी ओर उसे जो एक अमित आकर्षण है, उसे सूचित करती हैं। इसके अभावमें इस अनन्त भौतिक विश्वमें पानीके बुद्बुदेकी तरह मानवके क्षुद्र जीवनका मूल्य शून्य ही होगा। उसके व्यक्तित्वकी परिधिके बाहर उसके आदर्शों तथा प्रयत्नोंका विस्तार होता है। मानवके अन्तस्तलका अन्वेषण करके और उसकी

अनुभूतियोंका अद्ययावत् निष्कर्ष निकाल करके योगी अरविन्दने उसके भावी (आगामी) दिव्य जीवनके स्वरूपको निश्चित करनेका प्रयत्न किया है।

विश्वका विकास करनेवाली शक्ति मानवके उस पार स्थित परमात्माके स्वरूपको अवरुद्ध करनेके प्रयत्नमें निरत है और ईश्वरत्वको प्रकट करके ही यह प्रयत्न समाप्त होगा। इसका अर्थ यह होता है कि ईश्वरका जन्म अभी भविष्यकी वस्तु है। इसपर योगी अरविन्दने यह उत्तर दिया है कि मानवी ज्ञानके अनुसार यह अर्थ निकलता है कि जिसका जन्म नहीं हुआ उसका अस्तित्व है ही नहीं। परन्तु जबतक मानवकी ज्ञान-शक्ति अविद्याके बन्धनसे जकड़ी हुई है तबतक मानवकी बुद्धि देश-कालकी परिधिमें ही वस्तुओंका ज्ञान प्राप्त कर सकती है। विश्वके अर्थको भली भाँति समझनेके लिए मानवने विकासवादकी कल्पना की है और इससे व्यञ्जित होनेवाला तात्त्विक अभिप्राय अधिक महत्त्वपूर्ण है। विकासवादके अनुसार विकासकी जो अवस्था अस्तित्वमें नहीं है उसका अस्तित्व उस विशुद्ध प्रज्ञाको प्रतीत होता है जो कालकी सीमाका अस्वीकार करती है। ईश्वरका अस्तित्व शाश्वत है। ईश्वरीय अस्तित्वकी उच्चतम भूमिकासे विश्वके गर्भमें बीजात्मक अवस्थामें जो कुछ विद्यमान रहता है वह अनुभूतिका विषय तो बनता ही है। सरस्वतीके उस उच्चासनपर आरूढ होनेसे भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों दृष्टिको अवरुद्ध नहीं कर पाते। इस दृष्टिके कारण ईश्वरके सच्चिदानन्द स्वरूपकी प्रतीति निर्बाध रूपसे होती है। वह स्वरूप स्वसंवेद्य है।

योगी अरविन्दने मानवी इतिहासके तत्त्वज्ञानको 'मानवी चक्रनेमिक्रम' (The Human Cycle) नामके अपने ग्रंथमें ग्रथित किया है। उसमे मानवजातिकी एकता ही मानवके जीवनकी सफलताका निर्बाध तत्त्व है इस सिद्धान्तका स्वीकार करके समाज-गति शास्त्रके सिद्धान्तोंका प्रतिपादन किया गया है।

योगी अरविन्दके गतिशास्त्रसम्बन्धी सिद्धान्त वास्तवमें 'लाम्प्रेख्ट' नामके जर्मन इतिहासशास्त्रज्ञके सिद्धान्त हैं। अपनी प्रतिभाका संस्कार करके योगिराजने उनको स्वीकार किया है। उन्होंने इसमें उन मानसिक सोपान-परम्पराओंके आकारोंका वर्णन किया है जो मानव-समाजकी प्रगति होते हुए निर्मित होती हैं। परन्तु इस वर्णनमें बड़ी सावधानीका उपयोग किया गया है कि मानव अथवा सामाजिक मनके आविष्कार अतीव संमिश्र, पारम्परिक

संयोगसे तथा अनेक दिशाओंसे युक्त होते हैं; अतएव उनपर सोपान-परम्पराके भिन्न भिन्न रूपोंका पृथकरण लागू नहीं हो सकता। परन्तु यह सत्य है कि इसमें क्रमिक अवस्थाओंका साधारण दिग्दर्शन होता है। उक्त मानसिक अवस्थाएँ पाँच हैं। प्रथम अवस्था वह है जो प्रतीकमय (symbolic) होती है याने दृश्यमान विश्व तथा जीवनके अन्तरङ्गकी सूक्ष्म अनुभूतियोंको अथवा धार्मिक स्फूर्तिको अभिव्यक्त करनेवाले प्रतीकोंसे सम्पन्न होती है। द्वितीयावस्था सुडौलताको प्रधानता देनेवाली (typal) याने नैतिक व्यवस्था तथा तत्त्वोंको व्यक्त करनेवाली अवस्था है। इसमें दिव्य शक्तिकी आराधना तथा नीतिके तत्त्व इनमें अन्तर माना जाता है। तृतीयावस्था वह है जो रूढिके बन्धनोंका प्रधानता (conventional) देती है। इसमें परम्पराद्वारा निर्धारित अनुशासनको अतीव प्रधानता प्राप्त होती है, आज्ञाकारिता तथा नियमबद्धताका बड़ी बारीकीके साथ उपयोग किया जाता है; इसे सुवर्णयुग कहते हैं। इसमें शास्त्रके शब्द-प्रामाण्यका पालन बड़ी सूक्ष्मताके साथ किया जाता है। परन्तु ऊपरी तौरपर दिखाई देनेवाली श्रद्धामय शान्तताके गर्भमें निर्दयता एवं दासता दोनों चुपचाप निवास करती हैं। चतुर्थ अवस्था व्यक्तिवादी (individualistic) है। इसमें परम्पराका विरोध करनेवाली प्रतिक्रिया ही सर्वोपरि स्थान पाती है। बुद्धिवादका विद्रोह इस अवस्थामें सफल होता है। बुद्धिवाद तथा व्यक्तिस्वातंत्र्यसे पाँचवीं आत्मनिष्ठ (subjective) अवस्थाका उदय होता है। इस अवस्थामें आत्मस्वातंत्र्य अत्यन्त गहरी विश्वव्यापी अनुभूतिसे तथा मानवव्यापी ध्येयवादसे सम्पन्न होता है। इस अवस्थाका आशादायी अरुणोदय वर्तमान कालके मानवतावाद अथवा मानव-धर्म (Religion of Humanity) में दिखाई देता है। स्वातंत्र्य, समता तथा बंधुत्व ये ध्येय इस धर्मके स्वरूपकी ओर संकेत करते हैं। इस धर्मके रूपमें मानव-जातिके अन्तरङ्गका नियन्त्रण करनेवाला ईश्वरत्व वह प्रयत्न कर रहा है जो इसी भूलोकपर देवताओंके राज्यकी स्थापना करेगा। यही समूची सृष्टिके विकासका अन्तिम फल है। यही यथार्थमें दिव्य जीवन है। लोकसत्ता इसका बाह्य लक्षण है। (The Human Cycle पृ. ४-३६).

सामाजिक परिणतिके आदर्श-भूत नियमका प्रतिपादन करते हुए योगी अरविन्द उक्त ग्रंथमें लिखते हैं, "समूचे समाजका ध्येय कुछ ऐसा होना चाहिए जिससे वह हरेक व्यक्तिकी सेवामें सब प्रकारके व्यक्तिगत विकासके साधनोंकी पर्याप्त

सामग्री उपस्थित करे, ताकि हरेक व्यक्ति दैवी पूर्णताको प्राप्त करानेवाले भव्य मार्ग-पर आसानीसे आगे बढ़नेमें समर्थ हो। समाजको वह प्रयत्न करना चाहिए जिससे स्वातंत्र्य तथा सामञ्जस्यका निर्माण हो। स्वातंत्र्यसे विशिष्ट गुणोंकी वृद्धि होती है और सामञ्जस्यसे एकताकी प्राप्ति। आजतक मानव-जातिने जो अनेकों प्रयत्न किए हैं, उनमें अव्यवस्था थी, अधूरापन था। उक्त दोनों तत्त्व (स्वातंत्र्य तथा सामञ्जस्य) ही वास्तवमें प्रगति तथा सफलताके प्रमुख साधन हैं। हरेक मानवको चाहिए कि वह समान ध्येयको प्राप्त करनेके लिए अपने स्वभावके, अपनी प्रकृतिके धर्मोंके अनुसार अपने भीतरसे विकास करनेका प्रयत्न करे। इसका निर्माण यान्त्रिक पद्धतिसे और अनुशासनकी चहारदीवारीमें नहीं किया जा सकता।" इस प्रकारके विचारोंका योगी अरविन्दने बड़े विस्तारके साथ प्रतिपादन किया है।

व्यक्ति समाज-शरीरकी पेशी नहीं, इमारतका पत्थर भी नहीं और सामूहिक जीवनका पराधीन साधन भी नहीं है। मानव-जातिकी रचना इस तरह कदापि नहीं हो सकती। प्रत्येक मानव व्यक्तिके रूपमें स्वतंत्र आत्मा है इस सत्यको अगर हमने ध्यानमें न रखा तो यही समझना चाहिए कि हम मानवमें स्थित दिव्य सत्ताके दर्शन नहीं कर पाए। मानवी शक्ति अन्तरङ्गके स्वातंत्र्यके ही कारण विकासकी ओर उन्मुख होती है। यदि कोई धर्मशास्त्र यह कहना आरम्भ करे कि मेरे इस मार्गपर ही तुम्हें चलना होगा और विकास करना होगा, दूसरा रास्ता तुम्हारे लिए है नहीं और एक नियत परिधि या सीमाके बाहर तुम प्रगति नहीं कर पाओगे; तो उसका स्वीकार कदापि नहीं करना चाहिए। कोई भी राज्यसंस्था, कोई भी विधिज्ञ या कोई भी सुधारक उस व्यक्तिके जीवनको बलात् सीमित नहीं कर पाएगा। क्या राज्य-व्यवस्था, क्या राष्ट्र, क्या संस्कृति, क्या ध्येयवाद सब उसकी तात्कालिक मदद कर सकते हैं; वह उन्हें लाँघनेमें समर्थ है। आधुनिक युगके अनुसार समाज ही राष्ट्र है। राष्ट्रीय जीवनके विकाससे मानव मानव-जातिके सम्पूर्ण जीवनकी सहायता करता है; परन्तु वह जिस तरह राष्ट्रका तथा मानव-जातिका है उसी तरह ईश्वरका भी है। (The Human Cycle पृ. ७७३-४.)

वही समाज सामञ्जस्यपूर्ण जीवनका निर्माण कर सकता है जिसमें अपने निर्बाध विकासकी तथा अन्योंके बाधाहीन विकासकी सहायता करनेकी सम्पूर्ण सुविधा रहती है। इसी व्यवस्थासे मानव-जातिकी पूर्णता स्थापित होगी। अध्यात्मकी शक्तिसे सम्पन्न समाज-संस्थाका निर्माण करनेका यही मार्ग है। जब समाज-संस्था आध्यात्मिकतामें प्रथम प्रवेश करती है तब वह मानवमें स्थित

दिव्य आत्माके आविष्कार या अन्वेषणका आरम्भ करती है। क्या उसके प्रयत्न, क्या उसकी शिक्षा, क्या ज्ञान, क्या विज्ञान, क्या नीति क्या कला, क्या आर्थिक या सामाजिक रचना-सबका हेतु यही रहता है। भौतिक तथा मानसिक विज्ञानोंका उद्देश्य केवल यह नहीं रहेगा कि प्रकृति अथवा विश्वकी गतिके क्रमोंका अन्वेषण करे और मानवोंको भौतिक आकांक्षाओंकी पूर्ति करे; अपि तु उनका उद्दिष्ट होगा दिव्य आत्मतत्त्वके आवरणोंका निरास करनेके जो मार्ग ह उनका अन्वेषण करना। भविष्यमें समाज-व्यवस्थाका नीतिशास्त्र मानवको सिर्फ़ द्विपाद पशु समझकर उसके लिए सामाजिक बन्धनोंका निर्माण करनेवाली विचार-पद्धतिका पूरक मात्र नहीं रहेगा। भविष्यकी समाज-संस्था इस बातका स्वीकार कदापि नहीं करेगी कि मानसिक तथा बाह्य विश्वकी आकृतियोंको अङ्कित करना ही कलाका कार्य है; अपि तु उक्त आकृतियाँ अर्थपूर्ण और सृजनशील साक्षात्कारका विषय बनेंगी। इस साक्षात्कारमें यह दिखाई देगा कि ये आकृतियाँ वास्तवमें वे प्रतीक हैं जो दृश्यमान विश्व तथा जीवनके अन्तरङ्गके सत्य और सौन्दर्यका आविष्कार करते हैं; क्योंकि बाह्य पदार्थ वास्तवमें मूलभूत सत्यके बनावटी रूप (मुखावर्त) ही हैं।

आत्मनिष्ठ बनी हुई समाज-व्यवस्था हमारे वर्तमान समयके समाजशास्त्रकी तरह वह क्रूरता नहीं दिखाएगी जो साधुसे लेकर अपराधी तकके सभी व्यक्तियोंको समाजके घटक मानकर कौशलसे निर्मित यन्त्रके द्वारा उन्हें अपनी इच्छाके अनुसार आकार देती है। वह (समाज-व्यवस्था) अपराधियोंको जालमें फँसी हुई, व्याकुल एवं दुःखी आत्माएँ मानेगी और उन्हें आश्रय देकर बचानेका प्रयत्न करेगी और साधुओंको जालसे बची हुई तथा विकास करनेवाली आत्माएँ मानकर उन्हें अधिक प्रोत्साहन देना अपना कर्तव्य समझेगी। इस समाज-संस्थाके अर्थशास्त्रका प्रधान उद्देश्य यह होगा कि हरेक व्यक्ति अपने अपने काममें सर्वोपरि आनन्दका अधिकारी हो, वह काम उसके स्वभावके अनुरूप हो, प्रत्येक व्यक्तिको आत्मविकासके लिए पर्याप्त अवसर मिले और सभी व्यक्ति सम्पन्न एवं सुन्दर जीवनको बितानेमें समर्थ हों। स्पर्धा या सहयोगके तत्त्वके आधारपर उत्पादनके प्रचण्ड यन्त्रका निर्माण करनेमें उक्त अर्थशास्त्र अपनेको कृतार्थ नहीं समझेगा। उक्त समाज-व्यवस्थाका राज्य-शास्त्र लोगोंको समूह-रूप आत्मा मानेगा। यह आत्मा वास्तवमें वह देवत्व ही है जिसका अन्वेषण मानव-समूहोंने अपने अपने भीतर ही कर लिया है। अन्तस्थ प्रेरणाके बल निर्बाध रूपसे अपनी अपनी आत्माका विकास करते हुए

अखिल मानव-जातिका महान् कार्य एक ही है, इस सत्यको भली भाँति समझकर वे परस्पर सहयोग देंगे। व्यक्ति तथा समूह या समुदायमें बाहरसे और भीतरसे भौतिक, प्राणमय, मानसिक तथा आध्यात्मिक सामर्थ्यका सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि एवं अत्यन्त सम्पन्न रूपमें विकास करना ही वह महान् कार्य है; इसीको दिव्य आत्माका अन्वेषण कहते हैं। उक्त समाज-व्यवस्थाका राज्यशास्त्र नागरिकोंको प्रचण्ड राज्य-यन्त्रकी सुरक्षा करनेवाले सैनिक समझकर उन्हें अन्य राष्ट्रोंसे युद्ध करनेवाले राष्ट्र-देवताके पुजारी नहीं बनाएगा, राष्ट्र-देवताकी वेदीपर जिनकी बलि चढ़ाई जानेवाली है ऐसे असहाय व्यक्ति नहीं बनाएगा; उन्हें राष्ट्र-देवताके शीर्षपर रक्तका सन्तत अभिषेक करनेवाले पात्र नहीं समझेगा। इस समाजव्यवस्थाके अनुसार न राष्ट्र, न राज्य आपसमें युद्धकी घोषणा करनेके पूर्व सब प्रकारके घातक एवं विध्वंसक शस्त्रास्त्रोंका बड़े पैमानेपर निर्माण करनेवाली मिलोंके मालिक हैं; न राज्य वह वस्तु है जिसमें कोटि कोटि निःशस्त्र प्रजाओंके घरों, परिवारों एवं जीवितोंके मटियामेट होनेकी तनिक भी परवाह न करते हुए बड़ी नृशंसतासे यन्त्रोंके सहारे अग्निकी भीषण वर्षा तथा विषैली वायुओंका बेहिचक उपयोग करनेवाले राक्षस-हृदय राजनीतिज्ञ निर्बाध रूपसे अपना काम करते रहें।" (The Human Cycle पृ. २८५-८६)।

आत्मनिष्ठ समाज-संस्थाके निर्माणके पूर्व यह नितान्त आवश्यक है कि एक अथवा अनेक व्यक्ति स्वयं आत्मनिष्ठ जीवनका प्रयोग करें। व्यक्तियोंको चाहिए कि वे नवीन व्यवस्थाके आदर्शोंको अपने जीवनमें उतारें; क्योंकि आत्मस्वातंत्र्यकी प्रत्यक्ष अनुभूतिसे ही उक्त प्रकारकी समाज-व्यवस्थाका निर्माण करना है और आत्मस्वातंत्र्य ही उसकी मूल-भूत शक्ति है।

योगी अरविन्दके तत्त्वज्ञानकी हमने यहाँ सिर्फ़ एक झाँकी ही उपस्थित की है। अद्ययावत् ज्ञानविज्ञानोंका परामर्श लेनेवाला प्रकाण्ड पाण्डित्य, भाषापर विस्मय-जनक अधिकार, कवित्व, शील, समाधि तथा प्रज्ञासे योगी अरविन्दका व्यक्तित्व प्रकाशमान है। इस तरहके महानुभावके विचार-सामर्थ्यकी थाह पाना सचमुच कठिन है।

(४) महात्मा गांधी, पाशविक शक्तियोंसे संघर्ष करनेवाली आत्मशक्ति

विचार जिस तरह स्वयं अपने रूपमें याने बौद्धिक रचनाके रूपमें व्यक्त होता है उसी तरह रूपान्तरके सहारे इच्छाशक्ति तथा कृतिके भी रूपको धारण करके वह प्रकट होता है। भौतिक अथवा ऐहिक विश्वके

विषयमें बड़ी तीव्रतासे जागृत भारतीय ज्ञानको गांधीजीने इच्छाशक्ति और कृतिके रूपमें प्रकट किया। यद्यपि गांधीका तत्त्वज्ञान बौद्धिक रचनाके रूपमें अभिव्यक्त नहीं हुआ है तो भी यह मानना पड़ेगा कि वह प्रत्यक्ष आचरणमें प्रगट हुआ है। कृति तत्त्वज्ञानकी बोधक बन सकती है; वह शब्दकी भी अपेक्षा अधिक व्यञ्जक एवं प्रभावी हो सकती है।

भारतीय सन्तोंका अध्यात्मवाद संसारके अध्यात्मवादके, खासकर ईसाई अध्यात्मवादके वातावरणमें परिपुष्ट हुआ और गांधीमार्गके द्वारा व्यवहारमें अवतीर्ण हुआ। लोकमान्य तिलक तथा योगी अरविन्द घोष द्वारा प्रतिपादित दिव्य जीवनका अनुभव करनेवाले कर्मयोगी स्थितप्रज्ञका जीवन गांधीमें प्रतिबिम्बित हुआ।

गांधीके पास कालके अन्तरङ्गको पहचाननेवाली प्रज्ञा थी। अतएव स्वयं एक भक्त तथा धार्मिक सन्त होते हुए भी जब उन्होंने देखा कि राजनीति भारत तथा समूचे संसारके व्यवहारका केन्द्र-स्थान बनी हुई है तब सन्तोंकी हमेशाकी प्रसिद्ध परिपाटीका त्याग करके उन्होंने राजनीतिकी बागडोर सँभाली। भजन, पूजन, जप, तप, ध्यान तथा तत्त्व-चिन्तन ही सन्तोंका सदैव व्यवसाय रहता है। अहन्ता तथा ममताको तिलाञ्जलि देते हुए सात्त्विक तथा सरल नैतिक आचरण एवं उपदेशकी सहायतासे परोपकार तथा विश्वके उद्धारका कार्य सन्तोंद्वारा निरन्तर होता रहता है। गांधीने अपने जीवन-क्रमके रूपमें उक्त परम्परामें सम्पूर्ण परिवर्तन उपस्थित किया। गांधी ऐसे साधु थे जो केवल पारलौकिक क्षेत्रमें ही नहीं, अपि तु इसी भूलोकपर इसी मर्त्यलोकमें मानवका पद स्थिर, दृढमूल तथा निरापद कैसे होगा इसी चिन्तामें निरन्तर रहे। इसीलिए इस सन्तके पाश्चात्य संस्कृतिके यूनानियोंके समयसे चलते आए उस दृष्टिकोणको अपनाया जो राजनीतिपर केन्द्रित था।

गांधीने वह नवीन समस्या उपस्थित की जो मानव-जातिकी राजनीतिक परम्पराके विरुद्ध थी। सन्त-पना वह शक्ति है जो बन्धनोंको तोड़कर नवीन प्रदेशमें प्रवेश कर सकती है, इसका यह ताजा उदाहरण है। राजनीतिक शक्ति एक सम्मिश्र शक्ति है। मानवी व्यवहार तथा संगठनका वह एक प्रमुख अंश है। इसलिए नैतिक शक्ति तथा भौतिक सामर्थ्य दोनों बिना जाने मिलकर राजनीतिक शक्ति बन जाती है। राजनीतिमें भौतिक सामर्थ्यकी, जबर्दस्तीके साधनोंकी बड़ी मान्यता है। अतएव संस्कृतमें राज्यशास्त्रको 'दण्डनीति' जैसा बिलकुल सार्थ

अभिधान प्राप्त है। समाजकी सहायतासे दण्डकी शक्तियों तथा दमनके साधनोंपर अधिकार पाकर ही राजनीति अपने कार्यमें प्रवृत्त होती है। यही कारण है कि पुलीस, कारावास, शस्त्रास्त्र, सेना, युद्ध-संस्था आदि दमन करनेमें सहायक शक्तियोंको ही राज्यका मूलभूत बल माना जाता है। इस बलका योग्यायोग्य प्रयोग सत्ताके सम्पादन तथा रक्षण और संगठन तथा विस्तारके लिए करना राज्यशास्त्रमें उचित एवं प्रशस्त माना जाता है। गांधीने इस मूल-भूत सिद्धान्तपर ही कुठाराघात किया। दमन करनेवाले भौतिक सामर्थ्यको हतप्रभ करनेके लिए उन्होंने अहिंसात्मक आत्मशक्तिका आवाहन किया। यह माना जाता है कि समाज-संस्थाके स्वास्थ्यको बिगाड़नेवाली हिंसक शक्तिका निर्दालन करना राज्यसंस्थाका एक मूल उद्देश्य है। इस स्थानपर साध्य तथा साधनके सम्बन्धकी समस्याका उदय होता है। समाजके स्वास्थ्यके लिए हिंसक शक्तिका विध्वंस करना नैतिक है; क्यों कि राज्यशास्त्र यह मानता है कि वह विध्वंस विशुद्ध साध्यकी प्राप्तिके लिए किया जाता है। रूढ राज्यशास्त्रके अनुसार शुद्ध साध्यकी सिद्धिके लिए अशुद्ध या अशुचि साधनोंका उपयोग करना समझदारीका लक्षण माना जाता है। इस विषयमें गांधीने राज्यशास्त्रको चुनौती दी। उन्होंने इस सिद्धान्तकी स्थापना की कि विशुद्ध साधनोंका उपयोग करके ही विशुद्ध साध्यकी सिद्धि संभव है।

उक्त सिद्धान्तकी स्थापनाके लिए अनुकूल इतिहासिक परिस्थिति मिल गई। भारतवर्षमें उदारमतवाद तथा प्रजातंत्र शासनके वायुमण्डलमें विस्तृत अँग्रेजी राज्यसत्तासे कलहका निर्माण हुआ था। इस कलहमें गांधी अगुआ बने। अँग्रेजोंके उदारमतवादसे सुसंगत एवं सुसंवादी हृदय-परिवर्तनके सिद्धान्तको महात्मा गांधीने अपनी राजनीतिका प्रमुख सूत्र बनाया। असन्तुष्ट एवं राज्य-विरोधी प्रजापर राज्य करना अनुचित है; इतना ही नहीं, असलमें इस तरहके राज्यका अस्तित्व ही नहीं रह सकता, इस पश्चिमीय राज्यशास्त्रके सिद्धान्तका अङ्गीकार करके ही अँग्रेजी राज्यकर्ताओंकी मनःस्थिति साम्राज्यके सूत्रोंका संचालन करती थी। इसी कारणसे महात्मा गांधीके अहिंसात्मक राजनीतिक आन्दोलनको वह यश मिला जो सचमुच इतिहासमें अभूतपूर्व था।

महात्मा गांधीने अपने अध्यात्मवादके आधारपर समूचे विश्वको व्याप्त करनेकी अभिलाषा रखनेवाली पाश्चात्योंकी यन्त्र-संस्कृति तथा उसपर आधारित आधुनिक सुधारोंका अस्वीकार किया। उनकी सूक्ष्म प्रज्ञाने यह भली भाँति पह-

जाना कि आधुनिक यान्त्रिक सुधारोंके प्रचण्ड संगठनके यन्त्रोंमें मानव शनैः शनैः पराधीन हो रहा है; वह आत्मविश्वासरूप धनको ही खो बैठा है। यन्त्रयुगके पूर्व विश्वकी आश्चर्यमय प्राकृतिक शक्तियोंके प्रभावके नीचे दबोचा गया मानव बिलकुल असहाय बना था। प्राकृतिक शक्तियोंका नियन्त्रण करनेकी सामर्थ्य यन्त्रयुगने उसे प्रदान अवश्य की; परन्तु यन्त्रयुगके ही कारण उत्पन्न समाज-संगठनके असीम उलझनोंके व्यवहारोंके बीच व्यक्तिके रूपमें स्वयं मानव ही तृणवत् बना है। 'मैं धूलि-कणोंकी तरह नाचीज हूँ, नगण्य हूँ' इस तरहकी भयकारी तथा निराशाजनक भावना उसके मनको घेर रही है। गांधीने उक्त यान्त्रिक संस्कृतिको मानवकी नैतिक अवनति करनेवाला पाप मान लिया और भारतको अतीतकी भारतीय ग्राम-संस्थाके विश्वकी ओर खींचनेके नवीन उद्योगका सूत्रपात किया।

यन्त्र-संस्कृतिके शापसे बचनेके लिए गांधीने ग्रामोद्योगी अर्थशास्त्रके जीर्णोद्धारके प्रयोगका आरम्भ किया। इस प्रयोगमें उन्होंने मानवके स्नायुओंमें स्थित मनको जागृत करनेका प्रयत्न किया। बर्बर अवस्थाके बाहर आनेके उपरान्त मानव दो दलोंमें विभाजित हुए। स्नायु-शक्तिका उपयोग करनेवाले उद्यमशील व्यक्ति अथवा श्रमजीवी और स्नायु-शक्तियोंको अधिकतर आराम पहुँचानेवाले बुद्धिजीवी। इस भेदको मिटानेके लिए महात्मा गांधीने नवीन मार्गका अन्वेषण किया। मानव अपने लिए अन्न, वस्त्र, पात्र, पादत्राण, गृह आदि साधनोंका स्वयं ही निर्माण करे और विश्वके साथ बन्धुत्वकी भावनाको जागृत रखे, इसलिए उन्होंने नवीन आध्यात्मिक साधनाको दरसानेवाली आश्रम-संस्थाका निर्माण किया।

गांधीने इस आश्रम-संस्थाकी ओरसे मानवोंमें नवीन सम्बन्धोंकी स्थापना कैसे की जाय, इस बातको प्रत्यक्ष दिखाना तय किया। इस आश्रम-संस्थाका आदर्श है उन कार्यकर्ताओंके महान् प्रपञ्चका विस्तार करना जो आत्मसम्पन्न तथा स्वावलम्बी जीवन बितानेवाले हों, जिन्होंने अहन्ता और ममताका होम किया हो और जिनका हृदय तेजस्वी, कर्तृत्ववान तथा सर्वव्यापी मानव-प्रेमसे लबालब भरा हुआ हो। गांधीने आश्रम-जीवनकी कल्पनाको इसलिए जन्म दिया कि वह वर्गभेद, तथा राष्ट्रभेदके क्षुद्र अहंकारोंको तनिक भी स्थान न देनेवाला सर्व मानवोंका विश्वासस्थान हो। स्वराज्यको नवीन शक्तियोंका प्रदान करनेवाली आत्मशक्तिके केन्द्रोंको देशभरमें फैलानेकी आकांक्षा इस कल्पनाकी तहमें विद्यमान थी। यह विलक्षण साधना वास्तवमें वह प्रवृत्ति है जो आपत्तियोंमें फँसे हुए संसारको

आश्वासन देनेवाली है। जबतक गांधी जीवित थे तबतक यह आशा थी कि आश्रम-जीवनका यह भव्य स्वप्न साकार होगा।

वर्तमान समयमें महात्मा गांधीके अस्तके साथ साथ उनके ध्येयवादी सूर्यके प्रकाशका भी पूर्णतया अस्त हो गयी। गांधीवादी अनेक हैं, परन्तु अब परिस्थितिपर उनका नियन्त्रण बिलकुल नहीं रहा; क्योंकि स्वीय अन्तरङ्गपर सम्पूर्ण अधिकार रखनेवाला स्थिर निश्चय तथा उस निश्चयसे प्रभावित अदम्य इच्छाशक्ति दोनों नष्ट हुए हैं। गांधीवादका वह ज्वलन्त प्रमाण तथा प्रत्यक्ष उदाहरण कहीं भी नहीं मिलता जो 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' की तरह आधुनिक मानवको स्पष्टतया स्वीकार करनेपर बाध्य करेगा। इसका कारण भी सुस्पष्ट है। गांधीवादियोंके मनमें अबतक उस मनीषाका उदय नहीं हुआ है जो वर्तमान समयके विशाल ज्ञान-विज्ञानोंकी नेतृतामें निर्माण होनेवाले विभिन्न आर्थिक, राजनीतिक तथा सामाजिक समस्याओंको सुलझानेवाला चरम बौद्धिक उत्कर्ष प्राप्त कर ले। वे इस सत्यसे परिचित नहीं हैं कि प्रत्यक्ष आचरणको प्रोत्साहन देनेमें बौद्धिक प्रकर्षसे भी बल प्राप्त होता है। अगर हम इस बातकी ओर भली भाँति ध्यान दें कि नवीन यान्त्रिक संस्कृतिकी बौद्धिक शक्तियाँ बड़ी बड़ी आध्यात्मिक श्रद्धाओंकी जड़ोंको हिलाती हैं, उनको डाँवाडोल बनाती हैं, तभी यह संभव है कि महात्मा गांधीके जीवनका उद्देश्य सफल हो। भौतिक शक्तिको आत्मशक्ति द्वारा नियन्त्रित करना ही वह जीवनोद्देश्य है।

(५) मानवेन्द्रनाथ राय, नवमानवतावाद

भाई मानवेन्द्रनाथ रायको सच्चे अर्थोंमें विश्वके नागरिक कहा जा सकता है। राष्ट्रीय स्वतंत्रताका आन्दोलन और आन्तरराष्ट्रीय साम्यवादका आन्दोलन दोनोंमें सम्मिलित होकर अनुभूतियोंसे अपने जीवनको समृद्ध करके आधुनिक ज्ञान-विज्ञानोंका विस्तारके साथ परामर्श करते हुए रायमहोदयने अपने नवमानवतावादके नवीन निष्कर्षको संसारके सम्मुख रखा है। नवमानवतावाद विश्वव्यापी विचार-प्रवृत्ति है। परन्तु वह साम्यवादकी तरहका तत्त्वज्ञान नहीं है जिसकी बड़ी बारीकीके साथ निश्चित रचना हुई हो, जिसे साम्प्रदायिक रूप प्राप्त हुआ हो और जो धर्म-सम्प्रदायोंकी तरह प्रमाण-ग्रंथोंकी चहारदीवारीमें, नपी-तुली पैमाइशमें रखा गया हो। यह तत्त्वज्ञान किसी व्यक्ति-विशेषके नामसे प्रसिद्ध नहीं है; क्योंकि यह उन तत्त्वचिन्तकोंका वैचारिक आन्दोलन है जो समूची मानव-जातिकी मूल-भूत एकताका हृदयसे स्वीकार

करनेवाले और वैज्ञानिक दृष्टिकोणको प्रधानता देनेवाले व्यक्ति हैं। रायने इन विचारोंकी एक निश्चित पद्धतिको जनताके सम्मुख रखा है।

अतीतके ध्येयोंका उनके मूल रूपमें या उन्हें नवीन वेष पहनाकर स्वीकार करना रॉय बिलकुल पसन्द नहीं करते। उनका मत है कि अतीतके अवशेषोंका जीर्णोद्धार करनेसे अतीतके या भूतकालके बन्धन अधिक दृढ होते हैं। उनका कहना है कि भूतकाल आधुनिक विश्वका तथा वर्तमान भारतका मार्गदर्शन नहीं करेगा; अपि तु उनकी दृष्टिको अवरुद्ध करेगा। राय वास्तवमें जीर्णोद्धारके तीव्र द्वेष्टा थे, पुराने तथा नवीन देवताओंके सख्त विरोधी थे। उनमें साहसी तथा मूर्तिभञ्जक प्रवृत्तियोंकी चरम सीमाके दर्शन होते हैं। उनकी रायमें मृत धर्मों, मृत कलाओं, मृत नीतिधर्मों तथा मृत राज्यशास्त्रोंके जिन पिशाचोंका निर्माण किया गया है वे राष्ट्रोंके प्राणोंपर बीती हुई विपत्तियोंमें निरन्तर वृद्धि कर रहे हैं; भूतकालका स्तवन करनेवाले मन्त्रपाठ प्रतिगामी तथा पुराणप्रिय प्रवृत्तियोंपर मोहनी-सी डालते हैं और सड़ी-गली लाशोंको सुरक्षित रखनेका प्रयत्न करते हैं; घोर अतीतके उच्च स्वरसे घोषित ये मन्त्रपाठ प्रगतिशील विचारकोंकी भी कमर तोड़ते हैं, उनके धैर्यको विचलित करते हैं। अतएव उनकी नसीहत है भूतकालके ध्येयोंको भविष्यका रूप मत दीजिए। अन्धश्रद्धा यथार्थमें सत्यकी अनुभूति नहीं है। वस्तुवाद इतना आसान नहीं है; उसके लिए परम्पराद्वारा निर्मित भावनाओंकी मंजिलों तथा बुनियादको जड़से उखाड़ने तथा हवामें उड़ानेकी नितान्त आवश्यकता है। परन्तु ऐसा करनेमें मानवके सिरपर निराधार होनेका भय सवार रहता है; नवीन अज्ञात क्षेत्रोंमें प्रवेश करनेमें उसका मन हिचकिचाता है। परन्तु भावनाओंके ये बन्धन सत्यके साक्षात्कारमें बाधक सिद्ध होते हैं। विचारोंकी शुद्धता चित्तशुद्धिका एक अङ्ग है। कोई एक विचार या भावना कितनी ही पवित्र क्यों न हो; अगर वह विचारोंकी अग्नि-परीक्षामें स्थिर न रह सकी तो सत्यदर्शनमें वह कैसे उपयोगी सिद्ध होगी? अन्तिम प्रश्न यह है कि क्या कोई भी चीज सत्यसे बढ़कर पवित्र हो सकती है?

आजतक सन्तों तथा धर्मके द्रष्टाओंने जिस पारलौकिक, भावगम्य ईश्वरीय सत्यकी कल्पना की है वह तत्त्व बिना बुद्धिकी कसौटीका स्वीकार किए कल्पनाशक्तिके द्वारा स्वीकृत हुआ है। इस तत्त्वका आश्रय लेकर मानव आत्मनिष्ठ नहीं हो सकेगा। धर्मका अन्तिम आदेश यही है कि मानवकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ ईश्वरकी शरणमें पहुँचे। इससे आधुनिक मानवकी उन समस्याओंका समाधान

नहीं होगा जो महान् उत्तरदायित्वोंसे युक्त हैं। वर्तमान संघर्ष-काल आधुनिक युगकी जिस तरहकी रचनाकी आवश्यकताको सूचित कर रहा है उसकी रचना शरणागत मानवद्वारा कैसे सम्पन्न होगी ? इस विश्वमें कौनसी शक्ति मानवकी अपेक्षा मंगल तथा पवित्र है जो उसकी मदद करनेके लिए उपस्थित होगी ? धार्मिक ध्येयवादमें मानवके आत्मविश्वासको दृढ करनेकी शक्ति है ही नहीं। मानवी विश्वका उद्धार या विध्वंस करनेका उत्तरदायित्व मानवका अपना है। उसे निभानेके लिए मानवको वह दृष्टिकोण प्रदान करना चाहिए जो प्रबल आत्मविश्वासका निर्माण करेगा। अनुभूति तथा बुद्धिवादको ही नवीन दृष्टिकोणकी आधारशिला बनाना आवश्यक है।

मानवका प्राथम्य तथा उसकी श्रेष्ठता ही उक्त विचार-पद्धतिका प्रथम सूत्र है। सृष्टिके विकासक्रममें, इस अखिल विश्वमें मानवसे अधिक उच्चतर मूल्यका निर्माण अबतक नहीं हुआ; न उसका अस्तित्व भी है। अध्यात्मवादी तत्त्वज्ञानसे देखा गया पुरुषोत्तम अथवा परमात्मा वास्तवमें मानवके अपने स्वरूपका वह अतिशयोक्ति-पूर्ण रूप है जो उसने कल्पनाके द्वारा बढ़ाया तथा देखा है।

वर्तमान कालमें मानव-समाजका आपत्तियोंमें उलझ जाना अनुभवसिद्ध है और यही आपत्तिमयता राजनीतिमें प्रतिबिम्बित हुई है। सब सामाजिक पाप राजनीतिमें ही साकार एवं सजीव हो उठते हैं। आजकल राजनीति उस यशको पानेपर तुली हुई है जो अदूरदर्शी, स्वार्थ-साधनमें निरत एवं तात्कालिक है। अतएव मुख्य प्रश्न यह है कि क्या राजनीतिको शुद्ध बुद्धिके आधारपर खड़ा किया जा सकता है ? राजनीति तथा नीतिका पारस्परिक सम्बन्ध किस तरहका रहे इसके निर्णयपर ही राजनीतिक बुद्धिवादकी कसौटी निर्भर है। इसका कारण यह है कि क्रान्तिकी प्रेरणाके मूलमें भी नैतिक ध्येयकी उत्कण्ठा ही रहती है। अतएव अनैतिक एवं अशुद्ध साधनोंसे क्रान्तिके आदर्शोंका निर्माण करनेकी रूढ तथा भ्रष्ट परम्पराको बाधित करना अतीव आवश्यक है। इसी परम्पराने क्रान्तिकी शक्तियोंको याने श्रमिकों तथा मजदूरोंके वर्ग और आम जनताको उस अवस्थामें फेंक दिया है जो बौद्धिक अव्यवस्था, निराशावाद तथा मानसिक दुर्बलतासे परिपूर्ण है। इस उलझ-नसे उन्हें मुक्त करनेके लिए यह नितान्त आवश्यक है कि हम नैतिक बुद्धिवाद तथा व्यक्तिवादका हृदयसे स्वीकार एवं समादर करें। इसीको मूलगामी दृष्टिकोण कहा जाता है।

समाज, राष्ट्र, वर्ग अथवा पक्षकी भाषाकी अपेक्षा व्यक्ति-मानवकी भाषा ही अधिक मूल-भूत है। सामाजिक संस्था तथा राजनीतिक संगठनको मानवकी स्वतंत्रताके समर्थ साधन बनाना ही सामाजिक शास्त्रोंका आदर्श होना चाहिए। परस्पर-विरोधी सिद्धान्तवाद अथवा विविध विसंगत विचार-पद्धतियाँ समाजमें रहेंगी तो अवश्य ही; परन्तु उनके मूल्योंका माप-तौल मानवी स्वतंत्रताके निकषपर ही करना उचित होगा। मानवकी व्यक्तिगत स्वतंत्रताका विकास एवं वृद्धि करनेके उद्देश्यसे ही समाज संस्थाओंका निर्माण होना चाहिए। मानवोंमें परस्पर-सहयोगकी मंगल भावनाका निर्माण करके ही समाज-संस्था सफल होती है। सैकड़ों पीढ़ियोंके परिश्रमसे अर्जित अनुभूतियोंका भण्डार ही अपने समुदित रूपमें प्रत्येक व्यक्तिके विश्वको समृद्ध करता है। वर्ग, राष्ट्र, पक्ष आदि मानव-निर्मित संगठनके आकारोंको मानवोंकी तुलनामें श्रेष्ठ माननेसे मानवका आत्मबल अवरुद्ध होता है। व्यक्तित्वको सामर्थ्यसम्पन्न, विकसित एवं प्रगल्भ बनाना ही सामाजिक संगठनोंका अन्तिम उद्देश्य होना चाहिए। इस चरम उद्देश्यका अस्वीकार करनेवाले सब दर्शन यथार्थमें मानवके लिए अन्यान्य बन्धनोंका निर्माण करनेके साधन बनते हैं। निरन्तर बन्धन-मुक्त होनेवाले आत्मनिष्ठ मानवका निर्माण करना ही मानव-संस्कृतिका सर्वोपरि उद्देश्य है।

गत तथा वर्तमान शताब्दीके सांस्कृतिक आन्दोलनकी उक्त मीमांसा राजा राममोहन राय, लोकमान्य तिलक, योगी अरविन्द, महात्मा गांधी तथा भाई मानवेन्द्रनाथ राय इन पाँच महानुभावोंके तत्त्व-विचारोंके परामर्शसे पूर्ण हुई है।

उपसंहार

मानवजाति-शास्त्र तथा इतिहासके दर्शनके आधारपर भारतीय संस्कृतिका विकास कैसे हुआ इसकी समीक्षा हमने प्रस्तुत पुस्तकमें की है। भारतीय संस्कृतिमें जो अनेकों स्थित्यन्तर या परिवर्तन हुए उनपर तात्त्विक विचार-पद्धतिका प्रभाव था। अब इन सभी दर्शनोंकी अग्नि-परीक्षाका समय आया है। यह संसारकी बड़ी बड़ी संस्कृतियोंके समन्वयका समय है। ज्ञान, विज्ञान, कला, समाज-संगठन, युद्धशास्त्र, राजनीति आदि विभिन्न विषयोंमें बहुत ही आगे बढ़ी हुई पाश्चात्य संस्कृति भारतीय संस्कृतिके अन्तरङ्गमें प्रवेश कर चुकी है। पाश्चात्योंकी यह संस्कृति किसी भी नवीन विश्वव्यापी तत्त्वज्ञानको यहाँ प्रभावी रूपमें नहीं ले आई; क्योंकि उस तरहका मौलिक तत्त्वज्ञान उसके पास था ही नहीं। उसका कारण यह है कि दृश्यमान भौतिक जड-सृष्टिके कार्य-कलाप तथा कार्यकारण-भाव और ईसाइ-

योंके पुराने अध्यात्मवादी तत्त्वज्ञानके बीच जो सम्बन्ध माना गया था उसीका विज्ञानने विध्वंस किया। अब पाश्चात्य संस्कृतिने मार्क्सवाद तथा साम्यवादके रूपमें जिस नवीन तत्त्वज्ञानका निर्माण किया है वह अन्य सब तत्त्वज्ञानोंको युद्धकी चुनौती देकर खड़ा है। यह संघर्ष सिर्फ़ बौद्धिक नहीं है; वह यथार्थमें समाजकी जड स्थितिप्रियताको दी गई चुनौती है। उसमें भावनाकी वह शक्ति संचित है जो मानव-समाजों तथा राष्ट्रोंके अन्तरङ्गमें प्रवेश करके महान् मानव-समूहोंको अपने वशमें करती है, क्योंकि इसी संसारमें स्वर्गके निर्माणका आश्वासन उसमें निहित है। इसलिए इस महान् राष्ट्रको उस तत्त्व-दृष्टिका लाभ होना चाहिए जो मौलिक तथा पूर्वग्रह-विरहित सत्य-समीक्षासे उत्पन्न होनेवाली हो और जो अनुभूतिके सब क्षेत्रोंमें मिलान करनेपर जँचनेवाली हो।

हमारे इस महान् राष्ट्रके तत्त्वज्ञानशून्य बननेकी सम्भावना निरन्तर बढ़ रही है। सिर्फ़ बौद्धिक विचार-संपदाके रूपमें ही तत्त्वदर्शनकी उपादेयता नहीं है; अपितु वह तत्त्वदर्शन आजकल नितान्त आवश्यक है जो अस्तित्वके सब विभागोंको आलोकित करके हमें नवीन मार्गपर चलनेके लिए प्रोत्साहन दे। संस्कृति वास्तवमें अनुभूतियों तथा विचारोंके संग्रहका स्थान है। अनुभूतियों तथा विचारोंके समग्र संकलनसे ही दर्शन या तत्त्वज्ञानकी रचना होती है। अतएव हमने वैदिक संस्कृतिके विकासकी उक्त समीक्षा प्रस्तुत की है। परम्परासे प्राप्त परलोकपरायण विचार-पद्धतिको ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके इस विश्वमें सुचारु रूपसे जीवित रहनेकी शक्तिका संचय नहीं किया जा सकता। विश्वके अर्थको भली भाँति समझ लेनेके उपरान्त ही इस संसारमें सफल जीवनको बिताना संभव है। यथार्थमें प्रश्न यह है कि इस संसारको अधिक अच्छा, अधिक सम्पन्न कैसे बनाना है? एक समय जर्मन दार्शनिक 'लाइबनिझ' कह उठे थे, "हम जिस दुनियामें रहते हैं वही यथासम्भव सबसे उत्तम विश्व है।" यह आवश्यक है कि इसी दुनियामें, इसी संसारमें हम आध्यात्मिक जीवनकी अनुभूति प्राप्त करें। इस संसारमें जीवित रहनेकी प्रवृत्तिको आध्यात्मिकतासे अधिक सम्पन्न एवं सफल बनाना नितान्त आवश्यक है।

परिशिष्ट १

[इस ग्रन्थमें जगह जगह वेद, उपनिषत्, महाभारत, रामायण, त्रिपिटिक आदि प्राचीन ग्रन्थोंके जो प्रमाण हैं उनमें उन उन ग्रन्थोंके अध्याय सूत्र आदिके संकेत भर दिये गये हैं। यहाँ जिज्ञासु पाठकोंके लिए वे सब प्रमाण उद्धृत किये जाते हैं। जिन जिन पृष्ठोंमें संकेत हैं प्रारंभमें उनकी संख्या दे दी गई है।]

पृ. १९

'एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।' शतपथब्रा. (२।१।२।३)

पृ. २२

'शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान् शतमश्वान् प्रयतान् सद्य आदम्।
शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान॥

(ऋ. १।१२६।२)

पृ. २३

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्रानां विंशतिं शता।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा॥ (ऋ. ८।४६।२२)
शतं वेणूञ्छतं शुनः शतं चर्माणि म्लातानि।
शतं मे बल्वजस्तुका अरुषीणां चतुःशतम्॥ (ऋ. ८।५५।३)
शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनाम्। शतं दासाँ अति स्रजः॥

(ऋ. ८।५६।३)

पृ. २४

सचा मना हिरण्यया। (ऋ. ८।७८।२)
शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान्। (ऋ. १।१२६।२)
अर्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम्। (ऋ. २।३३।१०)
दशो हिरण्यपिण्डान् दिवोदासादसानिषम्। (ऋ. ६।४७।२३)
अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे।
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रां नावमातस्थिवांसम्॥

(ऋ. १।११६।५)

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥

(ऋ. १।२५।७)

आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥
वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः ।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन् यादुषासः ॥

(ऋ. ७।८८।३, ४)

स्थिरौ गावौ भवतां वीळुरक्षो मेषा वि वर्हि मा युगं वि शारि ।
इन्द्रः पातल्ये ददतां शरीतोररिष्टनेमे अभि नः सचस्व ॥

(ऋ. ३।५३।१७)

नावेव नः पारयतं युगेव नभ्येव न उपधीव प्रधीव ।
श्वानेव नो अरिषण्या तनूनां खृगलेव विस्रसः पातमस्मान् ॥

(ऋ. २।३९।४)

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो ।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्व्यकृणोः सूर्यत्वचम् ॥ (ऋ. ८।९१।७)
यथा युगं वरत्रया नह्यन्ति धरुणाय कम् ।
एवा दाधार ते मनो जीवातवे न मृत्यवेऽथो अरिष्टतातये ॥

(ऋ. १०।६०।८)

पृ. २५

उपो रथेषु पृषतीरयुग्ध्वं प्रष्टीर्वहति रोहितः ।
आ वो यामाय पृथिवी चिदश्रोदबीभयन्त मानुषाः ॥ (ऋ. १।३९।६)
यस्य मा हरितो रथे तिस्रो वहन्ति साधुया ।
स्तवै सहस्रदक्षिणे ॥ (ऋ. १०।३३।५)
इन्द्र ब्रह्म क्रियमाणा जुषस्व या ते शविष्ठ नव्या अकर्म ।
वस्त्रेव भद्रा सुकृता वसूयू रथं न धीरः स्वपा अतक्षम् ॥ (ऋ. ५।२९।१५)
अध स्या योषणा मही प्रतीची वशमश्व्यम् । अधिरुक्मा वि नीयते ॥

(ऋ. ८।४६।३३)

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्वर्वती ।

(ऋ. १०।११।३)

पृ. २६

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः । (ऋ. ४।२।१७)
ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत् । (ऋ. १०।७२।२)

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तोऽयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं ववृधन्त इन्द्रमूर्वं गव्यं परिषदन्तो अग्मन् ॥
(ऋ. ४।२।१७)

अध स्म यस्यार्चयः सम्यक् संयन्ति धूमिनः ।
यदीमह त्रितो दिव्युप ध्मातेव धमति शिशीते ध्मातरी यथा ॥
(ऋ. ५।९।५)

श्याममयोऽस्य मांसानि । लोहितमस्य लोहितम् । (अथर्व. ११।३।७)
श्यामं च मे लोहं च मे । (तैसं. ४।७।२।१)
एकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातं स्यात् । वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं कृष्णायसमित्येव सत्यम् ॥ (छाउ. ६।१।६)

पृ. २७

अव द्युतानः कलशाँ अचिक्रदन्नृभिर्येमानः कोश आ हिरण्यये ।
(ऋ. ९।७५।३)

ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु ।
(ऋ. ५।५३।४)

अश्वो न स्वे दम आ हेम्यावान् तमंहसः पीपरो दाश्वांसम् ।
(ऋ. ४।२।८)

ईशानासः पितृवित्तस्य रायः । (ऋ. १।७३।९)
रयिर्न यः पितृवित्तो वयोधाः । (ऋ. १।७३।१)
मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत् । (तैसं. ३।१।९।४)

पृ. २८

पर ऋणा सावीरध मत्कृतानि माहं राजन्नन्यकृतेन भोजम् ।
(ऋ. २।२८।९)

असि सत्य ऋणया ब्रह्मणस्पते । (ऋ. २।२३।११)
कुसीदं निरवदायानृणः सुवर्गं लोकमेति । (तैसं. ३।१।८।४)
न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः ।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन् मर्डितारं न विन्दते ॥ १ ॥
य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित् स मर्डितारं न विन्दते ॥ २ ॥
स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।

अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ३ ॥
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ॥ ४ ॥
पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽन्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ५ ॥
मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥ ६ ॥
कृषन्नित् फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥ ७ ॥
एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥ ८ ॥
समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः ॥ ९ ॥
(ऋ. १०।११७)

पृ. २९

अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः । (ऋ. १।१६४।२४)
ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् । (ऋ. १।१६४।३९)
नव्यमतक्षद् ब्रह्म हरियोजनाय । (ऋ. १।६२।१३)
त्रैष्टुभं निरतक्षत । (ऋ. १।१६४।२३)

पृ. ३०

तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदोमिति । (ऐब्रा. २५।७)

पृ. ३१

तद्वाप्युपलक्षयेद्वर्णाक्षरपदाङ्कशः । (गोब्रा. १।१।२७)
यथा शून्यमावसथमाहरेदेवं तदिति । (शब्रा. २।३।१।९)
यथाऽतिथये प्रद्रुताय शून्यायाऽऽवसथायाऽऽहार्यं हरन्ति ।
(तैब्रा. २।१।२।१२)
पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
(शब्रा. १४।८।१।१, बृउ. ५।१)

पृ. ३६

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान् ।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ (ऋ. १।१६४।४६)
यदग्ने मर्त्यस्त्वं स्यामहं मित्रमहो अमर्त्यः । सहसः सूनवाहुत ॥
(ऋ. ८।१९।२५)

पृ. ३७

अयं होता प्रथमः पश्यतेममिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु ।
अयं स जज्ञे ध्रुव आ निषत्तोऽमर्त्यस्तन्वा३ वर्धमानः ॥ (ऋ. ६।९।४)

पृ. ३८

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ (अथर्व. १०।२)

पृ. ३९

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
(ऋ. १।१६४।३९)

यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् ॥
(ऋ. ५।४।१०)

यस्मै त्वं सुकृते जातवेद उ लोकमग्ने कृणवः स्योनम् ।
अश्विनं स पुत्रिणं वीरवन्तं गोमन्तं रयिं नशते स्वति ॥ (ऋ. ५।४।११)

सा मा सत्योक्तिः परि पातु विश्वतो द्यावा च यत्र ततनन्नहानि च ।
विश्वमन्यन्नि विशते यदेजति विश्वाहापो विश्वाहोदेति सूर्यः ॥
(ऋ. १०।३७।२)

विश्वाहा त्वा सुमनसः सुचक्षसः प्रजावन्तो अनमीवा अनागसः ॥
उद्यन्तं त्वा मित्रमहो दिवेदिवे ज्योग्जीवाः प्रति पश्येम सूर्य ।
(ऋ. १०।३७।७)

प्रजामनु प्र जायसे । तदु ते मर्त्यामृतम् । (तैत्रा. १।५।५।६)

यज्ञं दुहानं सदमित्प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम् ।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥ (अथर्व. ११।१।३४)

पृ. ४०

प्रजापतिरकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति स एतमग्निष्टोममपश्यत्तमाहरत्तेनेमाः प्रजा असृजत । (ताब्रा. ६।१)

पृ. ४१

गोमाँ अग्नेऽविमाँ अश्वी यज्ञो नृवत्सखा सदमिदप्रमृष्यः ।

इळावाँ एषो असुर प्रजावान् दीर्घो रयिः पृथुबुध्नः सभावान् ॥

(ऋ. ४।२।५)

प्रजापतिरकामयत प्र जायेयेति स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत तमग्निर्देवता-न्वसृज्यत गायत्री छन्दो रथन्तरᳲ साम ब्राह्मणो मनुष्याणामजः पशूनां तस्मात् ते मुख्या मुखतो ह्यसृज्यन्तोरसो बाहुभ्यां पञ्चदशं निरमिमीत तमिन्द्रो देवताऽन्वसृज्यत त्रिष्टुप् छन्दो बृहत्साम राजन्यो मनुष्याणामविः पशूनां तस्मात् ते वीर्यावन्तो वीर्याद्ध्यसृज्यन्त मध्यतः सप्तदशं निरमिमीत तं विश्वे देवा देवता अन्वसृज्यन्त जगती छन्दो वैरूपᳲ साम वैश्यो मनुष्याणां गावः पशूनां तस्मात् त आद्या अन्नधानाद्ध्यसृज्यन्त तस्माद्भूयाᳲसोऽन्येभ्यो भूयिष्ठा हि देवता अन्वसृज्यन्त पत्त एकविंशं निरमिमीत तमनुष्टुप् छन्दोऽन्वसृज्यत वैराजᳲ साम शूद्रो मनुष्याणाम् ॥ (तैसं. ७।१।१)

ऋतेन ऋतं नियतमीळ आ गोरामा सचा मधुमत् पक्वमग्ने ।

कृष्णा सती रुशता धासिनैषा जामर्येण पयसा पीपाय ॥ (ऋ. ४।३।९)

यदा दश शतं कुर्वन्त्यथैकमुत्थानᳲ शतायुः पुरुषः शतेन्द्रिय आयुष्येवेन्द्रिये प्रति तिष्ठन्ति यदा शतᳲ सहस्रं कुर्वन्त्यथैकमुत्थानम् । (तैसं. ७।२।१।४)

पृ. ४२

पृष्ठ ४१ तैसं. ७।१।१ द्रष्टव्यम् ।

चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाः सोम्यानुसंव्रजेति । ता अभिप्रस्थापय-न्नुवाच नासहस्रेणाऽऽवर्तेयेति । स ह वर्षगणं प्रोवास । ता यदा सहस्रᳲ संपेदुः । (छाउ. ४।४।५)

पृ. ४५

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् स प्रजापतिः पुष्करपर्णे वातो भूतोऽलेलायत् । (तैसं. ५।६।४।२)

पृ. ४६

प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत् । जनो ह वै प्रजापतिर्देवता । (जैब्रा. १।६८)
इन्द्रो बलं बलपतिः । (तैब्रा. २।५।७।४)

पृ. ४७

सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥
अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्मयः कोशः स्वर्गो लोको ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ (अथर्व. १०।२।२८-३३)

पृ. ४८

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥ (ऋ. १०।१५१।१-२)
सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते ।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः ।
तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
ये चित् पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः ।
पितृन् तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।

ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ (ऋ. १०।१५४)

पृ. ४९

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये३ यजमानाय सुन्वते ॥
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ॥
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ (ऋ. १०।१२५)

पृ. ५४

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥
(वाजसं. ३१।१८)

पृ. ५५

हिरण्मयं पुरुषमुप दधाति । (तैसं. ५।२।७।२)
त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥
त्वमग्ने राजा वरुणो धृतव्रतस्त्वं मित्रो भवसि दस्म ईड्यः ।
त्वमर्यमा सत्पतिर्यस्य संभुजं त्वमंशो विदथे देव भाजयुः ॥
त्वमग्ने त्वष्टा विधते सुवीर्यं तव ग्नावो मित्रमहः सजात्यम् ।

त्वमाशुहेमा ररिषे स्वश्व्यं त्वं नरां शर्धो असि पुरूवसुः ॥

त्वमग्ने रुद्रो असुरो महो दिवः ।

(ऋ. २।१।३-६)

त्वमग्ने वरुणो जायसे यत् त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः ।

त्वे विश्वे सहसस्पुत्र देवास्त्वमिन्द्रो दाशुषे मर्त्याय ॥ (ऋ. ५।३।१)

त्वामग्न आदित्यास आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश्चक्रिरे कवे ॥ (ऋ. २।१।१३)

त्रीणि शता त्री सहस्राण्यग्निं त्रिंशच्च देवा नव चासपर्यन् ॥

(ऋ. ३।९।९)

पृ. ५६

स यः स वैश्वानरः इमे स लोका इयमेव पृथिवी विश्वमग्निर्नरोऽन्तरिक्ष-मेव विश्वं वायुर्नरो द्यौरेव विश्वमादित्यो नरः ॥ (शब्रा. ९।३।१।३)

स ईक्षां चक्रे । कथं न्वहमिमानि सर्वाणि भूतानि पुनरात्मन्नावपेय पुनरात्मन्दधीय कथं न्वहमेवैषां सर्वेषां भूतानां पुनरात्मा स्यामिति ।

(शब्रा. १०।४।२।३)

ते य एवमेतद्विदुर्ये वैतत्कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः सभवन्ति ते संभवन्त एवामृतत्वमभिसंभवन्त्यथ य एवं न विदुर्ये वैतत्कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः संभवन्ति त एतस्यैवान्नं पुनः पुनर्भवन्ति । (शब्रा. १०।४।३।१०)

पृ. ५७

स यदग्निं चिनुते एतमेव तदन्तकं मृत्युं संवत्सरं प्रजापतिमग्निमाप्नोति यं देवा आप्नुवन् एतमुपधत्ते । (शब्रा. १०।४।३।११)

स एष एव मृत्युर्य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः । (शब्रा. १०।५।२।३)

महाव्रतं शंसेत्तानग्नौ । (ऐआ. ५।३।३।१)

अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः । अन्तरिक्षं महाव्रतं द्यौर्महदुक्थं तस्मा-देतानि सर्वाणि सहोपेयात् । (शब्रा. १०।१।२।२)

पृ. ५८

तमेतमग्निरित्यध्वर्यव उपासते । यजुरित्येष हीदं सर्वं युनक्ति सामेति छन्दोगा एतस्मिन् हीदं सर्वं समानमुक्थमिति बह्वृचा एष हीदं सर्वमुत्थाप-यति यातुरिति यातुविद एतेन हीदं सर्वं यतं विषमिति सर्पाः सर्प इति सर्पविद ऊर्गिति देवा रयिरिति मनुष्या मायेत्यसुराः स्वधेति पितरो देवजन इति देवजन-

विदो रूपमिति गन्धर्वा गन्ध इत्यप्सरसंस्त यथायथोपासते तदेव भवति तद्धैनान् भूत्वाऽवति । (शब्रा. १०।५।२।२०)

एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा एतमस्यामेतं दिव्येतं वायावेतमाकाश एतमप्स्वेतमोषधीष्वेतं वनस्पतिष्वेतं चन्द्रमस्येतं नक्षत्रेष्वेतं सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते ।

(ऐआ. ३।२।३)

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिंल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वीत ।

(छाउ. ३।१४।१)

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा । एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान्पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान्दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्माऽन्तर्हृदये । एतद्ब्रह्म । एतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति । इति ह स्माऽऽह शाण्डिल्यः ॥

(छाउ. ३।१४।२–४)

पृ. ५९

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव सा । अथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमः । तत्साम ।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णः । (छाउ. १।६।६)

त्वं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । (बृउ. ३।९।२६)

पृ. ६०

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः ।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ।

(अथर्व. १०।८।४४)

पृ. ६१

अयमस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातान्यभ्यस्मि मह्ना ।
ऋतस्य मा प्रदिशो वर्धयन्त्यादर्दिरो भुवना दर्दरीमि ॥
आ यन्मा वेना अरुहन्नृतस्यँ एकमासीनं हर्यतस्य पृष्ठे ।
मनश्चिन्मे हृद आ प्रत्यवोचदचिक्रदञ्छिशुमन्तः सखायः ॥

(ऋ. ८।१००।४,५)

मां हवन्ते पितरं न जन्तवोऽहं दाशुषे वि भजामि भोजनम् ॥
अहमिन्द्रो न परा जिग्य इद्धनं न मृत्यवेऽव तस्थे कदा चन ।
सोममिन्मा सुन्वन्तो याचता वसु न मे पूरवः सख्ये रिषाथन ॥

(ऋ. १०।४८।१,५)

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः ।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥
अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।
अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥

(ऋ. ४।२६।१-२)

पृ. ६२

मम द्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः ।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः ॥
अहं राजा वरुणो मह्यं तान्यसुर्याणि प्रथमा धारयन्त ।
क्रतुं सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रेः ॥
अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके ।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च ॥
अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य ।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्विभूम ॥
मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते ।
कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः ॥
अहं ता विश्वा चकरं नकिर्मा दैव्यं सहो वरते अप्रतीतम् ।
यन्मा सोमासो ममदन्यदुक्थोभे भयेते रजसी अपारे ॥

(ऋ. ४।४२।१-६)

ब्रह्माँ३स्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यसवो ब्रह्माँ३स्त्वं ब्रह्मासि मित्रोऽसि सुशेवो ब्रह्माँ३स्त्वं ब्रह्मासीन्द्रोऽसि सत्यौजा ब्रह्माँ३स्त्वं ब्रह्मासि वरुणोऽसि विश्वौजाः। (काठकसं. १५।८)

ब्रह्माँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजाः। (वाजसं. १०।२८)

समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः ।
वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभुं कामं व्यश्नवै ॥ (काठकसं. ३८।५)

समाववर्ति पृथिवी समुषाः समु सूर्यः ।
समु विश्वमिदं जगत् वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून् कामान् व्यश्नवै ॥
(वाजसं. २०।२३)

समाववर्ति पृथिवी । समुषाः । समु सूर्यः । समु विश्वमिदं जगत् । वैश्वानरज्योतिर्भूयासम् । विभुं कामं व्यश्नवै । (तैब्रा. २।६।६।५)

पुरुष एवेदं सर्वम् । (ऋ. १०।९०।२)

पृ. ६४

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम् । (ऋ. १।८०।१)

पृ. ६५

युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी उप प्र याहि दधिषे गभस्त्योः ।
(ऋ. १।८२।६)

आ तिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी । (ऋ. १।८४।३)

आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये ।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥ (ऋ. ८।१।२४)

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः ।
प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते ॥ (ऋ. १।८३।२)

आन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्यं परि श्येनो अद्रेः ।
अग्नीषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथुरु लोकम् ॥ (ऋ. १।९३।६)

अस्तोढ्वं स्तोम्या ब्रह्मणा मेऽवीवृधध्वमुशतीरुषासः ।
युष्माकं देवीरवसा सनेम सहस्रिणं च शतिनं च वाजम् ॥
(ऋ. १।१२४।१३)

अपाय्यस्यान्धसो मदाय मनीषिणः सुवानस्य प्रयसः ।
यस्मिन्निन्द्रः प्रदिवि वावृधान ओको दधे ब्रह्मण्यन्तश्च नरः ॥
(ऋ. २।१९।१)

एतानि वामश्विना वर्धनानि ब्रह्म स्तोमं गृत्समदासो अक्रन् ।
तानि नरा जुजुषाणोप यातं बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ (ऋ. २।३९।८)

गवाशिरं मन्थिनमिन्द्र शुक्रं पिबा सोमं ररिमा ते मदाय ।
ब्रह्मकृता मारुतेन गणेन सजोषा रुद्रैस्तृपदा वृषस्व ॥ (ऋ. ३।३२।२)

इन्द्रः पूर्भिदातिरद् दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे ॥ (ऋ. ३।३४।१)

प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः प्रेन्द्र ब्रह्मणा शिरः ।
प्र बाहू शूर राधसे ॥ (ऋ. ३।५१।१२)

इमा ब्रह्माणि वर्धनाऽश्विभ्यां सन्तु शंतमा ।
या तक्षाम रथाँ इवाऽवोचाम बृहन्नमः ॥ (ऋ. ५।७३।१०)

तुर्वन्नोजीयान् तवसस्तवीयान् कृतब्रह्मेन्द्रो वृद्धमहाः ।
राजाभवन्मधुनः सोम्यस्य विश्वासां यत् पुरां दर्त्नुमावत् ॥ (ऋ. ६।२०।३)

अस्मै वयं यद्वावान तद्विविष्म इन्द्राय यो नः प्रदिवो अपस्कः ।
सुते सोमे स्तुमसि शंसदुक्थेन्द्राय ब्रह्म वर्धनं यथासत् ॥ (ऋ. ६।२३।५)

भुवस्त्वमिन्द्र ब्रह्मणा महान् भुवो विश्वेषु सवनेषु यज्ञियः ।
भुवो नॄँश्च्यौत्नो विश्वस्मिन्भरे ज्येष्ठश्च मन्त्रो विश्वचर्षणे ॥ (ऋ. १०।५०।४)

तद्देवानां देवतमाय कर्त्वमश्रथ्नन् दृह्ळाव्रदन्त वीळिता ।
उद् गा आजदभिनद् ब्रह्मणा वलमगूहत्तमो व्यचक्षयत्स्वः ॥
(ऋ. २।२४।३)

रूपं रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम् ।
त्रिर्यद्दिवः परि मुहूर्तमागात्स्वैर्मन्त्रैरनृतुपा ऋतावा ॥ (ऋ. ३।५३।८)

ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् ।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत् ॥
(ऋ. ५।४०।८)

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातमिषो वाजाय प्रदिवः सचन्ते ।
अधीवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम् ॥ (ऋ. १०।५।४)

आ न इन्द्र पृक्षसेऽस्माकं ब्रह्मोद्यतम् ।
तत्त्वा याचामहेऽवः शुष्णं यद्धनमानुषम् ॥ (ऋ. १०।२२।७)
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् । (ऋ. ६।७५।१९)
विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् । (ऋ. ३।५३।१२)
त्वं नः पाह्यंहसो जातवेदो अघायतः ।
रक्षा णो ब्रह्मणस्कवे ॥ (ऋ. ६।१६।३०)
इन्द्रं श्लोको महि दैव्यः सिषक्तु यो ब्रह्मणो देवकृतस्य राजा ।
(ऋ. ७।९७।३)
सरस्वान् धीभिर्वरुणो धृतव्रतः पूषा विष्णुर्महिमा वायुरश्विना ।
ब्रह्मकृतो अमृता विश्ववेदसः शर्म नो यंसन्त्रिवरूथमंहसः ॥
(ऋ. १०।६६।५)
त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः ।
त्वं ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचसे पुरन्ध्या ॥ (ऋ. २।१।३)
उत ग्ना अग्निरध्वर उतो गृहपतिर्दमे । उत ब्रह्मा निषीदति ॥
(ऋ. ४।९।४)
असादि वृतो वह्निराजगन्वानग्निर्ब्रह्मा नृषदने विधर्ता । (ऋ. ७।७।५)
ब्रह्माणं ब्रह्मवाहसं गीर्भिः सखायमृग्मियम् । गां न दोहसे हुवे ॥
(ऋ. ६।४५।७)
ब्रह्मन् वीर ब्रह्मकृतिं जुषाणोऽर्वाचीनो हरिभिर्याहि तूयम् ।
अस्मिन्नू षु सवने मादयस्वोप ब्रह्माणि शृणव इमा नः ॥ (ऋ. ७।२९।२)
इन्द्रो ब्रह्मेन्द्र ऋषिरिन्द्रः पुरू पुरुहूतः । महान् महीभिः शचीभिः ॥
(ऋ. ८।१६।७)
ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम् ।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन् ॥
(ऋ. ९।९६।६)
तस्मै विशः स्वयमेवा नमन्ते यस्मिन् ब्रह्मा राजनि पूर्व एति ।
(ऋ. ४।५०।८)

पृ. ६७

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
(ऋ. १।१६४।३९)

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।
(ऋ. १०।१०९।५)

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ (अथर्व. ११।७।२४)

पृ. ६८

घृतेन ह वा एष देवाँस्तर्पयति । य एवं विद्वान्त्सामान्यहरहः स्वाध्याय-मधीते । (शब्रा. ११।५।७।७)

ऋचां प्राची महती दिगुच्यते । दक्षिणामाहुर्यजुषामपाराम् । अथर्वणा-मङ्गिरसां प्रतीची । साम्नामुदीची महती दिगुच्यते । ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते । यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः । सामवेदेनास्तमये महीयते । वेदैरशून्य-स्त्रिभिरेति सूर्यः । ऋग्भ्यो जाता᳙ सर्वशो मूर्तिमाहुः । सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत् । सर्वं तेजः सामरूप्य᳙ ह शश्वत् । सर्व᳙ हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ।
(तैब्रा. ३।१२।९।१)

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः ।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥
(अथर्व. ४।१।१)

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ (अथर्व. १०।८।१)
यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति ।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ (अथर्व. १०।८।१६)
स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥
(अथर्व. १०।७।३५)

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ।
(ब्रह्मसूत्र २।३।४३)

पृ. ६९

ब्रह्मेदं सर्वमात्मन्वत् । (पैप्पलादसंहिता ८।९)
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ (अथर्व. १०।२।३२)
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि । (अथर्व. १०।७।३८)

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् ।

तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः । (अथर्व. १०।८।४३)

तदेतज्ज्येष्ठं ब्रह्म । न ह्येतस्मात्किं चन ज्यायोऽस्ति ज्येष्ठो ह वै श्रेष्ठः स्वानां भवति य एवं वेद । (शब्रा. १०।३।५।१०)

तदेतद्ब्रह्मापूर्वमपरवत् । स यो हैतदेवं ब्रह्मापूर्वमपरवद्वेद न हास्मात्कश्चन श्रेयान्त्समानेषु भवति श्रेयांसः श्रेयांसो हैवास्मादपरपुरुषा जायन्ते तस्माद्योऽस्माज्ज्यायान्त्स्याद्दिशोऽस्मात्पूर्वा इत्युपासीत तथो हैनं न हिनस्ति ।

(शब्रा. १०।३।५।११)

अथ ब्रह्मैव परार्धमगच्छत् । तत्परार्धं गत्वैक्षत कथं न्विमान् लोकान्प्रत्यवेयामिति तद् द्वाभ्यामेव प्रत्यवैत् रूपेण चैव नाम्ना च स यस्य कस्य च नामास्ति तन्नाम यस्यो अपि नाम नास्ति यद्वेद रूपेणेदं रूपमिति तद्रूपमेतावद्वा इदं यावद्रूपं चैव नाम च । (शब्रा. ११।२।३।३)

अन्तरिक्षं विश्वरूप आविवेश । तमर्कैरभ्यर्चन्ति वत्सम् । ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्तः । ब्रह्म देवानजनयत् । ब्रह्म विश्वमिदं जगत् । (तैब्रा. २।८।८।९)

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।

मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् ।

(ऋ. १०।८१।४)

ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आसीत् । यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः । मनीषिणो मनसा वि ब्रवीमि वः । ब्रह्माध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन् । (तैब्रा. २।८।९।७)

पृ. ७५

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।

संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (भगवद्गीता १४।३, ४)

पृ. ७६

ईक्षतेर्नाशब्दम् । गौणश्चेन्नात्मशब्दात् । तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् । हेयत्वावचनाच्च । स्वाप्ययात् । गतिसामान्यात् । श्रुतत्वाच्च ।

(ब्रह्मसूत्राणि १।१।५-११)

पृ. ८५

वर्णिका भागुरी लोकायतस्य । (पत. महाभाष्यं ७।३।४५)

पृ. ८६

को धातुरित्यापृधांतुरवतिमप्येके रूपसामान्यादर्थसामान्यन्नेदीयस्तस्मादापेरोङ्कारः सर्वमाप्नोतीत्यर्थः कृदन्तमर्थवत् प्रातिपदिकमदर्शनं प्रत्ययस्य नाम संपद्यते निपातेषु चैनं वैयाकरणा उदात्तं समामनन्ति तदव्ययीभूतमन्वर्थवाची शब्दो न व्येति कदाचनेति ।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु । वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ को विकारी च्यवते प्रसारणमाप्नोति रावावपकारौ विकार्यावादित ओङ्कारो विक्रियते द्वितीयो मकार एवं द्विवर्ण एकाक्षर ओमित्योङ्कारो निर्वृत्तः । (गोपथब्रा. १।१।२६)

पृ. ९०

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ।
ततो राज्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत ।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥
सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ (ऋ. १०।१९०।१-३)
किमाग आस वरुण ज्येष्ठं यत्स्तोतारं जिघांससि सखायम् ।
प्र तन्मे वोचो दूळभ स्वधावोऽव त्वानेना नमसा तुर इयाम् ॥

(ऋ. ७।८९।४)

पृ. ९२

यो ह वा आत्मानं पञ्चविधमुक्थं वेद यस्मादिदं सर्वमुत्तिष्ठति स संप्रतिवित्पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येष वा आत्मोक्थं पञ्चविधमेतस्माद्धीदं सर्वमुत्तिष्ठत्येतमेवाप्येत्ययनं ह वै समानानां भवति य एवं वेद ॥

तस्मिन्योऽन्नं चान्नादं च वेदाहास्मिन्नन्नादो जायते भवत्यस्यान्नमापश्च पृथिवी चान्नमेतन्मयानि ह्यन्नानि भवन्ति ज्योतिश्च वायुश्चान्नादमेताभ्यां हीदं सर्वमन्नमत्त्यावपनमाकाश आकाशे हीदं सर्वं समोप्यत आवपनं ह वै समानानां भवति य एवं वेद ॥

तस्मिन्योऽन्नं चान्नादं च वेदाहास्मिन्नन्नादो जायते भवत्यस्यान्नमोषधिवनस्पतयोऽन्नं प्राणभृतोऽन्नादमोषधिवनस्पतीन् हि प्राणभृतोऽदन्ति ॥

तेषां य उभयतोदन्ताः पुरुषस्यानुविधा विहितास्तेऽन्नादा अन्नमितरे पशवस्तस्मात्त इतरान्पशूनधीव चरन्त्यधीव ह्यन्नेऽन्नादो भवति ॥

(ऐआ. २।३।१)

ओषधिवनस्पतयो यच्च किंच प्राणभृत्स आत्मानमाविस्तरां वेदौषधि-वनस्पतिषु हि रसो दृश्यते चित्तं प्राणभृत्सु ।

प्राणभृत्सु त्वेवाऽऽविस्तरामात्मा तेषु हि रसोऽपि दृश्यते न चित्तमितरेषु ।

पुरुषे त्वेवाऽऽविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीप्सत्येवं संपन्नः।

अथेतरेषां पशूनामशनापिपासे एवाभिविज्ञानं न विज्ञातं वदन्ति न विज्ञातं पश्यन्ति न विदुः श्वस्तनं न लोकालोकौ त एतावन्तो भवन्ति। (ऐआ. २।३।२)

पृ. ९३

द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च । ततः कानीयसा एव देवा ज्यायसा असुराः । त एषु लोकेष्वस्पर्धन्त । ते ह देवा ऊचुर्हन्तासुरान्यज्ञ उद्गीथेनात्य-यामेति ।

ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यो वागुदगायत् । यो वाचि भोगस्तं देवेभ्य आगायत् । यत्कल्याणं वदति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यः स पाप्मा यदे-वेदमप्रतिरूपं वदति । स एव स पाप्मा ।

अथ ह प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यः प्राण उदगायत् । यः प्राणे भोगस्तं देवेभ्य आगायत् । यत्कल्याणं जिघ्रति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं जिघ्रति । स एव स पाप्मा ।

अथ ह चक्षुरूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यश्चक्षुरुदगायत् । यश्च-क्षुषि भोगस्तं देवेभ्य आगायत् । यत्कल्याणं पश्यति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपं पश्यति । स एव स पाप्मा ।

अथ ह श्रोत्रमूचुस्त्वं न उद्गायेति तथेति। तेभ्यः श्रोत्रमुदगायत् । यः श्रोत्रे भोगस्तं देवेभ्य आगायत् । यत्कल्याणꣳ शृणोति तदात्मने । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ शृणोति । स एव स पाप्मा ।

अथ ह मन ऊचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्यो मन उदगायत् । यो मनसि भोगस्तं देवेभ्य आगायत् । यत्कल्याणꣳ संकल्पयति तदात्मने। ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविध्यन् । स यः स पाप्मा यदेवेदमप्रतिरूपꣳ संकल्पयति। स एव स पाप्मा। एवमु खल्वेता देवताः पाप्मभिरुपासृजन् । एवमेनाः पाप्मनाऽविध्यन् ॥

अथ हेममासन्यं प्राणमूचुस्त्वं न उद्गायेति । तथेति तेभ्य एष प्राण उदगायत् । ते विदुरनेन वै न उद्गात्राऽत्येष्यन्तीति । तमभिद्रुत्य पाप्मनाऽविव्यत्सन् । स यथाऽश्मानमृत्वा लोष्टो विध्वꣳसेतैवꣳ हैव विध्वꣳसमाना विष्वञ्चो विनेशुः । ततो देवा अभवन्परासुराः । भवत्यात्मना परास्य द्विषन् भ्रातृव्यो भवति य एवं वेद ॥

ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेति । अयमास्येऽन्तरिति । सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः ॥

सा वा एषा देवता दूर्नाम । दूरꣳ ह्यस्या मृत्युः । दूरꣳ ह वा अस्मान्मृत्युर्भवति य एवं वेद ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्य यत्रासां दिशामन्तस्तद्गमयांचकार । तदासां पाप्मनो विन्यदधात् । तस्मान्न जनमियान्नान्तमियान्नेत्पाप्मानं मृत्युमन्ववायानीति ॥

सा वा एषा देवतैतासां देवतानां पाप्मानं मृत्युमपहत्याथैना मृत्युमत्यवहत् ॥

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत् । सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत् । सोऽयमग्निः परेण मृत्युमतिक्रान्तो दीप्यते ॥

अथ प्राणमत्यवहत् । स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत् । सोऽयं वायुः परेण मृत्युमतिक्रान्तः पवते ॥

अथ चक्षुरत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत् सोऽसावादित्यः परेण मृत्युमतिक्रान्तस्तपति ॥

अथ श्रोत्रमत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत ता दिशोऽभवन् । ता इमा दिशः परेण मृत्युमतिक्रान्ताः ॥

अथ मनोऽत्यवहत् । तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत् । सोऽसौ चन्द्रः परेण मृत्युमतिक्रान्तो भाति । एवꣳ ह वा एनमेषा देवता मृत्युमतिवहति य एवं वेद ॥

अथात्मनेऽन्नाद्यमागायत् । यद्धि किंचान्नमद्यतेऽनेनैव तदद्यते । इह प्रतितिष्ठति ॥

ते देवा अब्रुवन् । एतावद्वा इदꣳसर्वं यदन्नम् । तदात्मान आगासीः । अनु नोऽस्मिन्नन्न आभजस्वेति । ते वै माऽभिसंविशतेति । तथेति तꣳसमन्तं परिण्यविशन्त । तस्माद्यदनेनान्नमत्ति तेनैतास्तृप्यन्ति । एवꣳ ह वा एनꣳ स्वा अभिसंविशन्ति भर्ता स्वानाꣳ श्रेष्ठः पुर एता भवत्यन्नादोऽधिपतिर्य एवं वेद । य उ हैवंविदꣳ स्वेषु प्रति प्रतिर्बुभूषति न हैवालं भार्येभ्यो भवति । अथ य एवैतमनु भवति यो वैतमनु भार्यान्बुभूर्षति स हैवालं भार्येभ्यो भवति ॥

सोऽयास्य आङ्गिरसोऽङ्गानाꣳ हि रसः । प्राणो वा अङ्गानाꣳ रसः । प्राणो हि वा अङ्गानाꣳ रसः । तस्माद्यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेव तच्छुष्यति । एष हि वा अङ्गानाꣳ रसः ॥

एष उ एव बृहस्पतिः । वाग्वै बृहती तस्या एष पतिस्तस्मादु बृहस्पतिः ॥

एष उ एव ब्रह्मणस्पतिः । वाग्वै ब्रह्म तस्या एष पतिस्तस्मादु ब्रह्मणस्पतिः ॥

एष उ एव साम । वाग्वै सामैष सा चामश्चेति तत्साम्नः सामत्वम् । यद्वेव समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण तस्माद्वेव साम । अश्नुते साम्नः सायुज्यꣳ सलोकतां य एवमेतत्साम वेद ॥ (बृहदारण्यक. १।३)

पृ. ९४

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति यथाऽङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात्तादृक्तत्स्यात् ॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳ हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥

तस्मादु हैवंविद्यद्यपि चण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेत् । आत्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुतꣳ स्यादिति । तदेष श्लोकः ॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते । एवꣳ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्रमुपासत इति ॥ (छान्दोग्य. ५।२४)

तेभ्यो ह प्राहेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार । स ह प्रातः संजिहान उवाच । न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः । नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः । यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि । (छान्दोग्य. ५।११।५)

अयमात्मा सर्वेषां भूतानां मधु । अस्यात्मनः सर्वाणि भूतानि मधु । यश्चायमस्मिन्नात्मनि तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमात्मा तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा । इदममृतमिदं ब्रह्मेद९ सर्वम् । ... ...इदं वै तन्मधु दध्यङ्ङाथर्वणोऽश्विभ्यामुवाच ॥ (बृहदारण्यक. २।५।१४, १६)

अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः । स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकः । अथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणाम् । अथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणाम् । अथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणाम् । अथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनाम् ॥

(बृहदारण्यक. १।४।१६)

पृ. ९७

प्रतर्दनो ह दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण च । तं हेन्द्र उवाच । प्रतर्दन वरं ते ददानीति । स होवाच प्रतर्दनः । त्वमेव मे वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति । तं हेन्द्र उवाच । न वै वरोऽवरस्मै वृणीते । त्वमेव वृणीष्वेति । एवमवरो वै किल म इति होवाच प्रतर्दनः । अथो खल्विन्द्रः सत्यादेव नेयाय । सत्यं हीन्द्रः ॥

स होवाच । मामेव विजानीहि । एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात् ॥

त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम् । अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम् । बह्वीः संधा अतिक्रम्य दिवि प्रह्लादीयानतृणमहमन्तरिक्षे पौलोमान् पृथिव्यां कालखाञ्जान् । तस्य मे तत्र नलोम च मा मीयते ॥

स यो मां विजानीयान्नास्य केन च कर्मणा लोको मीयते । न मातृवधेन न पितृवधेन न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया । नास्य पापं चन चकृषो मुखान्नीलं वेतीति ॥ (कौउ. ३।१)

स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः । न साधुना कर्मणा भूयान् । नो एवासाधुना कनीयान् ॥

एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते। एष लोकपालः। एष लोकाधिपतिः। एष सर्वेशः। स म आत्मेति विद्यात्॥ (कौउ. ३।८)

पृ. ९९

ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्। तथर्षीणाम्॥

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव। तदेकꣳ सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं, यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात्क्षत्रात्परं नास्ति। तस्मात् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये। क्षत्र एव तद्यशो दधाति। सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद् ब्रह्म। तस्माद्यद्यपि राजा परमतां गच्छति ब्रह्मैवान्तत उपनिश्रयति स्वां योनिम्। य उ एनꣳ हिनस्ति स्वाꣳ स योनिमृच्छति स पापीयान् भवति यथा श्रेयांसꣳ हिꣳसित्वा॥

स नैव व्यभवत्। स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति॥

स नैव व्यभवत्। स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम्। इयं वै पूषा। इयꣳ हीदꣳ सर्वं पुष्यति यदिदं किंच॥

स नैव व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मम्। तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मः। तस्माद्धर्मात्परं नास्ति। अथो अबलीयान्बलीयाꣳसमाशꣳसते धर्मेण। यथा राज्ञैवम्। यो वै स धर्मः सत्यं वै तत्। तस्मात्सत्यं वदन्तमाहुर्धर्मं वदतीति। धर्मं वा वदन्तꣳ सत्यं वदतीति॥

(बृहदारण्यक० १।४।१०–१४)

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः॥

(महाभारत शान्तिपर्व १०९।११)

पृ. १०१

जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो यः पुत्री यज्वा ब्रह्मचारिवासी॥

(तैसं. ६।३।१०।५)

ऋणं ह वै जायते योऽस्ति । स जायमान एव देवेभ्य ऋषिभ्यः पितृभ्यो मनुष्येभ्यः ॥

स यदेव यजेत। तेन देवेभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान्यजते यदेभ्यो जुह्वोति ॥

अथ यदेवानुब्रुवीत । तेन ऋषिभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोत्यृषीणां निधिगोप इति ह्यनूचानमाहुः ॥

अथ यदेव प्रजामिच्छेत । तेन पितृभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेषां संतताऽव्यवच्छिन्ना प्रजा भवति ॥

अथ यदेव वासयेत । तेन मनुष्येभ्य ऋणं जायते तद्ध्येभ्य एतत्करोति यदेनान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति स य एतानि सर्वाणि करोति स कृतकर्मा तस्य सर्वमाप्तं सर्वं जितम् ॥

स येन देवेभ्य ऋणं जायते । तदेनांस्तदवदयते यद्यजतेऽथ यदग्नौ जुह्वोति तदेनांस्तदवदयते तस्माद्यत्किंचाग्नौ जुह्वति तदवदानं नाम ॥

(शब्रा. १।७।२।१–६)

ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । (छान्दोग्य. २।२३।१)

पृ. १०२

धर्मार्थावुच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च ।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ॥ (मस्मृ. २।२२४)

पृ. १०८

श्रुतिधर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः ।
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते ॥ (शान्तिपर्व १०९।१३)

पृ. १०९

ते हि द्यावापृथिवी विश्वशंभुव ऋतावरी रजसो धारयत्कवी ।
सुजन्मनी धिषणे अन्तरीयते देवो देवी धर्मणा सूर्यः शुचिः ॥
उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षतः ।

(ऋसं. १।१६०।१–२)

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।

(ऋसं. १।१२४।७)

नाभ्रात्रीमुपयच्छेत तोकं ह्यस्य तद्भवति । (निरुक्त. ३।५)
यस्त्वा हृदा कीरिणा मन्यमानोऽमर्त्यं मर्त्यो जोहवीमि ।
जातवेदो यशो अस्मासु धेहि प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम् ॥

(ऋसं. ५।४।१०)

पृ. ११०

न जामये तान्वो रिक्थमारैक् चकार गर्भं सनितुर्निधानम् ।
यदी मातरो जनयन्त वह्निमन्यः कर्ता सुकृतोरन्य ऋन्धन् ॥

(ऋसं. ३।३१।२)

रथीरभून्मुद्गलानी गविष्टौ भरे कृतं व्यचेदिन्द्रसेना । (ऋसं. १०।१०९।२)
जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित् त्वा युक्ता हरयो वहन्तु ।
यदा कदा च सुनवाम सोममग्निष्ट्वा दूतो धन्वात्यच्छ ॥ ऋसं. (३।५३।४)
सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥ (ऋसं. १०।८५।४६)
कुटुम्बिनौ धनस्येशाते । (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२९।३)
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।

(ऋसं. १०।८५।३६)

सनायुवो नमसा नव्यो अर्कैर्वसूयवो मतयो दस्म दद्रुः ।
पतिं न पत्नीरुशतीरुशन्तं स्पृशन्ति त्वा शवसावन्मनीषाः ॥

(ऋसं. १।६२।११)

उप प्र जिन्वन्नुशतीरुशन्तं पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः ।
स्वसारः श्यावीमरुषीमजुष्रन् चित्रमुच्छन्तीमुषसं न गावः ॥

(ऋसं. १।७१।१)

चकार ता कृणवन्नूनमस्या यानि ब्रुवन्ति वेधसः सुतेषु ।
जनीरिव पतिरेकः समानो नि मामृजे पुर इन्द्रः सु सर्वाः ॥

(ऋसं. ७।२६।३)

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत ।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये ॥

(ऋसं. १०।४३।१)

पृ. १११

युवं नरा स्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं ददथुर्विश्वकाय ।
घोषायै चित्पितृषदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विनावदत्तम् ।

(ऋसं. १।११७।७)

पृ. ११२

अमाजूरिव पित्रोः सचा सती समानादा सदसस्त्वामिये भगम् ।
कृधि प्रकेतमुप मास्या भर दद्धि भागं तन्वो येन मामहः ॥

(ऋसं. २।१७।७)

अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा घा स्यालात् ।
अथा सोमस्य प्रयती युवभ्यामिन्द्राग्नी स्तोमं जनयामि नव्यम् ॥

(ऋसं. १।१०९।२)

अन्ये जायां परि मृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्य क्षः ।

(ऋसं. १०।३४।४)

धृतव्रता आदित्या इषिरा आरे मत् कर्त रहसूरिवागः ।

(ऋसं. २।२९।१)

अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची गर्तारुगिव सनये धनानाम् ।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा हस्रेव नि रिणीते अप्सः ॥

(ऋसं. १।१२४।७)

अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः ।
पापासः सन्तो अनृता असत्या इदं पदमजनता गभीरम् ॥

(ऋसं. ४।५।५)

परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः ।
न रोदसी अप नुदन्त घोरा जुषन्त वृधं सख्याय देवाः ॥

(ऋसं. १।१६७।४)

पृ. ११३

प्रजापतिः प्रजातिकामस्तपोऽतप्यत तस्मात्तप्तात्पञ्चाजायन्ताग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा उषाः पञ्चमी तानब्रवीद्यूयमपि तप्यध्वमिति तेऽदीक्षन्त तान्दीक्षितांस्तेपानानुषाः प्राजापत्याप्सरोरूपं कृत्वा पुरस्तात्प्रत्युदैत्तस्यामेषां मनः समपतत्ते रेतोऽसिञ्चन्त ते प्रजापतिं पितरमेत्याब्रुवन् रेतो वा असिञ्चाम हा

इदं नो मामुया भूदिति स प्रजापतिर्हिरण्मयं चमसमकरोदिषुमात्रमूर्ध्वमेवं तिर्यञ्चं तस्मिन्नेतत्समसिञ्चत्तत उदतिष्ठत् सहस्राक्षः सहस्रपात् ॥

(कौषी. ब्रा. ६।१)

पृ. ११६

कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करतः कुहोषतुः ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥

(ऋसं. १०।४०।२)

पृ. ११७

अभ्रातृकेव पुंसः पितृनेत्यभिमुखी संतानकर्मणे पिण्डदानाय न पतिम् । गर्तारोहिणीव धनलाभाय दाक्षिणाजी । गर्तः सभास्थाणुर्गृणातेः । सत्यसङ्गरो भवति । तं तत्र याऽपुत्रा याऽपतिका सारोहति । तां तत्राक्षैराघ्नन्ति सा रिक्थं लभते । (निरुक्त. ३।५)

पृ. ११८

स्ववतोस्तु वचनादैककर्म्यं स्यात् । (जैसू. ६।१।१०।१६)

न मा मर्त्यः कश्चन दातुमर्हति विश्वकर्मन्भौवन मां दिदासिथ । निमङ्क्ष्येऽहं सलिलस्य मध्ये मोघस्त एष कश्यपायाऽऽस सङ्गर इति ।

(ऐब्रा. ३९।७)

न मा मर्त्यः कश्चन दातुमर्हति विश्वकर्मन् भौवन मन्द आसिथ । उपमङ्क्ष्यति स्या सलिलस्य मध्ये मृषैष ते सङ्गरः कश्यपाय ।

(शब्रा. १३।७।१।१५)

पृ. ११९

शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन् ।

पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे ॥ (ऋसं. ३।३१।१)

पृ. १२१

न ते कुशलं मेनिरे ताननु व्याजहारान्तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो वैश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः । (ऐब्रा. ३३।६)

प्रजापतिर्यज्ञमसृजत यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असृज्येताम् । (ऐब्रा. ३४।१)

अगस्त्यः खनमानः खनित्रैः प्रजामपत्यं बलमिच्छमानः ।
उभौ वर्णावृषिरुग्रः पुपोष सत्या देवेष्वाशिषो जगाम ॥
(ऋसं. १।१७९।६)

पृ. १२३

तत्र वै ब्राह्मणो भूत्वा ततो भवति क्षत्रियः ।
वैश्यः शूद्रश्च वाहीकस्ततो भवति नापितः ॥
नापितश्च ततो भूत्वा पुनर्भवति ब्राह्मणः ।
द्विजो भूत्वा च तत्रैव पुनर्दासोऽभिजायते ॥
भवन्त्येककुले विप्राः प्रसृष्टाः कामचारिणः ।
गान्धारा मद्रकाश्चैव वाहीकाश्चाल्पचेतसः ॥ (कर्णपर्व ४५।६-८)

पृ. १२४

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवं तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥ (मस्मृ. १०।६५)
जात्युत्कर्षो युगे ज्ञेयः पञ्चमे सप्तमेऽपि वा ।
व्यत्यये कर्मणां साम्यं पूर्ववच्चाधरोत्तरम् ॥ (यास्मृ. १।९६)

पृ. १२५

तिसृभिरस्तुवत ब्रह्मासृज्यत ...... पञ्चदशभिरस्तुवत क्षत्रमसृज्यत ... नवदशभिरस्तुवत शूद्रार्यावसृज्येताम् । (तैसं. ४।३।१०, वाजसं. १४।२८-३०)

ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः । यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽऽहुर्योनिम् । सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः । (तैब्रा. ३।१२।९।२)

भूरिति वै प्रजापतिर्ब्रह्माजनयत भुव इति क्षत्रं स्वरिति विशम् ।
(शब्रा. २।१।४।१२)

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव । तदेकं सन्न व्यभवत् तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि । इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति तस्मात् क्षत्रात्परं नास्ति तस्माद् ब्राह्मणः क्षत्रियमधस्तादुपास्ते राजसूये क्षत्र एव तद्यशो दधाति सैषा क्षत्रस्य योनिर्यद्ब्रह्म ॥
(शब्रा. १४।१।२।२३)

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥ (महाभारत १२।१८८।१०)

चतुर्लक्षणवर्जं तु चतुष्कारणवर्जितम् ।
अप्रहर्षमनानन्दमशोकं विगतक्लमम् ॥ (महाभारत १२।१९८।८)

अम्बरीषस्य मान्धातुस्तनयस्य युवनाश्वः पुत्रोऽभूत् । तस्माद्धरितो यतोऽङ्गिरसो हारिताः ।

(विष्णुपुराण ४।३।५)

पुरूरवसो ज्येष्ठः पुत्रो यस्त्वायुर्नामा राहोर्दुहितरमुपयेमे । तस्यां स पञ्च पुत्रान् जनयामास नहुषक्षत्रवृद्धरम्भरजिसंज्ञास्तथैवानेनाः पञ्चमः पुत्रोऽभूत् । क्षत्रवृद्धात्सुनहोत्रः पुत्रोऽभवत् । काशलेशगृत्समदाख्योऽस्याभवन् । गृत्समदस्य शौनकश्चातुर्वर्ण्यप्रवर्तयिताऽभूत् ।

(विष्णुपुराण ४।८।१)

वत्सस्य वत्सभूमिस्तु भार्गभूमिस्तु भार्गवात् ।
एते त्वङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे ।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च भरतर्षभ ॥

(हरिवंश ३२।३९, ४०)

अभिपूर्वेण वा एते पाप्मना गृहीता ये नृशंसा निन्दिताः सन्तो व्रात्यां प्रवसन्ति यत् षट् षोडशानि स्तोत्राणि भवन्ति तेन पाप्मनोऽधि निर्मुच्यन्ते ।

यदेकविꣳशोऽग्निष्टोमो भवति प्रतिष्ठा वा एकविꣳशोमध्यत एव यज्ञस्य प्रतितिष्ठन्ति ॥

उक्थो भवति पशवो वा उक्थानि पशवो नृशꣳसमग्रं परिणयन्ति पशुभिरेवैनानग्रं परिणयति । (ताण्ड्यब्राह्मण १७।२-४)

पृ. १२७

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥ (मस्मृ. १०।४३)
किराता यवनाश्चैव तास्ताः क्षत्रियजातयः ।
वृषलत्वमनुप्राप्ता ब्राह्मणानाममर्षणात् ॥

(महाभारत अनुशासन ३५।१८)

पृ. १२८

यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शबरबर्बराः ।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पह्लवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥

पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः ।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥

(महाभारत शान्तिपर्व ६५।१३, १४)

द्राविडाश्च कलिङ्गाश्च पुलिन्दाश्चाप्युशीनराः ।
कोलिसर्पा महिषकास्तास्ताः क्षत्रियजातयः ॥
वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात् ।
श्रेयान् पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर ॥

(महाभारत अनुशासन ३३।२२, २३)

मेकला द्राविडा लाटाः पौण्ड्राः कान्वशिरास्तथा ।
शौण्डिका दरदा दार्वाश्चौराः शबरबर्बराः ॥

(महाभारत अनुशासन ३५।१७)

भूमिपानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥
पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च ।
दानानि च यथाकालं द्विजेभ्यो विसृजेत्सदा ॥
अहिंसा सत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम् ।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥
दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता ।
पाकयज्ञा महार्हाश्च दातव्याः सर्वदस्युभिः ॥
एतान्येवंप्रकाराणि विहितानि पुराऽनघ ।
सर्वलोकस्य कर्माणि कर्तव्यानीह पार्थिव ॥

(महाभारत शान्तिपर्व ६५।१८–२२)

पृ. १२९

ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः ।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा ॥

(महाभारत शान्तिपर्व १८८।५)

पृ. १३०

शूद्रेषु दासगोपालकुलमित्रार्धसीरिणः ।
भोज्यान्ना नापितश्चैव यश्चाऽऽत्मानं निवेदयेत् ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति १।१६६)

पृ. १३२

दास्यं तु कारयँल्लोभात् ब्राह्मणः संस्कृतान् द्विजान् ।
अनिच्छतः प्राभवत्याद्राज्ञा दण्ड्यः शतानि च ॥
शूद्रं तु कारयेद्दास्यं क्रीतमक्रीतमेव वा ।
दास्यायैव हि सृष्टोऽसौ ब्राह्मणस्य स्वयंभुवा ॥
न स्वामिना निसृष्टोऽपि शूद्रो दास्याद्विमुच्यते ।
निसर्गजं हि तत्तस्य कस्तस्मात्तदपोहति ॥
ध्वजाहृतो भक्तदासो गृहजः क्रीतदत्त्रिमौ ।
पैतृको दण्डदासश्च सप्तैते दासयोनयः ॥

(मनुस्मृति ८।४१३–४१६)

सूतानामश्वसारथ्यमम्बष्ठानां चिकित्सनम् ।
वैदेहकानां स्त्रीकार्यं मागधानां वणिक्पथः ॥
मत्स्यघातो निषादानां त्वाष्टिस्त्वायोगवस्य च ।
मेदान्ध्रचुञ्चुमद्गूनामारण्यपशुहिंसनम् ॥
क्षत्त्रुग्रपुक्कसानां तु बिलौको वधबन्धनम् ।
धिग्वणानां चर्मकार्यं वेणानां भाण्डवादनम् ॥
चैत्यद्रुमश्मशानेषु शैलेषूपवनेषु च ।
वसेयुरेते विज्ञाना वर्तयन्तः स्वकर्मभिः ॥
चण्डालश्वपचानां तु बहिर्ग्रामात्प्रतिश्रयः ।
अपपात्राश्च कर्तव्या धनमेषां श्वगर्दभम् ॥
वासांसि मृतचेलानि भिन्नभाण्डेषु भोजनम् ।
कार्ष्णायसमलङ्कारः परिव्रज्या च नित्यशः ॥ (मनुस्मृति १०।४७–५२)

काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम् ।

(आपस्तम्बधर्मसूत्र ९।२।११)

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम् ।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन् सुतुका नाहुषाणि ॥

(ऋसं. ६।२२।१०)

सर्वे चोत्तरोत्तरं परिचरेयुः । (गौतमधर्मसूत्र १०।६५)
मूल्येन चार्यत्वं गच्छेत् । (कौटिलीयअर्थशास्त्र ३।१३)

वृत्तिः सकाशाद्वर्णेभ्यस्त्रिभ्यो हीनस्य शोभना ।
प्रीत्योपनीता निर्दिष्टा धर्मिष्ठान् कुरुते सदा ॥
वृत्तिश्चेन्नास्ति शूद्रस्य पितृपैतामही ध्रुवा ।
न वृत्तिं परतो मार्गेच्छुश्रूषां तु प्रयोजयेत् ॥

(महाभारत शान्तिपर्व २९३।१-२)

अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा ।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम् ॥

(महाभारत शान्तिपर्व ६३।१३)

पृ. १३५

ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः ।
ध्रुवं त इन्द्रश्चाग्निश्च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम् ॥
ध्रुवं ध्रुवेण हविषाऽभि सोमं मृशामसि ।
अथो त इन्द्रः केवलीर्विशो बलिहृतस्करत् ॥ (ऋसं. १०।१७३।५-६)
अभीवर्तेन हविषा येनेन्द्रो अभिवावृते ।
तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्तय ॥ (ऋसं. १०।१७४।१)

पृ. १३७

तनुवाच सुरान्सर्वान् स्वयंभूर्भगवांस्ततः ।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वो भीः सुरर्षभाः ॥
ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् ।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥

(महाभारत शान्तिपर्व ५९।२८, २९)

बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम् ।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥
तमब्रुवन् प्रजा मा भैः कर्तॄनेनो गमिष्यति ।
यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥

(महाभारत शान्तिपर्व ६७।२२, २७)

पृ. १४०

विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमानः ॥

(श्रीमद्भागवत स्कंध ७।९।१०)

पृ. १४१

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ (अथर्ववेद ११।७।२४)

क्षीरौदनमांसौदनाभ्यां ह वा एष देवांस्तर्पयति । य एवं विद्वान्वाकोवाक्यमितिहासपुराणमित्यहरहः स्वाध्यायमधीते त एनं तृप्तास्तर्पयन्ति सर्वैः कामैः सर्वैर्भोगैः । (शब्रा. ११।५।७।९)

वयांसि च वायोविधिकाश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति पुराणं वेदः सोऽयमिति किंचित्पुराणमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः संप्रेष्यति ।

(शब्रा. १३।४।३।१३)

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं५ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य५ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या५सर्पदेवयजनविद्याम् । एतद्भगवोऽध्येमि ।

(छान्दोग्योपनिषत् ७।१।२)

अथ पुराणे श्लोकावुदाहरन्ति—

अथाप्युदाहरन्ति । (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।१९।१३, १५)

यो हिंसार्थमभिक्रान्तं हन्ति मन्युरेव मन्युं स्पृशति न तस्मिन् दोष इति पुराणे । (आपस्तम्बधर्मसूत्र १।२९।७)

अथ पुराणे श्लोकावुदाहन्ति— (आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२३।३)

पुनःसर्गे बीजार्था भवन्तीति भविष्यत्पुराणे ।

(आपस्तम्बधर्मसूत्र २।२४।६)

स्वाध्यायं श्रावयेत् पित्र्ये धर्मशास्त्राणि चैव हि ।
आख्यानानीतिहासांश्च पुराणानि खिलानि च ॥ (मनुस्मृति ३।२३२)

यतो वेदाः पुराणानि विद्योपनिषदस्तथा ।
श्लोकाः सूत्राणि भाष्याणि यच्च किंचन वाङ्मयम् ॥

(याज्ञवल्क्यस्मृति. ३।१८९)

अष्टादशपुराणानां श्रवणाद्यत्फलं भवेत् ।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशयः ॥

(महाभारत स्वर्गारोहणपर्व ६।९७)

इत्येतन्मात्स्यकं नाम पुराणं परिकीर्तितम् । (महाभारत वनपर्व १८७।५७)

पृ. १४२

एतत्ते सर्वमाख्यातमतीतानागतं तथा।
वायुप्रोक्तमनुस्मृत्य पुराणमृषिसंस्तुतम् ॥ (महाभारत वनपर्व १९१।१६)
शृणुष्वावहितो भूत्वा कथामेतां पुरातनीम्।
प्रोक्तां ह्यादिपुराणेषु ब्रह्मणाऽव्यक्तमूर्तिना ॥ (वामनपुराण १।२०)

पृ. १४३

पितामहमुखोत्सृष्टं प्रमाणमिति मे मतिः।
(महाभारत अनुशासनपर्व १४३।१८)

पृ. १४५

मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह। तस्य मनुष्या विशस्त इम आसत इत्यश्रोत्रिया गृहमेधिन उपसमेता भवन्ति तानुपदिशत्यृचो वेदः सोऽयमित्यृचां सूक्तं व्याचक्षाण इवानुद्रवेत् वीणागणगिन उपसमेता भवन्ति तानध्वर्युः संप्रेष्यति वीणागणगिन इत्याह पुराणैरिमं यजमानं राजभिः साधुकृद्भिः संगायतेति तं ते तथा संगायन्ति तद्यदेनमेवं संगायन्ति पुराणैरेवैनं तद्राजभिः साधुकृद्भिः सलोकं कुर्वन्ति। (शतपथब्राह्मण १३।४।३।२)

पृ. १४८

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ (ऋसं. १।२२।२०)

एवमेवैष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। स उत्तमः पुरुषः। (छान्दोग्योपनिषत् ८।१२।३)

पुरुषो वाव यज्ञः। (छान्दोग्योपनिषत् ३।१६।१)

पृ. १४९

महादेवꣳ सहस्राक्षꣳ शिवमावाहयाम्यहम्। (मैत्रायणीसंहिता २।९।२)

पृ. १५१

पुरुषं ह नारायणं प्रजापतिरुवाच। यजस्वयजस्वेति स होवाच यजस्वयजस्वेति वाव त्वं मामात्थ ... ...

तद्विद्यात्सर्वांल्लोकानात्मन्नधिषि सर्वेषु लोकेष्वात्मानमधां सर्वान्देवानात्मन्नधिषि सर्वेषु देवेष्वात्मानमधां सर्वान्वेदानात्मन्नधिषि सर्वेषु वेदेषु आत्मानमधां सर्वान्प्राणानात्मन्नधिषि सर्वेषु प्राणेष्वात्मानमधामित्यक्षिता वै लोका

अक्षिता देवा अक्षिता वेदा अक्षिताः प्राणा अक्षितं सर्वमक्षिताद्ध वा अक्षितमुपसंक्रामत्यप पुनर्मृत्युं जयति सर्वमायुरेति य एवमेतद्वेद ॥

(शतपथब्राह्मण १२।३।४।१, ११)

पुरुषो ह नारायणोऽकामयतातितिष्ठेयं सर्वाणि भूतान्यहमेवेदं सर्वं स्यामिति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्तमाहरत्तेनायजत तेनेष्ट्वाऽत्यतिष्ठत्सर्वाणि भूतानीदं सर्वमभवदतितिष्ठति सर्वाणि भूतानीदं सर्वं भवति य एवं विद्वान्पुरुषमेधेन यजते यो वैतदेवं वेद । (शतपथब्राह्मण १३।६।१।१)

पृ. १५३

मनवे ह वै प्रातरवनेग्यमुदकमाजह्रुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाऽऽहरन्त्येवं तस्याऽवनेनिजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे ।

स हास्मै वाचमुवाद । बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान्मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढा ततस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति ।

स होवाच । यावद्वै क्षुल्लका भवामो बह्वी वै नस्तावन्नाष्ट्रा भवति उत मत्स्य एव मत्स्यं गिलति कुम्भ्यां माग्रे बिभरासि स यदा तामतिवर्द्धा अथ कर्षूं खात्वा तस्यां मा बिभरासि स यदा तामतिवर्द्धा अथ मा समुद्रमभ्यवहरासि तर्हि वा अतिनाष्ट्रो भवितास्मीति ।

शश्वद्ध झष आस । स हि ज्येष्ठं वर्धतेऽथेति । समां तदौघ आगन्ता तन्मा नावमुपकल्प्योपासासै स औघ उत्थिते नावमापद्यासै ततस्त्वा पारयितास्मि इति ।

तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार । स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासाञ्चक्रे स औघ उत्थिते नावमापेदे तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवे तस्य शृङ्गे नावः पाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव ।

(शब्रा. १।८।१।१–५)

यो रसः । सोऽपाम् । अन्तरतः कूर्मं भूतꣳ सर्पन्तम् । तमब्रवीत् । मम वै त्वङ्माꣳसा । समभूत् । नेत्यब्रवीत् । पूर्वमेवाहमिहाऽऽसमिति । तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम् । स सहस्रशीर्षा पुरुषः । सहस्राक्षः सहस्रपात् । भूत्वोदतिष्ठत् । तमब्रवीत् । त्वं वै पूर्वꣳ समभूः । त्वमिदं पूर्वः कुरुष्वेति । स इत आदायापः । अञ्जलिना पुरस्तादुपादधात् । एवाह्येवेति । तत आदित्य उदतिष्ठत् । सा प्राची दिक् । अथाऽऽरुणः केतुर्दक्षिणत उपादधात् । एवा ह्यग्न इति । ततो वा अग्निरुदतिष्ठत् । सा दक्षिणा दिक् । अथाऽऽरुणः केतुः पश्चादु-

पादधात् । एवा हि वायो इति । ततो वायुरुदतिष्ठत् । सा प्रतीची दिक् । अथाऽऽरुणः केतुरुत्तरत उपादधात् । एवा हीन्द्रेति । ततो वा इन्द्र उदतिष्ठत् । सोदीची दिक् । अथाऽऽरुणः केतुर्मध्य उपादधात् । एवा हि पूषन्निति । ततो वै पूषोदतिष्ठत् । सेयं दिक् । अथाऽऽरुणः केतुरुपरिष्टादुपादधात् । एवा हि देवा इति । ततो देवमनुष्याः पितरः । गन्धर्वाप्सरसश्चोदतिष्ठन् । सोर्ध्वा दिक् ।

(तैत्तिरीयारण्यक १।२३।३–७)

आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत् । तेन प्रजापतिरश्राम्यत् । कथमिद९ स्यादिति । सोऽपश्यत्पुष्करपर्णं तिष्ठत् । सोऽमन्यत । अस्ति वै तत् । यस्मिन्निदमधितिष्ठतीति । स वराहो रूपं कृत्वोपन्यमज्जत् । स पृथिवीमध आर्च्छत् । तस्या उपहत्योदमज्जत् । तत्पुष्करपर्णेऽप्रथयत् । यदप्रथयत् । तत्पृथिव्यै पृथिवित्वम् । अभूद्वा इदमिति । तद्भूम्यै भूमित्वम् । तां दिशोऽनु वातः समवहत् । ता९ शर्कराभिरद९ हत् । शं वै नोऽभूदिति ।

(तैत्तिरीयब्राह्मण १।१।३।५–७)

पृ. १५४

प्रह्लादो ह वै कायाधवः । विरोचन९ स्वं पुत्रमुदास्यत् ।

(तैत्तिरीयब्राह्मण १।५।१०।७)

हिरण्याक्षो अयोमुखः । रक्षसां दूत आगतः । (तैत्तिरीयारण्यक ४।३३)

वामनो ह विष्णुरास । तद्देवा न जिहीडिरे महद्वै नोऽदुर्ये नो यज्ञसंमितमदुरिति ॥

ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य । छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन्गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति दक्षिणतस्त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति पश्चाज्जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीत्युत्तरतः ॥

तं छन्दोभिरभितः परिगृह्याग्निं पुरस्तात्समाधाय तेनार्चन्तः श्राम्यन्तश्चेरुस्तेनेमां सर्वां पृथिवीं समविन्दन्त तद्यदेनेनेमां सर्वां समविन्दन्त तस्माद्वेदिर्नाम तस्मादाहुर्यावती वेदिस्तावती पृथिवीत्येतया हीमां सर्वां समविन्दन्तैवं ह वा इमां सर्वां सपत्नानां संवृङ्क्ते निर्भजत्यस्यै सपत्नान् य एवमेतद्वेद ॥

सोऽयं विष्णुर्ग्लानः छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमास स तत एवौषधीनां मूलान्युपमुम्लोच ॥

ते ह देवा ऊचुः । क नु विष्णुरभूत्क नु यज्ञोऽभूदिति ते होचुश्छन्दोभिरभितः परिगृहीतोऽग्निः पुरस्तान्नापक्रमणमस्त्यत्रैवान्विच्छतेति तं खनन्त इवान्वीषुस्तं त्र्यङ्गुलेऽन्वविन्दन् ॥

(शतपथब्राह्मण १।२।५।५–९)

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन् ।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥
नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥

(अथर्ववेद ५।१९।१, ११)

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे ।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान्खादन्त आसते ॥

(अथर्ववेद ५।१९।३)

पृ. १५५

यक्ष्वा महे सौमनसाय रुद्रं नमोभिर्देवमसुरं दुवस्य ।

(ऋसं. ५।४२।११)

ईशानादस्य भुवनस्य भूरेर्न वा उ योषद्रुद्रादसुर्यम् ।

(ऋसं. २।३३।९)

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन ।
येभिः शिवः स्ववाँ एवयावभिर्दिवः सिषक्ति स्वयशा निकामभिः ॥

(ऋसं. १०।९२।९)

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम् ।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥
मा नस्तोके तनये मा न आयौ मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः ।

(ऋसं. १।११४।७, ८)

पृ. १५६

मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्रा दिव्येनाग्निना ।
अन्यत्रास्मद्विद्युतं पातयैताम् ॥ (अथर्ववेद ११।२।२६)

स एषोऽत्र रुद्रो देवता तस्मिन् देवा एतदमृतं रूपमुत्तममदधुः स एषोऽत्र दीप्यमानोऽतिष्ठदन्नमिच्छमानस्तस्माद्देवा अबिभयुर्यद्वै नोऽयं न हिंस्यादिति । (शतपथब्राह्मण ९।१।१।१)

उन्नो वीराँ अर्पय भेषजेभिर्भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥
हवीमभिर्हवते यो हविर्भिरव स्तोमेभी रुद्रं दिषीय ।
ऋदूदरः सुहवो मा नो अस्यै बभ्रुः सुशिप्रो रीरधन्मनायै ॥

(ऋसं. २।३३।४, ५)

अर्हन्बिभर्षि सायकानि धन्वार्हन् निष्कं यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ॥
एवा बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसि ।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥

(ऋसं. २।३३।१०, १५)

पृ. १५७

यः शुक्र इव सूर्यो हिरण्यमिव रोचते । श्रेष्ठो देवानां वसुः ॥

(ऋसं. १।४३।५)

गाथपतिं मेधपतिं रुद्रं जलाषभेषजम् ।

(ऋसं. १।४३।४)

तेनोभौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च । यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति ।

(छान्दोग्योपनिषत् १।१।१०)

पृ. १५८

तदेष श्लोको भवति । विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विन इति न हैव तं लोकं दक्षिणाभिर्न तपसाऽनेवंविदश्नुत एवंविदां हैव स लोकः ॥ (शतपथब्राह्मण १०।५।४।१६)

पृ. १५९

कालमूलमिदं सर्वं भावाभावौ सुखासुखे ।
कालः पचति भूतानि कालः संहरति प्रजाः ॥
निर्दहन्तं प्रजाः कालं कालः शमयते पुनः ।
कालो विकुरुते भावान्सर्वाँल्लोके शुभाशुभान् ॥
कालः संक्षिपते सर्वाः प्रजा विसृजते पुनः ।
कालः सर्वेषु भूतेषु चरत्यविधृतः समः ॥

अतीतानागता भावा ये च वर्तन्ति सांप्रतम् ।
तान्कालनिर्मितान्बुद्ध्वा न संज्ञां हातुमर्हसि ॥

(महाभारत १।१।१८७-९०)

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं विप्र पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥

(ब्रह्मवैवर्तपुराण ४।१३३।६)

पृ. १६३

मङ्गाश्च मशकाश्चैव मानसा मन्दगास्तथा ।

(महाभारत भीष्मपर्व ११।३६)

तान् मगान्मम पूजार्थं शाकद्वीपादिहानय ।
आरुह्य गरुडं सांब शीघ्रं गत्वाविचारयन् ॥

(भविष्यपुराण ब्राह्मपर्व १३९।८२)

पृ. १६४

शतमहं तिरिन्दिरे सहस्रं पर्शावा ददे । (ऋसं. ८।६।४६)

पृ. १६९

संधिरेष नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च । (महाभारत वनपर्व १२१।२०)
संधिर्द्वयोर्नरश्रेष्ठ त्रेताया द्वापरस्य च । (महाभारत वनपर्व १२५।१४)

पृ. १७०

तस्मिन् युगसहस्रान्ते संप्राप्ते चायुषः क्षये । (महाभारत वनपर्व १८८।६५)
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत । (ऋसं.१०।७२।२)
विश्वे ये मानुषा युगा पान्ति मर्त्यं रिषः । (ऋसं. ५।५२।४)
दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान् दशमे युगे । (ऋसं. १।१५८।६)
चतुर्युगाणि राजाऽत्र त्रयोदश स राक्षसः । (वायुपुराण ७०।४५)

पृ. १७१

पञ्च पञ्चाशतस्त्रिवृतः संवत्सराः पञ्च पञ्चाशतः पञ्चदशाः पञ्च पञ्चाशतः सप्तदशाः पञ्च पञ्चाशत एकविंशा विश्वसृजां सहस्रसंवत्सरम् ।

(ताण्ड्यब्राह्मण २५।१८)

इक्ष्वाकुतयो योऽसौ निमिर्नाम स तु सहस्रसंवत्सरं सत्रमारेभे ।

(विष्णुपुराण ४।४।१)

नैमिषेऽनिमिषक्षेत्रे ऋषयः शौनकादयः ।
सत्रं स्वर्गाय लोकाय सहस्रसममासत ॥ (भागवत १।१।४)

पृ. १९६

सर्वं वा एतेन पाप्मानं देवा अतरन्नपि वा एतेन ब्रह्महत्यामतरन्त्सर्वं पाप्मानं तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद ।

(तैत्तिरीयसंहिता ५।३।१२।१, २)

एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः किमर्था वयमध्येष्यामहे किमर्था वयं यक्ष्यामहे । (ऐतरेय आरण्यक ३।२।६)

तदेष श्लोको भवति । विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः । न तत्र दक्षिणा यन्ति नाविद्वांसस्तपस्विन इति न हैव तं लोकं दक्षिणाभिर्न तपसाऽनेवंविदश्नुत एवंविदां हैव स लोकः । (शतपथब्राह्मण १०।५।४।१६)

पृ. १९८

आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदꣳ सर्वं विदितम् ।

(बृहदारण्यकोपनिषत् २।४।५)

पृ. १९९

यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः । अथैष एव परम आनन्दः । एष ब्रह्मलोकः सम्राट् । (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।३३)

पृ. २००

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसंभेदाय । नैतꣳ सेतुमहोरात्रे तरतो न जरा न मृत्युर्न शोको न सुकृतं न दुष्कृतम् । सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते । अपहतपाप्मा ह्येष ब्रह्मलोकः । (छान्दोग्योपनिषत् ८।४।१)

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु । य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते । सर्वस्य वशी । सर्वस्येशानः । सर्वस्याधिपतिः । स न साधुना कर्मणा भूयान् । नो एवासाधुना कनीयान् । एष सर्वेश्वरः । एष भूताधिपतिः । एष भूतपालः । एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय । तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन । एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति । एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति । एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वाꣳसः प्रजां न कामयन्ते । किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति । ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ

भिक्षाचर्यं चरन्ति । या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा । या वित्तैषणा सा लोकैषणा । उभे ह्येते एषणे एव भवतः । स एष नेति नेत्यात्मा । अगृह्यो न हि गृह्यते । अशीर्यो न हि शीर्यते । असङ्गो न हि सज्यते । असितो न व्यथते । न रिष्यति । एतमु हैवैते न तरत इति । अतः पापमकरवमिति । अतः कल्याणमकरवमिति । उभे उ हैवैष एते तरति । नैनं कृताकृते तपतः ॥

तदेतदृचाऽभ्युक्तम् । एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान् । तस्यैव स्यात्पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेनेति । तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति । सर्वमात्मानं पश्यति । (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।४।२२, २३)

पृ. २०१

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत । (ऋसं. १०।१९०।१)

परिशिष्ट २

शब्दसूचि